जैन कथा संग्रह

(द्वितीय भाग)

(पौराणिक एवं मौलिक जैन नाटकों तथा कथाओं का अभूतपूर्व संग्रह ग्रन्थ)

संकलन-सम्पादन

पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री

आप भी अपनी ओर से जिनमन्दिरों एवं साधर्मीजनों को अवश्य भिजवायें।

:: प्रकाशक ::

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार स[illegible]ने

:: कार्यालय ::

'लौकान्तिक', ए-31a, अनीता कॉलोनी

अम्बेडकर मार्ग, बजाज नगर, जयपुर (राज.)

मोबाइल : 094147-17816

प्रथम संस्करण : ११०० प्रतियाँ – **महावीर निर्वाण महोत्सव के अवसर पर** (२८.१०.२००८)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

न्यौछावर राशि : ५० रुपये मात्र

प्राप्ति–स्थान

1. **श्री प्रमोद कुमार जैन** फोन : 0141-2373822
   जयपुर प्रिन्टर्स, एम.आई. रोड, जयपुर (राज.)
2. **श्री अश्विनी शाह** फोन : 022-28620730
   रुश्तमजी आदर्श हैरीटेज, बी-21, दूसरा माला,
   आदर्श कॉम्पलेक्श आफ मार्वे रोड, मलाड (वेस्ट) मुम्बई
3. **श्री विनोद कुमार जैन** फोन : 0141-2603340
   6, सतीजी की बगीची, मोती डूँगरी रोड, जयपुर (राज.)
4. **श्री विजय कुमार जैन** फोन : 0744-2323960
   ए. जैनको, नयापुरा-कोटा (राज.)
5. **श्री ऋषभनन्दन जैन** फोन : 0120-2894587
   4/472, पार्क एवेन्यु, सेक्टर 4, वैशाली, जिला-गाजियाबाद (उ. प्र.)
6. **श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र** फोन : 07469-224323
   श्रीमहावीरजी, जिला-करौली (राज.) 322 220
7. **श्री दिगम्बर जैन नसियाँ (भटट्रारकजी)** फोन : 0141-2381586
   नारायणसिंह सर्किल, टोंक रोड़, जयपुर (राज.)
8. **श्री मनीष कुमार जैन** फोन : 0141-2702222
   कार्यालय - 'लौकान्तिक' ए-31a अनीता कॉलोनी,
   अम्बेडकरमार्ग, बजाजनगर, जयपुर (राज.)

: **जैन कम्प्यूटर्स**, मोबाइल : 094147-17816 फोन : 0141-2701056 फैक्स : 2709865

卐 विषयानुक्रमणिका 卐

नाटक-खण्ड

१.	सच्चा सम्बन्धी : साधर्मी	XII
	अपनी बात (मुक्ति का संघर्ष)	XIII
	पात्र-परिचय (मुक्ति का संघर्ष)	XV
२.	मुक्ति का संघर्ष	१-८२
३.	भरत-बाहुबली	८३-१०४
४.	स्वतन्त्रता : जन्मसिद्ध अधिकार	१०५-११४
५.	वसंततिलका	११५-२११

कथा-खण्ड

१.	मैं स्वयं भगवान हूँ	२१२-२२४
२.	अपने में अपनापन	२२५-२३३
३.	अपनी खोज	२३४-२४५
४.	सुख का रहस्य	२४६
५.	उपसर्गजयी सुकुमाल	२४७-३४५
६.	प्रोफेसर की डायरी	३४६-३५१
७.	अध्रुव के उस पार	३५२-३५७
८.	कूप मण्डूक को जगी जिज्ञासा	३५८-३६९
९.	संयम	३७०-३७३
१०.	पुण्यास्त	३७४-३७६
११.	विचित्र महोत्सव	३७७-३८२

दो शब्द

जैनदर्शन अपनी बात को कहने के लिए अनेक प्रकार की शैलियाँ अपनाता है, उन सबका अपना-अपना महत्त्व है। इन्हीं में एक शैली है – प्रथमानुयोग। कथा-कहानियों के माध्यम से भव्यजीवों के हृदय में धार्मिक संस्कारों का बीजारोपण और संवर्द्धन करने में प्रथमानुयोग का एक विशिष्ट स्थान है।

आज के समय में जबकि पाठकों की संख्या में निरन्तर गिरावट आ रही है – ऐसी स्थिति में भी कहानी के प्रति बच्चों तथा बड़ों का आकर्षण कम नहीं हुआ है। अत: धार्मिक संस्कार और तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए आज भी यह एक सशक्त माध्यम बना हुआ है। इसी सोच और चिंतन को आधार मानकर ही हमने कुछ करना चाहा और जैन कथा संग्रह का प्रथम-भाग प्रकाशित किया। जिसे समाज ने एक श्लाघनीय कार्य माना और अल्पसमय में इसके तीन संस्करणों का प्रकाशन होना इसका प्रमाण है। इसकी सफलता से ऊर्जान्वित होकर द्वितीय-भाग का प्रकाशन करते हुए हमें अपार प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

कहानी से भी अधिक प्रभावपूर्ण नाट्य विधा है; क्योंकि कहानी श्रव्य काव्य है और नाटक दृश्य काव्य है। नाटकों का हमेशा से अधिक महत्त्व रहा है, उनका प्रभाव ज्यादा समय तक जन-मानस पर रहता है, इसी विचार से प्रेरित होकर इस द्वितीय-भाग में अनेक नाटकों का भी समावेश किया है।

सन्न २००२ में शासन नायक भगवान महावीर स्वामी की जन्मजयन्ती पर इस लोकोपकारी उद्देश्य से इस समिति का गठन किया गया था। समिति के गठन के बाद समिति ने अपना प्रथम पुष्प जनवरी २००३ में **जैन कथा संग्रह** (प्रथम भाग) प्रकाशित किया। जो समाज में काफी लोकप्रिय हुआ और इसकी निरन्तर माँग बनी रही। आज भी इसकी माँग बनी हुई है।

जैन कथा संग्रह प्रथम-भाग के समाज में पहुँचते ही समाज से निरन्तर द्वितीय-भाग की माँग जोरों से आने लगी। यद्यपि द्वितीय-भाग के प्रकाशन की तैयारी निरन्तर गतिमान रही, तथापि उसके पूर्ण होने से पूर्व ही २००४ में "**भव्य-प्रमोद**" नामक द्वितीय पुष्प समिति द्वारा समाज को उपलब्ध कराया गया।

अब यह **जैन कथा संग्रह** (द्वितीय-भाग) आपके हाथों में है। इसे दो खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम नाटक खण्ड और द्वितीय कथा खण्ड है। इसी के साथ-साथ **जैन कथा संग्रह** (तृतीय-भाग) चौबीस तीर्थंकर पुराण भी छपकर तैयार है। – इसप्रकार समिति ने समाज को अपने तीन वर्ष के अल्प कार्यकाल में उक्त चार पुष्प उपलब्ध कराके इस कार्य में आशानुकूल सफलता हासिल की है।

आगामी पुष्पों में "**अध्यात्मयोगी राम, भावदीपिका, सुदृष्टि तरंगिणी**" एवं अन्य अनुपलब्ध ग्रंथों का प्रकाशन प्रस्तावित है। इस संदर्भ में प्रकाशन को अधिक उपयोगी बनाने हेतु आपके सुझाव व विचार सादर आमंत्रित हैं। साथ ही आपके पास अथवा आपके मन्दिरजी में उपलब्ध सर्वजनहिताय कथा साहित्य

एवं अप्रकाशित बहुमूल्य ग्रंथ हो तो, हमें उसकी एक प्रति या फोटोस्टेट पहुँचाकर इस महानकार्य में सहभागी बनें, ताकि हम उन्हें आगामी प्रकाशनों में शामिल कर सकें।

जिन-जिन लेखकों की रचनाएँ इस ग्रंथ में संग्रहीत की गई हैं, उन सबके प्रति विशेषरूप से आभार व्यक्त करते हैं; क्योंकि उनके बिना तो हम इसकी संभावना भी नहीं कर सकते थे।

इस कार्य में समिति के संयोजक व इस ग्रंथ के सम्पादक पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री का बहुमूल्य योगदान रहा है, उन्होंने सम्पादन, प्रकाशन आदि समस्त क्षेत्रों में सराहनीय एवं अनुकरणीय परिश्रम कर ग्रंथ को आकर्षक व सर्वजनसुलभ बनाया है। अत: समिति उनके प्रति भी विशेषरूप से हार्दिक आभारी है।

समिति के अन्य सभी पदाधिकारियों का भी आभार व्यक्त करते हैं, जिनका समय-समय पर बहुमूल्य मार्गदर्शन मिलता रहा है। समिति के कोषाध्यक्ष श्री विनोद जैन का विशेष आभार मानते हैं; क्योंकि इस कार्य में आदि से अन्त तक उनका बहुमूल्य सहयोग रहा है। पण्डित राजेशकुमार शास्त्री का भी समय-समय पर सहयोग मिलता रहा है, अत: उनके सहित उन सभी व्यक्तियों के भी हृदय से आभारी हैं, जिनसे हमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ।

समिति के स्थाई सदस्यों एवं अन्य अर्थ-सहयोगियों का भी समिति आभार व्यक्त करती है तथा आशा करती है कि भविष्य में भी वे इसीप्रकार का सहयोग देते रहेंगे।

इसका यह द्वितीय संस्करण का मुद्रण कार्य भी जैन कम्प्यूटर्स जयपुर द्वारा ही सम्पन्न किया गया है, जिसमें उन्होंने इस बात का खास ध्यान रखा है कि जो अशुद्धियाँ पहले संस्करण में रह गई थीं, उन्हें शुद्ध करके ही छापा है। अत: समिति उनके प्रति विशेष धन्यवाद ज्ञापित करती है। यद्यपि इस संस्करण को पूरी तरह शुद्ध बनाने का ध्यान रखा गया है, फिर भी यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो आप हमें अवश्य अवगत करावें, ताकि उसे आगामी संस्करण में सुधारा जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ का आद्योपान्त स्वाध्याय कर समस्त जीव स्वयं धर्म सन्मुख हों एवं अन्य जीवों को भी स्वाध्याय की प्रेरणा देकर धर्म सन्मुख करें। यह ग्रंथ आपके लौकिक व पारलौकिक जीवन की सफलता में प्रबल निमित्त बने। – इसी पवित्र पावन भावना के साथ...।

प्रमोद कुमार जैन
अध्यक्ष

पण्डित राजकुमार जैन
मंत्री

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार समिति

सम्पादकीय

संसार के दुःखों से सन्तप्त एवं भयभीत प्राणी के लिए चार अनुयोगों में निबद्ध जिनवाणी ही एकमात्र शरण है। वीतरागता की पोषक होने से सर्वोपकारक है और रत्नत्रय प्रदान करनेवाली है। इसलिये इसका अभ्यास सर्व जीवों को आनन्दकारी है।

जैन कथा संग्रह (प्रथम-भाग) के प्रकाशन का कार्य करते हुए ही मुझे श्री दिगम्बर जैन मन्दिर मारवाड़ी -इन्दौर में एक "मुक्ति सुन्दरी का विवाह" नामक हस्तलिखित ग्रंथ देखने में आया, तभी से मेरी यह भावना दृढ़ हो गई कि जैन कथा संग्रह (द्वितीय-भाग) के रूप में इसे ही प्रकाशित किया जावे। परन्तु कुछ ऐसा बनाव बना कि वह ग्रंथ मुझे किसी कारण उपलब्ध नहीं हो सका, इधर जैन कथा संग्रह (प्रथम-भाग) के समाज में पहुँचते ही जैन कथा संग्रह (द्वितीय-भाग) की माँग जोर पकड़ने लगी। उसके (मुक्ति सुन्दरी का विवाह) बिना द्वितीय-भाग की निरन्तर तैयारी तो होती रही, परन्तु उस तैयारी होने में एक अधूरापन-सा लगता रहा। परिणामस्वरूप उसका प्रकाशन अवरुद्ध होता रहा।

इसके लिए मैंने अनेकों ऐसी रचनाएँ पढ़ीं, जो अनुपलब्ध अथवा उपेक्षित थीं। फिर भी कुछ खास उत्साह का संचार नहीं हुआ, फिर मुझे पण्डित हरकचन्दजी बिलाला द्वारा लिखित "मुक्ति का संघर्ष" नाटक पढ़ने के लिए मिला, उसके पढ़ते ही द्वितीय-भाग प्रकाशित करने का निर्णय गतिमान हो गया। फिर तो एक से एक रचनाएँ पढ़ने में आईं, जिन्हें मैंने इस द्वितीय-भाग में संग्रहीत कर समाज को उपलब्ध कराने का प्रयास किया है। इसका मूल्यांकन तो प्रबुद्ध पाठक पढ़कर ही करेंगे। यहाँ तो मैं मात्र उनके कुछ अंश प्रस्तुत कर आपको पढ़ने के लिए प्रेरित कर रहा हूँ।

इस शृंखला में सबसे पहले आप धर्मदेव और कर्मदेव के संवाद का एक दृश्य पढ़िए—

"धर्मदेव :..... और कर्मदेव ! निमित्त अपेक्षा भी विचार किया जाये तो एक कटु सत्य और है।

कर्मदेव : (जिज्ञासा पूर्वक) वह क्या ?

धर्मदेव : जीव के एक समय के विकार परिणाम को निमित्त करके कार्माण वर्गणा के अनन्तानन्त रजकण मिलकर आपका निर्माण करते हैं। विचार कीजिए, कौन किसका नियन्ता है।........ कर्मदेव ! यह तो जीव के विकार परिणाम की शक्ति है। निर्विकार परिणाम की शक्ति जानते हैं, क्या है ?

कर्मदेव : (विस्मय से) क्या?

धर्मदेव : शुद्धात्मा के लक्ष्य पूर्वक होने वाले निर्विकार परिणाम का निमित्त पाकर अनन्तकाल से बंधे आपके अनन्तानन्त रजकण क्षण-मात्र में निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं। और कर्मदेव ! निर्विकार-स्वरूप सदा एकरूप रहने वाले अखंड, अविनाशी और अनुपम ऐसे परम पवित्र चैतन्य परमात्मा की अनन्त-अनन्त शक्तियों की तो बस आप कल्पना ही कर लें। उसके निर्बाध एवं सुखमय साम्राज्य में तो आपका प्रवेश ही वर्जित है।"

भरत-बाहुबली नाटक के अन्त में बाहुबली स्वामी भरत चक्रवर्ती से कहते हैं कि –

"....मेरी एक इच्छा है, पूज्य ! आप उसे स्वीकार कीजिए।

भरत : क्या संकोच हो रहा है भाई ! निःसंकोच कहो।

बाहुबली : मुझे दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान कीजिए, मैं तपोवन जाऊँगा।

भरत : यह एक बात छोड़कर और कोई बात हो तो कहो भाई ! क्या मुझे संसार के कष्ट भोगने के लिए अकेले छोड़ जाना चाहते हो। युद्ध में तुम्हारी पराजय नहीं हुई है, जिससे इतने उदासीन हो गये हो। आज तो प्रसन्नता की बातें करो।

बाहुबली : आप महान हैं, भ्राता ! मेरी पराजय का मेरा हृदय साक्षी है। मेरी निष्ठुरता से चक्ररत्न भी मेरे समीप न आ सका। मुझे अपने दुष्कृत्यों का प्रायश्चित कर लेने दीजिये।"

इसीप्रकार एक कथन वंसततिलका नाटक का द्रष्टव्य है –

"चारुदत्त : अपने मुँह भला कौन सज्जन अपनी प्रशंसा करता है ? सच बताओ देवी ! क्या तुम्हें वैभव सुहावना नहीं लगता है ?

वसंततिलका : यों तो प्रत्येक प्राणी सुख का आकांक्षी है। मेरे अंतर में भी सुख-लालसा की अगणित जिह्वायें लपलपा रही हैं। उनके आक्रमण से ही संत्रस्त हो, मैं इस विलासी प्रवृत्ति को अपनाये हुये हूँ। शारीरिक तुष्टि के अर्थ पौष्टिक सुस्वादु मधुर व्यंजन, ऐच्छिक मृदुल परिधान, रत्नजड़ित आभूषण एवं सेवा में दास-दासियों के अतिरिक्त संचित निधि का उपयोग क्या है ? शेष निधि केवल भण्डारगृह की शोभा ही बढ़ाती है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि वह कंकड़ों के ढेर की तरह किसी काम न आने वाली तुच्छ वस्तु है।"

वसंततिलका के जीवन की यह नाटिका सचमुच ही हमें विषम से विषम परिस्थितियों में धर्म साधन करने की प्रेरणा देती है। महाविपरीत बाह्य परिस्थितियाँ भी धर्मात्मा के लिए धर्म मार्ग पर चलने से नहीं रोक सकतीं। इसीप्रकार बाह्य में अनुकूल परिस्थितियाँ हमें धर्म में नहीं लगातीं। अतः हमें अपने अंतरंग से धर्म प्रगट करने की भावना निरन्तर रखना चाहिए।

इस संग्रह ग्रंथ में एक ओर जहाँ मुक्ति का संघर्ष, वसंततिलका, उपसर्गजयी सुकमाल जैसे बड़े कथानक एवं नाटकों को समाहित किया गया है; वहीं दूसरी ओर भरत-बाहुबली, मैं स्वयं भगवान हूँ, अपने में अपनापन, अपनी खोज, सुख का रहस्य, प्रोफेसर की डायरी, अध्रुव के उस पार, कूप मण्डूक को जगी जिज्ञासा, संयम, पुण्यास्त, विचित्र महोत्सव आदि लघु नाटक एवं कहानियों को संग्रही। करने से सुविज्ञ एवं अल्पबुद्धि/रुचि वाले सभी पाठकों के लिए यह ग्रंथ सुगम बन गया है।

आशा है इस महान ग्रंथ का अध्ययन-मनन-चिन्तन कर सभी जीव अपने आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर हों – ऐसी मंगल भावना है। – पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री

卐 शास्त्राभ्यास से लाभ 卐

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका में लिखते हैं –

देखो शास्त्राभ्यास की महिमा ! जिसके होने पर परम्परा आत्मानुभव दशा को प्राप्त होता है, जिससे मोक्षरूप फल प्राप्त होता है। यह तो दूर ही रहो, शास्त्राभ्यास से तत्काल ही इतने गुण प्रकट होते हैं –

१. क्रोधादिक की तो मन्दता होती है।
२. पंचेन्द्रिय के विषयों में प्रवृत्ति रुकती है।
३. अतिचंचल मन भी एकाग्र होता है।
४. हिंसादि पाँच पाप नहीं होते।
५. हेय-उपादेय की पहिचान होती है।
६. लोक में महिमा-यश विशेष होता है।
७. आत्मज्ञान (ज्ञान आत्मसन्मुख) सन्मुख होता है।
८. अधिक-अधिक ज्ञान होने पर आनन्द उत्पन्न होता है।
९. सातिशय पुण्य का बन्ध होता है।
१०. स्तोक (अल्प) ज्ञान होने पर भी त्रिलोक के तीन काल सम्बन्धी चराचर पदार्थों का जानना होता है।

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन साहित्य
प्रकाशन एवं प्रचार समिति
:: कार्यालय ::
'लौकान्तिक', ए-३१ए, अनीता कॉलोनी,
अम्बेडकर मार्ग, बजाज नगर, जयपुर (राज.)
मोबाइल : 094147-17816

नाटक-खण्ड

卐 अनुक्रमणिका 卐

१.	सच्चा सम्बन्धी : साधर्मी	XII
	अपनी बात (मुक्ति का संघर्ष)	XIII
	पात्र-परिचय (मुक्ति का संघर्ष)	XV
१.	मुक्ति का संघर्ष	१-८२
२.	भरत-बाहुबली	८३-१०४
३.	स्वतन्त्रता : जन्मसिद्ध अधिकार	१०५-११४
४.	वसंततिलका	११५-२११

सच्चा सम्बन्धी : साधर्मी

(धर्मी सों गो-बच्छ प्रीतिसम)

दुनिया में माता-पुत्र अथवा भाई-बहन का सम्बन्ध उत्तम (पवित्र) माना जाता है, परन्तु साधर्मी के सम्बन्ध का तो इससे भी अधिक ऊँचा स्थान है। इसलिए गुजराती भाषा में ऐसी कहावत भी प्रसिद्ध है कि **"सांचु सगपण साधर्मी तणुं"** – इस उक्ति को इसप्रकार भी कह सकते हैं – **"सच्चा सम्बन्धी : साधर्मी"**

इस सम्बन्ध की तुलना में यदि कोई सम्बन्ध हो सकता है तो वह एक ही है– **"गुरु-शिष्य का सम्बन्ध"**। लेकिन वह सम्बन्ध भी अन्त में साधर्मी के सम्बन्ध में ही समाविष्ट हो जाता है, क्योंकि एक ही धर्म के माननेवालों में ही जो बड़ा हो वह गुरु और जो छोटा हो वह शिष्य। अत: 'सच्चा सम्बन्धी : साधर्मी' – इसकी सबसे अधिक उत्कृष्टता है।

एक राष्ट्र में रहनेवाले अलग-अलग धर्म को माननेवाले भी राष्ट्रीय भावना के कारण एक-दूसरे को भाई-भाई समझने में गौरव का अनुभव करते हैं तो एक जिनशासन की छत्रछाया में रहनेवाले और एक ही देव-गुरु-धर्म की उपासना करनेवाले साधर्मियों में धार्मिक भावना के कारण परस्पर में जो बंधुत्व का निर्दोष वात्सल्य पाया जाता है और "ये मेरे साधर्मी भाई या साधर्मी बहन हैं" – ऐसा कहते हुए अन्तरंग में जो निर्दोष उल्लास और धार्मिक गौरव वर्तता है, उसकी तुलना जगत के अन्य किसी सम्बन्ध से नहीं की जा सकती।

अपने वीतराग धर्म ! इसमें साधर्मी-साधर्मी के सम्बन्ध की उत्कृष्टता का दूसरा कारण यह है कि उसमें एक-दूसरे के सम्बन्ध से मात्र धार्मिक भावना की पुष्टि के सिवाय दूसरी कोई आशा या अभिलाषा नहीं होती है। मुझे जो धर्म प्रिय लगा, इसलिए उसने मेरी धर्मभावना का पोषण किया और मैंने उसकी धर्मभावना का पोषण किया। इसप्रकार परस्पर में धर्मपुष्टि की निर्दोष भावना से सुशोभित होनेवाला धर्मवात्सल्य जगत में जयवन्त वर्तो !

हम भी एक ही उत्तम पथ के पथिक हैं, इस कटु संसार में साधर्मी के सहवास की मिठास चखकर और आत्मिक चर्चा के दो शब्द सुनकर मुमुक्षुजीव की संसार से उत्पन्न होनेवाली थकान उतर जाती है और धार्मिक उत्साह होने से अनोखा बल मिलता है। बस, साधर्मी के पवित्र प्रेम के सामने अन्य सब बातों को भूल जाओ......साधर्मी के प्रति वात्सल्य – यह मुमुक्षुजीव का उत्कृष्ट आभूषण है। महावीर प्रभु के वीतराग शासन में सर्व साधर्मीजन वात्सल्य के पवित्र वातावरण से वीरशासन को शोभायमान करो......!

मुक्ति का संघर्ष : अपनी बात

कुछ वर्ष पूर्व मन में विचार उत्पन्न हुआ था कि जीव के गुण-परिणामों को पात्र बनाकर, उसके मिथ्यात्व-दशा से सिद्ध-दशा तक पहुँचने की मंगल यात्रा का प्रस्तुतीकरण किया जाय। कुछ लिखना प्रारम्भ भी किया, परन्तु इस विषय में कल्पना-पृष्ठभूमि धुँधली होने के कारण कलम रुकी रही। तब किसी समय सुकवि 'भैया भगवती दास' की काव्य कृति 'चेतन कर्म-चरित्र' पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इससे धुँधलापन मिटा, परिकल्पना स्पष्ट हुई, लेखनी को सहारा मिला और वह गतिमान हो चली! अस्तु !!

'मुक्ति का संघर्ष' उस जीवात्मा की कथा है, जो अज्ञान और मिथ्यात्व की जड़ अवस्था से ऊपर उठकर अपनी पहिचान करता है और शनैः शनैः अपने को मोहपाश से छुड़ाता हुआ, अन्ततः सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर मुक्ति सुन्दरी का वरण करता है। मुक्ति प्राप्त करने के सद्प्रयास में जीवात्मा समूची मोह-वाहिनी से कैसा दुर्द्धर संघर्ष करता है, इसी का दिग्दर्शन इस नाटक में किया गया है। इसमें आत्मा के मुक्ति प्राप्त करने का कथा-क्रम उसके गुण-परिणामों को ही पात्र बनाकर प्रतीकात्मक रूप से गुम्फित किया गया है।

प्रतीक रचना होने के कारण इस कृति में यद्यपि जिनागम के सैद्धान्तिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए ही प्रत्येक पात्र के चरित्र के अनुकूल उसके संवाद लिखने का विनम्र प्रयास किया गया है, तथापि अनेक स्थलों पर पात्रों के मुख से मानवीय संव्यवहार का निर्वाह करनेवाले कथोपकथन भी कहलवाना पड़े हैं। इनका सिद्धान्तों अथवा पात्रों के मूल चरित्र से कोई प्रयोजन नहीं है। इसीप्रकार नाटक की विधा के अनुसार भी कतिपय संवाद लिखना पड़े हैं।

इसमें 'चेतनराज' मुख्यतः पर्यायार्थिक नय विवक्षित जीवात्मा ही है। किन्तु एकाधिक अवसर पर विवेककुमार और ज्ञानदेव अपनी मानसिकता में उसे शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय-विवक्षित त्रिकाल शुद्ध चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के रूप में भी देखते हैं। एक रोचक तथ्य सुकृतकुमार के विषय में भी है – निष्ठापूर्वक सदा चेतनराज के साथ रहने को दृढ़ प्रतिज्ञ होने पर भी वह मुक्ति के संघर्ष में परमार्थतः बाधक और अनुपादेय है। वह जो भी कुछ करता है, उसका सम्पूर्ण लाभ मोहराज को ही प्राप्त होता है, चेतनराज को किंचित् नहीं। अस्तु !!

प्रस्तुत कृति में गुणस्थानों का सामान्य स्वरूप दर्शाया गया है। किन्तु जीव मुक्ति के मार्ग में इसी क्रम से अग्रसर होता हो, यह अनिवार्य नहीं। उदाहरणार्थ – यह आवश्यक नहीं कि

जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम चौथा गुणस्थान ही प्राप्त करे, वह प्रथम गुणस्थान से पाँचवा अथवा सातवाँ गुणस्थान भी प्राप्त कर सकता है। यह भी आवश्यक नहीं कि वह 'सासादन' में आए ही, गिरते समय वह ''सम्यक्-मिथ्यात्व'' प्रकृति का उदय आने पर तीसरे गुणस्थान में अथवा 'मिथ्यात्व प्रकृति' का उदय आने पर पहले गुणस्थान में भी आ सकता है। और गिरे नहीं तो पुरुषार्थ पूर्वक गुणस्थान परिपाटी अनुसार ऊपरवाले गुणस्थान भी प्राप्त कर सकता है। इसीप्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि जीव उपशम श्रेणी पहले मांडे ही, फिर क्षपक श्रेणी मांडे। यह संभव है कि वह उपशम श्रेणी मांडे ही नहीं और अनन्तानुबंधी का विसंयोजन करके, क्षायिक समकिती होकर, सीधे क्षपक श्रेणी मांड ले और केवलज्ञान की प्राप्ति कर ले। हाँ, यह नियम अवश्य है कि क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना जीव क्षपक श्रेणी पर आरोहण नहीं कर सकता। इत्यादि !!

नाटक में चतुर्थ आदि गुणस्थानों का क्रमशः निरूपण, उनका स्वरूप दर्शाने के आशय से ही किया गया है। अव्रतपुर, देशव्रतपुर, प्रमत्तपुर, अप्रमत्तपुर और उपशम तथा क्षपक श्रेणी के नगरों आदि से सम्बन्धित पृथक्-पृथक् दृश्य इसी अभिप्राय से लिखे गये हैं। अस्तु !!

एक बात यह भी है कि यह कृति कोई सैद्धान्तिक रचना न होकर, एक नाटक है, अतः इसमें सिद्धान्त की दृष्टि से तर्क व्याप्ति की अपेक्षा रखना उचित न होगा। अतएव पाठक वृन्द से मेरा विनम्र अनुरोध है कि वे तर्क-व्याप्ति का आग्रह छोड़कर रचना के भाव-पक्ष पर अधिक बल दें। हम सभी साधर्मी जन का ध्येय तो अन्ततः यही है कि अनादिकालीन संसार दुःखों का अन्त करने के लिये, हम स्वशुद्धात्मा के आश्रय से मोह का अभाव करें और अविलम्ब ही मोक्ष सुख को प्राप्त करें। यही हम सबके लिये कल्याणकारी है, परम मंगलकारी है।

भाषा, भाव, विषय की अभिव्यक्ति आदि की दृष्टि से यह कृति कितनी सफल हो सकी है, इसका मूल्यांकन सुविज्ञ पाठकों को करना है। आशा है कि नाटक के मंचन में भी विशेष कठिनाई नहीं आएगी।

अन्त में, इसमें हुई त्रुटियों के लिये साभार क्षमा याचना करते हुये मैं विद्वत्जन से विनती करना चाहूँगा कि वे उन त्रुटियों से मुझे अवश्य अवगत कराएँ।

धन्यवाद ! जयजिनेन्द्र !!

अशोकनगर (म.प्र.)
शुभ मिती श्रुतपंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५२०

विनीत
हरकचंद बिलाला

मुक्ति का संघर्ष

पात्र-परिचय

पुरुष पात्र

कर्मदेव	- कर्म का प्रतीक।
धर्मदेव	- धर्म का प्रतीक।
चेतनराज	- जीवराजा।
ज्ञानदेव	- चेतनराज के प्रधान अमात्य
चारित्रवीर, दर्शनश्री, वीर्यवर	- चेतनराज के परिजन एवं प्रमुख योद्धा।
विवेककुमार	- चेतन कुल का प्रधान गुप्तचर, सेनापति एवं महासुभट।
मोहराज	- मोहपुरी का राजा।
मिथ्यात्वराज	- मोहराज का प्रधान सेनापति।
रागराज, द्वेषराज	- मोहराज के मंत्रीद्वय।
ज्ञानावरण, दर्शनावरण अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र	मोहराज के सेना नायक।
कामकुमार	- मोहराज का प्रधान गुप्तचर।
सुकृतकुमार दुष्कृतकुमार	वस्तुतः वेदनीय और कुबुद्धिदेवी के पुत्र, किन्तु प्रगट रूप से चेतनराज और कुबुद्धिदेवी के पुत्र
सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह,	सुकृतकुमार के महासुभट।
हिंसा, असत्य, स्तेय अब्रह्म, परिग्रह	दुष्कृतकुमार के महासुभट।
कुमनकुमार	- दुष्कृतकुमार का गुप्तचर।

स्त्री-पात्र

कुबुद्धिदेवी	-	मोहराज की पुत्री एवं (अज्ञान दशा में) चेतनराज की पत्नी।
सुबुद्धिदेवी	-	चेतनराज की रानी।
श्रद्धादेवी	-	प्रारम्भ में मिथ्यात्वराज की अनुगामिनी एवं (बाद में) चेतनराज की परिणीता।
अनन्तानुबंधी	-	मोह-कुल की प्रमुख वीरांगना, मिथ्यात्वराज की चिर-सहचरी।

अन्य-पात्र

द्वारपाल, नर्तकी, वारूणीबाला, कुछ सभासद, कुछ अनुचर आदि।

प्रसंग प्राप्त नामों का परिचय

सम्यक्त्वराज	-	चेतनराज एवं श्रद्धादेवी का पुत्र।
मिश्रमोहनीय	-	मिथ्यात्वराज का अंशावतार।
सम्यक्त्वमोहनीय	-	मिथ्यात्वराज का अंशावतार।
हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद	-	मोह-कुल की ९ किशोर वीरांगनाएँ।
अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन	-	मोहराज के परिजन एवं प्रमुख सेना नायक।
क्रोध, मान, माया, लोभ	-	अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन – इन चारों के पृथक्-पृथक् ये ४-४ (कुल १६) महासुभट।
अविरत कुमार,	-	मोह-कुल का दुर्द्धर योद्धा।
प्रमत्तकुमार	-	प्रमत्तपुर का नायक, मोहराज का योद्धा।
स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत	-	पाँच इन्द्रियाँ – सेना नायक नामकर्म की वीर बालाएँ।

मुक्ति का संघर्ष

उपोद्घात

[मंच पर व्योम-पटल का दृश्य। चारों ओर हलका नीला प्रकाश। धर्मदेव और कर्मदेव प्रगट होते हैं।]

धर्मदेव : जय जिनेन्द्र, कर्मदेव !

कर्मदेव : जय जिनेन्द्र, धर्मदेव ! जिनेन्द्र देव तो सदा जयवन्त ही हैं। किन्तु धर्मदेव, कितने जीव जिनेन्द्र बन पाते हैं? सिद्धों से अनन्त गुना संसारी हैं, और संसारी प्राणियों पर मेरा एक छत्र शासन चलता है। सभी पर मेरा प्रभुत्व है। सभी मेरे दास हैं। मैं उन्हें कठपुतली की तरह नाच नचाता रहता हूँ।

धर्मदेव : यह तो सत्य है कि सिद्धों से अनन्त गुना संसारी हैं। किन्तु यह कथन सही नहीं कि उन पर आपका प्रभुत्व है। वे आपके दास हैं।

कर्मदेव : हाथ कंगन को आरसी क्या? आप स्वयं अवलोकन कर लें। अनन्त संसारी प्राणी मेरे कथन की सत्यता प्रमाणित कर रहे हैं। मेरे बिना उनके ज़ीवन की कल्पना भी संभव नहीं। मैं ही उनके सुख-दुख और जीवन-मृत्यु का नियन्ता हूँ। एक क्षण में किसी को राजा से रंक बना देना और रंक को राजा बना देना, मेरे बाएँ हाथ का खेल है।

धर्मदेव : बहुत भोले हो कर्मदेव ! कर्तृत्व के अहंकार में शाश्वत वस्तु-सत्य आपकी आँखों से ओझल हो गया प्रतीत होता है। संसारी प्राणी आपके कारण नहीं, वरन अपने अज्ञान के कारण सुखी-दुःखी होते हैं। स्वभाव से स्वयं तो वे परमात्मा हैं, किन्तु अज्ञानवश पर्यायांश में होने वाले राग-द्वेषादि परिणामों से अपने को सर्वथा रागी-द्वेषी मानते हैं। आपकी सातारूप उपस्थिति के निमित्त से प्राप्त अनुकूल संयोगों में इष्टबुद्धि करके वे अपने को सुखी मानते हैं, तो असातारूप उपस्थिति के निमित्त से प्राप्त प्रतिकूल संयोगों में अनिष्टबुद्धि करके अपने को दुःखी अनुभव करते हैं।

कर्मदेव : यही तो मेरा कहना है। मैं जैसा रूप धारण करके उपस्थित होता हूँ, जीव वैसा ही अनुभव करने को बाध्य है। मेरी सातारूप उपस्थिति उसे हर्ष का वेदन कराती है, और असाता रूप उपस्थिति विषाद का।

धर्मदेव : नहीं, नहीं, ऐसी बात नहीं है। गम्भीरता से विचार कीजिए। यदि आपकी उपस्थिति मात्र से जीव विकार करने को बाध्य हो, तो कोई भी जीव आपसे सर्वथा मुक्त होकर कभी सिद्धत्व प्राप्त ही न कर सकेगा।....... कर्मदेव ! आपका और जीव का एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध तो अनादि से है। इस पर भी अब तक जो जीव सिद्ध हुए, उन्होंने अपने को आपसे सर्वथा पृथक् अनुभव करके ही सिद्धत्व प्राप्त किया और ऐसा पुरुषार्थ उन्होंने आपकी उपस्थिति में ही किया।

कर्मदेव : यह तो, जो सिद्ध हुए उनकी बात है। किन्तु संसारी प्राणी तो मेरी उपस्थिति के अनुरूप ही राग-द्वेष करने और सुख-दुःख का अनुभव करने को बाध्य हैं।

धर्मदेव : सुनो कर्मदेव ! स्वभावतः आत्मा ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी चैतन्य महापदार्थ है। अनन्तानन्त शक्तियों का पुंज, गुणों का निधान, निरावरण, निरपेक्ष ऐसा त्रिकाल शुद्ध आनन्द-कन्द स्वयं-बुद्ध परमात्मा है। किन्तु अपने इस शाश्वत स्वरूप से च्युत होकर संसारी जीव जब आपके बहुरूपियेपन में व्यामोहित बुद्धि करके मदोन्मत्त होता है, तो उसके हृदय में विभाव परिणामों की उत्पत्ति होती है, तभी आपको यह अहंकार करने का अवसर मिल जाता है कि मैंने जीव को रागी-द्वेषी किया, मैंने जीव को सुखी-दुःखी बनाया।

कर्मदेव : विभाव परिणामों का नियन्ता तो अन्ततः मैं ही सिद्ध हुआ।

धर्मदेव : नहीं कर्मदेव ! विभाव परिणामों का मूल कारण जीव का परद्रव्य में एकत्व बुद्धिरूप अध्यास है। जीव अपनी योग्यता से स्वतन्त्रतापूर्वक परलक्ष्यी होकर विभावरूप परिणमन करता है और अपनी योग्यता से ही स्वतन्त्रतापूर्वक स्व-सन्मुख होकर स्वभाव रूप भी परिणमन करता है। इसमें आपका कोई हस्तक्षेप नहीं चलता। हाँ....... आप निमित्त अवश्य हैं।

कर्मदेव : निमित्त तो हूँ न ! मेरे निमित्त बिना तो संसारी प्राणी का कोई उपक्रम संभव नहीं।

धर्मदेव : आप फिर भूलते हैं। सत्य तो यह है कि कार्य की निष्पत्ति विवक्षित द्रव्य की उपादान शक्ति से होती है। निमित्त रूप पर-द्रव्य से नहीं। निमित्त तो आरोपित तत्त्व है।

कर्मदेव : (व्यंग से हँसते हुए) बड़ी हास्यास्पद बात की आपने !....... (कुछ गम्भीर होकर) क्या निमित्त के अभाव में कार्य निष्पत्ति की कल्पना भी की जा सकती है ?

धर्मदेव : कार्योत्पत्ति का स्वकाल हो और वहाँ निमित्त अनुपस्थित रहे, ऐसी असंभव वस्तु-व्यवस्था लोक में कहीं नहीं है।....... और कर्मदेव ! निमित्त अपेक्षा भी विचार किया जाये तो एक कटु सत्य और है।

कर्मदेव : (जिज्ञासा पूर्वक) वह क्या?

धर्मदेव : जीव के एक समय के विकारी परिणाम को निमित्त करके कार्माण वर्गणा के अनन्तानन्त रजकण मिलकर आपका निर्माण करते हैं। विचार कीजिए, कौन किसका नियन्ता है।........ कर्मदेव ! यह तो जीव के विकार परिणाम की शक्ति है। निर्विकार परिणाम की शक्ति जानते हैं, क्या है ?

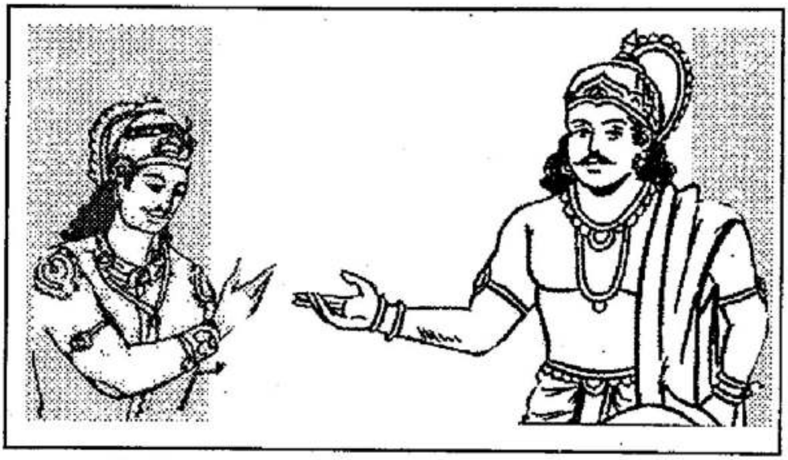

कर्मदेव : (विस्मय से) क्या ?

धर्मदेव : शुद्धात्मा के लक्ष्य पूर्वक होने वाले निर्विकार परिणाम का निमित्त पाकर अनन्त काल से बंधे आपके अनन्तानन्त रजकण क्षण-मात्र में निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं। और कर्मदेव! निर्विकार-स्वरूप सदा एकरूप रहने वाले अखंड, अविनाशी और अनुपम ऐसे परम पवित्र चैतन्य परमात्मा की अनन्त-अनन्त शक्तियों की तो बस आप कल्पना ही कर लें। उसके निर्बाध एवं सुखमय साम्राज्य में तो आपका प्रवेश ही वर्जित है।

कर्मदेव : (किंचित् रोष पूर्वक) जीव ऐसा ही सर्वशक्तिमान है तो अनादिकाल से चार गतियों, चौरासी लाख योनियों में पंच परावर्तन करता हुआ क्यों भटक रहा है? सभी संसारी प्राणी मुझसे इसी क्षण मुक्त क्यों नहीं हो जाते।

धर्मदेव : आपसे मुक्त नहीं हो पा रहे, इसका मूल कारण है कर्मदेव, उनका मिथ्यात्वरूप परिणमन ! मिथ्यात्व के कारण जीव की अपने स्वरूप में आस्था नहीं हो पाती। आस्था के अभाव में ही वह सम्यक् परिज्ञान और सम्यक् आचरण से वंचित रहता है। संसार का मूल मिथ्यात्व ही है। इसका अभाव होने पर जीव को वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान की अनुभूति होती है। बस तभी मैं उस भव्यात्मा के हृदय में प्रवेश करता हूँ। यहीं से उसका मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है। फिर शनैःशनैः पुरुषार्थ द्वारा जीव आपसे अपने अनादिकालीन सम्बन्धों का विसर्जन करता हुआ, एक दिन पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है। यही चरम-सुख की दशा है। इसे ही मोक्ष कहते हैं। वस्तुतः आत्मा स्वभाव से स्वयं मोक्ष स्वरूप ही है। मैं स्वयं और कुछ नहीं जीव का स्वभाव-भाव ही हूँ ....। **'वत्थु सहावो धम्मो'**

मोक्ष में मेरा ही साम्राज्य है। मैं ज्ञानियों, वीतरागी सन्तों, अरिहन्त भगवन्तों और सिद्धात्माओं के हृदय में निवास करता हूँ।

कर्मदेव : (रोष पूर्वक) तो मेरा कोई कर्तृत्व आपको स्वीकार नहीं?

धर्मदेव : (हँसकर) मुझे स्वीकार नहीं तो क्या? अज्ञानवश संसारी प्राणी तो आपका कर्तृत्व स्वीकार करते हैं!

कर्मदेव : (रोष पूर्वक) आप भले ही मेरा उपहास करें! किन्तु मेरा साम्राज्य भी निस्सीम है। सभी संसारी मेरे दास हैं। उनके बीच आपका कोई आदर नहीं, कोई पूछ नहीं। किंचित् है भी, तो वे पुण्य को ही धर्म के नाम से जानते हैं....... हा....... हा....... हा....... हा.......! (अट्टहास करता है) देखो धर्मदेव! मैं चेतन को कैसे-कैसे नाच नचाता हूँ। (तर्जनी से इंगित करते हुए) स्वयं देख लो। ....हा ....हा....... हा....... हा.......!

(अट्टहास करते हुए अन्तर्ध्यान हो जाता है। धर्मदेव मुस्कुराते हैं और वे भी अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। तभी पर्दा गिरता है और मंच पर दूसरे पर्दे के भीतर अगला दृश्य दृष्टिगोचर होता है।) *-पटाक्षेप-*

यदि तुझे भवदु:ख से तिरना हो ......

भाई! प्रात:काल उठते ही तुझे वीतराग भगवान की याद नहीं आती, धर्मात्मा-मुनि याद नहीं आते और संसार के अखबार, व्यापार-धन्धा अथवा स्त्री आदि की याद आती है तो तू ही विचार कर कि तेरी परिणति किस तरफ जा रही है? संसार की तरफ या धर्म की तरफ .... ?

*जो परमभक्ति से जिनेन्द्र भगवान का दर्शन नहीं करता तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसे वीतरागभाव नहीं रुचता और तिरने का निमित्त नहीं रुचता, परन्तु संसार में डूबने का निमित्त रुचता है। जैसे रुचि होती है, वैसे सम्बन्धों की तरफ रुचि जाये बिना नहीं रहती; इसलिए कहते हैं कि वीतरागी जिनदेव को देखते ही जिसे अन्तर में भक्ति उल्लसित नहीं होती, पूजा-स्तुति का भाव उत्पन्न नहीं होता; वह गृहस्थ समुद्र के बीच पत्थर की नाव में बैठा है.... । **अरे! बड़े-बड़े मुनि भी जिनेन्द्रदेव के दर्शन और स्तुति करते हैं और तुझे ऐसा भाव नहीं आता और एकमात्र पाप में ही रचा-पचा रहता है तो तू भवसमुद्र में डूब जायेगा।***

भाई! यदि तुझे इस भवदु:ख के समुद्र में डूबना न हो और उससे तिरना हो तो संसार की तरफ की रुचि बदलकर वीतरागी देव-गुरु की तरफ तेरे परिणाम को लगा; वे धर्म का स्वरूप क्या कहते हैं, उसे समझ और उनके कहे हुए आत्मस्वरूप को रुचि में ले; तो भवसमुद्र से तेरा छुटकारा होगा।

– श्रावकधर्म प्रकाश, पृष्ठ ११८-११९

卐 प्रथम-अंक 卐

(प्रथम-दृश्य)

[जड़पुर दुर्ग के महल में चेतनराज चतुर्गति के पलंग पर लेटे हुए हैं। द्वार पर हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह पहरा दे रहे हैं। निकट ही कुबुद्धिरानी और श्रद्धादेवी खड़ी हैं। मेज पर सुराही रखी है, जिसमें मदिरा भरी हुई है। कुबुद्धिरानी सुराही से मदिरा पात्र भरकर चेतनराज को उठाती है।]

कुबुद्धिरानी : उठिये महाराज, थोड़ी और पी लीजिए।

चेतनराज : (लड़खड़ाते स्वर में) कहाँ तक पिलाओगी रानी !.... पीते-पीते थक गया हूँ।

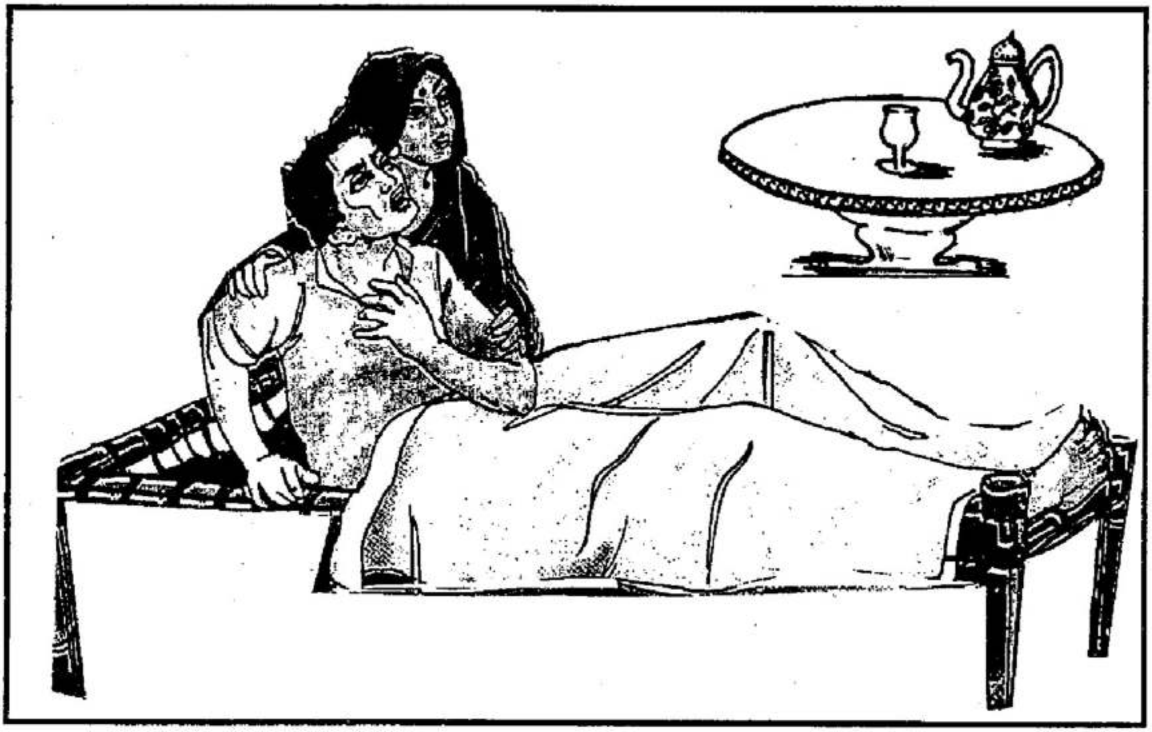

कुबुद्धिरानी : इसे चखिये महाराज ! मेरे पिताश्री, महाराज मोहराज ने आपके लिए ही अनेक व्यंजनों से तैयार करके भिजवाई है।

चेतनराज : (लड़खड़ाते स्वर में) ओह रानी !....... तुम्हारे पिता महाराज मोहराज की हम पर बड़ी अनुकम्पा है। (कुबुद्धिरानी से मदिरा पात्र लेते हैं।)

श्रद्धादेवी : हाँ महाराज ! त्रिलोकाधिपति महाराज मोहराज आपकी सुख-सुविधा का बहुत ध्यान रखते हैं।

कुबुद्धिरानी : क्यों न रखेंगे ध्यान ! मैं उनकी बेटी जो आपकी पत्नी हूँ। मेरे भ्राता सेनाधिपति मिथ्यात्वराज के नेतृत्व में आपको मेरे पिताश्री ने ही जड़पुर का नरेश बनाया है। मेरे पुत्र सुकृत कुमार और दुष्कृत कुमार अपने दस महासुभटों की सहायता से सदा आपकी रक्षा को तत्पर रहते हैं।

चेतनराज : (विस्मय से) क्या कहा ! सुकृत कुमार और दुष्कृत कुमार तुम्हारे पुत्र?

(कुबुद्धिरानी हड़बड़ाकर श्रद्धादेवी की ओर निहारती है।)

श्रद्धादेवी : (आश्वस्त करते हुए) महारानी का तात्पर्य है महाराज कि सुकृत कुमार और दुष्कृत कुमार आपके ये दोनों पुत्र सदा आपकी सेवा और रक्षा में तत्पर रहते हैं।

चेतनराज : (श्रद्धादेवी से) आश्वस्त हुआ देवी !.... (कुबुद्धिरानी का हाथ पकड़कर प्यार से).... आओ रानी ! हमारे पास बैठो ! तुम्हारे प्यार में तो हम अपनी सारी सुध-बुध खो जाते हैं।

(मिथ्यात्वराज का प्रवेश)

मिथ्यात्वराज : महाराज की जय हो !

चेतनराज : (उनींदे स्वर में) कौन?

कुबुद्धिरानी : भैया मिथ्यात्वराज आए हैं महाराज ! जड़पुर के सेनाधिपति ! आपकी विजय-कामना कर रहे हैं।

चेतनराज : ओह ! सेनाधिपति....... सेनाधिपति....... मिथ्यात्वराज.....! कहो....... जड़पुर की....... प्रजा के क्या....... हाल....... हैं ?

मिथ्यात्वराज : आप चिन्ता न करें महाराज ! चारों ओर सुख-शान्ति है। प्रजा अनुशासित है। सुकृत कुमार और दुष्कृत कुमार प्रजा की पुण्य-पाप रूप प्रवृत्तियों के लिये पर्याप्त सामग्री जुटाते रहते हैं। मेरे भ्राता अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन अपने चारों महासुभट क्रोध, मान, माया और लोभ की सहायता से जड़पुर की प्रशासन व्यवस्था सुचारू रूप से चला रहे हैं। त्रिभुवनपति महाराज मोहराज के ज्ञानावरणादि सभी सेनानायक भी अनेक महासुभटों सहित निष्ठापूर्वक अपने-अपने कर्तव्यों का परिपालन करते रहते हैं। इससे जड़पुर की सुरक्षा-व्यवस्था बहुत सुदृढ़ बनी हुई है और महाराज....... (श्रद्धादेवी की ओर दृष्टिपात करते हुए)....... श्रद्धादेवी का भी कम उपकार नहीं !....... आप प्रजा को आश्वस्त रखती हैं। प्रजाजन इन पर बड़ा विश्वास करते हैं। यह इनकी ही अनुकम्पा का फल है कि जड़पुर की सारी प्रजा हृदय में अटूट जड़ता को धारण किये, पाषाणवत् शान्त और स्थिर है।

श्रद्धादेवी : (विनत भाव से) इसमें मेरी कोई विशेषता नहीं है महाराज ! सब मिथ्यात्वराज का ही प्रताप है। मैं तो इनकी अनुगामिनी-मात्र हूँ।

कुबुद्धिरानी : (मुस्कुराते हुए मिथ्यात्वराज से) अपनी चिर-सहचरी अनन्तानुबंधी को तो आप विस्मरण ही कर गये।

मिथ्यात्वराज : (हँसते हुये) उसे स्मरण करने का दायित्व तुम पर छोड़ दिया है।....... (इस बात पर मिथ्यात्वराज और कुबुद्धिरानी दोनों हँसते हैं।)

चेतनराज : (कुछ न समझते हुए) ठीक है सेनाधिपति। जो तुम्हें सूझे, वही करो।....... (कुबुद्धिरानी की ओर मुड़कर)....... लाओ रानी ! महाराज मोहराज की सौगात पिलाओ।

(कुबुद्धिरानी मदिरा-पात्र देती है। चेतनराज मदिरा पीते हैं। मिथ्यात्वराज और कुबुद्धिरानी हँसते हैं। श्रद्धादेवी शान्त खड़ी है। तभी मिथ्यात्वराज ताली बजाते हैं। नर्तकी आती है। नृत्य होता है।)

॥ गीत ॥

मोह वारुणी पीकर दुःख का, करो त्वरित उपचार॥ मोह वारुणी पीकर.......॥
मोहराज की अनुकम्पा से, मिला मधुर उपहार।
पीकर सब दुःख भूलो उनका, नित्य करो जयकार॥ मोह वारुणी पीकर.......॥
सुविधा त्रिजग भ्रमण करने की, मिली अनन्ते बार।
उनका अनुशासन बंधन ही, स्वयं मुक्ति का द्वार॥ मोह वारुणी पीकर.......॥
वरद हस्त मिथ्यात्वराज का, बढ़े न क्यों संसार।
स्वयं कुमति रानी हैं तत्पर, करने को उपकार॥ मोह वारुणी पीकर.......॥
मोह-कृपा से व्यापक जग में, राग-द्वेष व्यापार।
काम-क्रोध,मद-लोभ प्रीति ही, भव-भव का आधार॥ मोह वारुणी पीकर......॥

-पटाक्षेप-

पंचेन्द्रियों के विषय में आसक्त मनुष्य का कौन-सा सद्गुण नष्ट नहीं होता है ? अर्थात् उसके सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। विषयों की आसक्ति और सद्गुणों में परस्पर सदा से ही वैर रहा है। अत: विषयासक्त मनुष्य में विद्वत्ता, मानवता, कुलीनता, सत्यनिष्ठा, विवेक आदि कोई भी गुण नहीं रहता। ***–क्षत्रचूड़ामणि, पहला लम्ब, श्लोक : १०, पृष्ठ : ४१***

द्वितीय-दृश्य

[वन प्रदेश का दृश्य। रानी सुबुद्धिदेवी, ज्ञानदेव, दर्शनश्री, चारित्रवीर वीर्यवर आदि दिखाई दे रहे हैं। सुबुद्धिदेवी एक शिलाखंड पर बैठी हुई हैं, ज्ञानदेव टहल रहे हैं। शेष सब सुबुद्धिरानी के पार्श्व में खड़े हैं।]

ज्ञानदेव : महारानीजी, हमने महाराज चेतनराज से साक्षात्कार करने का बहुत प्रयत्न किया,....... किन्तु अब तक कोई सफलता नहीं मिल पाई है। फिर भी हम हताश नहीं हैं। हमारा प्रयास अविराम चल रहा है।

सुबुद्धिदेवी : ज्ञानेदव ! एक आपका ही सहारा है। अनादिकाल से अनन्त समय व्यतीत हो गया, मैं परित्यक्ता की तरह अपना जीवन व्यतीत कर रही हूँ। आप सब भी निर्वासित जीवन जीने को बाध्य हैं।

ज्ञानदेव : महारानीजी ! आपका कथन सत्य है। किन्तु इन परिस्थितियों में किया भी क्या जा सकता है। फिर भी हमने साहस नहीं छोड़ा है। हम इस प्रयत्न में हैं कि येन-केन-प्रकारेण महाराज चेतनराज से साक्षात्कार हो जाये। हमारे गुप्तचर प्रधान विवेक कुमार इस दायित्व का कुशलतापूर्वक निर्वाह कर रहे हैं....... एक बार महाराज से भेंट भर हो जाए, फिर ये दुर्दिन न रहेंगे। (गुप्तचर प्रधान विवेक कुमार का आगमन)

विवेक कुमार : महारानी की जय हो !....... (ज्ञानदेव की ओर मुख करके) पूज्यवर ज्ञानदेव को आपका यह बालक प्रणाम करता है।

ज्ञानदेव : आयुष्मान् भव ! क्या समाचार है वत्स?

विवेक कुमार : पूज्यवर, मैंने जड़पुर दुर्ग में प्रवेश करने की बहुत चेष्टा की। किन्तु मिथ्यात्वराज ने जड़पुर दुर्ग के चारों ओर कड़ा पहरा बैठा रखा है। इसलिए मेरा दुर्ग प्रवेश संभव न हो सका। हाँ, मैंने कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का अवश्य पता कर लिया है।

ज्ञानदेव : (हर्षित होकर) स्वस्ति वत्स ! हमें भी उन तथ्यों से अविलंब अवगत कराओ।

विवेक कुमार : पूज्यवर ! महाराज चेतनराज जड़पुर दुर्ग के महल में बन्दी हैं। दुर्ग पर मोहराज के सेनाधिपति मिथ्यापुर नरेश मिथ्यात्वराज का नियन्त्रण है। महल पर दुष्कृत कुमार अपने पाँच महासुभटों के साथ कड़ा पहरा देता है। सेनाधिपति मिथ्यात्वराज की चिर-संगिनी एक अनंतानुबंधी कषाय नाम की वीरांगना है, जिसके नेतृत्व में उसके भ्राता अप्रत्याख्यानावरण कषाय, प्रत्याख्यानावरण कषाय और संज्वलन कषाय अपने चार महासुभट – क्रोध, मान, माया और

लोभ की सहायता से जड़पुर का प्रशासन चलाते हैं। मिथ्यात्वराज के पिता मोहराज ने महाराज चेतनराज को धोखे में रखकर उनसे अपनी पुत्री कुबुद्धिदेवी का परिणय करा दिया है।....... और तो और, जिन्हें महाराज चेतनराज की अनुगत होना चाहिए था, वे श्रद्धादेवी भी मिथ्यात्वराज के व्यामोह में फँसी, उनके कुशासन को कल्याणकारी बताकर चेतनराज को भ्रमित किये रहती हैं।

(रानी सुबुद्धिदेवी सिसकने लगती हैं।)

ज्ञानदेव : (सुबुद्धिदेवी से) धैर्य धारण करें, महारानीजी! इस तरह सन्तप्त होने से भला क्या लाभ होगा?....... (विवेक से)....... हाँ, आगे कहो वत्स!

विवेक कुमार : कुबुद्धिरानी ने महाराज मोहराज द्वारा भेजी गई मोह-मदिरा पिला पिलाकर चेतनराज को इतना बेसुध कर दिया है कि उन्हें अपने-पराए का, हित-अहित का कोई भान नहीं है। और तो और इस व्यभिचारिणी कुबुद्धिरानी .... (चुप हो जाता है।)

ज्ञानदेव : चुप क्यों हो गए?

विवेक कुमार : आगे कहने का साहस नहीं होता, पूज्यवर!

ज्ञानदेव : (सुबुद्धिदेवी की ओर देखते हैं, फिर विवेक कुमार से गम्भीर स्वर में)....... हमें सभी कड़वे घूंट पीने होंगे वत्स!....... निःसंकोच कहो!

विवेक कुमार : उस कुलटा रानी कुबुद्धिदेवी ने मोहराज के एक सेनानायक वेदनीय से अपना अवैध सम्बन्ध बना रखा है। वेदनीय के संसर्ग से उसे सुकृत कुमार और दुष्कृत कुमार ये दो पुत्र उत्पन्न हुए हैं। किन्तु इन अवैध पुत्रों को वह महाराज चेतनराज के संसर्ग से उत्पन्न हुए बताती है। चेतनराज भी भ्रम में उन्हें अपने ही पुत्र मानते हैं। उनकी इस भ्रामक मान्यता को मिथ्यात्वराज के व्यामोह जाल में फँसी श्रद्धादेवी सदा पुष्ट किया करती हैं।....... किन्तु एक बात विशेष है।

ज्ञानदेव : वह क्या?

विवेक कुमार : सुकृत कुमार और दुष्कृत कुमार में परस्पर अनबन रहती है। सुकृत कुमार करुणा और दया की मूर्ति हैं, जबकि दुष्कृत कुमार कठोर और दुष्ट प्रकृति का है।

ज्ञानदेव : (मुस्कुराते हुए) अभी-अभी तो तुमने कहा था विवेक कि दोनों ही रानी कुबुद्धिदेवी और वेदनीय की सन्तान हैं?

विवेक कुमार : कहा था, पूज्यवर!....... किन्तु दोनों की प्रकृति में बहुत भिन्नता है।

ज्ञानदेव : यह सतही भिन्नता है वत्स!....... मूलतः दोनों एक से हैं....... किन्तु इस

सम्बन्ध में फिर कभी विस्तृत चर्चा करेंगे....... अभी तो एक काम करो। प्रथम तो किसी भी युक्ति से सुकृत कुमार से मित्रता स्थापित करो। फिर सुकृत कुमार की सहायता से महाराज चेतनराज से मिलने की चेष्टा करो।....... एक बार महाराज से भेंट भर हो जाए, फिर तो दुर्दिनों को जाते कोई विलम्ब न होगा।

विवेक कुमार : जैसी आज्ञा पूज्यवर ! मैं प्रत्यनशील रहूँगा।....... प्रणाम पूज्यवर....... प्रणाम रानी माँ ! (विवेक कुमार जाता है).......। *-पटाक्षेप -*

तृतीय-दृश्य

[जड़पुर के उद्यान का दृश्य। सुकृत कुमार अपने पाँचों महासुभटों अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के साथ विचार विमर्श की मुद्रा में।]

सुकृत कुमार : मेरे वीर साथियो ! मैं अनुभव करता हूँ कि माता कुबुद्धिदेवी का मेरे प्रतिद्वन्द्वी बंधु दुष्कृत कुमार पर विशेष अनुराग है। मामा मिथ्यात्वराज भी प्रायः उसी का पक्ष लिया करते हैं। महल पर भी दुष्कृत कुमार ने अपने महासुभटों की सहायता से नियन्त्रण कर रखा है। हमारे लिए यह सब असह्य है।

सत्य : स्वामी ! आपकी आज्ञा की देर है। आपका आदेश मिलते ही, अहिंसा हिंसा को, मैं असत्य को, अस्तेय स्तेय को, ब्रह्मचर्य अब्रह्म को और अपरिग्रह परिग्रह को क्षण मात्र में परास्त कर देंगे।

सुकृत कुमार : मेरे वीर साथियो ! मुझे आप सब पर पूरा विश्वास है। मैं आपके पराक्रम से भी अनभिज्ञ नहीं।

ब्रह्मचर्य : तो स्वामी आज्ञा दें। हम महल की ओर कूच करें। और दुष्कृत कुमार के सभी योद्धाओं को पल में परास्त करके महल को अपने अधिकार में कर लें।

सुकृत कुमार : महल पर अधिकार की बात मत करो। मैं माँ और मामा को अप्रसन्न नहीं करना चाहता....... हाँ, दुष्कृत कुमार से अवश्य संघर्ष करना होगा, वह भी इस तरह की साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे !....... आओ मेरे साथ।

(सभी जाते हैं। कुछ क्षणों बाद मंच पर कुबुद्धिरानी और वेदनीय आते हैं।)

वेदनीय : (मुस्कुराता हुआ) कहो रानी ! दिन कैसे व्यतीत हो रहे हैं ! तुम्हारे 'पतिदेव'

चेतनराज का क्या हाल है? ('पतिदेव' शब्द पर व्यंगपूर्वक जोर देता है।)

कुबुद्धिरानी : सब ठीक चल रहा है प्रिय ! चेतनराज पूरी तरह मेरी मुट्ठी में हैं। भैया मिथ्यात्वराज की अनुगत श्रद्धादेवी उन्हें हमारी ओर से सदा आश्वस्त रखती हैं। पिताश्री महाराज मोहराज द्वारा भिजवाई गई मोह-मदिरा पीकर वे सदा मदमस्त पड़े रहते हैं।

वेदनीय : और अपने सुकृत और दुष्कृत कुमार पुत्रों के सम्बन्ध में चेतनराज क्या सोचते हैं?

कुबुद्धिरानी : सोचने समझने की शक्ति ही कहाँ है उनमें ! बस उन्हें वे अपने ही पुत्र मानते हैं, उनकी इस मान्यता को भैया की आज्ञा से श्रद्धादेवी ने बहुत पुष्ट कर दिया है।

(इस पर वेदनीय हँसता है।)

वेदनीय : (हँसता हुआ) बहुत चतुर हो रानी तुम और तुम्हारे भ्राता।

कुबुद्धिरानी : (हँसती है....... फिर चिन्तित स्वर में) यह सब तो ठीक है प्रिय ! किन्तु सुकृत कुमार और दुष्कृत कुमार परस्पर सदा ही संघर्षरत रहते हैं। इन्हें लड़ता देखकर मुझे बहुत दुःख होता है। मैंने दोनों को समझाने का अनेक बार प्रयत्न किया किन्तु.......।

वेदनीय : (बात काटते हुए) व्यर्थ है उन्हें समझाना रानी ! दोनों की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। वे समझाने से मानने वाले नहीं। उन्हें अपनी-अपनी प्रकृति के अनुरूप चलने दो।

कुबुद्धिरानी : लेकिन दोनों सहोदर होकर भी.......।

वेदनीय : चिन्ता न करो प्रिये !....... आओ चलें।

(दोनों हाथ में हाथ पकड़े जाते हैं। कुछ क्षणों बाद एक ओर से अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्वराज का प्रवेश)

मिथ्यात्वराज : विगत दिनों अपने कुछ कार्यों में इतना व्यस्त रहा कि तुमसे वार्तालाप का अवसर ही न पा सका।

अनन्तानुबन्धी : विचित्र विडंबना है प्रिय ! निकट होते हुए भी आपसे मुक्त वार्ता करने के लिये अवसर खोजना पड़ता है।

मिथ्यात्वराज : क्षमा करें देवी ! कुछ व्यस्तता रही, अन्यथा एकान्त में प्रणय वार्त्ता के लिये मैं स्वयं बहुत लालायित रहता हूँ। ये मधुर क्षण तो मेरे जीवन की अमूल्य निधि हैं। तुम्हारे बिना एक पल भी रहना मेरे लिये दुष्कर है।

अनन्तानुबन्धी : (भावुक होकर) और आपके बिना मेरी भी कुशल कहाँ ? (मिथ्यात्वराज

के वक्षःस्थल पर अपना सिर रख देती है)....... । आपके न होने की कल्पना-मात्र से हृदय सिहर उठता है।....... (सिर उठाकर मिथ्यात्वराज की ओर देखते हुए)....... मेरा तो नाम-संस्करण ही आपके नाम पर हुआ है।

मिथ्यात्वराज : (साश्चर्य) नाम संस्करण !....... मेरे नाम पर....... कैसे?

अनन्तानुबन्धी : चेतनराज को अनन्तकाल तक संसार परिभ्रमण कराने का सामर्थ्य आपमें ही है।....... इसलिये आप ही 'अनन्त' हैं, और "जहाँ आप वहाँ मैं" इस अनुबन्ध से अनुबन्धित होने के कारण मैं हुई आपकी अनुबन्धिनी। अनन्त की अनुबन्धिनी होने के कारण मैं कहलायी....... 'अनन्तानुबंधी'।

मिथ्यात्वराज : (किंचित् हँसते हुए) वाह ! क्या सुन्दर अर्थ किया है।....... रणक्षेत्र में बड़े-बड़े शूरवीरों की नाकों चने चबाने को विवश करने वाली वीरांगना भाषा और व्याकरण की भी ऐसी मर्मज्ञ है, यह हमें आज ही ज्ञात हुआ....... ।

अनन्तानुबन्धी : (मुस्कुराते हुए, सलज्ज) इस समय मैं वीरांगना नहीं, अपितु अभिसारिका हूँ।....... (गम्भीर होकर)....... जो यथार्थ है, मैंने वही कहा है, मेरे प्रिय ! सम्पूर्ण मोह कुल की शक्ति का मूल स्रोत आप ही हैं। मैं जो कुछ हूँ, मात्र आपके कारण। मेरे अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण आदि भ्रातागण भी आपका संबल पाकर ही अपने उत्कृष्ट शौर्य का प्रदर्शन कर पाते हैं। पूरे मोहकुल को आप पर गर्व है।

मिथ्यात्वराज : (हँसते हुए) बहुत शीघ्र गम्भीर हो जाती हो प्रिये !....... (गले लगाते हुए प्यार से)....... तुम तो मेरी प्राणेश्वरी हो....... चिर....... सहचरी....... चिर संगिनी....... मेरी प्रेरणा....... मेरी शक्ति....... । (बहुत देर तक चुप्पी छायी रहती है।)

मिथ्यात्वराज : (चुप्पी तोड़ते हुए) प्रिये ! तुम्हारे कुशल मार्ग दर्शन में जड़पुर की प्रशासन व्यवस्था बड़ी सुचारू रूप से संचालित है।

अनन्तानुबन्धी : (समर्पित भाव से) सब आपका ही प्रताप है, अन्यथा यह संभव न होता।

मिथ्यात्वराज : (हँसते हुए) अपने अद्भुत कौशल से चेतनराज और जड़पुर की प्रजा को जड़ता का प्रसाद देकर उन्हें अपना चरण किंकर....... ।

अनन्तानुबन्धी : (मिथ्यात्वराज के मुख पर हाथ रखते हुए बीच में ही) बस-बस।.......

नगण्य से कृतित्व के लिये भी सराहना के सेतु बाँधने की कला कोई आपसे सीखे....... (बात बदलते हुए भावुकता पूर्वक)....... मेरे सर्वस्व....... मेरी बस आपसे यही विनती है कि जीवन में एक पल के लिये भी मुझे अपने से पृथक् न रखना....... आपके बिना मैं जीवित न....... ।

मिथ्यात्वराज : (अनन्तानुबन्धी के मुख पर हाथ रखते हुए)....... नहीं देवी ! ऐसे अशुभ वचन न बोलो। जीवित न रहने की दुःष्कल्पना तो हमारे शत्रुओं को करना चाहिये।....... (हाथ पकड़कर प्यार से)....... आओ चलें। (दोनों जाते हैं।) ***- पटाक्षेप -***

चतुर्थ-दृश्य

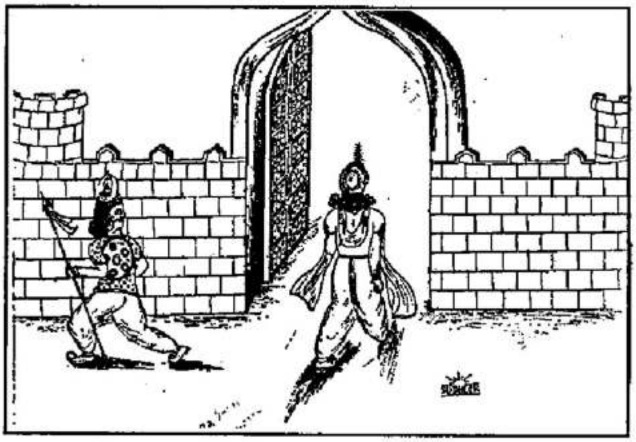

[सुकृत कुमार अपने पाँचों महासुभटों और अन्य सैनिकों के साथ जड़पुर दुर्ग के महल में प्रवेश करता है। वहाँ दुष्कृत कुमार के महासुभटों से इनकी मुठभेड़ होती है। दुष्कृत कुमार के सभी योद्धा थोड़ी देर में घायल होकर भयभीत से महल छोड़कर भाग जाते हैं।....... सुकृत कुमार चेतनराज के समीप आता है।]

सुकृत कुमार : (झुककर अभिवादन करता हुआ) आपका यह पुत्र आपके श्री चरण कमलों में सादर अभिवादन करता है। महाराज ! मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिये।

चेतनराज : (उनींदे स्वर में) कौन ? ....सुकृत कुमार। .... आओ वत्स ! तुम्हारे आगमन से हृदय को बड़ी सान्त्वना मिलती है।

सुकृत कुमार : आपका आशीर्वाद चाहिये, पिताश्री ! दुष्कृत कुमार के अनुचर मुझे आपसे साक्षात्कार ही नहीं करने देते थे। आज मैंने उन सबको मार भगाया है। आप आज्ञा दें तो मैं अपने वीर योद्धाओं को महल की रक्षा के लिए आपकी सेवा में यहीं छोड़ जाऊँ।

चेतनराज : (उनींदे स्वर में) हमारी आज्ञा की क्या आवश्यकता है वत्स ! जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो।....... हाँ, तुम अवश्य यदा-कदा यहाँ आ जाया करो। तुमसे चित्त को शान्ति मिलती है।

सुकृत कुमार : आपकी आज्ञा शिरोधार्य है महाराज ! अब अनुमति दीजिए ! चलता हूँ' आपके श्रीचरणों में पुनः प्रणाम करता हूँ। (प्रणाम करके जाता है।) ***- पटाक्षेप -***

पाँचवा-दृश्य

[जड़पुर दुर्ग के बाहर का दृश्य। सुकृत कुमार भ्रमण कर रहा है।]

सुकृत कुमार : (स्वगत्) दुष्कृत और उसके साथियों को जड़पुर से ही निष्कासित करना होगा। अब उसके साथ मेरा निर्वाह संभव नहीं।....... (कुछ सोचता हुआ)....... किन्तु माँ और मातुल को इसके लिये सहमत करना कठिन होगा....... देखूंगा !....... यह न हो सका तो मैं ही जड़पुर छोड़कर चला जाऊँगा।....... (फिर कुछ सोचता हुआ.......)....... किन्तु जाऊँगा कहाँ? महाराज चेतनराज पृथक् तो मैं मुहुर्त भर भी नहीं रह सकता।....... समझ में नहीं आता कि क्या करूँ....... (एकाएक विचार शृंखला टूटती है....... अपने चारों ओर देखता है....... तभी वहाँ विवेक कुमार का आगमन.......)

सुकृत कुमार : तुम कौन हो बंधु ? क्या नाम है तुम्हारा ? लगता है प्रथमबार तुम्हें देखा है।

विवेक कुमार : मेरा नाम विवेक है। आपका शुभ नाम?

सुकृत कुमार : मुझे सुकृत कुमार कहते हैं। जड़पुर में रहता हूँ।

विवेक कुमार : (स्वगत्) ओह ! तो यही सुकृत कुमार है।....... (प्रगट में)....... आपका नाम तो प्रायः सुना करता हूँ। बहुत प्रशंसा सुनी है आपकी। आज मिलकर हार्दिक प्रसन्नता हुई। मेरा अभिवादन स्वीकार करें।

सुकृत कुमार : मेरा भी अभिवादन स्वीकार करो बन्धु ! किन्तु....... मेरा नाम....... मेरी प्रशंसा....... तुम मेरा उपहास कर रहे हो अथवा शुष्क शिष्टाचार का परिपालन।....... (उदास स्वर में)....... स्वजनों से प्रताड़ित और अपने ही अन्तर संघर्षों से पीड़ित मैं.......।

विवेक कुमार : (बात काटते हुए) क्षमा करें, मैं आपका उपहास क्यों करूँगा?....... (कुछ क्षण चुप रहकर)....... लगता है कि आप....... क्या मैं आपके हृदय की पीड़ा जानने का दुःस्साहस कर सकता हूँ?

सुकृत कुमार : (निःश्वास भरते हुए) मेरे हृदय की पीड़ा?....... क्या करोगे जानकर?

विवेक कुमार : संभवतः आपके कुछ काम आ सकूँ।

सुकृत कुमार : (उदास स्वर में) क्या कर सकोगे तुम?....... (कुछ देर चुप्पी छायी रहती है....... फिर)....... जानना ही चाहते हो तो सुनो....... मेरा एक सहोदर बंधु है।....... दुष्कृत

कुमार नाम है उसका। मेरी और उसकी प्रकृति में बड़ा अन्तर है....... उतना ही जितना कि पूर्व और पश्चिम में है, अथवा तो शीतलता और उष्णता में है। न उसका कोई कार्य मुझे सुहाता है, और न मेरा कोई कार्य उसे। एक प्रकार से हम दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी ही हैं। हमारे मातुल मिथ्यात्वराज और माता कुबुद्धिदेवी प्रायः उसी का पक्ष लिया करते हैं। इससे जड़पुर में जैसा वर्चस्व उसका है, वैसा मेरा नहीं।....... स्वजनों के पक्षपातपूर्ण बर्ताव से मेरा हृदय टूट गया है। अपनी पीड़ा किसे कहूँ....... क्या उपचार करूँ....... कुछ समझ में नहीं आता !

विवेक कुमार : (सहानुभूति पूर्वक) आपके हृदय की पीड़ा को मैं समझ सकता हूँ।....... (कुछ देर चुप रहता है....... फिर)....... आपने कहा कि मातुल और माता प्रायः दुष्कृत कुमार का पक्ष लिया करते हैं, किन्तु आपने यह नहीं बताया कि आपके पिताश्री....... (रुक जाता है)

सुकृत कुमार : (वाक्य पूरा करते हुए) महाराज चेतनराज....... ! वे ही मेरे पिताश्री हैं।

विवेक कुमारः ओह !....... (बात आगे बढ़ाते हुए) हाँ, तो आपने यह नहीं बताया कि आपके पिताश्री महाराज चेतनराज किसके पक्ष में हैं?

सुकृत कुमार : वे न मेरे पक्ष में हैं, न दुष्कृत के।....... (स्पष्ट करता हुआ)....... जड़पुर में वही होता है, जो मामा मिथ्यात्वराज और माता कुबुद्धिदेवी चाहते हैं। पिताश्री भी उन्हीं का कहा करते हैं।

विवेक कुमार : क्या आपने कोई उपाय सोचा है?

सुकृत कुमार : मेरा एक विचार तो यह हुआ था कि दुष्कृत को जड़पुर से ही निष्कासित करवा दूँ।....... किन्तु माँ और मातुल के रहते यह संभव नहीं।....... मैंने यह भी सोचा कि मैं स्वयं ही जड़पुर छोड़कर अन्यत्र चला जाऊँ .... परन्तु यह भी प्रायः असंभव-सा ही है।....... कारण कि मैं पिताश्री महाराज चेतनराज से मुहुर्त भर के लिये भी अलग नहीं रह सकता। कुछ समझ में.......।

विवेक कुमार : (कुछ विचार करता हुआ बीच ही में) क्या मैं कोई परामर्श देने की धृष्टता करूँ?

सुकृत कुमार : धृष्टता की क्या बात है ? मैं इस विषय पर तुम्हारा परामर्श अवश्य सुनना चाहूँगा।

विवेक कुमार : धन्यवाद ! (कुछ रुककर)....... पूरी वार्ता सुनकर मैंने यह जाना कि आप

दुष्कृत कुमार के साथ नहीं रहना चाहते। किन्तु उसे जड़पुर से निष्कासित भी नहीं कर सकते और न महाराज चेतनराज को छोड़कर आप जड़पुर का परित्याग ही कर सकते हैं।....... यही न?

सुकृत कुमार : (स्वीकार करते हुए) हाँ, ऐसा ही है।

विवेक कुमार : तो क्यों न आप महाराज चेतनराज सहित जड़पुर छोड़कर अन्यत्र चले जाते। इससे जहाँ दुष्कृत कुमार का कुसंग छूटेगा, वहीं महाराज चेतनराज के वियोग का भी कोई अवसर न होगा।

सुकृत कुमार : (शंका करते हुए) किन्तु पिताश्री क्यों यह स्वीकार करेंगे?

विवेक कुमार : (विश्वास दिलाते हुए) उन्हें इस विषय में सहमत करने का दायित्व मेरा रहा। किन्तु इसके लिये आपको महाराज चेतनराज से मेरा साक्षात्कार कराना होगा।

सुकृत कुमार : पिताश्री से तुम्हारा साक्षात्कार कराना, मेरे लिये कोई कठिन कार्य नहीं....... (शंकित होता हुआ)....... किन्तु तुम उन्हें कैसे सहमत करोगे।

विवेक कुमार : मुझे अपने तरीके से प्रयत्न कर लेने दो। सफल हुआ तो आपकी समस्या का निराकरण हो ही जाएगा, और असफल हुआ तब भी आपकी कोई अतिरिक्त क्षति न होगी।..... (विश्वास दिलाते हुए)..... चिन्ता न करें, मुझे पूर्ण विश्वास है कि हम सफल होंगे।

सुकृत कुमार : (हर्षित होता हुआ) आश्वस्त हुआ बंधु ! तुमने मुझे निर्भार कर दिया।....... आज से हम दोनों मित्र हुए। मेरा अभिवादन स्वीकार करो।

विवेक कुमार : मेरा भी अभिवादन स्वीकार करो, मित्र !

सुकृत कुमार : (भावुक होकर) ओह ! मेरी दुरूह समस्या का समाधान तुमने कितनी सुगमता से कर दिया !....... तुम जैसा मित्र पाकर आज मैं कृतार्थ हो गया।

विवेक कुमार : मुझे भी बड़ी प्रसन्नता है।

सुकृत कुमार : तो अविलंब हमें अपनी उद्देश्यपूर्ति में जुट जाना चाहिये।....... चलो, सर्वप्रथम पिताश्री महाराज चेतनराज से तुम्हारी भेंट करा दूँ।

विवेक कुमार : हाँ, चलें। (दोनों जाते हैं।)

- पटाक्षेप -

छठवाँ-दृश्य

[सुकृत कुमार और विवेक कुमार दोनों जड़पुर दुर्ग में प्रवेश करते हैं। मिथ्यात्वराज के अनुचर विवेक कुमार को अनजान जानकर रोकने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु सुकृत कुमार के कारण उन्हें अनुमति देनी पड़ती है। शीघ्र ही दोनों जड़पुर दुर्ग के महल में प्रवेश करते हैं, और चेतनराज के समीप पहुँचते हैं।]

सुकृत कुमार : प्रणाम महाराज !....... (विवेक कुमार की ओर संकेत करते हुए)....... ये विवेक कुमार हैं। आपके दर्शनार्थ पधारे हैं।

विवेक कुमार : (गद्गद् भाव से) जय हो महा प्रभु की ! सेवक का प्रणाम स्वीकार करो भगवन्।

चेतनराज : (उनींदे से) कौन विवेक? क्या परिचय है तुम्हारा?

विवेक कुमार : मैं आपका ही तुच्छ सेवक हूँ स्वामी ! आप.......।

सुकृत कुमार : (बीच में ही) मित्र ! तुम महाराज से चर्चा करो, तब तक मैं अपने अनुचरों को आवश्यक निर्देश देकर आता हूँ। (सुकृत कुमार चला जाता है।)

विवेक कुमार : मैं आपका ही तुच्छ सेवक हूँ, महाराज ! और आपके ही प्रधान अमात्य ज्ञानदेव और महारानी सुबुद्धिदेवी की सेवा में रहता हूँ।

चेतनराज : (स्मरण करते हुए) प्रधान अमात्य ज्ञानदेव.......! महारानी....... सुबुद्धिदेवी.......! ये नाम....... हम तो इन नामों से सर्वथा अनभिज्ञ हैं आगन्तुक !

विवेक कुमार : महाराज, महारानी सुबुद्धिदेवी परित्यक्ता की तरह प्रधान अमात्य ज्ञानदेव के संरक्षण में निर्वासित जीवन व्यतीत कर रही हैं। अनादि से ही आपकी उपेक्षा-दृष्टि के कारण दर्शनश्री, चारित्र वीर, वीर्यवर आदि आपके सभी परिजन निराश्रित से अनन्त-अनन्त शक्तियों के धारक होते हुए भी असहाय एवं किंकर्त्तव्यामूढ़ की दशा में हैं।....... इन सबकी शक्ति का मूल स्रोत आप ही हैं भगवन् ! अपने उद्गम स्थल से सम्बन्ध टूट जाने के बाद सरिता कब तक किल्लोल करती हुई प्रवाहित रह सकती है?....... (हाथ जोड़कर विनय पूर्वक) प्रभु ! आपके विरह में सभी परिजन बहुत व्याकुल हैं।

चेतनराज : (स्मरण-सा करते हुए) क्या नाम बताया तुमने अपना....... वि....... विवेक....... विवेक कुमार।

विवेक कुमार : जी महाराज, आपका सेवक विवेक कुमार ! (सुकृत कुमार का आगमन)

चेतनराज : विवेक कुमार, तुम्हारे शब्दों ने हमारा हृदय उद्वेलित कर दिया है।....... ऐसा प्रतीत हो रहा है....... मानो मन-विहग काल की अनन्त परतों को पार करता हुआ स्मृति कोष से अनुपम रत्नराशि लाने को व्याकुल हो उठा है।....... ऐसा करो विवेक कुमार, जिनका अभी तुम परिचय दे रहे थे, उन्हें एक बार हमारे समक्ष उपस्थित करने का कष्ट करो।

विवेक कुमार : कष्ट किस बात का महाराज ! अनुचर आपकी आज्ञा-पालन को अपना सौभाग्य मानता है। किन्तु.......।

चेतनराज : कोई कठिनाई है विवेक कुमार?

विवेक कुमार : हाँ महाराज ! सेनाधिपति मिथ्यात्वराज के अनुचर उन सबको आपसे भेंट करने देना तो दूर, जड़पुर में प्रवेश की अनुमति भी न् देंगे।

सुकृत कुमार : (उत्तेजित होकर) मेरे रहते किसी को नगर प्रवेश में कोई बाधा नहीं हो सकती मित्र ! चलो मेरे साथ, जिन्हें भी भेंट कराना हो, चलकर उन्हें सादर लिवा लाएँ।

चेतनराज : (सुकृत कुमार की ओर देखते हुए) हाँ वत्स, जाओ। तुम विवेक कुमार की सहायता करो।

सुकृत कुमार : (सिर झुकाकर) जो आज्ञा महाराज। ....। (विवेक से).... चलो मित्र.. !

(दोनों जाते हैं।)

चेतनराज : (स्वगत) ज्ञानदेव....... सुबुद्धिदेवी,....... वीर्यवर....... चारित्रवीर....... (एक-एक नाम रुक-रुककर बोलता है।)....... इनके नामोच्चारण-मात्र से अन्तःस कैसे अलौकिक आलोक से भर उठा है।....... अहा !....... मेरे हृदयाम्बुधि में ये हर्षोन्मत्त लहरें कैसा ज्वार उठा रही हैं।....... क्षितिज के उस पार, लगता है कि अरुणोदय हो रहा है।....... आज यह कैसी विडंबना, कैसी पीड़ा का अनुभव हो रहा है।....... क्या होगा? क्या होने जा रहा है ?....... संभवतः अभिनव संसृति का निर्माण होगा।....... चलूँ, द्वार पर खड़ा होकर आगन्तुकों की प्रतीक्षा करूँ।....... (जाता है।)

-पटाक्षेप-

सातवां-दृश्य

[विवेक कुमार सुकृत कुमार की सहायता से रानी सुबुद्धिदेवी, ज्ञानदेव, चारित्रवीर, दर्शनश्री, वीर्यवर आदि को लाता है। चेतनराज प्रतीक्षारत टहल रहे हैं।]

सुकृत कुमार : महाराज की जय हो ! (प्रणाम करता है) महाराज ! मैं विवेक और उसके परिजनों को साथ लिवा लाया हूँ।

चेतनराज : (उत्सुकता पूर्वक) कहाँ हैं वे ?

सुकृत कुमार : अनुमति की प्रतीक्षा में द्वार पर खड़े हैं।

चेतनराज : उन्हें ससम्मान लिवा लाओ वत्स !

(सुकृत कुमार जाता है। कुछ ही क्षणों बाद उसके साथ ज्ञानदेव, रानी सुबुद्धिदेवी, चारित्रवीर आदि आते हैं।)

ज्ञानदेव : हम सबका प्रणाम स्वीकार करो प्रभु ! (सभी प्रणाम करते हैं।)

विवेककुमार :

(सुबुद्धिदेवी की ओर इंगित करके)

ये महारानी सुबुद्धिदेवी हैं प्रभु! चिरकाल से आपके विरह में सन्तप्त होकर निर्वासित जीवन व्यतीत कर रही हैं।

चेतनराज : (अन्यमनस्क-सा) हमारे विरह में....... निर्वासित जीवन....... महारानी सुबुद्धिदेवी....... !

विवेक कुमार : हाँ महाराज !

चेतनराज : (सुबुद्धिदेवी की बाँह पकड़कर) आओ देवी ! तुम्हारे दर्शन से चित्त को बड़ी शान्ति मिल रही है।

सुबुद्धिदेवी : मैं बड़ी अभागी हूँ। महाराज ! आपकी कृपा-दृष्टि से वंचित होकर चिरकाल से मैं संसार के अनन्त दुःखों का भार वहन करती आ रही हूँ। आज आपके दर्शन पाकर कृतार्थ हुई।

सुकृत कुमार : (विवेक कुमार से) मित्र, आप लोग चर्चा करें, तब तक मैं अन्य आवश्यक कार्य सम्पन्न कर लूँ।

विवेक कुमार : जैसा उचित समझो। (सुकृत कुमार जाता है।)

चेतनराज : (अन्यमनस्क से) कुछ समझ में नहीं आता कि यह सब क्या है?

सुबुद्धिदेवी : इस विषय में आपको पूज्यवर ज्ञानदेव बताएँगे महाराज !

चेतनराज : (किंकर्त्तव्यामूढ़-सा) ज्ञानदेव?

सुबुद्धिरानी : हाँ महाराज ! (ज्ञानदेव की ओर इंगित करके)....... ये हैं पूज्यवर ज्ञानदेव, जिनके संरक्षण में हम सबने अपना निर्वासित जीवन व्यतीत किया है। इनकी असीम एवं विराट शक्ति की तुलना में तीन लोक इतना क्षुद्र है, जैसे अनन्त आकाश में एक नक्षत्र; किन्तु आपकी उपेक्षा- दृष्टि का बल पाकर मोहराज के एक सेनानायक ज्ञानावरण को इन पर विजय प्राप्त करने का गौरव मिल गया है....... (फिर प्रत्येक का परिचय कराते हुए)....... ये हैं चारित्रवीर......., ये दर्शनश्री......., आपके ये सभी परिजन अनन्त-अनन्त शक्तियों के धारक हैं। किन्तु इनकी ये शक्तियाँ आपकी कृपा-दृष्टि के अभाव में अपनी अभिव्यक्ति के लिए तरस रही हैं।

चेतनराज : (सचेत होकर) ओह !....... यह सब कैसे हुआ? हमें सविस्तार अवगत कराओ ज्ञानदेव !

ज्ञानदेव : चिन्ता न करें भगवन् ! मैं आद्योपान्त आपको पूरी कथा कहता हूँ। आप स्थिर चित्त से सुनने की कृपा करें।...... स्वामी ! आपको अनादि से भ्रम में रखकर मोहराज ने अपनी पुत्री कुबुद्धिदेवी का विवाह आपसे करा दिया। कुबुद्धिदेवी ने मोह-मदिरा पिला पिलाकर आपकी सुध-बुध हर ली। इससे आप अपना स्वरूप भूलकर अनन्त काल तक तो निगोद के अन्धकूप में लब्ध्यपर्याप्तक दशा में पड़े रहे। वहाँ आपने एक श्वाँस में अठारह बार जन्म-मरण करते-करते अपार दुःख सहन किया। किसी प्रकार वहाँ से निकले तो स्थावर पर्याय में एकेन्द्रिय दशा में पड़े रह कर अनन्त-अनन्त दुःख सहन करते रहे। बड़ी कठिनाई से वहाँ से निकल कर दुर्लभ चिन्तामणि रत्न की भाँति त्रस पर्याय प्राप्त की। तब दो इन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक तो आपमें अपना हित-अहित विचार करने की भी शक्ति न रही। सौभाग्य

से संज्ञी पंचेन्द्रिय हुए, तो कभी तिर्यंच, कभी देव, कभी नारकी तो कभी मनुष्य, इस प्रकार आपने भाँति-भाँति के स्वांग रचे। आप स्वयं तो अनन्तानन्त शक्तियों के धारक एकरूप अखंड, शाश्वत और परिपूर्ण चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा हैं। किन्तु अपने मूल स्वरूप को भूलकर इन स्वांगों में ही अपनेपन की मान्यता करते रहे। श्रद्धादेवी मिथ्यात्वराज की आज्ञा से सदा ही आपकी इस भ्रामक मान्यता को पुष्ट करती रहीं।

मोहराज ने आपको जड़पुर का नरेश बनाया और आप मिथ्यात्वराज के प्रभाव से इसे ही अपना देश मानने लगे। मोहराज की आज्ञा से मिथ्यात्वराज ने ही आपको ८४ लाख योनियों में पंच-परावर्तन कराते हुए, अनन्त बार दुःखमय भव-भ्रमण कराया। दुष्कृत कुमार के बहकावे में आकर आपने नर्क-तिर्यंचादिक गति की यातनाएँ भोगीं, और सुकृत कुमार के अनुराग से मनुष्य एवं देव गति के दुःखमय इन्द्रिय-सुख भोगे। फलस्वरूप आपके हम सब परिजन भी अनादि काल से ही उपेक्षित एवं कुंठित जीवन व्यतीत करते रहे।

चेतनराज : ओह ! हम कैसे-कैसे भयानक शत्रुओं के बीच फँसे हुए हैं। महाराज मोह, जिन्हें हमने अपना हितैषी माना, वे ही हमारे घोर शत्रु निकले। यह कुबुद्धिरानी, जिसे हमने अपनी प्राणेश्वरी समझा, वही हमारा घात करने वाली सिद्ध हुई। दुष्कृत कुमार जो अपने को हमारा पुत्र कहता है, उसी के कारण हमने नर्क-निगोद की यातनाएँ झेलीं।....... और श्रद्धादेवी, जिसका हमने सदा विश्वास किया, वही विश्वासघात.......।

ज्ञानदेव : (बात काटते हुए) ठहरिये महाराज ! श्रद्धादेवी का कोई दोष नहीं ! यह सब तो उन्होंने मिथ्यात्वराज के व्यामोह में होने के कारण किया। अभी भी वे मिथ्यात्वराज की ही अनुगामिनी हैं। हमारा प्रयत्न होगा स्वामी कि शीघ्र ही वे आपकी अनुगामिनी बनें। आपकी अनुगत होकर न केवल श्रद्धादेवी का जीवन धन्य होगा, बल्कि हम सबकी भाग्यलता भी लहलहा उठेगी। तभी भगवन् ! आपको भी अपनी अनन्त-अनन्त शक्तियों का यथार्थ बोध होगा। शनैः शनैः मोहराज के बंधन टूटने लगेंगे।....... और एक दिन ऐसा आएगा, जब हम मुक्तिपुरी के वासी बनकर वीतराग निर्विकल्प अतीन्द्रिय आनन्द-रस का अखंड रूप से मधुर पान करेंगे।....... स्वामी ! मुक्तिपुरी ही हमारा देश है। वही हमारा गन्तव्य है।

चेतनराज : (अधीर होकर) कब पहुँचेंगे हम मुक्तिपुरी ज्ञानदेव ! कब आएगी वह सुनहरी घड़ी !

ज्ञानदेव : शीघ्र ही महाराज। आप धैर्य धारण करें। अब वह घड़ी दूर नहीं।

चेतनराज : (पश्चाताप प्रगट करते हुए) ओह ! अब तक जिनके संग रहा, सभी मेरे शत्रु सिद्ध

हुए। एक सुकृत कुमार को छोड़कर....... उस जैसा हितैषी दूसरा कोई नहीं.......।

ज्ञानदेव : क्षमा करें भगवन् ! सुकृत कुमार भी दुष्कृत कुमार, कुबुद्धिदेवी और मिथ्यात्वराज की तरह अकल्याणकारी ही है। उसे हितैषी मानना भ्रम है।....... स्वामी ! सुकृत कुमार और दुष्कृत कुमार दोनों ही कुबुद्धिदेवी के पुत्र हैं, आपके नहीं।

चेतनराज : (रोष पूर्वक) क्या कहते हैं आप ज्ञानदेव?....... कुबुद्धिरानी जैसी भी हैं, हमारी परिणीता हैं।

सुबुद्धिदेवी : यही तो भ्रम है नाथ आपको। कुबुद्धिरानी आपकी परिणीता भले ही हो, किन्तु आपकी निष्ठावान पत्नी नहीं। उसका प्रेम.......।

चेतनराज : (आतुरता पूर्वक) क्या कहा?....... उसका प्रेम किसी.......।

सुबुद्धिदेवी : (लज्जित-सी) यह सब ज्ञानदेव बताएँगे, स्वामी !

ज्ञानदेव : मैं बताता हूँ महाराज ! रानी कुबुद्धिदेवी का प्रेम आपसे नहीं, बल्कि मोहराज के एक सेनानायक वेदनीय से है। ये सुकृत कुमार और दुष्कृत कुमार दोनों वेदनीय और कुबुद्धिरानी की सन्तान हैं।

चेतनराज : (हताश स्वर में) यह सब हम क्या सुन रहे हैं।....... ज्ञानदेव ! आपके सौम्य और पवित्र व्यक्तित्व को देखकर आपके कथन पर अविश्वास तो नहीं होता, किन्तु सोचता हूँ कि क्या रानी कुबुद्धिदेवी इतनी पतित हो सकती हैं?....... और फिर दुष्कृत कुमार की बात छोड़ भी दीजिए, किन्तु सुकृत कुमार जैसे विनम्र, सुशील और करुणा की मूर्ति.......।

ज्ञानदेव : पुनः क्षमा चाहूँगा भगवन् ! सुकृत कुमार को सुशील मानने का भ्रम तोड़ दीजिए। बेड़ी स्वर्ण की हो, चाहे लोहे की, आखिर बेड़ी ही है। दोनों बंधन में बांधने वाली हैं। सुकृत कुमार भी दुष्कृत कुमार की तरह संसार बंधन रूप दुःख का ही कारण है। एक मीठा जहर है, तो दूसरा कड़वा। दोनों का फल एक-सा ही है।

चेतनराज : आपकी तर्कणा सबल और युक्ति युक्त है ज्ञानदेव ! फिर भी सुकृत कुमार और दुष्कृत कुमार को एक ही श्रेणी में रखना न्यायोचित प्रतीत नहीं होता।

ज्ञानदेव : (टालते हुए) न सही महाराज ! इस विषय पर फिर कभी चर्चा करेंगे। अभी तो आप सर्व प्रथम मिथ्यात्वराज की घेराबन्दी से अपने को मुक्त कीजिये।....... इसके लिए आपको जड़पुर का परित्याग करना होगा।

(उसी समय कुबुद्धिरानी का श्रद्धादेवी के साथ आगमन। वह अन्तिम वाक्य सुन लेती है।)

कुबुद्धिरानी : किसे जड़पुर का परित्याग करना होगा? (सुबुद्धिदेवी तथा अन्य सबको देखती हुई)....... ये सब कौन हैं? (चेतनराज से)....... और यह नारी कौन है? जो आपके पास बैठी है?....... (आवेश पूर्वक)....... और आपको भी लज्जा नहीं आती जो मुझ ब्याहता को छोड़कर पराई नारी के साथ बैठे हैं।....... मैं त्रिलोकाधिपति महाराज मोहराज की बेटी, मेरा आपके साथ विवाह हुआ।....... फिर मेरा अधिकार हनन करने वाली यह अपरिचिता कौन है?

चेतनराज : (हँसकर)....... ये महारानी सुबुद्धिदेवी हैं।....... हमारी प्राण प्रिया। अब हमारा प्रेम तुमसे नहीं रहा। सुबुद्धिदेवी अनेक गुणों से सम्पन्न हैं। अब ये ही हमारे हृदय की अधिष्ठात्री हैं।

कुबुद्धिरानी : (सक्रोध) महाराज आप होश में तो हैं?

चेतनराज : अब तक नहीं थे, किन्तु अब हम अवश्य होश में आ गए हैं।

कुबुद्धिरानी : (रोष पूर्वक) जब मेरे पिता महाराज मोहराज को यह सब ज्ञात होगा, तो आप जानते हैं कि इसका क्या परिणाम होगा?....... आप यह क्यों भूलते हैं कि आप उन्हीं की अनुकम्पा से जड़पुर के नरेश बने हैं।

चेतनराज : (दृढ़ता से) परिणाम का भय न दिखाओ रानी ! अपने पिता से भी जाकर कह दो कि अब हमें उनकी अनुकम्पाओं की आवश्यकता नहीं।

श्रद्धादेवी : किन्तु महाराज यह तो कृतघ्नता होगी।

चेतनराज : (श्रद्धादेवी से) अब हमें यह न बताओ देवी कि किसे कृतघ्नता कहते हैं, और किसे कृतज्ञता। (कुबुद्धिरानी से)....... सुनो। हमने तुम्हारा ही नहीं, बल्कि जड़पुर के परित्याग का भी निर्णय कर लिया है।

कुबुद्धिरानी : (कुछ नम्र होकर) क्या कहा?....... आप जड़पुर का परित्याग करेंगे? नहीं-नहीं, शीघ्रता में ऐसा निर्णय करना उचित नहीं।....... (कुछ आवेश में आकर)....... आप यहाँ से नहीं जा सकते।

चेतनराज : (दृढ़ता पूर्वक) हमें कोई नहीं रोक सकता।

कुबुद्धिरानी : देखती हूँ, आप यहाँ से कैसे जाते हैं?

सुकृत कुमार : महाराज की इच्छा में व्यवधान उत्पन्न न करो माँ !....... और वे ही क्यों,

अब तो मैं भी यहाँ नहीं रहना चाहता। तुमने और मामा मिथ्यात्वराज ने सदा ही दुष्कृत कुमार का पक्ष लिया है। इससे मेरा हृदय विदीर्ण हो गया है। मैं भी महाराज के साथ ही जाऊँगा।

(सभी जाने लगते हैं, तभी ज्ञानदेव विवेक से कान में कुछ कहते हैं।)

विवेक कुमार : (श्रद्धादेवी से) देवी ! क्या आप महाराज के बिना अकेली रह लेंगी?

श्रद्धादेवी : (अन्यमनस्क-सी) नहीं....... यह तो....... संभव नहीं।....... किन्तु मिथ्यात्वराज?....... कुछ समझ में नहीं आता, कि क्या करूँ?....... बड़ी दुविधा में हूँ।

विवेक कुमार : (विनत भाव से) साथ चलो देवी ! शनैः शनैः सब समझ में आ जाएगा। सारी दुविधा स्वतः दूर हो जाएगी। (श्रद्धादेवी भी साथ जाने लगती है।)

कुबुद्धिरानी : (सुकृत कुमार से दुःखी स्वर में) नहीं बेटा, तुम हमें छोड़कर मत जाओ।....... (श्रद्धादेवी से)....... श्रद्धा ! तुम भी इन अपरिचित आगन्तुकों के बहकावे में आकर जा रही हो।....... तुम चली जाओगी, तो जड़पुर की प्रजा को कौन आश्वस्त करेगा?.......

(कोई नहीं सुनता। सब चले जाते हैं। कुबुद्धिरानी ठगी-सी देखती रह जाती है।)

- पटाक्षेप -

भोगने का भाव पापभाव ही है।

यद्यपि पंचेन्द्रियों की भोगसामग्री, रूपसम्पदा, राजवैभव, ऐश्वर्य, कुलवन्ती रानी, आज्ञाकारी पुत्र एवं सेवकादि अन्य सर्व अनुकूल बाह्य सामग्री पूर्व पुण्योदय से ही प्राप्त होती है; ***परन्तु इनके भोगने का भाव पापभाव ही है।***

'गुड़ पर मक्खी की तरह' राजा सत्यन्धर के भोगों में सतत आसक्त रहने से उनके पूर्वकृत पुण्य का निरन्तर क्षय होने से आयरहित धन के व्यय होने के समान पुण्य भी अस्ताचल की ओर गतिमान हो गया और पाप 'दिन दूना रात चौगुना' वृद्धिंगत होता गया।

विषयानुराग किसी भी इन्द्रिय का क्यों न हो, उसका भोग वर्तमान काल में पाप एवं दुःखरूप ही है और भविष्यकाल के दुःख का कारण है। इसलिए पुण्योदय के काल में विषयों से विरक्त रहकर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के आश्रय से जीवन को धर्ममय बनाना चाहिए। यही मनुष्यभव एवं पुण्यफल-प्राप्ति की सार्थकता है।

– क्षत्रचूड़ामणि, पहला लम्ब, श्लोक : ६, पृष्ठ : ४१

卐 द्वितीय-अंक 卐

(प्रथम-दृश्य)

[वन प्रदेश का दृश्य। चेतनराज सुबुद्धिदेवी के साथ एक पाषाण-शिला पर बैठे हैं। चेतनराज के सामने ज्ञानेदव और विवेक कुमार विनय पूर्वक खड़े हैं। श्रद्धादेवी चेतनराज के पार्श्व में खड़ी हैं। दर्शनश्री, चारित्रवीर, वीर्यवर भी एक ओर विनयावनत् खड़े हैं।]

चेतनराज : मंत्रीवर ज्ञानदेव ! हम आपके अनन्त उपकारों से कभी उऋण न हो सकेंगे। रानी सुबुद्धिदेवी और अन्य सभी परिजनों से हमारा साक्षात्कार कराने में आपने जो अथक् श्रम किया है, उसकी जितनी भी सराहना की जाये, कम है।....... ओह ! मोहराज ने हमें कैसे-कैसे जालों में फाँस रखा है?....... ज्ञानदेव ! यदि आपने बोध न दिया होता तो न जाने कितने काल तक हम मोहराज के दुःश्चक्र को ही अपनी नियति मानकर उसमें फँसे रहते। हमारे भव-भ्रमण का तो कभी अन्त ही न आ पाता।

ज्ञानदेव : (विनम्रता से) यह आपकी उदारता है, भगवन् ! वस्तुतः तो आप ही हमारी अनन्त-अनन्त शक्तियों का मूल स्रोत हैं। आपकी कृपा-दृष्टि के अभाव में ही अभिव्यक्ति को तरस रही ये शक्तियाँ निर्जीव-सी सुप्त पड़ी हुई हैं।

चेतनराज : (प्रसन्नता पूर्वक) अहा !....... हमारे सभी परिजन कितने उदार, कितने विनम्र और कितने शिष्ट हैं। (विवेक कुमार से)....... विवेक कुमार ! तुम्हारे प्रयत्नों से ही हमारा सभी स्वजनों से परिचय हो पाया। हमारी धारणा को तुमने ही दृढ़ता प्रदान की।....... (ज्ञानदेव से)....... ज्ञानदेव ! आपने हमें यथार्थ बोध दिया।....... (सुबुद्धिरानी से)....... तुम्हारे सुदर्शन के ही कारण हम कुबुद्धिरानी के नाग पाश से मुक्त हो पाये।....... हम आप सभी के हृदय से कृतज्ञ हैं।

ज्ञानदेव : प्रभु ! आप करुणासागर हैं। आपकी महिमा अगम-अपार है।....... और भगवन् ! श्रद्धादेवी का भी कम उपकार नहीं। हमारे अनुरोध पर मिथ्यात्वराज का निकट संसर्ग छोड़कर आप हम सबके संग चली आईं।

श्रद्धादेवी : (अन्यमनस्क-सी) मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा कि कैसे मैं जड़पुर छोड़कर यहाँ चली आई। पर इतना अवश्य है कि मैं महाराज को छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकती। वहाँ महल में थी, और यहाँ अरण्य में। फिर भी हृदय जैसी शान्ति का अनुभव यहाँ कर रहा है, ऐसी शान्ति वहाँ न थी। विशेषकर मुझे ज्ञानदेव की युक्तियाँ बहुत प्रभावित कर रही हैं।

चेतनराज : सत्य है देवी ! ज्ञानदेव तो हमारे पथ प्रदर्शक ही हैं।....... और....... सुकृत

कुमार....... सुकृत कुमार कहाँ है?....... सुकृत कुमार बड़ा विनम्र, सुशील और करुणा की मूर्ति है।....... किन्तु....... (स्मरण करते हुए ज्ञानदेव से)....... ज्ञानदेव ! आप तो सुकृत कुमार और दुष्कृत कुमार को एक जैसा कहते थे। हम अब तक भी नहीं समझ पाए कि दोनों एक जैसे क्यों कर हैं, जबकि दोनों का स्वभाव, कर्म और कर्म का प्रतिफल भिन्न-भिन्न है। एक सौम्य है, दूसरा कठोर। एक विनम्र है, दूसरा अहंकारी। एक दयालु है, दुसरा निर्मम। सुकृत कुमार की प्रवृत्ति लोक कल्याणकारी है, पुण्य रूप है, तो दुष्कृत कुमार की प्रवृत्ति अनष्टिकारी और पाप रूप। सुकृत कुमार की शुभ रूप प्रवृत्ति का फल सुगति है, और दुष्कृत कुमार की अशुभ रूप प्रवृत्ति का फल दुर्गति।....... इन्हीं सब कारणों से सुकृत कुमार हमें सुशील एवं प्रिय लगता है और दुष्कृत कुमार कुशील और अप्रिय !....... अब कहिये, दोनों को एक श्रेणी में कैसे रखा जा सकता है? दोनों एक जैसे क्यों कर हैं?

ज्ञानदेव : (विन्रमता से) प्रभु ! इसमें सन्देह नहीं कि दोनों में भारी भिन्नता है। दुष्कृत कुमार की अपेक्षा सुकृत कुमार श्रेष्ठ ही है। किन्तु विचार करें स्वामी, कि सुकृत कुमार का फलित भी अन्ततः गतिरूप संसार ही तो है। सुकृत कुमार को हितकारी मानकर तो दुःखमय संसार का अभाव संभव न हो सकेगा।....... महाराज ! कृपया स्मरण रखें कि हमारा लक्ष्य लौकिक नहीं, लोकोत्तर है। हमें मुक्तिपुरी पहुँचना है। मुक्तिपुरी ही हमारा देश है। वही हमारा ध्येय है, प्रेय है और श्रेय भी। जिसे आप सुगति कहते हैं, वह भी अन्ततः है तो बंधन रूप संसार ही ! क्या बंधन भी कल्याणकारी हो सकता है?....... स्वामी ! परमार्थतः सुगति तो एक मोक्ष ही है, जहाँ सर्व आकुलता का अभाव है, जहाँ निरन्तर सुख और आनन्द का निर्झर बहता है।....... प्रभु ! निश्चय से तो सुकृत कुमार का कोई भी कृत्य मुक्ति पथ का साधक नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि जैसे आँगन में आए बिना गृह प्रवेश नहीं हो सकता; उसी प्रकार सुकृत कुमार के सुयोग्य निमित्त बिना आपका चित्त जिनेन्द्र प्रणीत वीतराग-मार्ग में प्रविष्टि नहीं पा सकता।

चेतनराज : यह उपकार क्या कम है ज्ञानदेव?

ज्ञानदेव : बहुत है महाराज, किन्तु व्यवहार-दृष्टि से ही। भगवन् ! अपनी अचिन्त्य शक्ति का विचार करें।....... यदि जिनेन्द्र प्रणीत वीतराग मार्ग में विचरण करने को आप स्वयं तत्पर न हों, तो सुकृत कुमार का सुयोग्य निमित्त क्या करेगा? वैसे भी....... सुकृत कुमार की क्रीड़ा स्थली मात्र अनुराग-तत्त्व के परिसर तक ही सीमित है।....... वीतरागता के उन्मुक्त प्रदेश में तो उसके प्रवेश की कोई संभावना ही नहीं; वहाँ तो आपकी ही अनन्त-अनन्त गुण-शक्तियों का निर्बाध एवं सुखमय साम्राज्य है।....... सुकृत कुमार आँगन तुल्य है महाराज ! गृह प्रवेश तो आँगन

छोड़कर ही संभव हो सकेगा .... और यह निर्विवाद ही है कि आँगन गृह नहीं होता और गृह कदापि आँगन नहीं हो सकता। पुनः स्मरण कराना चाहूँगा स्वामी ! कि सुकृत कुमार और दुष्कृत कुमार दोनों कुबुद्धिदेवी और और वेदनीय की संतान हैं। दोनों का वंश, दोनों की जाति, एक ही है। दोनों ही हमारे लिए विजातीय हैं। उनकी कोई भी प्रवृत्ति, वह चाहे शुभ रूप हो अथवा अशुभ रूप, हमारी कुल-प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं है। दोनों ही संसार मार्ग के साधक हैं।....... और महाराज ! हमें तो मुक्ति पथ पर अग्रसर होना है। इस कारण ये दोनों मुक्ति पथ में बाधक हैं।

चेतनराज : आपकी तर्कणा का खंडन संभव नहीं है ज्ञानदेव ! काम-भोग-बंध की विकथा में मस्त रहकर, अब तक हमने अपने अनन्त वैभव की घोर उपेक्षा की। परमार्थ रूप ऐसा वस्तु स्वरूप तो हमने आज तक न सुना, न समझा।....... अहा ! कितना उपकार मानें आपका....... किन्तु अमात्यवर, न जाने क्यों, सुकृत कुमार के लिए हृदय में.......।

ज्ञानदेव : किंचित् समय और लगेगा स्वामी ! हम अभी मिथ्यापुर में ही हैं। मिथ्यात्वराज की चकाचौंध से अभी पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाए हैं। अविलंब हमें अव्रतपुर की ओर कूच करना चाहिये।

चेतनराज : (आश्चर्य पूर्वक) अव्रतपुर?....... किन्तु हमें तो मुक्तिपुरी चलना है !

ज्ञानदेव : मुक्तिपुरी पहुँचने के लिए हमें अनेक पड़ावों को पार करना होगा स्वामी ! मुक्ति मार्ग में पड़ने वाले अव्रतपुर, देशव्रतपुर, प्रमत्तपुर, अप्रमत्तपुर जैसे अनेक नगरों पर, जो मोहराज के आधिपत्य में हैं, विजय प्राप्त करनी होगी। मोहराज की सेना सदा ही इन नगरों में मोर्चा बांधे युद्ध के लिए सन्नद्ध रहती है। उससे हमें जूझना होगा, पराजित करना होगा, तभी हम मुक्तिपुरी पहुँच पाएँगे।

चेतनराज : ओह....... ज्ञानदेव ! आप जो उचित समझें, करें, किन्तु हमारी इच्छा है कि जब तक अनिवार्य न हो, सुकृत कुमार को यहाँ से जाने के लिए विवश न किया जाये। व्यवहार-दृष्टि से ही सही, किन्तु हम अभी उसके प्रति कृतघ्न नहीं होना चाहते।

ज्ञानदेव : जो आज्ञा प्रभु !

चेतनराज : अब हम जिनमन्दिर चलते हैं। थोड़ा समय जिनेन्द्र देव के मंगल सान्निध्य में व्यतीत करेंगे।

(चेतनराज, सुबुद्धिदेवी और श्रद्धादेवी के साथ जाते हैं। ज्ञानदेव सहित सभी चेतनराज को प्रणाम करते हैं।)

ज्ञानदेव : (विवेक कुमार से) विवेक ! सुकृत कुमार के लिए महाराज के हृदय में अभी भी ममत्व बना हुआ है। और जब तक महाराज की सुकृत कुमार में रुचि बनी रहेगी, वे भली प्रकार अपनी अनन्तानन्त शक्तियों का परिचय भी न पा सकेंगे।

विवेक कुमार : आपका तात्पर्य पूज्यवर?

ज्ञानदेव : अपनी ही शक्तियों से अनभिज्ञ महाराज चेतनराज आत्मविश्वास के अभाव में मोहराज के बंधन से मुक्त होने के लिए आवश्यक साहस नहीं जुटा पाएँगे।....... इसलिए जितना शीघ्र हो, सुकृत कुमार के विषय में महाराज का भ्रम टूटना चाहिए।

विवेक कुमार : तो क्या सुकृत कुमार को महाराज चेतनराज का संसर्ग छोड़ने को विवश किया जाये?

ज्ञानदेव : नहीं ! महाराज की इच्छा के विपरीत कोई कार्य नहीं होगा विवेक ! और अभी इसकी आवश्यकता भी नहीं। सुकृत कुमार के महाराज चेतनराज के संसर्ग में रहने में अभी इतनी हानि नहीं, जितनी कि उनके द्वारा उसे अपना हितैषी मानने में है।

विवेक कुमार : किन्तु आपने जो बोध दिया, उसे तो उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार किया है। इतना तो वे जानते ही ....

ज्ञानदेव : (बात काटते हुए) जानते हैं विवेक, किन्तु मानते नहीं। जब तक मानें नहीं जानना "जानना" नहीं कहलाता।....... (निःश्वास लेकर)....... किन्तु इसमें उनका क्या दोष? सब मिथ्यात्वराज की महिमा का प्रताप है।

विवेक कुमार : इसका उपाय पूज्यवर?

ज्ञानदेव : (कुछ सोचते हुए)....... विवेक ! श्रद्धादेवी अभी भी मिथ्यात्वराज के व्यामोह चक्र से मुक्त नहीं हो पाई हैं।....... तुम एक काम करो।

विवेक कुमार : आज्ञा कीजिए पूज्यवर !

ज्ञानदेव : तुम ऐसा उपक्रम करो कि जिससे श्रद्धादेवी के हृदय में महाराज चेतनराज के प्रति अनुराग उत्पन्न हो जाये, फिर उन्हें महाराज से परिणय के लिए सहमत करो।

विवेक कुमार : और यदि महाराज स्वयं श्रद्धादेवी से विवाह का प्रस्ताव करें तो?

ज्ञानदेव : नहीं विवेक ! यह महाराज की पद-प्रतिष्ठा के अनुरूप न होगा। प्रस्ताव श्रद्धादेवी की ओर से आना चाहिए।

विवेक कुमार : जैसी आज्ञा पूज्यवर ! मैं भरसक प्रयत्न करूँगा।

ज्ञानदेव : (स्वतः ही) श्रद्धादेवी का परिणय महाराज चेतनराज के साथ हो जाये, फिर तो।

विवेक कुमार : ''फिर'' क्या पूज्यवर ?

ज्ञानदेव : अभी नहीं विवेक ! प्रतीक्षा करो, उत्तर के लिए भविष्य की प्रतीक्षा करो....... सुनो विवेक ! तुम्हारे सेनापतित्व में ही अव्रतपुर दुर्ग पर आक्रमण करना है।....... जाओ, सेना की आवश्यक व्यूह रचना करो !

विवेक कुमार : आज्ञा शिरोधार्य है पूज्यवर ! श्री चरणों में प्रणाम !! (प्रणाम करके जाता है।)

-पटाक्षेप-

द्वितीय-दृश्य

[जिनमन्दिर में चेतनराज, सुबुद्धिदेवी, ज्ञानदेव, चारित्रवीर, सुकृत कुमार, विवेक कुमार, दर्शनश्री, वीर्यवर, श्रद्धादेवी आदि जिनेन्द्र भक्ति कर रहे हैं।]

।। गीत ।।

भीतर देख लिया अविनश्वर,
पर्यायों के बिम्ब बदलते। चेतन को छूता कब नश्वर। मैंने देख लिया अविनश्वर।।
प्रज्ञा की छैनी से कटते, कोटि जन्म के निर्मम बंधन।
वीतरागता अनुपम अक्षय, जहाँ नहीं संभव परिवर्तन।।
सत्य समय का समझ लिया, अब कौन पराये जाएगा घर। मैंने देख लिया अविनश्वर।।
अर्हत-सिद्ध-स्वभाव स्वरूपी, नाम भिन्न पर अर्थ एक है।
स्याद्वाद की परिभाषा दी, अनेकान्त में निहित एक है।।
अर्पित प्रभु के चरणकमल में, श्रद्धा के शत-शत अभिनव स्वर। मैंने देख लिया अविनश्वर।।

-पटाक्षेप-

तीसरा-दृश्य

[मोहपुरी – मोहराज का भव्य सभागृह। मोहराज सिंहासन पर विराजमान हैं। दायीं व बायीं ओर अनुचर खड़े हैं। मोहराज के पास ही दो आसनों पर उनके प्रमुख मंत्री रागराज और द्वेषराज आसीन हैं। कुछ सभासद भी अपनी-अपनी आसन्दियों पर बैठे हुए हैं। सभागृह के मध्य नृत्य चल रहा है। नर्तकियाँ नृत्य करते हुए गीत गा रही हैं।]

॥ गान ॥

जय-जय मोह महान।
तुम त्रिभुवनपति अखिलेश्वर हो, भव नायक तुम, परमेश्वर हो,
गुण रत्नों की खान।....... जय-जय मोह महान।
राग-द्वेष मंत्री द्वय न्यारे, सुत मिथ्यात्वराज अति प्यारे,
सुता कुबुद्धि समान।....... जय-जय मोह महान।
सेनानी ज्ञानावरणादिक, शूरवीर योद्धा क्रोधादिक,
सेवक काम प्रधान।....... जय-जय मोह महान।
हास्य, शोक, रति, अरति, जुगुप्सा, तीन वेद, भय नव रण-दक्षा,
मोहवंश की शान।....... जय-जय मोह महान।
चेतन के तुम शरण सहारे, जो अनादि से दास तुम्हारे,
गाते तव यश गान।....... जय-जय मोह महान।
इतना स्नेह दिया चेतन को, भूल गये वे अपने जन को,
बिसरी निज पहिचान।....... जय-जय मोह महान।...
तुमने उन्हें सुता निज ब्याही, जी-भर मदिरा मोह पिलाई,
त्रिभुवन के वरदान।....... जय-जय मोह महान।

(गीत समाप्त होते ही कुबुद्धिदेवी का सभागृह में प्रवेश)

कुबुद्धिदेवी : (झुककर) पिताश्री, महाराजाधिराज मोहराज के श्री-चरणों में उनकी लाड़ली बेटी कुबुद्धि का प्रणाम स्वीकार हो।....... (प्रणाम करती है।)

मोहराज : (स्नेह पूर्वक) आओ बेटी !....... बिना पूर्व सूचना के अनायास कैसे आगमन हुआ? कुशल तो है ?

कुबुद्धिदेवी : कुशल कहाँ पिताश्री ! बड़ा अनर्थ हो गया। किसी सुबुद्धि नाम की नारी के

बहकावे में आकर चेतनराज ने मेरा परित्याग कर दिया है और तो और वे जड़पुर भी छोड़कर अन्यत्र चले गए हैं। सुकृत कुमार और श्रद्धादेवी भी उन्हीं के साथ हैं।

मोहराज : (साश्चर्य) यह क्या सुन रहे हैं हम? इतना दुस्साहस कर डाला चेतनराज ने?....... हमने चेतन के लिये क्या नहीं किया?....... अपनी बेटी ब्याही, जड़पुर का नरेश बनाया, प्रति

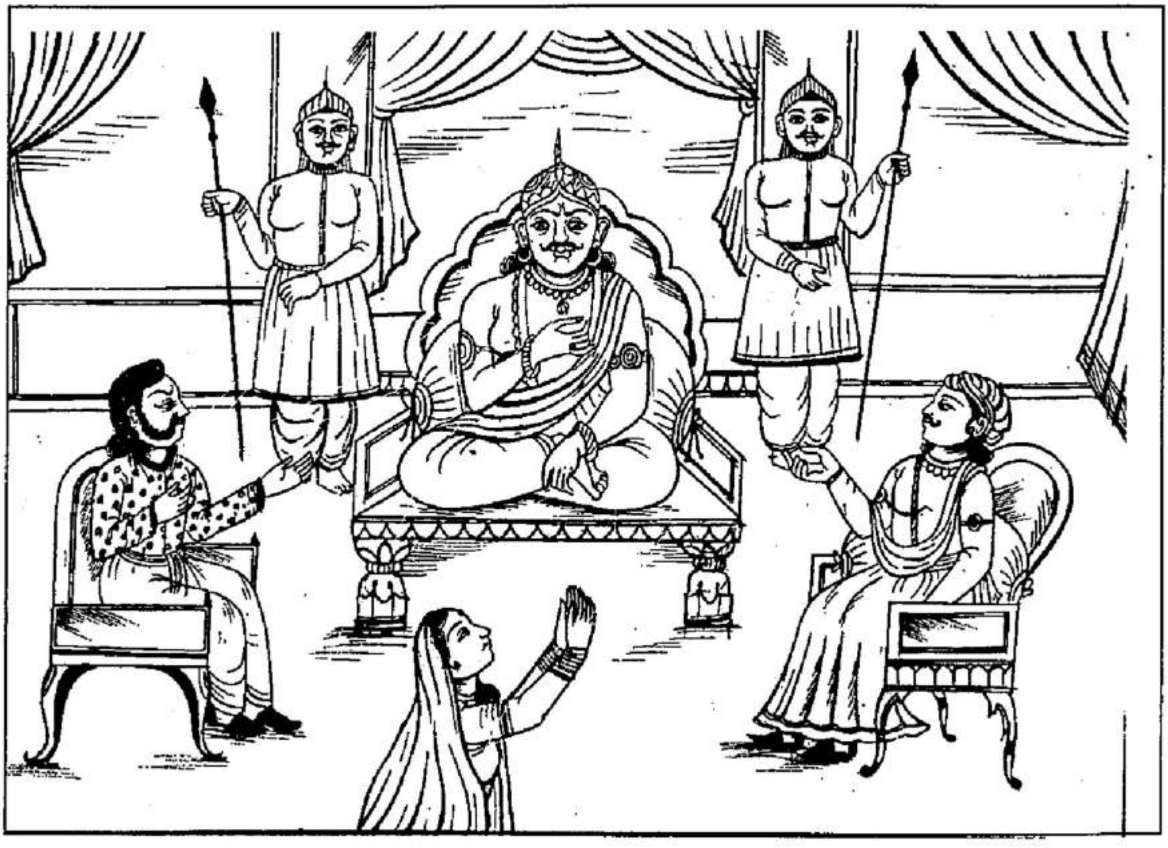

समय मोह-मदिरा का मधुर पान कराया। चार गतियों की चौरासी लाख योनियों में अनन्त बार भव भ्रमण करवाकर, हम ही उसका चित्त बहलाते रहे। तीन लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ की पर्यटन-सुविधा का उपभोग उसने हमारी कृपा से अनन्ते बार न किया हो।....... क्या वह हमारे इन सब उपकारों को भूल गया है?

कुबुद्धिदेवी : हाँ पिताश्री, उन्होंने मुझसे स्पष्ट कह दिया है कि अब मुझे तुमसे कोई प्रेम नहीं रहा। सुबुद्धिरानी ही मेरे हृदय की अधिष्ठात्री है।....... पूज्यवर, जब मैंने उन्हें आपके उपकारों का स्मरण कराया तो उन्होंने बड़ी उपेक्षा से कहा – "जाकर अपने पिता से कह दो कि अब हमें उनकी अनुकम्पाओं की आवश्यकता नहीं है।"

मोहराज : (सक्रोध) ओह,....... असह्यनीय ! उस कृतघ्नी, का-पुरुष का यह दुस्साहस? तुम अधीर मत होओ बेटी। उसे अपने कुकृत्यों का फल शीघ्र भोगना होगा। (द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल : महाराज की जय हो। गुप्तचर प्रधान काम कुमार आए हैं। अनुमति की प्रतीक्षा में द्वार पर खड़े हैं।

मोहराज : आने दो उन्हें। (काम कुमार का प्रवेश)

काम कुमार : त्रिलोकाधिपति महाराज मोहराज की जय हो। सेवक का प्रणाम स्वीकार करें प्रभु ! (प्रणाम करता है।)

मोहराज : क्या सन्देश लाए, काम कुमार?

काम कुमार : सेवक एक महत्त्वपूर्ण आपात् सूचना देने हेतु उपस्थित हुआ है प्रभु ! चेतनराज ने जड़पुर का परित्याग कर दिया है और अपने परिजनों के साथ अव्रतपुर पर आक्रमण करने की योजना बना रहे हैं।

मोहराज : चेतनराज के जड़पुर परित्याग की सूचना तो हमें मिल चुकी है काम कुमार ! हाँ, हमारे लिए यह सूचना नई है कि वह अव्रतपुर पर आक्रमण की भी योजना बना रहा है।...(आवेश भरे स्वर में) चेतन बहुत उद्दण्ड हो गया है। शीघ्र ही इसके विषदन्त तोड़ने होंगे।... काम कुमार ! सेनाधिपति मिथ्यात्वराज को हमारे समक्ष उपस्थित होने की सूचना दो। (द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल : महाराज की जय हो। सेनाधिपति मिथ्यात्वराज अनुमति की प्रतीक्षा में द्वार पर खड़े हैं।

मोहराज : आने दो उन्हें। (मिथ्यात्वराज का प्रवेश)

मिथ्यात्वराज : त्रिभुवनपति, पिताश्री महाराज मोहराज की जय हो।

मोहराज : वत्स बड़ी दीर्घ आयु है तुम्हारी ! हमने अभी-अभी तुम्हारा स्मरण किया था। किन्तु पहले तुम बताओ, कैसे आगमन हुआ।

मिथ्यात्वराज : पिताश्री ! चेतनराज ने जड़पुर का परित्याग कर दिया है, और.......।

मोहराज : (बीच ही में) हमें ज्ञात हो चुका है....... और यह भी कि वह अव्रतपुर पर आक्रमण की योजना बना रहा है।....... किन्तु वत्स ! हम तो चेतन को तुम्हें सौंपकर निश्चिन्त थे। अनायास यह सब कैसे हुआ।

मिथ्यात्वराज : (धीमे स्वर में) सुकृत कुमार के कारण महाराज। (द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल : महाराज की जय हो ! द्वार पर कुंवर दुष्कृत कुमार आए हैं, भेंट की अनुमति चाहते हैं।

मोहराज : आने दो। (दुष्कृत कुमार का प्रवेश)

दुष्कृत कुमार : महाराज की जय हो। पूज्यश्री के चरण-कमलों में आपका यह बालक प्रणाम करता है। (प्रणाम करता है।)

मोहराज़ : कल्याण हो वत्स ! कैसे आगमन हुआ?

दुष्कृत कुमार : (कुबुद्धिदेवी की ओर देखकर) माँ तुम यहाँ हो ?....... मैं न कहता था कि सुकृत को इतना सिर न चढ़ाओ, किन्तु तुमने और मामा मिथ्यात्वराज ने मेरी एक न सुनी।....... (मोहराज से)....... नानाश्री ! आपको ज्ञात है कि इसका क्या दुष्परिणाम हुआ?

मोहराज : शान्त हो जाओ वत्स ! हम सुन चुके हैं। किन्तु जो हो चुका, सो हो चुका। देखना यह है कि अब क्या किया जाए। (दोनों मंत्रियों से) मंत्रीद्वय, इन परिस्थितियों में आप लोग हमें क्या परामर्श देना चाहेंगे?

रागराज : महाराजश्री ! हमारे प्रधान सेनाधिपति कुंवर मिथ्यात्वराज ही हमारी शक्ति का केन्द्र हैं। अभी कुछ नहीं बिगड़ा। सेनाधिपति से हमारा अनुरोध है कि वे पूरी शक्ति से चेतनराज को अव्रतपुर में प्रविष्ट होने से रोकें। यदि चेतनराज अव्रतपुर पर आक्रमण करें तो उन्हें ऐसा मुँह तोड़ उत्तर दें कि दुबारा वे हमारे विरुद्ध सिर उठाने का दुस्साहस न कर सकें। इतना ही नहीं, बल्कि चेतनराज को पकड़कर अबकी बार निगोद के गहरे अन्धकूप में डाल दिया जाये, ताकि परिजन तो दूर उन्हें स्वयं अपना अस्तित्व तक विस्मृत हो जाये।....... स्वामी, सेनाधिपति कुंवर मिथ्यात्वराज को भरसक यह प्रयत्न करना होगा कि येन-केन-प्रकारेण श्रद्धादेवी पुनः उनकी दृढ़ अनुगामिनी बनें। इसके विपरीत यदि वे चेतनराज पर अनुरक्त हो गईं, तो हमारी अपूर्णीय क्षति होगी।

मिथ्यात्वराज : मंत्रीवर ने ठीक कहा है महाराज ! श्रद्धादेवी ने जब से चेतनराज के साथ जड़पुर छोड़ा है, वहाँ अविश्वास संकट उपस्थित हो गया है। मैं स्वयं अपने अस्तित्व के विषय में चिन्तित हूँ।....... किन्तु मैं निराश नहीं हूँ। फिर....... अपनी बहिन का अपमान भी कैसे भूल सकता हूँ? इसलिए अभी मिथ्यापुर पहुँचकर चेतनराज को उनके दुष्कर्म का फल चखाता हूँ।....... मुझे आशीर्वाद प्रदान कीजिये पिताश्री।

मोहराज : (भावुक होकर) हमारा आशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ है वत्स ! किसी भी प्रकार चेतनराज को अव्रतपुर गढ़ में प्रविष्ट होने से वंचित रखो !! यदि दुर्भाग्य से चेतन अपनी सेना के साथ अव्रतपुर गढ़ में प्रवेश पा गया, तो फिर तुम कुछ न कर सकोगे। इसलिए अविलंब ही अपने असंख्य शूरवीरों को मिथ्यापुर की सीमा पर तैनात कर दो, ताकि चेतनराज मिथ्यापुर से ही बाहर न निकलने पाए ! वीरांगना अनन्तानुबंधी, कुंवर अप्रत्याख्यानावरण, कुंवर प्रत्याख्यानावरण और कुंवर संज्वलन अपने महासुभट क्रोध, मान, माया और लोभ सहित असंख्य सेना लेकर तुम्हारी सहायता को तत्पर रहेंगे। ज्ञानावरणादि सभी सेनानायक भी अपने महासुभटों और असंख्य सेना सहित तुम्हारी आज्ञा में सन्नद्ध रहेंगे।....... वत्स ! चेतनराज को अविलंब पराजित कर निगोद के गहरे अंधकूप में पटक दो। उसकी उद्दंडता का यही उचित दण्ड होगा।

मिथ्यात्वराज : आपकी असीम अनुकंपा और अपने बाहुबल से मैं शीघ्र ही चेतनराज को उनके दुष्कर्मों का फल चखाऊँगा। आप निश्चिन्त रहें। अब मैं चलता हूँ।....... श्रीचरणों में प्रणाम। (प्रणाम करके जाता है।)

दुष्कृत कुमार : (मंत्री रागराज से) मंत्रीवर, सुकृत कुमार जो चेतनराज के पक्ष में होकर, उनकी सहायता कर रहा है, उसके सम्बन्ध में आपने क्या सोचा है?

रागराज : इसकी चिन्ता न करो वत्स ! उनका चेतनराज के संग रहना हमारे ही हित में है।

द्वेषराज : क्षमा करें बंधुवर ! आपकी यह उक्ति मेरी समझ में नहीं आई। कुंवर सुकृत कुमार, जिनके कारण ही यह विषम परिस्थिति उत्पन्न हुई है, उनका अभी भी चेतनराज के साथ रहना हमारे हित में कैसे हो सकता है। मेरी राय में तो कुंवर सुकृत कुमार को कड़े निर्देश देकर यहाँ बुलवा लेना चाहिये।

रागराज : नहीं बंधुवर ! इन परिस्थितियों में, ऐसा करना बड़ी अदूरदर्शिता होगी....... अब तो कुंवर सुकृत कुमार चेतनराज के साथ रह कर ही हमें दीर्घकालिक किन्तु फलदायी लाभ पहुँचा सकेंगे।

दुष्कृत कुमार : (खिन्न होकर) मेरी समझ में तो कुछ नहीं आ रहा। मुझे आदेश दिया जाये कि मैं क्या करूँ?

मोहराज : मंत्रीवर रागराज ठीक कहते हैं वत्स ! तुम संभवतः उनकी बात समझ न पाओगे....... ऐसा करो, तुम अभी मिथ्यापुर की सीमा पर पहुँचो, और वहाँ मिथ्यात्वराज के आदेशानुसार वर्तन करो।

दुष्कृत कुमार : जो आज्ञा नाना श्री....... श्रीचरणों में प्रणाम ! (प्रणाम करके जाता है)

रागराज : इसके पूर्व कि चेतनराज को रण क्षेत्र में हम उनके दुष्कर्मों के लिए दंडित करें, राज-नियमों के अनुसार दूत भेजकर उन्हें अन्तिम चेतावनी दी जाये कि....... अब भी विद्रोह छोड़कर हमारी शरण में आ जाओ।....... संभव है कि चेतावनी मात्र से चेतनराज भयभीत होकर हमसे क्षमा-याचना कर लें।....... गुड़ से जिसका प्राणान्त हो सकता हो, उसे विष-भक्षण क्यों कराया जाये?

मोहराज : (हर्षित होकर) बहुत मूल्यवान परामर्श दिया है मंत्रीवर आपने !....... किन्तु चेतन के पास दूत बनाकर किसे भेजा जाये?

रागराज : मेरी राय में तो इस दुष्कर कार्य के लिए गुप्तचर प्रधान काम कुमार से बढ़कर अन्य कोई योग्य नहीं।

मोहराज : (हर्षित होकर) साधुवाद मंत्रीवर। सचमुच गुप्तचरों के प्रधान काम कुमार ही इस कार्य को दक्षता पूर्वक सम्पन्न कर सकेंगे।....... (काम कुमार से)....... काम कुमार ! दैत्य-कर्म में तुमसे अधिक दक्ष अन्य कोई नहीं। सारा संसार तुम्हारे कौशल का लोहा मानता है। तुम जाकर चेतनराज को हमारा सन्देश सुनाओ। उससे कहना....... "रे नीच नराधम, क्या तेरी मति भ्रष्ट हो गई है, जो अपनी ब्याहता पत्नी को छोड़कर पराई नारी से विलास करता है। अब भी समय है, जो अपना कल्याण चाहता हो तो हमारी शरण में आ, हमारे चरण स्पर्श कर। अपने किये पर पश्चात्ताप प्रगट कर। हमसे क्षमा माँग। अन्यथा तुझे विद्रोह का दुःष्परिणाम भुगतना होगा।"

काम कुमार : जो आज्ञा महाराज ! मैं अविलंब आपका आदेश कृतघ्नी चेतनराज को जाकर सुनाता हूँ....... श्रीचरणों में प्रणाम। (प्रणाम करके जाता है।)

कुबुद्धिदेवी : अब मेरे लिए क्या आदेश है, पिताश्री।

मोहराज : तुम यहीं रहो ! हम शीघ्र ही चेतनराज को तुम्हारा दास बनने को बाध्य करेंगे। तब तक....... (मुस्कुरा कर)....... तुम सेनानायक वेदनीय के साथ जीवन का सुख विलास भोगो।....... (सेनानायक वेदनीय से)....... सेनानायक वेदनीय ! हमारी बेटी तुम्हारे संरक्षण में रहेगी। तुम्हारा कर्त्तव्य होगा कि यह सदा प्रफुल्लित रहे।

वेदनीय : (सिर झुकाकर) महाराजश्री की आज्ञा शिरोधार्य है।....... (कुबुद्धिरानी से)....... आओ देवी ! (वेदनीय कुबुद्धिदेवी को अपने साथ ले जाता है।)

- पटाक्षेप -

चतुर्थ-दृश्य

[मोहराज का सभागृह। मोहराज़ सिंहासन पर आसीन हैं। आसपास दो अनुचर खड़े हैं। कुछ सभासद भी बैठे हैं। पास ही मंत्री- द्वय रागराज और द्वेषराज अपने-अपने आसनों पर आसीन हैं। गुप्तचर प्रधान काम कुमार भी एक ओर खड़े हैं। मोहराज के अन्य सेनानायक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय सैनिक वेशभूषा में अपनी-अपनी आसंदियों पर बैठे हैं।]

मोहराज : मंत्रीवर रागराज ! आपके सत्परामर्श से हमने गुप्तचर प्रधान काम कुमार को चेतनराज के पास भेजा था। किन्तु वहाँ से लौटकर जो सूचना उन्होंने दी है, वह बहुत निराशाजनक है। वास्तव में तो चेतनराज भ्रष्टजनों की संगत में है। उस कृतघ्नी ने तो उद्दंडता की सीमा का भी उल्लंघन कर दिया है।....... धृष्टता तो देखो ! हमारे उपकारों के प्रति कृतज्ञ होना तो दूर, इसके विपरीत उसने हमारा खुला उपहास किया है।

रागराज : चिन्ता न करें महाराज ! चेतनराज को अपने दुष्कृत्यों का फल भोगना होगा। तीन लोक में आपकी शरण छोड़कर वे अन्यत्र जाएँगे कहाँ?

द्वेषराज : हमें चेतनराज के प्रति सदयता की नीति का परित्याग करना पड़ेगा महाराज ! कठोर रुख अपनाए बिना काम नहीं चलेगा। घी सीधी अंगुली से नहीं निकला करता।

मोहराज : (आवेश भरे स्वर में) ठीक कहते हैं, आप मंत्रीवर ! अब और प्रतीक्षा नहीं की जा सकती। सेना तैयार की जाए।

रागराज : हमारी सेना तो सदा तैयार ही रहती है स्वामी ! बस आपके आदेश की प्रतीक्षा है। संयोगवश आज कुछ सेनानायक भी यहाँ उपस्थित हैं।

मोहराज : (सेनानायकों को सम्बोधित करते हुए) उपस्थित सेनानायको !....... अपनी असीम शक्ति का परिचय देकर मुझे आश्वस्त करो !

(सबसे पहले सेनानायक ज्ञानावरण खड़ा होता है।)

ज्ञानावरण : मैं ज्ञानावरण हूँ महाराज ! मैं अपने पाँच महासुभटों और उनकी असंख्य सेना के साथ सदा आपकी सेवा में तत्पर रहता हूँ। आपकी कृपा-दृष्टि का बल पाकर मैंने समग्र संसार को पराजित कर सदा आपकी विजय-पताका फहराई है। मैंने चेतनराज के प्रधान अमात्य ज्ञानदेव की शक्तियों को अपने प्रबल प्रहार से इतना कुंद कर रखा है कि वह अपने को निर्बल एवं असहाय ही अनुभव करता है।

(अपने स्थान पर बैठ जाता है। अब सेनानायक दर्शनावरण खड़ा होता है।)

दर्शनावरण : मैं सेनानायक दर्शनावरण हूँ महाराज ! आपके प्रताप से मैंने ६ महासुभटों और उनके असंख्य सैनिकों के सहयोग से चेतनराज के प्रमुख सेनानी दर्शनश्री की अवलोकन शक्ति का अपहरण करके उसे अन्धे के समान बना दिया है।

(अपने स्थान पर बैठ जाता है। अब सेनानायक अन्तराय खड़ा होता है।)

अन्तराय : मैं सेनानायक अन्तराय हूँ, त्रिभुवनपति ! आपकी अनुकम्पा से मैं अपने पाँच महासुभटों और उनके असंख्य वीरों के साथ ऐसा भयानक युद्ध करता हूँ कि फिर मेरे समक्ष चेतनराज के सारे शस्त्र कुंद हो जाते हैं। चेतन-कुल के प्रमुख सेनानी वीर्यवर के पुरुषार्थ को कुंठित करके मैंने उसे नाकारा बना डाला है। जहाँ भी मैं अवरोध की दीवार खड़ी करता हूँ, चेतनराज की पूरी सेना वहीं रुक जाती है।

(अपने स्थान पर बैठ जाता है। अब सेनानायक वेदनीय खड़ा होता है।)

वेदनीय : मैं सेनानायक वेदनीय हूँ स्वामी ! मेरे दो ही महासुभट हैं। किन्तु आपकी कृपा से इन दो महासुभटों के असंख्य वीरों की सहायता से मैंने संसार में जो भ्रमजाल फैला रखा है, उससे कोई अछूता नहीं। मैं चेतनराज को कभी दुःख तो कभी दुःखमय सुख देकर भ्रमित रखता हूँ....... विस्मय-विमुग्ध हो जाने का विषय तो यह है स्वामी, कि चेतनराज इस दुःखमय सुख के कारण मुझसे बड़ा स्नेह रखते हैं। इस भ्रामक सुखाभास के जरिये ही मैं चेतनराज को सुगमता से भ्रमजाल में फँसाये रखता हूँ।

(अपने स्थान पर बैठ जाता है। अब सेनानायक आयु खड़ा होता है।)

आयु : मैं सेनानायक आयु हूँ त्रिलोकाधिपति ! आपकी दया से मैं अपने चार महासुभटों और उनके असंख्य शूरवीरों की सहायता से चेतनराज को चार गतियों की चौरासी लाख योनियों में भटकाता रहता हूँ। एक क्षण भी उन्हें चैन से नहीं रहने देता।

(अपने स्थान पर बैठ जाता है। अब सेनानायक नाम खड़ा होता है।)

नाम : मैं सेनानायक नाम हूँ त्रिभुवनपति ! आपकी असीम अनुकम्पा ने मुझे निस्सीम शक्ति प्रदान कर दी है। मेरे बिना संसार की ही स्थिति नहीं। मैं अपने ६३ महासुभटों और उनकी असंख्य सेना की सहायता से चेतनराज को विभिन्न शरीरोंरूप और स्पर्श-रस-गंध-वर्णरूप करता हुआ, अनेक नाच नचाता रहता हूँ। चेतनराज की क्षमता ही नहीं कि मुझसे पार पा सकें। जब तक मैं उन्हें मुक्त न करूँ वे मुक्तिपुरी नहीं पहुँच सकते।

(अपने स्थान पर बैठ जाता है। अब सेनानायक गोत्र खड़ा होता है।)

गोत्र : मैं सेनानायक गोत्र हूँ प्रभु ! आपकी महती कृपा से अपने दो महासुभटों और उनके असंख्य सेनानियों की सहायता से मैं चेतनराज को पल में राजा तो पल में रंक बनाकर, उनकी आकुलता का आनन्द लेता रहता हूँ। (अपने स्थान पर बैठ जाता है।)

मोहराज : (हर्षित होकर) मैं आश्वस्त हुआ मेरे शूरवीरो ! आप सबने मुझे अपनी अपरिमित शक्ति का अहसास करा दिया है।

ज्ञानावरण : (अपने स्थान पर खड़ा होकर) हम सबकी शक्ति का अजस्र स्रोत तो आप ही हैं, त्रिभुवनपति ! जैसे सूर्य-किरण-करों का स्पर्श पाकर सोए कमल जाग उठते हैं, वैसे ही आपकी कृपा-दृष्टि का बल पाकर हम सबकी सुषुप्त शक्तियाँ जागृत हो उठती हैं। आपके नेतृत्व में ही हम सब अपनी विलक्षण शक्तियों का परिचय दे पाते हैं।....... त्रिभुवनपति ! मोहकुल का तो बच्चा-बच्चा भी असंख्य-असंख्य शक्तियों का पूंजीभूत केन्द्र है। आपके पुत्र रत्नों में प्रधान सेनाधिपति मिथ्यात्वराज का अनुपमबल – सामर्थ्य तो लोक-विश्रुत है ही। वीरांगना अनन्तानुबंधी, कुंवर अप्रत्याख्यानावरण, कुंवर प्रत्याख्यानावरण और कुंवर संज्वलन के अपूर्व पराक्रम की भी लोक में कोई उपमा नहीं। इनके क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे दुर्द्धर योद्धाओं का लोहा सारा संसार मानता है।

चेतन कुल की संगठन शक्ति को विच्छिन्न कर देने का जैसा अद्भुत सामर्थ्य इन योद्धाओं में है, वैसा अन्य किसी में नहीं। इन्हीं के कारण चेतनराज अनादिकाल से दूरन्त-कषाय-चक्र में फँसकर हमारे दास बने हुए हैं। इनके अलावा मोहकुल की हास्य, रति, अरति आदि नौ किशोर बालाएँ भी रण-कौशल में कम दक्ष नहीं। यह इनका ही अद्वितीय शौर्यबल है कि जिसके कारण चेतनराज के वरिष्ठ सेनानी चारित्रवीर जैसे भी अपने को कर्त्तव्य विमूढ़ पाते हैं।....... स्वामी ! वस्तुतः तो ये सब आपके ही अंशावतार हैं। हम और हमारे सभी महासुभट इन्हीं के नेतृत्व में अपना जौहर दिखा पाते हैं। (बैठ जाता है।)

वेदनीय : कृपा निधान ! हमारे सम्पूर्ण राज्य में कुंवर मिथ्यात्वराज के समान शक्तिशाली अन्य कोई नहीं। चेतनराज को वे अकेले ही उनके द्वारा किए गये एकपल के अपराध के लिए ७० कोड़ा-कोड़ी सागर तक बाँधकर रखने का उत्कृष्ट सामर्थ्य रखते हैं। ऐसा सामर्थ्य अन्य किसी में नहीं। यही कारण है कि आपने उन्हें प्रधान सेनाधिपति के पद पर अभिषिक्त किया है। जब तक चेतनराज उनके बंधन में हैं, हम सब निश्चिन्त हैं। मैं कृतज्ञता पूर्वक सभा को उनका स्मरण कराता

हूँ। मेरी हार्दिक इच्छा है कि सारी सभा अतीव हर्षोल्हास से उनका जय घोष करें।

मोहराज : (हर्ष से) सेनानायक वेदनीय ! प्रतीत होता है कि आपने हमारा हृदय पढ़ लिया है। (अनुमति पाकर सेनानायक वेदनीय प्रधान सेनाधिपति मिथ्यात्वराज की जय बोलते हैं। सभा भी हर्षोल्हास से मिथ्यात्वराज का जय घोष करती है।)।

मोहराज : (प्रसन्न चित्त से) आज हम बहुत प्रसन्न हैं। इस अवसर पर कुछ.......।

(संकेत समझकर काम कुमार ताली बजाता है। नर्तकी आती है।)

नृत्य के बाद....... - ***पटाक्षेप*** -

पाँचवा-दृश्य

[मोहराज का भव्य सभागृह। मोहराज सिंहासन पर विराजमान हैं। मंत्रीवर रागराज और द्वेषराज भी अपनी-अपनी आसंदियों पर बैठे हैं। कुछ सभासद भी यथा स्थान बैठे हुए हैं।]

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल : महाराज की जय हो। गुप्तचर प्रधान काम कुमार अनुमति की प्रतीक्षा में द्वार पर खड़े हैं।

मोहराज : आने दो उन्हें ! (काम कुमार का प्रवेश)

काम कुमार : त्रिभुवनपति महाराज मोहराज की जय हो !

मोहराज : क्या सन्देश लाए काम कुमार?

काम कुमार : सन्देश अशुभ है महाराज ! विवेक कुमार के सेनापतित्व में चेतनराज ने अव्रतपुर पर आक्रमण किया और विजय प्राप्त कर ली।

मोहराज : (साश्चर्य) क्या कहा? चेतनराज ने हमसे अव्रतपुर छीन लिया,....... काम कुमार ! कैसे हुआ यह? हमें सविस्तार अवगत कराओ।

काम कुमार : महाराज ! चेतनराज अपने प्रधान अमात्य ज्ञानदेव सहित विवेक कुमार के सेनापतित्व में असंख्य सेना लेकर अव्रतपुर के निकट आए। श्रद्धादेवी और कुंवर सुकृत कुमार भी उनके साथ थे। ज्यों ही चेतनराज ससैन्य अव्रतपुर गढ़ के चारों ओर बनी संशय की गहरी खाई पार करने को उद्यत हुए, सेनाधिपति कुंवर मिथ्यात्वराज ने उन पर भयानक आक्रमण कर दिया।

वीरांगना अनन्तानुबन्धी भी अपने चारों महासुभट – क्रोध, मान, माया और लोभ सहित असंख्य सेना लेकर चेतनराज की सेना पर टूट पड़ीं। तभी कुंवर सुकृत कुमार और कुंवर दुष्कृत कुमार अपने-अपने प्रमुख महासुभटों सहित ससैन्य वहाँ आए, और परस्पर घोर संग्राम करने लगे। कुंवर दुष्कृत कुमार ने बहुत वीरता से युद्ध किया। किन्तु विवेक कुमार के रण कौशल और सुकृत कुमार के शूरवीरों के आगे उनकी एक न चली। बुरी तरह घायल होकर उन्हें रण क्षेत्र छोड़ना पड़ा। उनके अनेक योद्धा वीर गति को प्राप्त हुए। शेष अपने प्राणों की रक्षार्थ मुँह छिपाकर भाग खड़े हुए।

इधर विवेक कुमार ने श्रद्धादेवी को प्रेरित किया कि वे हृदय से चेतनराज को अपना लें। विवेक की बात सुनकर श्रद्धादेवी विचलित सी उसे निहारने लगीं। तभी महाराज....... वहाँ एक विचित्र दृश्य दृष्टिगोचर हुआ।

मोहराज : (उत्सुकता पूर्वक) कैसा दृश्य काम कुमार?

काम कुमार : महाराज ! अनायास ही वहाँ क्रम से क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धि – ये चार देवियाँ प्रगट हुईं। उन्होंने श्रद्धादेवी से कहा – हे देवी ! चेतनराज को अपना सम्पूर्ण समर्पण कर दें। हम सब समर्पण संस्कार का मंगलमय अनुष्ठान सम्पन्न कराने के लिए ही आपकी सेवा में उपस्थित हुई हैं।....... तब....... तब महाराज, श्रद्धादेवी ने समर्पित हृदय से चेतनराज पर अपनी दृष्टि डाली। लज्जा से उनके कपोल आरक्त हो उठे। उनके सलज्ज नेत्रों का संकेत पाकर विवेक कुमार ने उसी समय दोनों का विवाह रचाया।....... फिर क्या था?....... बड़ी धूमधाम से हर्षोल्हास पूर्वक चेतनराज और श्रद्धादेवी का पाणिग्रहण-संस्कार सम्पन्न हुआ। वयोवृद्ध मंत्री ज्ञानदेव ने नव-परिणीत वर वधु के सुखी जीवन की मंगल कामना व्यक्त की।

मोहराज : ओह आश्चर्य ! रणभूमि में परिणयोत्सव?

काम कुमार : हाँ महाराज ! सचमुच यह सब विस्मयकारी था। बड़ा मनोरम दृश्य था। लब्धियों ने मंगलाचार किया। आरती उतारी, गीत गाए। (मुग्ध होकर विमोहित-सा) महाराज ! परिणय बेला की वे स्वर्णिम घड़ियाँ बड़ी मधुर थीं।....... कैसी अनुपम ! कितनी अप्रतिम ! अहा...हा ! चेतनराज का सहारा लिए खड़ी श्रद्धादेवी का अलौकिक सौन्दर्य देखते ही बनता था। नव परिणीत वर-वधु के मधुर मिलन से संघटित उत्कर्ष की दिव्य छटा.......।

मोहराज : (सक्रोध) होश में आओ काम कुमार ! हमारे शत्रुओं के उत्कर्ष की प्रशंसा हमारे ही समाने ! तुम्हारी मति तो भ्रष्ट नहीं हो गई?

काम कुमार : (प्रकृतिस्थ होकर) क्षमा करें स्वामी ! अनुचर लज्जित है।

मोहराज : ठीक है,....... आगे क्या हुआ?

काम कुमार : महाराज कुछ काल व्यतीत हुआ। तभी वहाँ लब्धियों की स्वामिनी करणलब्धि प्रगट हुई। उसने श्रद्धादेवी को आशीष प्रदान किया। और कहा– "अन्तर्मुहुर्त काल में ही तुम्हारे गर्भ से त्रिलोकजयी कल्याण मूर्ति बालक सम्यक्त्वराज का जन्म होगा।" देवी करणलब्धि के वचनों को सुनकर ज्ञानदेव ने उसी समय एक भविष्य वाणी की।

मोहराज : (उत्सुक होकर) क्या भविष्य वाणी की ज्ञानदेव ने?

काम कुमार : ज्ञानदेव ने गुरु-गम्भीर वाणी में गर्जना करते हुए कहा कि श्रद्धादेवी के गर्भ से उत्पन्न होने वाला बालक सम्यक्त्वराज ही मोहराज के प्रधान सेनाधिपति मिथ्यात्वराज की मृत्यु का कारण होगा।

मोहराज : (विस्फारित नयनों से दुःखी स्वर में) फिर क्या हुआ?

काम कुमार : देवी करणलब्धि ने विवेक कुमार को अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण जाति के अनेक दिव्यास्त्र प्रदान किये। ज्ञानदेव की सिंह-गर्जना युक्त भविष्यवाणी सुनकर इन दिव्यास्त्रों से सुसज्जित विवेक कुमार ने द्विगुणित उत्साह से अव्रतपुर-दुर्ग पर धावा बोल दिया। बड़े कौशल से उसने ससैन्य संशय की गहरी खाई पार की।

मोहराज : (साश्चर्य) क्या? संशय की वह गहरी और दुर्गम खाई, जिसका निर्माण मिथ्यात्वराज ने स्वयं अपने निरीक्षण में कराया था, उसे विवेक कुमार ने पार कर लिया?

काम कुमार : हाँ महाराज !

मोहराज : और हमारी ओर से कोई प्रतिरोध?

काम कुमार : कुंवर मिथ्यात्वराज ने किया महाराज ! उन्होंने बड़ी वीरता से प्रत्याक्रमण किया। भयंकर संग्राम हुआ। सेनाधिपति ने चेतनराज पर विभ्रम का चक्र चलाया। किन्तु विवेक कुमार ने भेदास्त्र चलाकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। वहीं मिथ्यात्वराज ने पुनः श्रद्धादेवी को विचलित करने की भरपूर चेष्टा की। किन्तु श्रद्धादेवी तो अब चेतनराज पर पूरी तरह अनुरक्त थीं। उन्होंने सेनाधिपति की ओर दृष्टिपात भी नहीं किया। इससे कुंवर श्री के हृदय को बड़ा आघात पहुँचा।....... तभी विवेक कुमार ने देवी करणलब्धि द्वारा प्रदत्त अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण जाति के अनेक दिव्यास्त्रों का क्रमशः संचालन कर कुंवर मिथ्यात्वराज की देह को

क्षत-विक्षत कर दिया। इसी बीच अन्तर्मुहुर्त काल समाप्त होते-होते श्रद्धादेवी ने एक तेजस्वी बालक को जन्म दिया। चेतनराज का हृदय आल्हाद से भर गया। सभी परिजन हर्ष-विभोर हो गए। ज्ञानदेव ने बालक का नाम "सम्यक्त्वराज" रखा। उसी क्षण दुर्ग का द्वार टूट गया। विवेक कुमार ने बालक सम्यक्त्वराज के दर्शन से अपने नयनों को तृप्त किया और बिना कोई विलंब किये मिथ्यात्वराज पर अचूक भेद-चक्र चला दिया। सेनाधिपति भेद चक्र के प्रहार से बुरी तरह लड़खड़ाये, तभी सम्यक्त्वराज की सन्निधि से प्राप्त अनुभूति के अनेक तीक्ष्ण बाण चलाकर विवेक कुमार ने मिथ्यात्वराज की समूची देह छलनी-छलनी कर डाली। वे कटे पेड़ की तरह भूमि पर गिर पड़े। उनकी अजेय शक्ति छिन्न-भिन्न होकर मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय इन दो और रूपों में विभाजित हो गई।

मोहराज : (शोक स्वर में) और चेतनराज को अनन्तकाल तक संसार में रुलाने वाली वीरांगना अनन्तानुबंधी का क्या हुआ?

काम कुमार : अपने प्रिये, सेनाधिपति कुंवर मिथ्यात्वराज की दुर्दशा देखकर वे भी हतोत्साहित हो गईं। चेतनराज के प्रबल सेनानी चारित्रवीर ने 'स्वरूपाचरण' नामक अबंधास्त्र चलाकर उन्हें भी घायल कर दिया। किन्तु वाह री वीरांगना अनन्तानुबन्धी ! घायल अवस्था में भी बालक सम्यक्त्वराज पर ऐसे बंधास्त्र चलाया कि उससे उपशम-वय में ही बालक सम्यक्त्वराज की दशा चिन्ताजनक हो गई। वह मरणासन्न हो चला। यह देखकर श्रद्धादेवी विचलित हो गईं। चेतनराज सहित सभी परिजन चिन्तित हो गए।

मोहराज : (हर्षातिरेक में) वाह ! हमारी लाड़ली अनन्तानुबंधी जैसी वीरांगना न कभी हुई, न होगी। मोहकुल को गर्व है उस पर !....... (उत्सुकता पूर्वक काम कुमार से) हाँ, फिर।

काम कुमार : वीरांगना अनन्तानुबंधी ने अपने घायल पड़े चार महासुभटों में से महासुभट क्रोध को प्रकृतिस्थ किया और उसकी सहायता से चेतनराज को खदेड़ते-खदेड़ते, सासादन के निबिड़तम विपिन तक ले गईं। चेतनराज बुरी तरह घबड़ा उठे। वे इस तिमिराच्छन्न विपिन से बाहर निकलने का प्रयत्न करने लगे। उधर शक्ति क्षीण होने पर भी मिथ्यात्वराज ससैन्य मिथ्यापुर पहुँचे। तभी चेतनराज भी भटकते-भटकते मिथ्यापुर पहुँच गए। मिथ्यात्वराज ने उन्हें यहाँ फिर घेर लिया। किन्तु महाराज, इसके पूर्व कि सेनाधिपति चेतनराज को बन्दी बनाकर रखते, विवेक कुमार ने उन पर पुनः प्रचंड आक्रमण कर दिया। भेद चक्र चलाकर उसने मिथ्यात्वराज और अनंतानुबंधी सहित ४१ महासुभटों और असंख्य सैनिकों को बुरी तरह घायल कर दिया। विवेक

कुमार के सेनापतित्व में सभी ससैन्य पुनः अव्रतपुर आए। इस समय अव्रतपुर में मिथ्यात्वराज के ही अंशावतार सम्यक्त्व मोहनीय विद्यमान थे। उन्होंने क्षयोपशम रूप किशोर अवस्था वाले सम्यक्त्वराज पर पाँच अतिचारों की सहायता से अनेक शस्त्रास्त्र चलाए, किन्तु.......।

मोहराज : ''किन्तु'' क्या काम कुमार?

काम कुमार : क्षमा करें स्वामी !....... अजेय शक्ति सम्पन्न सम्यक्त्वराज को पराजित करने को तत्पर कुंवर सम्यक्त्व मोहनीय ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो दावानल बुझाने को उद्यत ओस कण। उनका प्रत्येक वार विफल होता रहा।

मोहराज : (दुःखी स्वर में) ओह !....... फिर क्या हुआ?

काम कुमार : (निःश्वास लेकर) विवेक कुमार ने विजयोल्लास पूर्वक अव्रतपुर गढ़ पर चेतनराज की विजय-पताका फहराई।

मोहराज : ओह !....... बहुत अशुभ सन्देश लाए तुम काम कुमार !....... अब कुंवर मिथ्यात्वराज कहाँ है?

काम कुमार : (दुःखी स्वर में) अवशेष शूरवीरों के साथ मिथ्यापुर में भूमिगत होकर अपने घावों का उपचार करा रहे हैं, महाराज !

मोहराज : और चेतनराज की भावी योजना अब क्या है?

काम कुमार : सम्यक्त्वराज के जन्म लेते ही, उन्हें देहादिक पर पदार्थों से भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप की पहचान हो गई है। ज्ञानदेव के कारण उन्हें अपनी अनन्त शक्तियों का भान हो चुका है। उन्होंने संकल्प किया है कि हम जड़पुर समूल नष्ट कर अविलम्ब मुक्तिपुरी पहुँचेंगे, ताकि भव-भ्रमण के अनन्त-अनन्त दुःखों से सदा के लिये छुटकारा पा सकें।

मोहराज : बहुत अभिमानी हो गया है चेतन !....... हमें जड़ समूल नष्ट करेगा! मुक्तिपुरी पहुँचकर सदा-सदा के लिए भव-भ्रमण के दुःखों से मुक्ति पा लेगा ! !....... यदि उसने दर्पण में अपना मुख देखा होता तो ऐसा संकल्प कदापि न करता।....... कायर कहीं का....... नीच, नराधम ! हमारी शक्ति से अनभिज्ञ, किंचित् विजय पाकर मदान्ध हो गया है।....... अविलंब उसे इन कुकृत्यों के लिए दंडित करना होगा।

रागराज : महाराज ! इसमें सन्देह नहीं कि हमारी अपरिमित क्षति हो चुकी है। किन्तु अधिक चिन्तित न हों। अभी सेनाधिपति कुंवर मिथ्यात्वराज जीवित हैं। शीघ्र ही वे स्वस्थ होकर चेतनराज को छठी का दूध याद करा देंगे।

मोहराज : ठीक कहा आपने मंत्रीवर ! सेनाधिपति मिथ्यात्वराज तो हमारे प्राण हैं। उनका जीवन, हमारा जीवन है, और उनका अवसान हमारा अवसान। (काम कुमार से) काम कुमार ! सेनाधिपति के लिए आवश्यक उपचार सामग्री जुटाने का भरसक प्रयत्न करो। और हाँ....... सभी सेनानायकों को हमारा आदेश पहुँचा दो कि वे सावधानी पूर्वक सेना की व्यूह रचना करें। हमें सन्देह है कि चेतन अब देशव्रतपुर, प्रमत्तपुर, अप्रमत्तपुर आदि नगरों पर आक्रमण करेगा।....... (कुछ देर चुप रहकर फिर काम कुमार से)....... कुंवर अप्रत्याख्यानावरण और वीर योद्धा अविरत कुमार इस समय कहाँ हैं ?

काम कुमार : वे अव्रतपुर में चेतनराज से युद्धरत हैं। कुंवर प्रत्याख्यानावरण और कुंवर संज्वलन भी अपने महासुभट क्रोध, मान, माया और लोभ सहित उन्हीं के साथ हैं।

मोहराज : अपने सेनानायकों की कर्त्तव्य निष्ठता से हम प्रसन्न हैं।....... काम कुमार ! उन्हें हमारा सन्देश पहुँचाओ कि वे चेतन को इतना त्रस्त करें, इतना त्रस्त करें कि वह देशव्रतपुर पर आक्रमण करने का साहस ही न जुटा सके !

काम कुमार : आज्ञा शिरोधार्य है, स्वामी ! शीघ्र ही परिपालन होगा। श्रीचरणों में सेवक का प्रणाम ! (सिर झुकाता है और जाता है।)

- पटाक्षेप -

छठवां-दृश्य

[अव्रतपुर उद्यान का दृश्य। सुकृत कुमार और विवेक कुमार टहलते हुए परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं।]

विवेक कुमार : मित्र ! अव्रतपुर आक्रमण के समय दुष्कृत कुमार और उसके महासुभटों को पराजित करने में तुमने जो रण कौशल दर्शाया, वह स्तुत्य है।

सुकृत कुमार : धन्यवाद मित्र ! मैं कृतार्थ हुआ।

विवेक कुमार : अव्रतपुर में भी मोहराज के प्रबल सेनानायक अप्रत्याख्यानावरण अपने चारों महासुभट क्रोध, मान, माया और लोभ की सहायता से हमारे विरुद्ध युद्धरत हैं। दुष्कृत कुमार और अविरत कुमार भी जब तब हमें त्रस्त किये रहते हैं। ये जब-जब भी सम्यक्त्वराज को लक्ष्य करके आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढ़ताओं के विस्फोटक गोले चलाते हैं, तब-तब तुम और तुम्हारे वीर महासुभट प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पा के सुरक्षा- चक्र मंडल से न केवल सम्यक्त्वराज की रक्षा करते हो, अपितु अव्रतपुर की प्रजा की रक्षा में भी

प्रयत्नरत रहते हो। इतना ही क्यों? आठ अपूर्व गुणास्त्रों का प्रयोग कर तुमने हमेशा ही उनके विस्फोटक गोलों को निस्तेज किया है। इस अनूठे कृतित्व के लिए मेरा साधुवाद स्वीकार करो मित्र !

सुकृत कुमार : साधुवाद के पात्र तो वस्तुतः सम्यक्त्वराज हैं विवेक ! उनके ही मंगल सान्निध्य में मुझे प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पा का सुरक्षा चक्र मंडल तथा निःशंकित, निःकांक्षित आदि आठ अपूर्व गुणास्त्र प्राप्त हुए हैं।....... फिर, मैं अविरत कुमार के भीषण आक्रमण का प्रतिकार करने में भी तो अब तक असफल रहा हूँ। तुम भी इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं हो।....... हाँ, इतना अवश्य है कि मैंने और मेरे शूरवीरों ने अपने कर्त्तव्य का पालन निष्ठापूर्वक किया है। किन्तु....... (मौन हो जाता है।)

विवेक कुमार : किन्तु क्या मित्र ?

सुकृत कुमार : मैं अनुभव कर रहा हूँ कि अव्रतपुर पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् महाराज चेतनराज को मुझसे वैसा अनुराग नहीं रहा, जैसा कि पूर्व में था।

विवेक कुमार : ऐसा कटु अनुभव तुम्हें क्यों हुआ सुकृत?

सुकृत कुमार : विवेक ! पहले जब भी मैं महाराज से मिलता, तो वे कहते, "सुकृत कुमार तुम्हारी उपस्थिति मात्र से मेरे हृदय को अपूर्व शान्ति मिलती है।" .... मेरा आदर करते, सम्मान देते और मुझ पर अपार स्नेह दर्शाते किन्तु अब.......।

विवेक कुमार : "अब" क्या मित्र?

सुकृत कुमार : अब जब भी भेंट करने जाता हूँ, तो वे मुझमें कोई रुचि नहीं लेते। कुशलक्षेम पूछने की औपचारिकता का निर्वाह तो करते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि कहीं और रहती है। मैं स्पष्ट अनुभव करता हूँ कि उनके हृदय में अब मेरे प्रति न पूर्व की भाँति आदर है और न अनुराग। मुझसे बात करते हैं, तब भी उनका चित्त कहीं और लगा रहता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो मैं उनकी प्रयोजन सिद्धि में कोई बाधक और अनुपादेय तत्त्व हूँ।

विवेक कुमार : किन्तु महाराज ने कभी तुम्हारा तिरस्कार तो नहीं किया?

सुकृत कुमार : (म्लान हँसी हँसकर) हाँ, तिरस्कार तो नहीं किया, किन्तु अब सत्कार ही कब करते हैं ! हृदयहीन उपेक्षित औपचारिकता के सिवा अब उनके पास मेरे लिए है ही क्या? प्रायः वे ज्ञानदेव, श्रद्धादेवी, सुबुद्धिदेवी आदि से चर्चा में व्यस्त रहते हैं। श्रद्धादेवी के किशोर पुत्र सम्यक्त्वराज पर तो वे विमोहित ही हैं।

विवेक कुमार : श्रद्धादेवी का यह तेजस्वी पुत्र है भी तो अपूर्व सुन्दर और आकर्षक ! ...... उसके व्यक्तित्व के अलौकिक तेज ने तो हम सबके अन्तस को आलोकित कर दिया है। सम्यक्त्वराज के ही मंगल सान्निध्य में मुझे भी दिव्य भेद-चक्र प्राप्त हुआ था, जिसके प्रयोग से मिथ्यात्वराज लड़खड़ाकर भूलुंठित हो गए थे। मेरा तो जीवन-अस्तित्व ही सार्थक हो गया सुकृत कुमार ! तीन लोक में ऐसा कौन है, जो सम्यक्त्वराज के सुन्दर-सलोने और आकर्षक व्यक्तित्व पर मुग्ध न हो।

सुकृत कुमार : तुम्हारा कथन अक्षरसः सत्य है विवेक ! मैं स्वयं भी इस तेजस्वी किशोर के समक्ष नत-मस्तक हो जाता हूँ। सदा उसके साथ रहने को जी चाहता है। मैं जानता हूँ कि सम्यक्त्वराज मेरी उपस्थिति को उपेक्षाभाव से ही स्वीकार करते हैं, किन्तु न जाने क्यों, मुझे उनके सान्निध्य में गौरव का ही अनुभव होता है। किन्तु....... (चुप हो जाता है।)

विवेक कुमार : "किन्तु" क्या सुकृत कुमार?

सुकृत कुमार : महाराज चेतनराज की उपेक्षा-दृष्टि से हृदय विदीर्ण हुआ जाता है।

विवेक कुमार : तो....... (कुछ देर सोचता है, फिर)....... अपनी चिन्ता के निराकरण का क्या उपाय सोचा है तुमने?

सुकृत कुमार : मैं तो असमंजस में हूँ। कई बार इच्छा होती है कि माँ के पास चला जाऊँ। फिर सोचता हूँ कि अब किस मुँह से उनके पास जाऊँगा।....... और चला भी गया, तो वहाँ दुष्कृत कुमार के व्यवहार से तो और भी सन्तप्त हो जाऊँगा। यहाँ कम से कम सम्यक्त्वराज के निकट रहकर हृदय अपूर्व शान्ति का तो अनुभव करता है !....... एक विचार यह भी मेरे मन को आशान्वित करता है कि जीवन में अभी अनेक अवसर आएँगे, जब यहाँ रहकर अपनी सेवा से महाराज को प्रसन्न कर सकूँगा।....... लक्ष्य प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना, अपना कर्त्तव्य है।....... फिर जो भाग्य में हो।

विवेक कुमार : निराश मत होओ, सुकृत कुमार ! तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है।

सुकृत कुमार : तुम भविष्य की कहते हो ! मैं वर्तमान के लिए चिन्तित हूँ विवेक !! पिता की उपेक्षा-दृष्टि पुत्र पर कैसा वज्रपात करती है, इसे कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है।

विवेक कुमार : (क्षितिज की ओर निहारता हुआ) ओह ! वार्तालाप में समय का ध्यान ही न रहा। सूर्यास्त होने को है। देशव्रतपुर पर आक्रमण की तैयारी करनी है। अनेक कार्य करने शेष हैं। अब चलूँ।

सुकृत कुमार : देशव्रतपुर पर आक्रमण के समय मेरी क्या भूमिका होगी, विवेक ! मित्र के रूप में सत्परामर्श चाहूँगा। और सेनापति के रूप में तुम्हारा आदेश।

विवेक कुमार : (कुछ सोचकर) अपने महासुभटों और उनकी असंख्य सेना के साथ तुम अव्रतपुर की सीमा पर पहुँचकर मेरी प्रतीक्षा करो। पूज्यवर ज्ञानदेव से परामर्श करके मैं वहीं तुम्हें योग्य निर्देश दूँगा।....... अच्छा, अब चलें। (दोनों जाते हैं।) *- पटाक्षेप -*

सातवां-दृश्य

[अव्रतपुर की सीमा पर वन-प्रदेश में एक पेड़ की छाँह में सुकृत कुमार अपने पाँचों महासुभटों, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के साथ विचार विमर्श करता हुआ।]

सुकृत कुमार : मेरे वीर सेनानियो ! अव्रतपुर दुर्ग पर आक्रमण के समय और फिर अव्रतपुर में भी आप सबने अपूर्व रण कौशल दर्शाया। दुष्कृत कुमार और उसके महासुभटों को जिस वीरता से तुमने ससैन्य पराजित किया, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है।

अहिंसा : किन्तु अव्रतपुर में तो हमारे योगदान का कोई मूल्यांकन नहीं है। कोई प्रशंसा भी करता है तो, बस मुँह देखी।

अपरिग्रह : हाँ स्वामी ! अन्तःकरण पूर्वक कोई सराहना नहीं करता।

सत्य : यही बात है, स्वामी ! मैंने स्वयं मंत्रीवर ज्ञानदेव के निकटवर्त्तियों से यह वार्ता सुनी है कि सुकृत कुमार और उसके महासुभट ससैन्य हमारी सहायता करने को बाध्य थे। इसके सिवा उनकी अन्य कोई नियति ही नहीं थी।

सुकृत कुमार : मेरे वीर साथियो ! हम केवल महाराज चेतनराज के प्रति उत्तरदायी हैं। मुझे भय है कि व्यर्थ की इन तुच्छ बातों से हतोत्साहित होकर कहीं हम अपनी शक्ति ही क्षीण न कर बैठें। मत भूलो कि मोहराज के वीर सेनानी अविरतकुमार के आक्रमण का कोई कारगर प्रत्युत्तर हम अब तक भी नहीं दे पाए हैं। देशव्रतपुर पर आक्रमण के समय हमें युद्ध में अपना शक्ति भर शौर्य दर्शाना है और इसके लिए तुम्हें और भी दक्षता पूर्वक सेना की व्यूह-रचना करनी होगी।

(कुछ देर सभी मौन रहते हैं। फिर पाँचों महासुभट परस्पर कानाफूसी करते हैं।)

अहिंसा : (मौन तोड़ते हुए) हमने अपनी शक्ति के नवीन स्रोतों की खोज करली है स्वामी! देशव्रतपुर पर आक्रमण के समय हम उसका प्रभावी उपयोग करेंगे। हमें विश्वास है कि हमारे अभूतपूर्व रण कौशल से प्रसन्न होकर महाराज चेतनराज निश्चित ही हमें पुरस्कृत करेंगे।

सुकृत कुमार : (उत्साहित होकर) कैसे?....... किस प्रकार? मुझे भी अवगत कराओ इन नवीन शक्ति स्रोतों से।

अहिंसा : हमने निश्चय किया है स्वामी, कि हम कुछ काल वीर सेनानी चारित्रवीर की सेवा में व्यतीत करेंगे। उनके सान्निध्य में 'साधना-अनुष्ठान-विधि' के द्वारा पाँच प्रकार के अणुव्रतास्त्र, तीन प्रकार के गुणव्रतास्त्र, और चार प्रकार के शिक्षाव्रतास्त्र प्राप्त करेंगे। युद्ध भूमि में इनके प्रयोग से न केवल दुष्कृत कुमार और उनके महासुभट बल्कि अविरत कुमार और सेनानायक अप्रत्याख्यानावरण भी इतने आतंकित हो जाएँगे कि फिर कभी वे महाराज चेतनराज का सामना करने का साहस न कर सकेंगे।

सुकृत कुमार : (प्रसन्न होकर) साधुवाद मेरे वीर साथियो ! तुम्हारी जितनी सराहना की जाए, कम है।....... (स्वगत्)....... देखता हूँ, अब ज्ञानदेव, श्रद्धादेवी आदि कब तक मुझे महाराज चेतनराज से पृथक् रखते हैं।....... (प्रगट में)....... मेरे शूरवीर योद्धाओ ! सेनापति विवेक कुमार का कोई आदेश प्राप्त हो इसके पूर्व, आप लोग चारित्र वीर के सान्निध्य में शक्ति के नवीन स्रोत अर्जित करने का प्रयास करो। अच्छा....... अब चलें। (सभी जाते हैं।)

- पटाक्षेप -

अनादि-निधन प्रकृति का स्वाभाविक नियम है कि जीव के मोह-राग-द्वेषादि परिणामों के निमित्त से नया कर्मबंध होता है। तदनन्तर कर्म के उदय के निमित्त से जीव के मोहादि परिणाम होते हैं। इस प्रक्रिया को संक्षेप में निम्नप्रकार से भी कह सकते हैं – मोहादि परिणाम के अनुसार मति अर्थात् कर्मबंध होता है; जिससे भविष्य की घटनाएँ निश्चित होती हैं और एक बार मति के अनुसार कर्मबंध या भवितव्य निश्चित हुआ तो बाद में गति के अनुसार मति अर्थात् विचार/बुद्धि हो जाती है।

जैसे राजा श्रेणिक ने दिगम्बर मुनिराज श्री यशोधरस्वामी के गले में मरा हुआ सर्प डालने की पापबुद्धि की; फलस्वरूप नरक-आयु का बन्ध हुआ, फिर भावी गति के अनुसार मरते समय नरक जाने योग्य परिणाम हुए। **– क्षत्रचूड़ामणि, पहला लम्ब, श्लोक : १६, पृष्ठ : ५०**

卐 तृतीय-अंक 卐

(प्रथम-दृश्य)

[मोहराज का सभागृह। मोहराज राजसिंहासन पर विराजमान हैं। मंत्री-द्वय रागराज और द्वेषराज भी अपने-अपने आसनों पर आसीन हैं। कुछ सभासद भी बैठे हुए हैं।]

द्वारपाल : महाराज की जय हो ! गुप्तचर प्रधान काम कुमार द्वार पर अनुमति की प्रतीक्षा में खड़े हैं।

मोहराज : आने दो उन्हें। (काम कुमार आता है।)

काम कुमार : प्रणाम त्रिलोकाधिपति। (प्रणाम करता है।)

मोहराज : आओ काम कुमार ! कैसे आगमन हुआ, समर भूमि का क्या वृत्तान्त है?

काम कुमार : (दुःखी स्वर में) हम पराजित हो गए, त्रिभुवनपति। चेतनराज ने देशव्रतपुर पर विजय प्राप्त कर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है।

मोहराज : (साश्चर्य) क्या कहा? चेतन ने देशव्रतपुर पर भी प्रभुत्व स्थापित कर लिया?

काम कुमार : हाँ स्वामी ! अविलंब कुछ उपाय करें, अन्यथा हमारा सम्पूर्ण परिकर शनैः शनैः अवसान को प्राप्त हो जाएगा।

मोहराज : (घबड़ाहट भरी उत्तेजना में) ओह !....... हम तो कुंवर अप्रत्याख्यानावरण को देशव्रतपुर की सुरक्षा का भार सौंपकर बिल्कुल निश्चिंत थे। उनकी सहायता के लिए हमारे विभिन्न सेनानायक भी अपनी असंख्य-असंख्य सेना लिए वहाँ विद्यमान थे। आश्चर्य कि इन सबके रहते चेतनराज ने हमसे देशव्रतपुर छीन लिया !....... काम कुमार ! यह सब कैसे हुआ, क्योंकर हुआ, हमें सविस्तार अवगत कराओ !

काम कुमार : स्वामी ! कुंवर अप्रत्याख्यानावरण ने जब चेतनराज को देशव्रतपुर की ओर बढ़ते देखा तो वे अपने महासुभट क्रोध, मान, माया, लोभ आदि को साथ लेकर वीर सेनानी अविरत कुमार और कुंवर दुष्कृत कुमार सहित ससैन्य अव्रतपुर दुर्ग की सीमा पर आकर डट गए। वहीं देशव्रतपुर में प्रवेश करने को उद्यत चेतनराज के सेनापति विवेक कुमार से इनकी मुठभेड़ हुई। कुंवर सुकृत कुमार भी ससैन्य विवेक कुमार के ही साथ थे। दोनों ओर से भयानक संग्राम हुआ। कुंवर दुष्कृत कुमार ने सम्यक्त्वराज पर आठ मद, आठ दोष, छह अनायतन और तीन मूढ़ताओं के २५ विस्फोटक गोलों का अनेक बार प्रयोग किया; किन्तु कुवंर सुकृत कुमार आठ अपूर्व

गुणास्त्रों का संचालन करके हर बार न केवल सभी विस्फोटक गोले निस्तेज कर दिए, बल्कि कुंवर दुष्कृत कुमार को भी बुरी तरह घायल कर दिया। इस पर वीर सेनानी अविरत कुमार बहुत उत्तेजित हो गए।....... किन्तु उन्होंने युक्ति से काम लिया।

मोहराज : (उत्सुक होकर) क्या किया अविरत कुमार ने?

काम कुमार : उन्होंने गुप्तचर कुमन कुमार को बुलाया और धीमे से उससे कुछ कहा। पूरी योजना समझकर गुप्तचर कुमन कुमार स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रौत इन पाँच वीर इन्द्रिय बालाओं को अपने साथ लेकर चेतनराज की सेना में घुस गया। युद्ध-कला की विभिन्न विधाओं में प्रवीण ये पाँचों इन्द्रिय बालाएँ अनेक प्रकार के हाव-भाव, विलास-विभ्रम और कटाक्षों के शस्त्र चलाकर चेतनराज के अनेक योद्धाओं के हृदय घायल करने लगीं। प्रत्येक इन्द्रिय बाला ने अपनी-अपनी विधा के व्यामोह शरों से चेतनराज और उनकी सेना को इतना त्रस्त किया कि कुछ काल तक तो शत्रु पक्ष दिग्भ्रमित-सा हो गया। इसी अवसर पर वीर सेनानी अविरत कुमार ने छह काय के घात रूप अनेक प्रकार के अव्रतायुधों की बौछार से चेतनराज की सेना में त्राहि-त्राहि मचा दी। चेतनराज के अनेक सेनानी बुरी तरह घायल हुए। अनेक हताहत हुए। उनकी समूची सेना में आतंक छा गया।

मोहराज : (उत्साह से) वाह ! कुंवर अविरतकुमार भी एक उत्कृष्ट सेनानी हैं !! .... फिर क्या हुआ काम कुमार?

काम कुमार : त्रिभुवनपते !....... अपनी सेना की यह दयनीय दशा देखकर ज्ञानदेव ने चेतनराज को सावधान किया। उधर सेनापति विवेक कुमार ने बिना विलंब किये देशव्रतपुर दुर्ग के द्वार पर प्रचण्ड धावा बोल दिया। दुर्ग-द्वार पर आ डटे कुंवर अप्रत्याख्यानावरण के चारों महासुभट — क्रोध, मान, माया और लोभ ने बड़ी वीरता से शत्रु-सैन्य पर प्रत्याक्रमण किया। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। रण भूमि में विचरण कर रहे असंख्य-असंख्य सैनिकों के पावों से उड़ी धूल से गगन-मंडल में ऐसी धुंध छा गई कि दिवा-काल में ही निशा आगमन का भ्रम होने लगा।

कुंवर अप्रत्याख्यानावरण के महासुभटों ने चेतनराज पर आर्त्तध्यान का चक्र चलाया, जिसे चारित्रवीर ने धर्म-ध्यान की ढाल से रोका। तभी चारित्रवीर ने चेतनराज का संबल पाकर स्वरूपाचरण के आग्नेय बाणों से कुंवर अप्रत्याख्यानावरण पर भयावह आक्रमण किया। इससे हमारे कुंवरश्री का हृदय विदीर्ण हो गया। शरीर बुरी तरह घायल हो गया। वे भूमि पर लोटने लगे। उनके चारों और सेनानायक नामकर्म के पाँच महासुभट भी बुरी तरह घायल हो गए। महासुभट नरकायुकुमार

तो काल-कवलित ही हो गए। दुर्ग का द्वार टूट गया और चेतनराज की सेना ने दुर्ग में प्रवेश किया।

मोहराज : (क्रोधित स्वर में) ओह !....... दुष्ट चेतन ! बड़ा दुस्साहस किया तूने।....... (कुछ देर चुप्पी छाई रहती है। फिर काम कुमार से)....... फिर क्या हुआ?

काम कुमार : दुर्ग में प्रवेश करते ही सुकृत कुमार ने १२ प्रकार के अपूर्व व्रतास्त्रों का प्रयोग कर कुंवर अविरत कुमार को घायल कर दिया। उधर कुंवर दुष्कृत कुमार ने पुनः साहस जुटाकर चेतनराज की सेना पर रौद्रध्यान की अनेक बर्छियाँ चलाईं।....... किन्तु कुंवर सुकृत कुमार ने देश-संयम चक्र चलाकर उनके सभी आयुध निष्प्रभावी कर दिये। कुंवर दुष्कृत कुमार फिर बुरी तरह घायल हुए। उन्हें रण क्षेत्र छोड़ना पड़ा। तब....... तब महाराज ! सेनापति विवेक कुमार ने विजय-दर्प के साथ देशव्रतपुर पर भी चेतनराज की विजय-पताका फहरा दी।

मोहराज : सुकृत कुमार ने गुणास्त्र, व्रतास्त्र, और देश-संयम चक्र जैसे अचूक और अनूठे शस्त्रास्त्र कहाँ से पाए?

काम कुमार : सम्यक्त्वराज और चारित्रवीर की कृपा से महाराज !

मोहराज : (कुछ सोचता हुआ) ओह !....... फिर क्या हुआ?

काम कुमार : महाराज, देशव्रतपुर की प्रजा ने चेतनराज की भावभीनी अगवानी की। उन्हें "श्रावक" पद से विभूषित किया। घर-घर दीप जलाए। उनके स्वागतार्थ विभिन्न स्थानों पर ग्यारह तोरण द्वार सजाए गए। इन तोरण द्वारों पर दर्शन, व्रत, सामायिक आदि ग्यारह प्रतिमाएँ एक-एक करके क्रम से उपस्थित हुईं। उन्होंने चेतनराज का जयघोष किया। उनके उन्नत ललाट पर मंगल टीका किया। आरती उतारी। मांगलिक गीत गाए। ग्यारहवीं उद्दिष्टविरत प्रतिमा ने प्रथम चरण में तो उनका "क्षुल्लक" के रूप में और दूसरे चरण में "ऐ लक" के रूप में सादर अभिनन्दन किया। और....... ।

मोहराज : (बात काटते हुए बीच में ही आवेश भरे स्वर में) बस, बस, बहुत हो चुका।....... (मंत्रियों से)....... मंत्रीद्वय ! अनादिकाल से हमारी दासता को अपना सौभाग्य मानने वाले, पग-पग पर हमारी प्रशंसा करने वाले, इस चेतन का ऐसा दुस्साहस !....... जिसके जीवन की प्रत्येक श्वाँस पर हमारा पहरा रहता आया, आज वही हमारी श्वाँसों का अपहरण करने पर तुला है?....... पानी सिर से ऊपर गुजरने लगा है। त्वरित कोई उपाय कीजिए, अन्यथा हमारा सम्पूर्ण परिकर रसातल में चला जाएगा।

रागराज : हमारा दुर्भाग्य है महाराज कि हमारे प्रधान सेनाधिपति कुंवर मिथ्यात्वराज अभी भी घायल पड़े हैं। इसी से चेतनराज का दुःस्साहस दिन प्रतिदिन बढ़ता चला जा रहा है।

मोहराज : चिन्ता का विषय तो यही है।....... ओह !....... सम्यक्त्वराज और विवेक कुमार ने हमारे हृदय के टुकड़े की कैसी दुर्दशा की है? (भावुक होकर) मंत्रीवर ! उसकी पीड़ा देखी नहीं जाती। हम स्वयं उसका कुशलक्षेम पूछने मिथ्यापुर गए थे। भेद चक्र के कठोर आघात और अनुभूति के मर्मभेदी बाणों से उसकी समूची देह छलनी हो चुकी है। असह्य वेदना से वह बार-बार कराहता रहता है।....... (आँखों से आंसू आ जाते हैं....... आँखे पोंछते हैं। कुछ देर सभा में सन्नाटा-सा छा जाता है। फिर प्रकृतिस्थ होकर काम कुमार से) कुंवर प्रत्याख्यानावरण तो देशव्रतपुर में ही हैं न?

काम कुमार : हाँ महाराज ! वे भरसक इस चेष्टा में हैं कि चेतनराज प्रमत्तपुर-अप्रमत्तपुर आदि नगरों पर आक्रमण करने का साहस न कर सकें। उनके चारों महासुभट क्रोध, मान, माया, और लोभ ने ६० अतिचार (बारह व्रतों के पाँच-पाँच अतिचार) योद्धाओं को साथ लेकर देशव्रतपुर में आतंक मचा रखा है। चेतनराज उनसे बहुत त्रस्त हैं।.... किन्तु महाराज, बिना सेनाधिपति के....

मोहराज : सेनाधिपति की अनुपस्थिति में हमारा दायित्व और बढ़ गया है काम कुमार ! जाओ, सभी सेनानायकों और कुंवर प्रत्याख्यानावरण तथा कुंवर संज्वलन को हमारा यह आदेश पहुँचाओ कि देशव्रतपुर की सीमा पर सेना की व्यूह रचना और सुदृढ़ करें,....... ताकि चेतनराज प्रमत्तपुर पर आक्रमण करने का दुःस्साहस न कर सके।....... आगत समाचार विजय-सूचक होने चाहिए !

काम कुमार : आदेश- परिपालन अविलंब होगा स्वामी ! जाता हूँ। श्रीचरणों में प्रणाम !

(प्रणाम करके जाता है। महाराज मोहराज अपने आसन से उठ जाते हैं। सभी अपने-अपने आसन से उठकर खड़े हो जाते हैं। सभा विसर्जित हो जाती है।)

- पटाक्षेप -

संकट के समय प्राय: अज्ञानी मनुष्य शोक करने लगते हैं, जो व्यर्थ है; क्योंकि शोक करना संकट से मुक्ति का उपाय नहीं है। शोक तो स्वयं दुःखरूप है। शोक धैर्य प्रदान नहीं करता; अपितु मनोबल को गिराता है। शोक तो वर्तमान में दुःख दाता है ही और भविष्य में भी असातारूप कर्म बन्ध के फलस्वरूप दुःख ही देता है। वास्तव में देखा जाए तो अपने आत्मस्वरूप का विस्मरण ही संकट एवं विपत्तियों का मूलकारण है।

— क्षत्रचूड़ामणि, पहला लम्ब, श्लोक ३०, पृष्ठ ५६

द्वितीय-दृश्य

[देशव्रतपुर गढ़ के महल का भीतरी प्रकोष्ठ। ज्ञानदेव टहल रहे हैं। विवेक कुमार का आगमन।]

विवेक कुमार : (प्रणाम करते हुए) प्रणाम पूज्यवर !

ज्ञानदेव : स्वस्ति वत्स ! क्या समाचार हैं? देशव्रतपुर में प्रजाजन कुशल-मंगल तो है ?

विवेक कुमार : सब कुशल हैं, पूज्यवर ! चारों ओर सुख-शान्ति है, किन्तु सुकृत कुमार....... ।

ज्ञानदेव : असन्तुष्ट है, यही कहना चाहते हो न तुम !

विवेक कुमार : जी पूज्यवर ! सुकृत कुमार को शिकायत है कि अव्रतपुर पर आक्रमण के समय से ही महाराज चेतनराज उसमें कोई रुचि नहीं ले रहे। उन्हें, उसके प्रति, न तो पूर्व की भाँति अनुराग है, और न आदर। वे उसे हेय दृष्टि से निहारने लगे हैं। इससे उसका हृदय टूट गया है।

ज्ञानदेव : (गम्भीर स्वर में) सुकृत कुमार की शिकायत असत्य नहीं है विवेक !

विवेक कुमार : (विनम्रता से) सुकृत कुमार के निमित्त से महाराज चेतनराज का हमसे साक्षात्कार हो पाया। अव्रतपुर में दुष्कृत कुमार को ससैन्य पराजित करने में उसने बड़ी वीरता का परिचय दिया। देशव्रतपुर पर आक्रमण के समय और अभी देशव्रतपुर में भी विभिन्न प्रकार के गुणास्त्रों और व्रतास्त्रों का प्रयोग कर सुकृत कुमार ने शत्रु-दल को आतंकित कर दिया। क्या यह सब उपेक्षा योग्य है पूज्यवर?

ज्ञानदेव : (हँसकर) भूलते हो वत्स ! क्या तुम सुकृत कुमार की प्रकृति से अनभिज्ञ हो?....... यह ठीक है कि उसके निमित्त से ही महाराज चेतनराज का हमसे सर्वप्रथम साक्षात्कार हो पाया। किन्तु तब भी यदि महाराज स्वयं अपने परिजनों में रुचि नहीं लेते तो सुकृत कुमार का निमित्त क्या करता? इसमें तुम्हें महाराज की महत्ता क्यों दृष्टिगोचर नहीं होती?....... और यदि निमित्त पर ही तुम्हारा बल है, तो यह बताओ कि सुकृत कुमार ने विभिन्न प्रकार के गुणास्त्र और व्रतास्त्र किसके संसर्ग से प्राप्त किये?

विवेक कुमार : सम्यक्त्वराज और चारित्रवीर की कृपा से पूज्यवर !

ज्ञानदेव : देखो विवेक ! सुकृत कुमार को सम्यक्त्वराज और चारित्रवीर के सान्निध्य में ये दिव्यास्त्र प्राप्त हुए। इनके बिना अन्य किसी के संसर्ग में उसे ये दिव्यास्त्र प्राप्त नहीं हो सकते थे। किन्तु इन्हें प्राप्त उसने अपनी योग्यता से ही किया।

विवेक कुमार : योग्यता से?....... कैसे पूज्यवर?

ज्ञानदेव : जैसे सुकृत कुमार के निमित्त से महाराज चेतनराज ने अपनी योग्यता से ही हम सबका परिचय प्राप्त किया, वैसे ही सम्यक्त्वराज और चारित्रवीर के निमित्त से सुकृत कुमार ने अपनी योग्यता से ही ये दिव्यास्त्र प्राप्त किये।....... वत्स! प्रत्येक वस्तु उचित निमित्त की सन्निधि में स्वतन्त्रता पूर्वक अपनी उपादान-शक्ति से कार्य रूप परिणमन करती है।....... और उपादान शक्ति की अभिव्यक्ति अपनी तत्समय की योग्यता पूर्वक हुआ करती है।

विवेक कुमार : योग्यता के आविर्भाव को निमित्त के सन्निधान की अपेक्षा तो है न पूज्यवर!

ज्ञानदेव : (हँसते हुए) वस्तु व्यवस्था ऐसी पराधीन नहीं है विवेक ! किसी वस्तु में कार्य-निष्पत्ति की योग्यता हो और निमित्त अनुपस्थित रहे, यह असंभव है।....... हाँ, होगा निमित्त उचित ही। महाराज अपने परिजनों का परिचय सुकृत कुमार के ही निमित्त से कर पाए, दुष्कृत कुमार के निमित्त से नहीं। इसी प्रकार सुकृत कुमार सम्यक्त्वराज और चारित्रवीर के निमित्त से ही गुणास्त्र और व्रतास्त्र प्राप्त कर पाया, अन्य किसी के निमित्त से नहीं।....... (कुछ रुककर) निमित्त की अपेक्षा निष्पन्न कार्य को नैमित्तिक कहते हैं, जबकि उपादान की अपेक्षा निष्पन्न कार्य को उपादेय। स्मरण रखो कि निमित्त स्वयं एक स्वतन्त्र द्रव्य है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप उसका अपना चतुष्टय है। वह अपना परिणमन अपने चतुष्टय में रहकर ही करता है। प्रत्येक द्रव्य का अपना चतुष्टय होता है। अपना चतुष्टय छोड़कर कोई भी द्रव्य, परद्रव्य के चतुष्टय में प्रवेश नहीं करता और न किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप ही करता है।

वत्स ! निमित्त रूप द्रव्य के स्वोचित परिणाम को नैमित्तिक द्रव्य के स्वोचित परिणमन में कार्य-विशेष की दृष्टि से अनुकूल देखकर ही, दो द्रव्यों में कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध आरोपित करने का लोकाचार प्रचलित है। वस्तुतः तो यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, न कि कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध।

विवेक कुमार : तो कर्त्ता कर्म सम्बन्ध की मीमांसा क्या है, पूज्यवर?

ज्ञानदेव : जो परिणमन करे, वही कर्त्ता होता है। 'परिणमन' कर्त्ता का कर्म होता है और 'परिणति' उसकी क्रिया। अभेद-दृष्टि से ये तीनों एक ही द्रव्य की अवस्थाएँ हैं। निश्चय से तो कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध एक ही द्रव्य में बनता है। जहाँ व्याप्य-व्यापक भाव का सदभाव पाया जाता है, वहीं कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध बनता है।....... विवेक ! स्मरण रखो, कि दो द्रव्य मिलकर किसी एक कार्य को उत्पन्न नहीं करते।....... और न दो कार्यों की निष्पत्ति एक द्रव्य के द्वारा ही संभव है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र रहकर अपना कार्य, अपने में, अपने ही कारण से, अपने लिये, अपने आधार से, अपने समय में करता है।

विवेक कुमार : इससे तो यह स्पष्ट हुआ कि प्रत्येक द्रव्य निरपेक्ष है, उसका परिणमन निरपेक्ष है और इस तरह कार्य-निष्पत्ति का उत्पाद-क्षण भी निश्चित और क्रम नियमित है।

ज्ञानदेव : हाँ, ऐसा ही है। प्रत्येक वस्तु सत्स्वरूप है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य यही वस्तु का सत् है। तीनों लक्षण वस्तु में एक साथ, एक समय में हैं। किन्तु फिर भी जो उत्पाद है, वह व्यय और ध्रौव्य नहीं; जो व्यय है, वह उत्पाद और ध्रौव्य नहीं और जो ध्रौव्य है, वह उत्पाद और व्यय नहीं। विश्व की प्रत्येक वस्तु प्रति समय ऐसी ही त्रिकाल अबाधित स्वतन्त्रता का उपभोग कर रही है।

विवेक कुमार : (मुग्ध होकर) अहा....... हा ! उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य इन तीनों लक्षणों की वस्तु में एक साथ, एक ही समय में प्रसिद्धि ! वस्तु-सत् की कैसी तलस्पर्शी मीमांसा है यह, कितनी मधुर .... कितनी सरस .... और कितनी युक्तियुक्त .... हृदय उपकृत हुआ पूज्यवर !! .... किन्तु.......?

ज्ञानदेव : 'किन्तु'....... क्या वत्स?

विवेक कुमार : अपने लिए सुकृत कुमार ने जो कुछ किया, उसका कोई तो मूल्य है?

ज्ञानदेव : है वत्स, किन्तु उपचार से।....... औपचारिक रूप से सुकृत कुमार की सराहना की जा सकती है। उसका उपकार भी माना जा सकता है। किन्तु परमार्थ से तो.... देखो विवेक ! .... सुकृत कुमार की प्रकृति बड़ी विचित्र है। हृदय से वह महाराज चेतनराज के साथ है। किन्तु अपने जन्म जात संस्कारों के कारण, वह जो कुछ करता है, परोक्षतः उसका पूरा लाभ मोहराज को ही प्राप्त होता है।

विवेक कुमार : यह किस प्रकार पूज्यवर?

ज्ञानदेव : (कुछ देर चुप रहने के बाद)....... वत्स तुमने कभी गगन-मंडल में उमड़ते-घुमड़ते मेघ समूह पर दृष्टिपात किया है?....... काले कजरारे मेघों के ये छोटे-छोटे समूह व्योमराज के ही प्रांगण में जन्म लेते, पलते और बढ़ते हैं। वहीं स्वच्छन्द होकर नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं। कभी मुक्त होकर विचरण करते हैं, तो कभी प्रमोद में आकर किलकारियाँ भरते हुए हर्षोत्फुल्ल गर्जन भी करते हैं।....... किन्तु मेघ समूह के इन उपक्रमों से स्वयं व्योमराज को कोई लाभ प्राप्त नहीं होता। लाभान्वित होती है धरती ! .... अवनीतल पर बरसकर वे धरती की तृषा शान्त करते हैं। ग्रीष्म की तपन से मलिन हुए वसुन्धरा के मुख-मंडल को अपूर्व कान्ति देकर उजला कर देते हैं....... इसके विपरीत, व्योमराज के उज्जवल नीलाभ प्रांगण की नयनाभिराम, छवि, मेघ-

समूह की उपस्थिति से मलिन ही होती है। उसका शान्त और नीरव वातावरण इनके कोलाहल से अशान्त बन जाता है।

विवेक कुमार : आपका तात्पर्य पूज्यवर?

ज्ञानदेव : तात्पर्य यह है विवेक, कि सुकृत कुमार भी जन्मा, पला और बढ़ा महाराज चेतनराज के ही समागम में। यहीं रहकर वह अपने समस्त क्रिया कलाप करता है, किन्तु स्वयं महाराज को उसके किसी भी कृत्य का कोई लाभ नहीं मिलता। लाभान्वित होते हैं, मोहराज। सुकृत कुमार का प्रत्येक कृत्य परोक्षरूप से मोह-वाहिनी के योद्धाओं को ही बल पहुँचाता है। उन्हें ही पुष्ट करता है।....... इसके विपरीत महाराज चेतनराज की निर्मल और पवित्र छवि को तो अपनी उपस्थिति से वह मलिन और अपवित्र ही किये हुए है। स्वयं मोहराज सुकृत कुमार की इस प्रकृति से भली भाँति परिचित हैं। इसलिए उन्होंने अपनी ओर से उसे कभी कोई निर्देश नहीं भेजा, ताकि हमें उसके विषय में भ्रम बना रहे।....... इस पर भी उसकी निष्ठा देखकर ही शिष्टाचार वश अपने अभियान में हम उसे साधक तत्त्व के रूप में स्वीकार किये हुए हैं। किन्तु यथार्थतः तो हम एक क्षण भी यह विस्मरण नहीं कर पाते कि वह हमारे अभियान में साधक नहीं, बाधक ही है। उसका प्रत्येक उपक्रम मोहराज को ही बल प्रदान करता है।

विवेक कुमार : ओह ! विचित्र विडंबना है। सुकृत कुमार तो महाराज चेतनराज का हृदय जीतने के लिए हर संभव प्रयास कर रहा है। उसके महासुभट पुनः चारित्रवीर के संसर्ग में 'तप-अनुष्ठान-विधि' द्वारा नवीन दिव्यास्त्र प्राप्त करने के प्रयास में जुटे हुए हैं, ताकि प्रमत्तपुर-अप्रमत्तपुर आक्रमण के दौरान रण-कौशल द्वारा वे महाराज चेतनराज को अपनी ओर आकृष्ट कर सकें।

ज्ञानदेव : हमें यह सब ज्ञात है वत्स ! उसे अपना कार्य करने दो। कालान्तर में जब उसे अपनी हीनता का बोध होगा, तब वह स्वयं महाराज चेतनराज के सम्मुख होने का भी साहस न कर सकेगा। मुँह छिपाता फिरेगा।....... श्रृगाल भला कब तक शेरों के बीच निर्भयता पूर्वक रह पाएगा? एक न एक दिन उसे 'सिंह गर्जना' और 'गीदड़ भभकी' का अन्तर समझ में आएगा ही।....... किन्तु विवेक ! मैं महाराज के लिए चिन्तित हूँ।

विवेक कुमार : क्यों पूज्यवर?

ज्ञानदेव : इसलिए कि अभी भी उनके हृदय में सुकृत कुमार के प्रति किंचित आसक्ति बनी हुई है। यद्यपि अब उनकी उसमें कोई रुचि नहीं है, तथापि अपनी अनन्त-अनन्त शक्तियों और गुण-परिकर के बीच रहते हुए भी उनका चित्त प्रायः सुकृत कुमार की ओर चला जाया करता है।

उनकी यह प्रवृत्ति प्रमत्तपुर-अप्रमत्तपुर आक्रमण के समय अनेक व्यवधान उत्पन्न कर सकती है।

विवेक कुमार : इसका उपाय पूज्यवर?

ज्ञानदेव : उपाय यही है कि महाराज अधिकाधिक अपनी अनन्तानन्त शक्तियों और गुण-परिकर की सुसंगति में रहें। तभी महाराज सहित हम सबके लिए मुक्ति-पथ प्रशस्त हो सकेगा।

विवेक कुमार : आप इस दिशा में उन्हें प्रेरित करते रहें, पूज्यवर !....... अब मेरे लिए क्या आज्ञा है?

ज्ञानदेव : तुम्हें भेद-चक्र लेकर सदैव महाराज चेतनराज के समीप रहना है, ताकि शत्रु-पक्ष अनायास कोई धोखा न कर सके।....... अब चारित्रवीर के सेनापतित्व में प्रमत्तपुर-अप्रमत्तपुर पर आक्रमण करना है। विलंब उचित नहीं।....... जाओ ! चारित्रवीर से अनुरोध करो कि वे सेना की आवश्यक व्यूह रचना करें।

विवेक कुमार : जो आज्ञा पूज्यवर ! जाता हूँ।..... श्रीचरणों में प्रणाम ! (प्रणाम करता है।)

- पटाक्षेप -

तीसरा-दृश्य

[मोहराज का सभागृह। मोहराज राज-सिंहासन पर विराजमान हैं। मंत्रीद्वय, रागराज और द्वेषराज तथा कुबुद्धिदेवी भी अपने स्थान पर बैठे हुए हैं। कुछ सभासद भी यथा स्थान पर बैठे हैं। नृत्य चल रहा है। तभी द्वारपाल का प्रवेश।]

द्वारपाल : महाराज की जय हो। गुप्तचर प्रधान काम कुमार और कुंवर दुष्कृत कुमार घायल अवस्था में द्वार पर खड़े हैं। भेंट की अनुमति चाहते हैं।....... (नृत्य बंद हो जाता है। नर्तकी मोहराज को प्रणाम करके एक और चली जाती है।)

मोहराज : (आश्चर्य से) घायल अवस्था में !....... आने दो उन्हें द्वारपाल !

(काम कुमार और दुष्कृत कुमार का प्रवेश। दोनों घायल अवस्था में हैं। दुष्कृत कुमार तो बुरी तरह घायल है। शरीर पर पट्टियाँ बँधी हैं। कहीं-कहीं रक्तस्राव भी हो रहा है। खड़ा नहीं रह पाने के कारण गिर पड़ता है। यह देखकर मोहराज सिंहासन से उठकर दुष्कृत कुमार के पास आते हैं। कुबुद्धिदेवी भी हड़बड़ाकर दुष्कृत कुमार के पास पहुँचती है और .... "क्या हुआ बेटा, क्या हुआ मेरे लाल को, किसने तेरी यह दुरवस्था बनाई",....... कहती हुई दुष्कृत कुमार का माथा अपनी गोद में लेती है। फिर मोहराज और कुबुद्धिदेवी दुष्कृत कुमार को उठाकर आसन पर बैठाते हैं।)

मोहराज : (सभागृह में खड़े-खड़े ही) ओह....... काम कुमार, यह सब क्या है?

काम कुमार : (दुःखी स्वर में) हमें फिर पराजय का मुख देखना पड़ा त्रिभुवनपति ! चेतनराज ने प्रमत्तपुर-अप्रमत्तपुर नगरों पर विजय प्राप्त कर ली।

मोहराज : (आश्चर्य से) क्या कहा? चेतनराज ने प्रमत्तपुर-अप्रमत्तपुर भी हमसे छीन लिए, हमारे असंख्य-असंख्य वीर योद्धाओं के होते हुए यह सब कैसे हुआ?

दुष्कृत कुमार : (दुःखी किन्तु आवेश भरे स्वर में काँपते हुए) क्या करेंगे नानाश्री आप सुनकर, यह सब आपके लाड़ले सुकृत कुमार की करतूत है।....... (बोला नहीं जाता। हाँफने लगता है।)

मोहराज : धैर्य धारण करो वत्स ! तुम बहुत घायल हो। तुम्हें विश्राम की आवश्यकता है।

दुष्कृत कुमार : (आहत स्वर में) अब....... क्या विश्राम करूँगा....... नानाश्री ! मुझे तो अपना अवसान ही सन्निकट जान पड़ता है।

मोहराज : (स्नेह से) नहीं-नहीं बेटा, ऐसा न कहो। जब तक हम जीवित हैं, काल तुम्हें स्पर्श भी नहीं कर सकता।....... (कुबुद्धिदेवी से) बेटी, तुम दुष्कृत को शयनागार में ले जाओ, इसे पूर्ण विश्राम की आवश्यकता है।

(कुबुद्धिदेवी दो अनुचरों के सहारे दुष्कृत कुमार को हाथ पकड़कर ले जाती है।)

मोहराज : (काम कुमार से) हाँ, काम कुमार, कहो यह सब कैसे हुआ?

काम कुमार : त्रिलोकाधिपति ! चेतनराज को देशव्रतपुर से आगे बढ़ता देखकर कुंवर प्रत्याख्यानावरण और कुंवर दुष्कृत कुमार ने प्रमत्तपुर गढ़ के बाहर अपने-अपने महासुभटों की सहायता से सेना की सुदृढ़ व्यूह-रचना करना प्रारम्भ कर दी। किन्तु स्वामी....... ।

मोहराज : क्या हुआ काम कुमार?

काम कुमार : ज्ञानदेव बड़े कुटनीतिज्ञ हैं स्वामी ! प्रमत्तपुर गढ़ के बाहर हमारी सेना का जमाव देखकर ज्ञानदेव ने सेनापति चारित्रवीर को प्रमत्तपुर की बजाय सीधे अप्रमत्तपुर पर आक्रमण करने का परामर्श दिया। तदनुसार सेनापति चारित्रवीर ने अप्रमत्तपुर की ओर कूच किया। जैसे ही इसकी सूचना कुंवर अप्रत्याख्यानावरण को प्राप्त हुई, वे अपने चारों महासुभटों, और कुंवर दुष्कृत कुमार सहित द्रुत गति से शत्रु-सैन्य को अप्रमत्तपुर तक पहुँचने से रोकने के लिए दौड़ पड़े। वीर सेनानी अविरत कुमार भी उनके साथ थे। किन्तु विलंब बहुत हो चुका था। कुंवर दुष्कृत कुमार ने रौद्रध्यान की बर्छियाँ चलाकर चारित्रवीर का मार्ग अवरुद्ध करने की चेष्टा की। किन्तु चारित्रवीर धर्मध्यान

की ढाल से अपनी रक्षा करते रहे। वीर सेनानी अविरत कुमार ने भी अनेक प्रकार के असंयमास्त्र चलाकर चारित्रवीर को विचलित करने का प्रयत्न किया, किन्तु....... (रुक जाता है।)

मोहराज : (अधीर होकर) क्या हुआ काम कुमार?

काम कुमार : उसी समय कुंवर सुकृत कुमार ने चारित्रवीर के सन्निधि से प्राप्त देशसंयम चक्र का ऐसा अचूक प्रयोग किया कि उसके आघात से वीर सेनानी अविरत कुमार और कुंवर दुष्कृत कुमार दोनों ही घायल होकर धराशायी हो गए। फिर भी, दोनों शूरवीरों ने साहस नहीं छोड़ा और भूमि पर पड़े-पड़े ही शस्त्र संचालन करते रहे।

(मोहराज की ओर देखने लग जाता है।)

मोहराज : (स्वगत् ही)....... सुकृत ने यह क्या किया?....... (कुछ देर चुप्पी छायी रहती है, फिर काम कुमार से)....... आगे का वृत्तान्त कहो।

काम कुमार : शीघ्र ही चारित्रवीर ने चेतनराज की अनुकम्पा से प्राप्त अनुभूति रस में पगे देश चारित्र जाति के अनेक तीक्ष्ण बाणों का प्रयोग कर, चारों ओर प्रलय का-सा दृश्य उपस्थित कर दिया। हमारी सेना में हाहाकार मच गया। कुंवर प्रत्याख्यानावरण अपने चारों महासुभटों सहित बुरी तरह घायल हुए। कुंवर दुष्कृत कुमार भी चारित्रवीर के तीक्ष्ण प्रहारों से घबड़ाकर साहस छोड़ बैठे। उनकी समूची देह बाणों से बिंध गई।

मोहराज : (आर्त्त स्वर में) ओह ! बहुत पीड़ा दायक वृत्तान्त सुनाया तुमने काम कुमार !

काम कुमार : (शोकाकुल होकर) हाँ महाराज, बहुत पीड़ादायक।....... वह दृश्य अभी भी जैसे मेरी आँखों के समक्ष है।....... बड़ा वीभत्स दृश्य था। कुंवर दुष्कृत कुमार के अंग-अंग से रक्तस्राव हो रहा था।....... विवश होकर उन्हें रणक्षेत्र छोड़ना पड़ा। हमारी सेना के पाँव उखड़ गए। युद्धरत सेनापति चारित्रवीर का विकराल रूप देखकर तो कुंवर सुकृत कुमार भी घबड़ा गए। उन्होंने चारित्रवीर की प्रहार-क्षमता से दूर जाकर अपना मोर्चा जमाया। अपने चारों महासुभटों सहित बुरी तरह घायल कुंवर प्रत्याख्यानावरण को भी रणक्षेत्र छोड़ने को बाध्य होना पड़ा। चारित्रवीर ने अप्रमत्तपुर दुर्ग पर धावा बोल दिया। घोर संग्राम हुआ। इसमें गुप्तचर कुमन कुमार और पाँचों इन्द्रियों के विषय-जाल तार-तार हो गए। कुंवर अविरत कुमार भी मृत-प्रायः हो गए। तिर्यंचायु कुमार तो काल-कवलित ही हो गए। अन्ततः दुर्ग का द्वार टूट गया और सेनापति चारित्रवीर ने विजय-दर्प से ससैन्य दुर्ग में प्रवेश किया। चेतनराज इस समय निर्ग्रन्थ अवस्था में थे।

अप्रमत्तपुर की प्रजा ने तुमुल हर्षनाद के साथ उन्हें "साधु" पद की उपाधि से सम्मानित किया। किन्तु तभी....... तभी महाराज एक विचित्र चमत्कार हुआ.......।

मोहराज : (विस्मय से) कैसा चमत्कार?

काम कुमार : अप्रमत्तपुर दुर्ग में प्रवेश करते ही चेतनराज और उनकी सेना पर कुंवर संज्वलन के महासुभट क्रोध, मान, माया और लोभ ने ऐसा प्रचण्ड आक्रमण किया कि शत्रुदल में हड़कम्प मच गया। उनके अनेक योद्धा बुरी तरह घायल हो गए। कुंवर संज्वलन ने शत्रु सैन्य को इस बुरी तरह खदेड़ा की वे अन्य द्वार से अप्रमत्तपुर दुर्ग से बाहर निकल जाने को विवश हो गए। यह सब कुछ अन्तर्मुहूर्त काल में ही हो गया। किन्तु स्वामी.......

मोहराज : क्या हुआ काम कुमार?

काम कुमार : महाराज ! अप्रमत्तपुर गढ़ के जिस द्वार से चेतनराज और उनकी सेना बाहर निकली, वह प्रमत्तपुर की ओर खुलता है।....... फलस्वरूप शत्रु-सैन्य ने दूसरे ही क्षण अपने को प्रमत्तपुर में पाया। ज्ञानदेव ने सेनापति चारित्रवीर को तत्काल प्रमत्तपुर गढ़ पर आक्रमण करने का परामर्श दिया। तदनुसार बिना कोई विलंब किये चारित्रवीर ने तत्काल प्रमत्तपुर गढ़ पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में सैनानायक नामकर्म के तीन और सेनानायक वेदनीयकर्म का एक - ये चार महासुभट अनेक सैनिकों सहित बुरी तरह घायल हुए। मोहकुल की दो वीर बालाओं अरति और शोक को भी गहरे संघातिक घाव लगे। बड़ी सुगमता से चेतनराज ने प्रमत्तपुर दुर्ग पर विजय प्राप्त कर अपना आधिपत्य जमा लिया। देशव्रतपुर की तरह प्रमत्तपुर की प्रजा ने भी चेतनराज का भव्य स्वागत किया। द्वार-द्वार पर तोरण बंदनवार सजाए। घर-घर दीप जलाए। वैराग्य कुमार ने "साधु" पद में प्रतिष्ठित 'निर्ग्रन्थ चेतनराज' की अगवानी की। उनके पाँव पखारे। द्वादश अनुप्रेक्षाओं ने उपस्थित होकर भक्ति पूर्वक उनका अभिवादन किया। पग-पग पर भावनाओं के मृदुल प्रसून बिखेरे और.......।

मोहराज : (बात काटकर बीच में ही सक्रोध) होश में आओ, काम कुमार ! शत्रु की प्रशंसा करते तुम्हें लज्जा नहीं आती? (मोहराज के क्रोधित होने पर सभा में सन्नाटा छा जाता है।)

काम कुमार : (कुछ देर बाद, लज्जित स्वर में) अपराध क्षमा करें स्वामी, सेवक लज्जित है।

मोहराज : ध्यान रहे कि भविष्य में इसकी पुनरावृत्ति न हो....... रणक्षेत्र का अन्तिम वृत्तान्त क्या है?

काम कुमार : चेतनराज ने प्रमत्तपुर पर तो स्थायी सत्व स्थापित कर लिया है। किन्तु प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त के अन्तराल से वे अप्रमत्तपुर पर भी आक्रमण करते रहते हैं। सन्तोष का विषय इतना ही है कि कुंवर संज्वलन के रण कौशल के कारण बहुत चेष्टा करने पर भी अप्रमत्तपुर में वे 'स्वस्थान-अप्रमत्त-विरत' मुकाम से आगे नहीं बढ़ पा रहे। कुंवरश्री संज्वलन बड़ी कुशलता से उनके प्रत्येक अभियान को विफल कर देते हैं।

मोहराज : लेकिन काम कुमार, क्या प्रमत्तपुर में कुंवर संज्वलन ने चेतन और उसकी सेना का कोई प्रतिकार नहीं किया?

काम कुमार : किया महाराज ! कुंवर संज्वलन ने चेतनराज को खदेड़ने के लिये सेनानायक वेदनीय के महासुभट असाता वेदनीय के नेतृत्व में क्षुधा, तृषादि २२ परिषहों को रणक्षेत्र में भेजा। इन सबने विभिन्न उपसर्गों के अनेक शस्त्रास्त्र चलाए और भरसक प्रयत्न किया कि चेतनराज प्रमत्तपुर से पीछे हटने को विवश हो जाँयें। किन्तु चारित्रवीर के रण-कौशल के आगे उनकी एक न चली। अन्ततः कुंवर संज्वलन को कूटनीति से काम लेने का निर्णय करना पड़ा। उन्होंने परोक्ष प्रतिरोध करने का निश्चय किया।

मोहराज : (विस्मय से) परोक्ष प्रतिरोध? क्यों....... कैसे?

काम कुमार : बात यह है महाराज, कि अनवरत पराजय से हमारी सेना का मनोबल टूट चुका था। अनेक शूरवीर योद्धा भी घायल हो चुके थे। सेना तितर-बितर हो चुकी थी। इस विषम परिस्थिति में कुंवर संज्वलन ने कूटनीति से काम लेने का निर्णय लिया और प्रत्यक्ष आक्रमण की बजाय परोक्ष प्रतिरोध करना उचित समझा। अपनी प्रयोजन सिद्धि के लिये उन्होंने प्रमत्तपुर के नायक प्रमत्त कुमार को बुलाया और अपनी पूरी रणनीति समझाकर उन्हें कुंवर सुकृत कुमार के निकट भेजा। योजनानुसार प्रमत्त कुमार कुंवर सुकृत कुमार से जाकर मिले और उनकी प्रशंसा के पुल बाँधना शुरू कर दिये।

मोहराज : (आश्चर्य पूर्वक)....... प्रशंसा के पुल?

काम कुमार : हाँ महाराज? नायक प्रमत्त कुमार ने कुंवर सुकृत कुमार के युद्ध कौशल की भूरि-भूरि प्रशंसा की। प्रमत्त कुमार से प्रशंसा पाकर तो कुंवर सुकृत कुमार ने प्रमत्तपुर में और भी उत्साहित होकर अपूर्व रण कौशल दर्शाया। उन्होंने २८ प्रकार के मूल गुणास्त्रों, १२ प्रकार के तपास्त्रों, १० प्रकार के धर्म चक्रों और तीन प्रकार की गुप्तियों-रूप विलक्षण आयुधों आदि अनेक दिव्यास्त्रों का प्रयोग कर हमारी सेना के अनेक शूरवीरों को हताहत कर दिया।

मोहराज : (आश्चर्य मिश्रित क्रोध से) तुम विक्षिप्त तो नहीं हो गए काम कुमार ! क्या कह रहे हो। यह कैसी कूटनीति है। इसमें तो हमारी ही क्षति हुई?

काम कुमार : हाँ, हमारी किंचित् क्षति अवश्य हुई महाराज ! कुंवर सुकृत कुमार के अहिंसादिक महासुभटों ने कुंवर दुष्कृत कुमार के हिंसादिक पाँचों महासुभटों को बुरी तरह आहत करके शस्त्र विहीन कर डाला। शरीर और इन्द्रियों के विषय जाल ध्वस्त हो गए।....... किन्तु दूर दृष्टि से विचार करें, तो यह नीति हमारे लिये बड़ी लाभदायक है।

मोहराज : लाभदायक !....... कैसे?

काम कुमार : महाराज, हमें गुप्तचर सूत्रों से ज्ञात हुआ है कि अव्रतपुर में कुंवर सुकृत कुमार की बहुत उपेक्षा हुई। इससे क्षुब्ध होकर अपनी महत्ता जताने के लिए उन्होंने चारित्रवीर के सान्निध्य में कुछ अनुष्ठान किये। फलस्वरूप, उन्हें ये अचूक दिव्यास्त्र प्राप्त हुए। प्रमत्तपुर में कुंवर श्री ने हमारे विरुद्ध इन्हीं दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया। उनके अपूर्व रण कौशल से चेतनराज मन ही मन बहुत प्रसन्न हैं।

मोहराज : किन्तु इससे हमें क्या लाभ है?

काम कुमार : यह भी एक रहस्य की बात है स्वामी !

मोहराज : रहस्य? (झुंझलाकर) पहेलियाँ मत बुझाओ, स्पष्ट कहो।

काम कुमार : बात यह है त्रिभुवनपति, कि सुकृत कुमार का युद्ध-कौशल देखने का लोभ संवरण न कर पाने के कारण ही चेतनराज न चाहते हुए भी बारम्बार प्रमत्तपुर आते रहते हैं। ज्ञानदेव चेतनराज के हृदय में छिपी इस ग्रन्थि से अनभिज्ञ नहीं हैं। यही कारण है कि वे चेतनराज को उनकी अनन्त-अनन्त शक्तियों और उनके सान्निध्य में प्राप्त होने वाले वीतराग निर्विकल्प अतीन्द्रिय आनंद-रस का बार-बार स्मरण कराकर पुनः पुनः अप्रमत्तपुर ले जाते हैं। किन्तु चेतनराज हैं कि कुंवरश्री के व्यामोह के कारण एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक अप्रमत्तपुर में नहीं टिक पाते। हो यह रहा है, कि ज्ञानदेव चेतनराज को एक अन्तर्मुहूर्त्त काल से अधिक प्रमत्तपुर में नहीं रहने देते और चेतनराज स्वयं एक अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक अप्रमत्तपुर में नहीं ठहर पाते।

स्वामी ! मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक कुंवर सुकृत कुमार के तूणीर में ये दिव्यास्त्र शेष हैं, चेतनराज अप्रमत्तपुर में स्थिरता पूर्वक अधिक नहीं ठहर पाएँगे।

मोहराज : तुम्हारा तात्पर्य क्या है, काम कुमार?

काम कुमार : तात्पर्य यह है त्रिलोकाधिपति, कि कुंवर सुकृत कुमार अपने हस्त-लाघव से चेतनराज को व्यामोहित करते रहेंगे, और चेतनराज कभी प्रमत्तपुर तो कभी अप्रमत्तपुर आते-जाते रहेंगे। इससे वे अप्रमत्तपुर में "सातिशय अप्रमत्तविरत" मुकाम तक पहुँचने का कभी अवकाश ही न पा सकेंगे।....... और जब तक वे "सातिशय अप्रमत्तविरत" मुकाम तक नहीं पहुँचते, उनमें पार्वत्य-प्रदेशों की ऊँचाई पर पर्वत-श्रेणियों के मध्य अवस्थित अपूर्वकरणपुर, अनिवृत्ति-करणपुर आदि नगरों पर आक्रमण करने का सामर्थ्य ही उत्पन्न नहीं हो सकता।

मोहराज : (हर्षित होकर) ओह !....... यह बात है ! तब तो सचमुच सुकृत कुमार चेतनराज के संग रहकर भी हमारा ही हित संवर्धन कर रहा है।....... अच्छा, अब यह बताओ कि चेतन और उसकी सेना का पड़ाव इस समय कहाँ है?

काम कुमार : निवेदन किया न महाराज, कि चेतनराज ससैन्य कभी प्रमत्तपुर तो कभी अप्रमत्तपुर, इस प्रकार झूला-सा झूल रहे हैं।

मोहराज : और हमारी सेना?

काम कुमार : हमारी सेना प्रमत्तपुर में तो चेतनराज और उनकी सेना से खुले मैदान में संग्राम करती है और अप्रमत्तपुर में कन्दराओं में छिपकर छापामार युद्ध करती है।

मोहराज : कन्दराओं में छिपकर?....... क्यों?

काम कुमार : इसलिए महाराज, क्योंकि अप्रमत्तपुर में चेतनराज के चारों ओर ऐसी-ऐसी विलक्षण शक्तियाँ प्रगट हो जाती हैं कि हमारी सेना का कोई भी योद्धा उनका प्रत्यक्ष सामना करने में समर्थ नहीं रहता। अतः विवश होकर कन्दराओं में छिपकर युद्ध करना पड़ता है।....... और महाराज, कुंवर संज्वलन छापामार युद्ध प्रणाली में विशेष दक्ष भी हैं। बड़ी निपुणता से वे युद्ध का संचालन कर रहे हैं।

मोहराज : (निःश्वास भरकर) ठीक है, काम कुमार !....... किन्तु अकेले सुकृत कुमार के पराक्रम पर हम कब तक निश्चिंत रह सकते हैं?....... काम कुमार ! युद्ध के परिणामों पर दृष्टि रखो और.......। (द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल : महाराज की जय हो ! गुप्तचर कुमन कुमार एक आपात्-सूचना लेकर उपस्थित होना चाहते हैं। अनुमति की प्रतीक्षा में द्वार पर खड़े हैं।

मोहराज : (द्वारपाल से) आने दो उन्हें। (गुप्तचर कुमन कुमार का प्रवेश)

कुमन कुमार : त्रिलोक पूज्य महाराज मोहराज की जय हो !....... सेवक एक आपात् सूचना लेकर सेवा में उपस्थित हुआ है।

मोहराज : (गम्भीर स्वर में) कैसी आपात् सूचना?

कुमन कुमार : चेतनराज "सातिशय अप्रमत्तविरत" मुकाम तक पहुँच गए हैं और अब पार्वत्य प्रदेश में पर्व श्रेणियों के मध्य अवस्थित हमारे नगरों पर आक्रमण करने को उद्यत हैं।

काम कुमार : (साश्चर्य) क्या?....... यह कैसे हुआ?

मोहराज : (निःश्वास भरकर) यह तो होना ही था, काम कुमार ! अकेला सुकृत कब तक चेतनराज को व्यामोहित रखता?.......

काम कुमार : किन्तु वीरांगना अनन्तानुबंधी के जीवित रहते.......।

कुमन कुमार : (बीच ही में बात काटते हुए) क्षमा करें, स्वामी ! वीरांगना अनन्तानुबंधी युद्ध में पूरी तरह डटी रहीं....परन्तु अन्त में......। (निःश्वास भरते हुए चुप रह जाता है।)

मोहराज : (साश्चर्य आहत स्वर में) क्या? अनन्तानुबंधी....... हमारी लाड़ली....... कैसे हुआ यह....... कैसे हुआ?

कुमन कुमार : (शोक स्वर में) स्वामी ! चारित्रवीर ने क्रमशः अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के दिव्य शरों से वीरांगना अनन्तानुबंधी पर भीषण प्रहार किया। उस समय वे मिथ्यापुर में अपने घावों का उपचार करा रही थीं। अकस्मात हुई इस तीक्ष्ण बाण वृष्टि ने उन्हें विचलित कर दिया। उनकी समूची देह बाणों से बिंध गई। अवसान निकट जानकर उन्होंने तत्काल ही अपनी विलक्षण शक्तियाँ कुंवर अप्रत्याख्यानावरण, कुंवर प्रत्याख्यानावरण और कुंवर संज्वलन को अभ्यर्पित कर दीं। अगले ही पल उन्हें अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

मोहराज : (आहत स्वर में) हा-दुर्दैव !....... यह क्या....... हुआ।....... (कुछ क्षणों के लिए चुप्पी छा जाती है।)

राग राज : शोक न करें स्वामी ! वीरांगना अनन्तानुबंधी ने तो वीरगति पाई है....... धन्य हैं वे !....... जाते-जाते भी अपनी विलक्षण शक्तियाँ हमें अर्पित कर गईं। अहा....... कितना उपकार किया है उन्होंने !

मोहराज : (धैर्य धारण करते हुए दुःखी स्वर में) ठीक कहते हैं आप मंत्रीवर !....... शोक कैसा?....... अरे ! हमारी लाड़ली ने तो वीरगति पाई है। मोहकुल में ऐसी वीरांगना अन्य कौन है?....... (कुछ क्षणों की चुप्पी के बाद निःश्वास लेकर) फिर क्या हुआ, कुमन कुमार?

कुमन कुमार : वीरांगना अनन्तानुबंधी को काल कवलित करने के बाद चारित्रवीर ने चेतनराज की कृपा-दृष्टि से प्राप्त अनुभूति-रस में पगे सामायिक और छेदोपस्थापना जाति के तीक्ष्ण शरों का प्रयोग कर चारों तरफ त्राहि-त्राहि मचा दी ! विकट संग्राम हुआ। इसमें हमारे महासुभट देवायु कुमार बुरी तरह घायल हुए। उन्हें रण-क्षेत्र छोड़ना पड़ा। अनेक शूरवीर योद्धा भी हताहत हुए। अन्ततः चारित्रवीर के सेनापतित्व में चेतनराज "स्वस्थान अप्रमत्तविरत" मुकाम से आगे बढ़ते गए "सातिशय अप्रमत्तविरत" मुकाम पहुँचे।....... और अब....... अब स्वामी ! .... वे पर्वत श्रेणी पर बसे नगरों पर चढ़ाई करने को उद्यत हैं।

रागराज : त्रिभुवनतिलक !....... निःसन्देह, इस समय जीवन-मृत्यु का प्रश्न हमारे सामने मुँह खोले खड़ा है। परन्तु यों बिल्कुल निराश होने की भी आवश्यकता नहीं। सेनाधिपति मिथ्यात्वराज हमारे सौभाग्य से अभी जीवित हैं। उनके जीवित रहते चेतनराज की शक्ति नहीं कि वे पार्वत्य प्रदेश की ऊँचाई पर क्षपक श्रेणी में अवस्थित अपूर्वकरणपुर, अनिवृत्तिकरणपुर आदि नगरों पर आक्रमण करने का दुःस्साहस कर सकें। वे केवल उपशम श्रेणी पर बसे नगरों पर ही आक्रमण कर पाएँगे।

मोहराज : (अचंभित-सा) आपका तात्पर्य क्या है, मंत्रीवर?

रागराज : त्रिलोकाधिपति ! उपशम श्रेणी के मार्ग का अन्तिम नगर उपशान्तमोहपुर है। उसके आगे मुक्तिपुरी की ओर बढ़ने का कोई मार्ग नहीं। स्पष्ट है कि मुक्तिपुरी पहुँचने को आतुर चेतनराज वहाँ से शीघ्र ही पुनः लौटेंगे। लौटते समय हम उन पर पूरी शक्ति लगाकर धावा बोल देंगे। मेरा विश्वास है कि अनायास हुए इस आक्रमण से शत्रु-वाहिनी भौंचक्की रह जाएगी। असीम शक्ति रहते हुए भी कर्त्तव्यविमूढ़ की स्थिति में वह कुछ न कर पाएगी।....... तभी हम उन सबको खदेड़ते-खदेड़ते मिथ्यापुर ले जाकर निगोद के अन्धकूप में डाल देंगे।

मोहराज : (सोत्साह) साधुवाद अमात्यवर ! इस गाढ़े समय में आपने बड़ा अमूल्य परामर्श दिया।....... (काम कुमार से)....... काम कुमार ! अमात्यवर की योजना.......।

काम कुमार : (बीच ही में) मैं समझ गया स्वामी !

मोहराज : तो तत्काल जाकर, सभी सेनानायकों को हमारा आदेश पहुँचाओ कि अविलंब इस योजना का कार्यान्वयन करें।

काम कुमार : आज्ञा शिरोधार्य है स्वामी ! चलता हूँ।..... श्रीचरणों में सेवक का प्रणाम !

(काम कुमार और कुमन कुमार सिर झुकाकर मोहराज को प्रणाम करते हैं और जाते हैं। कुछ देर चुप्पी छायी रहती है।)

मोहराज : (चुप्पी तोड़ते हुए रागराज से) अमात्यवर ! इस विपत्ति में हमें कुंवर सुकृत कुमार ने बड़ा सहारा दिया।

रागराज : हाँ स्वामी ! इस गाढ़े समय में कुंवरश्री हमारे बहुत काम आए। उनके हम पर असंख्य उपकार हैं। उनके प्रत्येक कृत्य से हमारे योद्धाओं को बड़ा बल पहुँचता रहा है। और अब तो महाराज, पर्वत श्रेणी पर बसे नगरों पर आक्रमण के समय चेतनराज और उनकी सेना से हमारे वे ही योद्धा टक्कर ले पाएँगे, जिन्हें परोक्ष रूप से कुंवर सुकृत कुमार के कृत्यों से अनवरत बल प्राप्त होता रहा है।

मोहराज : (भावुक होकर) निःसन्देह कुंवर सुकृत कुमार मोहकुल का अमूल्य रत्न है। हमारे वंश रूपी कमल के लिए साक्षात् दिवाकर ही है। (कुछ देर मौन छाया रहता है, फिर रागराज से)

मोहराज : (चिन्तित स्वर में) किन्तु अमात्यवर, यह बात कम विचारणीय नहीं कि चेतनराज के वे योद्धा, जिनकी महती कृपा से सुकृत कुमार ने विभिन्न प्रकार के अचूक दिव्यास्त्र प्राप्त किये,

स्वयं कितने बलशाली होंगे !....... जब-जब यह विचार करता हूँ, तो छाती थर-थराने लगती है। काल मुँह खोले सामने खड़ा दिखाई देता है। प्रतीत होता है कि मृत्यु का आलिंगन करने के अलावा अब कोई मार्ग शेष नहीं।

रागराज : धैर्य धारण करें, स्वामी ! आप ही जीवन की आशा छोड़ बैठेंगे, तो हम सबका क्या होगा?....... अत्यधिक श्रम के कारण आप क्लान्त हो चुके हैं।....... अब विश्राम करें।

मोहराज : (निःश्वास लेते हुए) विश्राम? अब विश्राम को अवकाश कहाँ?....... देखें, उपशान्त-मोहपुर से लौटते हुए चेतन को हम किस प्रकार दंडित कर पाते हैं?.......

(कुछ समय मौन छाया रहता है।)

रागराज : मुझे विश्वास है कि अबकी बार हम अवश्य विजयी होंगे।.... चलिये स्वामी !

(सभी जाते हैं।) *- पटाक्षेप -*

चौथा-दृश्य

[अव्रतपुर दुर्ग में सैनिक छावनी। छावनी के ही एक प्रकोष्ठ में ज्ञानदेव और चारित्रवीर चिन्तित मुद्रा में टहल रहे हैं। नैपथ्य में युद्ध का कोलाहल सुनाई पड़ रहा है। मारकाट से घायल सैनिकों की चीत्कार, उनका दारुण-हाहाकार सुनाई पड़ रहा है।]

चारित्रवीर : (चिन्तित स्वर में) यह सब क्या हो गया ज्ञानदेव !....... कुछ समय पूर्व तो हम उपशान्तमोहपुर में थे। अप्रमत्तपुर के सातिशय अप्रमत्तविरत मुकाम से आगे बढ़कर हमने पर्वत-श्रेणी के नगरों पर चढ़ाई की और क्रमशः अपूर्वकरणपुर, अनिवृत्तिकरणपुर और सूक्ष्म सांपरायपुर पर बिना किसी विलम्ब के विजय प्राप्त करते हुए उपशान्तमोहपुर पहुँचे। किन्तु वहाँ से आगे मुक्तिपुरी पहुँचने का कोई मार्ग न देख जब वापस लौटे तो....... यह कैसे-क्या हो गया?

ज्ञानदेव : चारित्रवीर !....... उपशान्तमोहपुर से लौटते समय मोहराज ने हम पर भीषण आक्रमण कर दिया। इस आकस्मिक हमले से हम सब भौंचक्के रह गए। हमें कुछ न सूझा। प्रत्याक्रमण तो दूर, हम अपनी सुरक्षा का भी कोई उपाय न कर सके। मोहराज आंधी की तरह अविराम गति से आक्रमण करते गए। उन्होंने हमें ऐसा खदेड़ा....... ऐसा खदेड़ा कि हम पीछे और पीछे ही हटते चले गए। यहाँ अव्रतपुर में आकर ही दम ले पाए।....... इस पराजय में मोहराज ने सूक्ष्मसाम्परायपुर, अनिवृत्तिकरणपुर, अपूर्वकरणपुर, अप्रमत्तपुर, प्रमत्तपुर और देशव्रतपुर

ये सभी नगर जिन पर हमने बड़े श्रम से अपना प्रभुत्व स्थापित किया था, हमसे छीन लिये।

चारित्रवीर : उपशान्तमोहपुर में प्रवेश करते ही मुझे तो चरम मग्नता की ऐसी उपलब्धि हुई थी कि जीवन ही निहाल हो गया। अनन्त-अनन्त शक्तियों से दैदीप्यमान महाराज चेतनराज का अलौकिक सौन्दर्य निहारता-निहारता, तादात्म्य भाव से मैं ऐसा तन्मय....... हुआ कि कुछ क्षणों के लिए तो समूचा भेद-अस्तित्व ही विलीन हो गया। .... (भावुक होकर)....... एक रूप....... एक रस....... अभिन्न अखण्ड....... अहा-हा !....... कैसे मधुर क्षण थे ! कितने आल्हादमय !....... कितने आनन्ददायी !....... (पुनः प्रकृतिस्थ होता हुआ)....... परन्तु यह सब अन्तर्मुहूर्त्त काल तक ही रहा ! फिर तो....... ज्ञानदेव ! ऐसी घोर पराजय होगी, मुझे तो इसकी कल्पना भी न थी।

ज्ञानदेव : आपको भले न हो, किन्तु मुझे इसकी कल्पना थी चारित्रवीर !

चारित्रवीर : किस आधार पर ज्ञानदेव?

ज्ञानदेव : हमने पार्वत्य प्रदेश की ऊँचाई पर क्षपक श्रेणी में बसे नगरों की बजाय उपशम श्रेणी में बसे नगरों पर चढ़ाई की। यदि क्षपक श्रेणी के नगरों पर आक्रमण किया जाता तो मार्ग में उपशान्तमोहपुर पड़ता ही नहीं।

चारित्रवीर : उससे क्या अन्तर पड़ता?

ज्ञानदेव : (हँसते हुए) अन्तर इतना पड़ता कि अब तक मोहराज की इहलीला ही समाप्त हो चुकी होती।

चारित्रवीर : तब आपने ही क्यों न समय रहते, सचेत किया?

ज्ञानदेव : (गम्भीर होकर) देखो चारित्रवीर ! प्रत्येक कार्य का उत्पाद-क्षण निश्चित है, उसकी संप्राप्ति बिना विवक्षित कार्य का निष्पन्न होना संभव नहीं।....... वैसे पराजय के अन्य कारणों में मुख्य कारण हमारी अधीरता भी है।

चारित्रवीर : अधीरता !....... कैसे?

ज्ञानदेव : चारित्रवीर !....... यह न भूलें कि मोहराज के सेनाधिपति मिथ्यात्वराज अभी जीवित हैं।....... और जब तक मिथ्यात्वराज जीवित हैं, हमारी शक्ति नहीं कि हम क्षपकश्रेणी में बसे नगरों पर आक्रमण कर सकें। इसलिये अनिवार्य था कि हम पूर्व में क्षायिक-महायज्ञ का पवित्र अनुष्ठान करते। उसके बिना मिथ्यात्वराज का अन्त संभव नहीं।....... किन्तु हम वह नहीं

कर पाए और अधीर होकर उपशम श्रेणी के नगरों पर आक्रमण कर बैठे।

चारित्रवीर : ओह !....... कितनी भारी भूल हुई?

ज्ञानदेव : हाँ, भूल तो भारी हुई !....... किन्तु ऐसा होना बहुत अस्वाभाविक भी नहीं था।

चारित्रवीर : (कुछ आश्चर्य से) अस्वाभाविक नहीं था !....... क्यों?

ज्ञानदेव : सुनो चारित्रवीर ! अनादि काल से मोहराज के दुःश्चक्र में पड़कर संसार परिभ्रमण के दुःखों का भार वहन करते-करते महाराज चेतनराज सहित हम सभी इतने अधिक क्लान्त हो चुके थे, कि त्वरित ही मुक्तिपुरी पहुँचने को अधीर हो गए। फलस्वरूप मिथ्यात्वराज के नाश का उपाय किए बिना ही हमने "सातिशय अप्रमत्तविरत" मुकाम पर धावा बोल दिया। वहाँ विजय प्राप्त करने के तुरन्त बाद हमने उपशम श्रेणी के नगरों पर भी चढ़ाई कर दी। शत्रु-सैन्य ने हमारी अधीरता का पूरा लाभ उठाया।

चारित्रवीर : (विस्मित-सा) लाभ !....... लाभ किस प्रकार उठाया?

ज्ञानदेव : इस प्रकार, कि हमें उपशम श्रेणी के नगरों पर आक्रमण करता देखकर उन्हें यह निश्चय हो गया कि हम उपशान्तमोहपुर जाकर पुनः लौटेंगे। उन्होंने नियोजित रणनीति बनाई और लौटते समय पूरी शक्ति संजोकर हम पर आक्रमण कर दिया।....... जो परिणाम हुआ उसे हम भोग ही रहे हैं।....... वह तो सम्यक्त्वराज और विवेक कुमार का अदम्य साहस और अपूर्व रण-कौशल रहा कि मोहराज हमें अव्रतपुर से न खदेड़ सके अन्यथा हम अपनी आदिम अवस्था में पहुँच जाते।

चारित्रवीर : ओह !....... बड़ा अनिष्ट हुआ।....... (कुछ विचार-सा करते हुए)....... ज्ञानदेव !....... हम तो मोहराज के नरकायु कुमार, तिर्यंचायु कुमार, दुष्कृत कुमार तथा सेनानायक अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन जैसे अनेक दुर्द्धर योद्धाओं में से कुछ को तो काल का ग्रास बना चुके थे और अनेकों को बुरी तरह घायल कर चुके थे, फिर....... अव्रतपुर के रण क्षेत्र में ये सब कैसे दिखाई पड़ रहे हैं। ये....... ये पुनर्जीवित और स्वस्थ कैसे हो गए?

ज्ञानदेव : (गम्भीरता पूर्वक)....... मोहराज अनेक अद्भुत शक्तियों के स्वामी हैं चारित्रवीर ! इन अद्भुत शक्तियों की मदद से वे हमारी प्रत्येक पराजय का उपयोग, कुछ ऐसी संजीवनी औषधि तैयार करने में करते हैं कि जिसके प्रयोग से उनके अनेक दिवंगत् योद्धा यथा संभव, यथा-समय पुनर्जीवित हो उठते हैं और घायल स्वस्थ हो जाते हैं।

चीरित्रवीर : (विस्मित-सा) ओह ! बड़ी अद्‌भुत बात है !.... (कुछ विचार....करते हुए).... ज्ञानदेव !....... सातिशय अप्रमत्तपुर मुकाम से उपशान्तमोहपुर तक भी सुकृत कुमार रण क्षेत्र में दृष्टिगोचर नहीं हुआ।....... कहाँ था वह?

ज्ञानदेव : (हँसते हुए) हमारे निकट ही, किन्तु हमारी दृष्टि से ओझल !

चारित्रवीर : निकट, फिर भी दृष्टि से ओझल !....... कैसे?

ज्ञानदेव : यह तो आपको ज्ञात ही है कि अप्रमत्तपुर से ही महाराज चेतनराज के चारों ओर अनेक विलक्षण शक्तियों का उदय होने लगा था। उस समय आपने भी अनुभूति रस में पगे शुद्धोपयोग के तीक्ष्ण बाणों का प्रयोग कर समूचे रण क्षेत्र में प्रलय का-सा दृश्य उपस्थित कर दिया था। इससे न केवल मोहराज के योद्धा, बल्कि सुकृत कुमार भी बहुत भयभीत हुआ। उसे अपनी विजातीयता का बोध तो हो ही चुका था। अतः इस विषम वातावरण में वह प्रगट रूप से चेतनराज के समीप रहने का साहस न कर सका। किन्तु चेतनराज के सान्निध्य में रहने का व्यामोह भी वह छोड़ना नहीं चाहता था। अन्ततः उसने चुतराई से काम लिया और गुप्त रूप से महाराज के सन्निकट रहने लगा। गुप्त रूप में रहने के कारण ही निकट रहते हुए भी वह हमारे दृष्टि-पथ में न आ सका।

चारित्रवीर : आश्चर्य कि निकट होकर भी उस भयानक संग्राम में वह जीवित रह गया।

ज्ञानदेव : इसमें आश्चर्य कैसा? कील के निकट रहने वाला अन्नकण चक्की में पिसने से बच ही जाता है।

चारित्रवीर : (कुछ सोचते हुए) वैसे ज्ञानदेव ! उस वातावरण में हमारी शक्तियों से स्वयं ही भयभीत सुकृत कुमार, हमारा क्या अनिष्ट कर पाया होगा?

ज्ञानदेव : आप भूल रहे हैं चारित्रवीर कि सुकृत कुमार का प्रत्येक कृत्य परोक्षतः मोहवाहिनी के योद्धाओं को ही बल पहुँचाता है।

चारित्रवीर : ओह !....... समझा !....... (कुछ क्षणों तक चुप रह कर)....... अब क्या करना होगा?

ज्ञानदेव : अब....... (कुछ विचार-सा करते हुए) अब तो सम्यक्त्वराज से अनुरोध करना होगा कि वे शीघ्र ही 'क्षायिक-महायज्ञ' का अनुष्ठान करें, ताकि मिथ्यात्वराज को काल का ग्रास बनाया जा सके।

चारित्रवीर : किन्तु इससे तो अल्पकालिक ही लाभ होगा। मोहराज अपनी अद्भुत शक्तियों से मिथ्यात्वराज को भी पुनर्जीवित कर लेंगे।

ज्ञानदेव : (किंचित् दृढ़ता पूर्वक) नहीं चारित्रवीर ! क्षायिक महायज्ञ से उत्पन्न हुए प्रक्षेपास्त्रों के प्रहार से काल कवलित होने वाले अपने किसी भी योद्धा को पुनर्जीवित करने की शक्ति मोहराज में नहीं है !....... (फिर भावुकता से) चारित्रवीर ! चेतन-कुल की लाज आपके हाथों में हैं। मोहवंश को निर्मूल करने का सामर्थ्य आपके सिवा अन्य किसी में नहीं।

चारित्रवीर : (आश्वस्त करते हुए) चिन्ता न करें, ज्ञानदेव ! मुझे विश्वास है कि महाराज चेतनराज की असीम अनुकम्पा और आपके कुशल मार्गदर्शन में अबकी बार हम अपना गन्तव्य अवश्य प्राप्त कर लेंगे।

ज्ञानदेव : आपकी सफलता के लिए मैं मंगल कामना करता हूँ।....... आओ चलें।

(दोनों जाते हैं।) *- पटाक्षेप -*

पाँचवां-दृश्य

[मोहराज की सभा। मोहराज सिंहासन पर विराजमान हैं। उनके दाहिनी ओर मंत्री रागराज और बांई ओर मंत्री द्वेषराज बैठे हैं। कुबुद्धिदेवी एवं अन्य सभासद भी यथास्थान बैठे हैं। चेतनराज की पराजय पर हर्ष मनाया जा रहा है। एक बाला मदिरा का पात्र भरकर सबको दे रही है। मोहराज प्रसन्न चित्त दिखाई पड़ रहे हैं। सभागृह के मध्य एक नर्तकी नृत्य कर रही है। नर्तकी की प्रत्येक मुद्रा पर, उसके हाव-भाव, विलास विभ्रम पर सभासद झूम रहे हैं। मोहराज भी बीच-बीच में "वाह-वाह" कहकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त कर रहे हैं। तभी अचानक घायल अवस्था में लड़खड़ाता हुआ काम कुमार आता है।]

काम कुमार : (आर्त्त स्वर में लगभग चीखता हुआ-सा) वज्रपात हो गया, त्रिभुवनपति ! .... हम अनाथ हो गए।

(काम कुमार के हाहाकार से नृत्य बंद हो जाता है। नर्तकी सिहरकर एक ओर खड़ी हो जाती है। वारुणी-बाला के हाथ से मदिरा-पात्र छूटकर गिर जाता है। किसी अज्ञात भय से सभी काम कुमार की ओर देखने लगते हैं। मोहराज सिंहासन से उठकर खड़े हो जाते हैं।)

मोहराज : (भयभीत स्वर में आश्चर्य से) क्या हुआ काम कुमार? कौन-सा वज्रपात हो गया?

काम कुमार : (अश्रुपात करता हुआ) मत पूछिये महाराज !....... हाय ! आज मोह नगरी

का सुहाग उजड़ गया है। हमारे सेनाधिपति हमेशा-हमेशा के लिए हमें छोड़कर चले गए।

मोहराज : (दोनों हाथ छाती पर रखते हुए घबराए स्वर में) क्या?....... मिथ्यात्व....... राज....... (मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ते हैं। कुबुद्धिदेवी दौड़कर मूर्छित मोहराज के पास आती है, और ''हाय, यह क्या हुआ'' कहती हुई मोहराज के चरणों से लिपट जाती है।)

कुबुद्धिरानी : (रोते हुए) हाय ! यह क्या हुआ? उठिये पिताश्री....... हा भैया !....... हम सबको छोड़कर तुम क्यों चले गये। तुम्हारे बिना तो हम सब अनाथ हो गए।....... हा ! मेरे ही कारण मोह-कुल पर यह घोर विपत्ति आई है।....... मैं ही मोहपुरी के सर्वनाश का कारण हूँ।....... हाय ! चेतनराज के परित्याग की शिकायत लेकर मैं पिताश्री के पास आई ही क्यों? अरे कृतघ्नी चेतनराज ! अरी दुष्टा सुबुद्धि !....... अब तो तुम्हारी छाती ठंडी हो गई?....... (फूट-फूटकर रोने लगती है। 'हा भैया....... हा भैया' कहती हुई मूर्छित हो जाती है। मंत्री, सभासद आदि मोहराज और कुबुद्धिदेवी की मुर्च्छा दूर करने के लिए उपचार करते हैं। कुछ समय उपरान्त मोहराज की मूर्च्छा टूटती है। कुबुद्धिदेवी को मूर्छित देखकर वे विलाप करते हैं।)

मोहराज : अरे ! हमारी लाड़ली बेटी को क्या हो गया?.... (काम कुमार से) काम कुमार ! क्या सचमुच हमारा लाल हमसे बिछुड़ गया।....... हमें विश्वास नहीं होता।....... ओह !....... यह कैसा हृदय-विदारक समाचार लाए तुम काम कुमार !....... अब हमारा क्या होगा?....... हमारा तो जीवनाधार ही चला गया। सर्वस्व नष्ट हो गया। हाय....... आज हम अनाथ हो गए ! अब कौन मोहवाहिनी-की बागडोर सँभालेगा? अब कौन चेतन को अनन्त काल तक बंधन में बाँधकर रख सकेगा?....... हाय....... अब क्या होगा?

(मोहराज पुनः मूर्छित हो जाते हैं। कुछ क्षणों तक सभागृह में सन्नाटा छा जाता है। थोड़ी देर बाद उनकी मूर्छा टूटती है। वे फिर विलाप करने लगते हैं।)

मोहराज : दुर्दैव ! यह कैसा क्रूर खेल है। अब....... हम ही जीवित रहकर क्या करेंगे?

रागराज : शान्त हों महाराज ! धीरज रखें !

मोहराज : धीरज रखूँ ? मंत्रीवर, आप कहते हैं – धीरज रखूँ ?....... मेरा लाड़ला मुझसे बिछुड़ गया....... मेरा जीवन-धन चला गया....... मोहपुरी के माथे का सिन्दूर मिट गया।....... और....... और आप कहते हैं कि मैं धीरज रखूँ?

रागराज : धीरज रखना ही होगा स्वामी ! छाती पर पत्थर रखकर भी धैर्य धारण करना

होगा। इस दारुण-विपत्ति में, आप ही यों विचलित होंगे, तो हम सबका क्या होगा? इसमें सन्देह नहीं कि सेनाधिपति के निधन से हमारी अपूरणीय क्षति हुई है। किन्तु हतोत्साहित होकर तो हम अपनी अवशेष शक्ति का भी अपव्यय कर बैठेंगे।

(कुछ क्षणों तक चुप्पी छायी रहती है। मोहराज अपने को प्रकृतिस्थ करते हैं। तब तक कुबुद्धिदेवी की मूर्छा भी टूट जाती है।)

मोहराज : (प्रकृतिस्थ होकर, काम कुमार से)....... अब कहो काम कुमार, अचानक यह कैसे हो गया? हम तो उपशान्तमोहपुर के बाद हुई विजय का हर्षोत्सव मना रहे थे। अकस्मात यह अकल्पित वज्रपात कैसे हो गया?

काम कुमार : त्रिभुवनपति ! सम्यक्त्वराज ने चेतनराज का आशीर्वाद लेकर 'क्षायिक-महायज्ञ' का अनुष्ठान प्रारम्भ किया। अल्पकाल में ही यज्ञकुण्ड से अनेक प्रकार के दिव्य प्रक्षेपास्त्र उत्पन्न होने लगे। बिना कोई विलम्ब किये सम्यक्त्वराज ने अव्रतपुर से ही कुंवर मिथ्यात्वराज को लक्ष्य करके इन प्रक्षेपास्त्रों का अचूक प्रयोग करना आरम्भ कर दिया।

उधर मिथ्यापुर में कुंवर मिथ्यात्वराज पहले ही अपनी प्राणप्रिया वीरांगना अनन्तानुबंधी के वियोग से पीड़ित जीवन से हताश हो चुके थे, इस पर सम्यक्त्वराज द्वारा संचालित इन प्रक्षेपास्त्रों ने उन्हें बुरी तरह भयभीत कर दिया। प्रक्षेपास्त्र आकर उनकी वज्रमयी देह को क्षार-क्षार करने लगे। सुरक्षा का कोई उपाय न देख कुंवर श्री ने त्वरित-गति से अपनी अवशेष शक्तियाँ कुंवर मिश्रमोहनीय को अर्पित कर दीं और अगले ही पल....... हाय ! कैसे कहूँ ?....... (कंठ रुँध जाता है।)

मोहराज : रुक क्यों गए काम कुमार?

काम कुमार : (रुँधे कंठ से) अगले ही पल स्वामी....... सम्यक्त्वराज के घातक प्रहारों से उनके प्राण-पखेरू उड़ गए।

मोहराज : (माथे पर हाथ रखकर) हा दुर्दैव !....... (कुछ क्षणों तक चुप्पी छायी रहती है,....... फिर काम कुमार से) मिश्रमोहनीय तो अभी.......

काम कुमार : नहीं स्वामी ! थोड़े ही अन्तराल में वे भी सम्यक्त्वराज के हाथों वीर गति को प्राप्त हो गए। उन्होंने भी कुंवर मिथ्यात्वराज की तरह अन्त समय में अपनी अवशेष शक्तियाँ कुंवर सम्यक्त्व मोहनीय को अर्पित कर दीं और वीरगति को प्राप्त हुए।

मोहराज : ओह ! .... और कुंवर सम्यक्त्व मोहनीय?

काम कुमार : (आहत स्वर में) कुंवर सम्यक्त्व मोहनीय बड़े जीवट के योद्धा थे स्वामी ! उस समय वे रणक्षेत्र में सम्यक्त्वराज से ही जूझ रहे थे। किन्तु क्षायिक महायज्ञ के कुण्ड से उत्पन्न हुए दिव्य प्रक्षेपास्त्रों के घातक प्रहारों से, वे भी अपनी रक्षा न कर सके और अल्पकाल में ही उन्हें भी अपने प्राणों का उत्सर्ग करना पड़ा। उसी समय यज्ञ कुण्ड से क्षायिक चक्र की उत्पत्ति हुई। यज्ञ पूरा हुआ। क्षायिक चक्र प्राप्त होने पर सम्यक्त्वराज ने विजय-दर्प में ऐसी हुंकार भरी कि जिसे सुनकर हमारी सेना का हृदय दहल उठा।

मोहराज : (दुःखी होकर) सब कुछ नष्ट हो गया !....... अब क्या होगा?....... (माथे पर हाथ रखे चिन्तित मुद्रा में सिंहासन पर बैठ जाता है।)

रागराज : धैर्य खोने से क्या होगा स्वामी?....... (काम कुमार से) काम कुमार ! अब हम चेतनराज को अव्रतपुर से तो खदेड़ न सकेंगे, किन्तु अपने सभी सेनानायकों से जाकर कहो कि वे किसी भी युक्ति से ऐसा जतन करें कि शत्रु-सैन्य अव्रतपुर से आगे न बढ़ने पाए !

काम कुमार : जो आज्ञा मंत्रीवर ! अभी जाता हूँ। (प्रणाम करके जाता है।)

रागराज : (मोहराज से) आप विश्राम करें, स्वामी ! बहुत विलंब हो चुका है, आज....।

मोहराज : अब विश्राम....... (इतने में एकाएक गुप्तचर कुमन कुमार घायल अवस्था में दौड़ता हुआ आता है और लड़खड़ाकर गिर पड़ता है।....... किन्तु शीघ्र ही खड़ा होकर लड़खड़ाते स्वर में)

कुमन कुमार : त्रिलोकाधिपति ! चेतनराज ने देशव्रतपुर, प्रमत्तपुर, अप्रमत्तपुर पर विजय प्राप्त कर ली है और अब क्षपकश्रेणी के नगरों पर आक्रमण करने को उद्यत हैं। हमारे असंख्य शूरवीर योद्धा वीर गति को प्राप्त हुए, असंख्य ही बुरी तरह घायल हो गए। शेष इतने भयभीत और हताश हैं कि रणक्षेत्र में उन्मत्त-से अपने प्राणों की रक्षा के लिए यहाँ-वहाँ दौड़-भाग कर रहे हैं।

मोहराज : (क्रोधित होकर) लगता है कि फिर से चेतनराज को उसके दुष्कृत्यों का फल चखाना होगा।

रागराज : क्षमा करें स्वामी ! मैं नहीं सोचता कि चेतनराज अबकी बार कोई भूल करेंगे। बहुत संभव है कि इस बार वे क्षपक-श्रेणी के ही नगरों पर आक्रमण करेंगे। इसलिए उनके.......।

(तभी अकस्मात मेघों की भयावह गर्जना होती है। व्योम मंडल में बिजलियाँ कड़कड़ाती हैं। मोहपुरी की धरती हिलने लगती है। मोहराज सिंहासन से नीचे गिर पड़ते हैं। सभी लोग धरती पर लोटने लगते हैं।

नैपथ्य से "बचाओ-बचाओ हाय मरे"....... अरे कोई बचाने वाला नहीं।....... हाय"....... ऐसे स्वर सुनाई पड़ते हैं। तभी सेनानायक वेदनीय दौड़ता हुआ आता है।)

वेदनीय : प्रलय, महाराज !....... महाप्रलय !....... ओह ! कैसी भीषण अग्नि?....... समूची मोहपुरी जल रही है।....... रक्षा का कोई उपाय नहीं।....... बचाइये महाराज !....... चेतनराज की सेना ने भीषण उत्पात मचा रखा है।

मोहराज : (लड़खड़ाते स्वर में) यह....... यह क्या हुआ....... सेनानायक वेदनीय?

वेदनीय : महाराज ! चेतनराज ने क्षपक-श्रेणी के नगरों पर चढ़ाई कर दी। अपूर्वकरणपुर और अनिवृत्तिकरणपुर पर विजय प्राप्त करके अब वे सूक्ष्मसांपरायपुर की ओर बढ़ रहे हैं। इस भीषण संग्राम में कुंवर अप्रत्याख्यानावरण और कुंवर प्रत्याख्यानावरण अपने सभी महासुभटों सहित मारे गए। मोह कुल की हास्य, रति आदि सभी किशोर बालाएँ और कुंवर संज्वलन के क्रोध, मान और माया ये तीन महासुभट भी, अन्य सेनानायकों के १६ महासुभटों सहित काल कवलित हो गए। कुंवर संज्वलन के महासुभट लोभ कुमार भी मरणासन्न दशा में हैं।....... स्वामी ! चारित्रवीर के शुक्ल-ध्यानाग्नि शरों से मोहवाहिनी निःशेष हो चली है। मोहपुरी भी जलकर नष्ट प्रायः हो चुकी है। कुछ कीजिये त्रिलोकाधिपति !....... कुछ.......।

(तभी कुछ अग्नि बाण मंच पर आते हैं। इससे सभासदों में भगदड़ मच जाती है। बाण लगने से सभी एक-एक करके जलकर गिरने लगते हैं। मंच पर हाहाकार मच जाता है। तभी कुछ बाण एक साथ मंत्री द्वय और मोहराज को लगते हैं। इससे वे भी जलते हुए भूमि पर गिर पड़ते हैं। सेनानायक वेदनीय हाहाकार करता हुआ मंच से एक ओर चला जाता है। तभी पार्श्वध्वनि होती है।) – "चारित्रवीर के ध्यानाग्नि शरों से समूची मोहपुरी जलकर नष्ट हो चुकी है। मोहराज भी अपने परिजनों सहित पृथक्त्व वितर्क वीचार जाति के ध्यानाग्नि-शरों से जलकर भस्म हो गए। चेतनराज ने आगे बढ़कर क्षीणमोहपुर पर अपना अधिकार जमा लिया।"

(तभी नैपथ्य से ऊँचे स्वर में "महाराज चेतनराज की जय" का विजय-नाद सुनाई पड़ता है।)

- पटाक्षेप -

अनिष्ट प्रतिभासित होनेवाली अवस्था को इष्टरूप में परिवर्तित करने का विचार आपत्ति का सही प्रतिकार नहीं है; अपितु अपना दृष्टिकोण बदलना ही सच्चा उपाय है।

– क्षत्रचूड़ामणि, पहला लम्ब, श्लोक ३१, पृष्ठ ६०

छठवाँ-दृश्य

[सयोगकेवलीपुर में एक उद्यान का दृश्य। मोहराज के सेनानायक आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं। सभी सैनिक वेषभूषा में।]

वेदनीय : उफ! कैसी भीषण अग्नि थी। सब कुछ स्वाहा हो गया। मोहपुरी जलकर भस्म हो गई। स्मरण करते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

गोत्र : सच कहते हैं आप। मोहपुरी की प्रजा का हृदयवेधी आर्त्तनाद अभी भी मेरे कानों में गूँज रहा है।....... उफ! चारित्रवीर ने ध्यानाग्नि-शरों से कैसी घनघोर वर्षा की।....... कोई नहीं बच पाया। क्षपकश्रेणी के नगरों में चारित्रवीर का युद्ध कौशल देखते ही बनता था। एक लोभ कुमार ने अवश्य अन्तिम श्वाँस तक सूक्ष्मसांपरायपुर में शत्रु-सैन्य से घोर संघर्ष किया। किन्तु अन्त में वह भी चारित्रवीर के सूक्ष्मसांपराय जाति के शरों से अपनी रक्षा न कर सके, और जीवन से हाथ धो बैठा। लोभ कुमार के निःशेष होते ही समूची मोहपुरी धू-धू कर जल उठी। स्वयं महाराज मोहराज पृथक्त्व-वितर्क वीचार जाति के शरों से जलकर भस्म हो गए।....... उफ! कैसा करुण अन्त हुआ ?

आयु : (निःश्वास भरकर) महाराज मोहराज!....... तीन लोक के अधिपति!! और अन्त समय कोई जल की बूंद भी देने वाला न रहा।....... (निःश्वास भरता है.......। फिर कुछ स्मरण करता हुआ वेदनीय से)....... कुंवर सुकृत कुमार का क्या हुआ?

वेदनीय : (निःश्वास लेकर) सूक्ष्मसांपरायपुर में उसका भी करुण अन्त हो गया।

नाम : (साश्चर्य) क्या?....... किन्तु वे तो ज्ञानदेव की दृष्टि से ओझल.......।

वेदनीय : (बीच ही में बात काटते हुए) हुआ यह कि अप्रमत्तपुर से सूक्ष्मसांपरायपुर के अन्त तक ज्ञानदेव की दृष्टि से ओझल रहकर बड़ी युक्ति से वह चारित्रवीर के ध्यानाग्नि शरों से अपनी रक्षा करने का जी-तोड़ श्रम करता रहा। इस अवधि में उसने भरसक चेष्टा की कि उसे चेतनराज का अनुराग प्राप्त हो जाये, किन्तु ज्ञानदेव और चारित्रवीर के पराक्रम ने उसकी सारी चेष्टाएँ विफल कर दीं। विचित्र विडम्बना थी। एक ओर तो चारित्रवीर के भीषण आक्रमण से उसकी देह प्रतिपल क्षीण होती जा रही थी और दूसरी ओर चेतनराज की निकटता से उसका अन्तर-बल, क्षण-प्रतिक्षण बढ़ता जा रहा था।....... किन्तु वह बुझते दीपक की बढ़ी हुई लौ थी। काल मुँह बाए सामने खड़ा था।....... (गला भर आता है, बोला नहीं जाता। नेत्र सजल हो जाते हैं। कुछ क्षणों के

लिए सन्नाटा छा जाता है। फिर भरे गले से आहत स्वर में.......) बन्धुओ, एक बात तो है कि वह धुन का बड़ा पक्का था।

गोत्र : आप....... आपका तात्पर्य?

वेदनीय : (आँसू पोंछता हुआ) सूक्ष्मसांपरायपुर में जब लोभ कुमार ने उससे चेतनराज का संसर्ग छोड़ देने का अनुरोध किया, तब दृढ़तापूर्वक दो टूक उत्तर देते हुए उसने कहा था....... "मैंने आजीवन चेतनराज के संग रहने की प्रतिज्ञा की है। मृत्यु का आलिंगन भी करना पड़े तब भी मैं प्रतिज्ञा भंग नहीं करूँगा। निर्लज्ज और कायर कहलाकर जीवित रहने की अपेक्षा कर्त्तव्य की बलि वेदी पर अपने प्राण न्यौछावर कर देना मैं अधिक गौरवयुक्त मानता हूँ।"....... और....... थोड़े अन्तराल पश्चात ही चारित्रवीर के ध्यानाग्नि-शरों से....... (सिसकने लगता है। कुछ क्षणों के लिए सन्नाटा छा जाता है।)

गोत्र : (मौन तोड़ते हुए) कुंवरश्री मोहकुल के गौरव थे। अपने बलिदान से उन्होंने मृत्यु को भी गौरवान्वित होने का दुर्लभ अवसर प्रदान किया।....... (कुछ ठहरकर, फिर स्मरण-सा करते हुए) हमारे वरिष्ठ सेनानायक ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि भी तो.......।

वेदनीय : (बीच ही में) उनका भी प्राणान्त.......।

गोत्र : (बात काटकर, लगभग चीखता हुआ आश्चर्य के स्वर में) क्या? उनका भी प्राणान्त.......।

वेदनीय : हाँ ! महाराज मोहराज का दुःखद अवसान होते ही चेतनराज ने शीघ्र ही क्षीण मोहपुर पहुँचकर अपना एक छत्र आधिपत्य जमा लिया। वहाँ उनकी अनेक सुषुप्त शक्तियाँ मानों जाग उठीं। ज्ञानदेव, दर्शनश्री और वीर्यवर ने सोल्लास सेनानायक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय को लक्ष्य बनाकर प्रचण्ड धावा बोल दिया। भीषण युद्ध हुआ। चारित्रवीर का पराक्रम पूरी पराकाष्ठा पर था। उन्होंने यथाख्यात जाति के दिव्य आभा वाले तीक्ष्ण बाणों से समूचा रणक्षेत्र ही पाट दिया। अन्तर्मुहूर्त्त काल में ही ज्ञानदेव ने सेनानायक ज्ञानावरण को, दर्शनश्री ने सेनानायक दर्शनावरण को और वीर्यवर ने सेनानायक अन्तराय को मृत्यु के मुख में पहुँचा दिया और तत्क्षण ही चेतनराज ने परिजनों सहित ससैन्य सयोगकेवलीपुर में प्रवेश किया। यहाँ नौ क्षायिक लब्धियों ने उनकी भावभीनी अगवानी की और वे 'अरिहन्त'' पद में प्रतिष्ठित हुए।

गोत्र : (माथे पर हाथ रखकर हताश स्वर में) ओह ! अब हम ही जीवित रहकर क्या करेंगे?

वेदनीय : (निःश्वास लेकर) जब तक जीवन शेष है, जीवित तो रहना होगा। इसके सिवा कोई चारा नहीं। (कुछ क्षणों तक सभी मौन रहते हैं।)

आयु : (मौन तोड़ते हुए) सयोगकेवलीपुर में केवल चेतनराज ही दिखाई पड़ते हैं। ज्ञानदेव, दर्शनश्री, चारित्रवीर आदि दृष्टिगोचर नहीं होते, कहाँ रह गए वे?

वेदनीय : यहीं हैं। जहाँ चेतनराज हैं, वहीं उनके ये सब परिजन भी हैं....... (कुछ ठहरकर)....... मित्रो, सयोगकेवलीपुर में ज्ञानदेव, चारित्रवीर, दर्शनश्री सहित चेतनराज के लगभग सभी परिजनों की अनन्त-अनन्त शक्तियाँ प्रगट हो चुकी हैं। अपनी अनन्तानन्त शक्तियों को समेटे, चेतनराज के ये परिजन उनसे मिलकर परस्पर इतने अभिन्न अखिन्न और एकाकार-एकरूप हो चुके हैं कि इनमें अब कोई भेद ही नहीं रह गया है।....... (कुछ विचार-सा करते हुए) और बन्धुओ....... इनमें भेद कभी था भी नहीं।

गोत्र : (आश्चर्य से) भेद कभी था नहीं ?....... और जो दिखाई पड़ता था।

वेदनीय : वह मात्र महाराज मोहराज की कूटनीति का चमत्कार था।....... (कुछ ठहरकर, फिर एकाएक)....... और हाँ, एक बात तो मैं विस्मृत ही कर गया?....... सेनानायक ज्ञानावरण के निःशेष होते ही ज्ञानदेव की आयुधशाला में कोटि-कोटि दिवाकरों से भी अनन्त-गुना तेजस्वी कैवल्य-चक्र उत्पन्न हुआ था। कैवल्य-चक्र का आलोक इतना प्रखर है कि इसके प्रकाश में सम्पूर्ण लोकालोक अपने अतीत, वर्तमान और अनागत सहित प्रति समय चेतनराज को दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब की भाँति प्रत्यक्ष-प्रगट दृष्टिगोचर होने लगा है। यह देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी अदृश्य चित्रकार ने अपनी भव्य तूलिका से सम्पूर्ण चराचर को ही उनके स्वच्छ हृदय-पटल पर चित्रित कर दिया हो। अथवा तो समूचे ब्रह्माण्ड ने चेतनराज के अन्तःकरण को ही अपना निवास-स्थल बना लिया हो। जगत में अब ऐसा कोई रहस्य नहीं कि जिससे वे अनवगत हों। उनके लिए अब सब कुछ प्रगट है, प्रत्यक्ष है।

गोत्र : चेतनराज स्वयं क्या करते हैं?

वेदनीय : परिजनों सहित निर्लिप्त भाव से सुख-सागर में निमग्न रहकर निरन्तर ही वीतराग-निर्विकल्प अतीन्द्रिय आनन्दामृत का मधुर रसपान किया करते हैं।

गोत्र : क्या उनके मुक्तिपुरी पहुँचने का अभियान अभी भी जारी है ?

वेदनीय : (सूखी हँसी हँसकर) मुक्तिपुरी तो वे पहुँच ही चुके समझो। मात्र कुछ औपचारिकताएँ शेष हैं।

नाम : कैसी औपचारिकताएँ ?....... उनके पूरी होने में किस बात की कमी रह गई है ?

वेदनीय : (निःश्वास भरकर)....... हमारे अवसान की। (कुछ क्षणों तक सभी मौन रहते हैं।)

नाम : (मौन तोड़ते हुए, कुछ उत्साहित सा) क्या यह बात कम महत्त्व की है कि हमारे जीवित रहते, चेतनराज का मुक्तिपुरी पहुँचना संभव नहीं।....... इसमें सन्देह नहीं कि हमारी शक्ति का मूल स्रोत सूख चुका है। हमारे जीवनाधार, हमारे सर्वस्व महाराज मोहराज आज हमारे बीच नहीं हैं। किन्तु इससे हम हताश होने वाले नहीं। श्वाँस रहते, जीवन के अन्तिम क्षण तक चेतनराज से संघर्ष करते रहेंगे। मृत्यु तो कभी न कभी होनी ही है, पर उसका वरण हम कायरता से नहीं, वीरता से करेंगे।

वेदनीय : (सेनानायक नाम से) बंधुवर ! संकट की इन घड़ियों में आपका अदम्य साहस सराहनीय है।....... किन्तु जो यथार्थ है, उसे भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। कैवल्य चक्र का प्रखर आलोक ऐसी चकाचौंध उत्पन्न कर रहा है कि हमें कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। आँखें चौंधिया जाती हैं। ऐसे में शत्रु पर किया गया हमारा प्रत्येक वार विफल होता जा रहा है। विडम्बना की बात तो यह है कि अब हमारे वीर योद्धा ही स्वयं प्रणत-भाव से चेतनराज का अभिवादन-सा करते दृष्टिगोचर हो रहे हैं। कोई उनके चरणों के समीप झुका हुआ है, तो कोई उनकी प्रदक्षिणा करता दिखाई दे रहा है। मुझे स्वयं उनके चारों ओर भव्य समवशरण सभा की रचना करनी पड़ी है। अष्ट-मंगल, अष्ट प्रातिहार्य जैसे दिव्य अतिशय जुटाने को बाध्य होना पड़ा है।

आयु : मेरे भी तीन महासुभट नरकायु कुमार, तिर्यंचायु कुमार और देवायु कुमार तो अपने असंख्य सैनिकों सहित पहले ही वीर गति पा चुके हैं। रहा महासुभट मनुष्यायु कुमार, सो वह भी चेतनराज के समागम को अपना सौभाग्य मानने लगा है।

नाम : (दबे स्वर में) ऐसी ही कुछ विवशता मेरे साथ भी है। मेरे ९३ महासुभटों में से १३ तो पूर्व में ही दिवंगत हो चुके हैं। जो जीवित हैं, उनमें से कुछ तो मानो पक्षाघात से पीड़ित हों, ऐसे निपट निष्क्रिय पड़े हुए हैं और जो रणक्षेत्र में हैं वे भी अपना अवशेष जीवन अब चेतनराज की सेवा में व्यतीत करने में अपनी कुशल मानने लगे हैं। चेतनराज के संयोग में गगन-गमन, मुक्त्याभाव, चतुरास्यत्व, अच्छायत्व, सर्वार्ध, मागधी भाषा, परम औदारिक शरीर आदि अनेक प्रकार के अनुपम अतिशय इसी का फल हैं।

गोत्र : यही दशा मेरे योद्धाओं की भी है, किन्तु....... (सेनानायक वेदनीय से) बन्धुवर ! ये अनेक प्रकार के दिव्य एवं अनुपम अतिशय तो दिवंगत कुंवर सुकृत कुमार के कृत्यों के ही फल हैं न?....... फिर इनका लाभ तो हमें प्राप्त होना चाहिए।

वेदनीय : अवश्य होना चाहिए और लाभ प्राप्त होता भी। वस्तुतः तो ये हमारे शस्त्रास्त्र ही हैं। किन्तु महाराज मोहराज के अभाव में ये चेतनराज का किसी भी प्रकार का अनिष्ट करने का सामर्थ्य नहीं रखते। इसी कारण अब इनसे हमें कोई लाभ प्राप्त नहीं हो सकता।

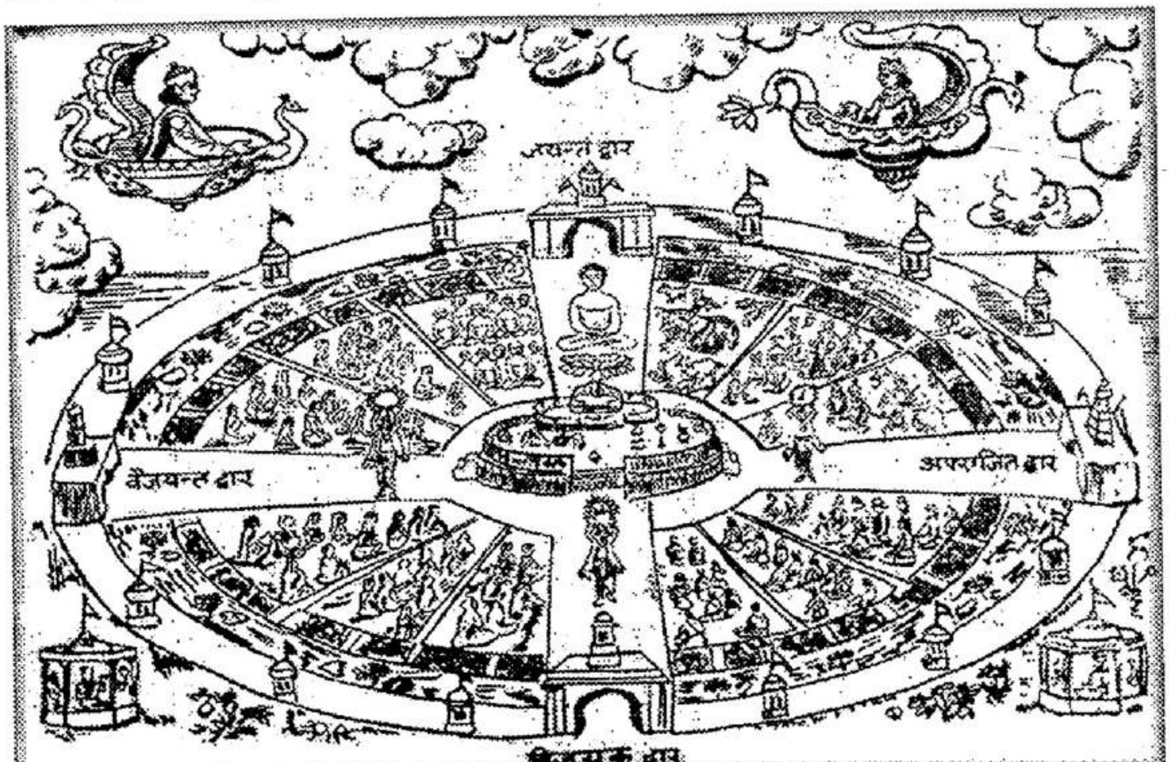

गोत्र : (खिन्नतापूर्वक निराश स्वर में) ओह! जब हमारे शस्त्रास्त्र ही चेतनराज के गले का हार बनते जा रहे हैं तो अब हम किससे आशा करें?....... हा दुर्दैव!....... कैसे दुर्दिन देखने पड़ रहे हैं। अब तो यह जीवन ही भार स्वरूप प्रतीत होने लगा है।......: (सेनानायक आयु से) बंधुवर आप ही कोई उपाय करें। निराशा और हीनता का परिताप अब और नहीं सहा जाता।

नाम : (सेनानायक गोत्र से) बहुत अधीर हो रहे हो बंधु ! मत भूलो कि हम त्रिभुवनपति महाराज मोहराज के सेनानायक हैं। ऐसी दीनता हमें शोभा नहीं देती। अभी भी जब तक बंधुवर सेनानायक आयु कुमार जीवित हैं, हम करोड़ों वर्षों तक भी चेतनराज को मुक्तिपुरी पहुँचने से रोक सकते हैं।

गोत्र : (व्यंग से) ताकि हमें वर्षों तक चेतनराज की सेवा का सुअवसर और प्राप्त हो जाये?

वेदनीय : (समझाते हुए) परस्पर विवाद में उलझने से क्या लाभ? हमारे लिए तो.......।

(तभी नैपथ्य से "चैतन्य मूर्ति भगवान चेतनराज की जय" का जयघोष सुनाई पड़ता है। जय जयकार का यह स्वर क्षण-प्रतिक्षण तेज होता जाता है। चारों सेनानायक घबराते हुए, मंच से गिरते-पड़ते भाग जाते हैं। तभी पार्श्व में अरिहन्त दशा का छायाचित्र दिखाई पड़ रहा है। "ओम" की ओंकार ध्वनि सुनाई पड़ती है। शनैः शनैः ओंकार ध्वनि का स्वर तेज होता जाता है। बार-बार "ओम-ओम" की मंगल-ध्वनि सुनाई दे रही है।....... पार्श्व भाग में समवशरण-सभा का दृश्य दृष्टिगोचर होता है।....... ओंकार ध्वनि अविराम चल रही है।)

- पटाक्षेप -

सातवाँ-दृश्य

[सेनानायक वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र सैनिक वेशभूषा में सयोगकेवलीपुर के उपवन में। सभी घबराए हुए, चिन्तित एवं क्षीणकाय दृष्टिगोचर हो रहे हैं। सभी के मुख मंडल मलिन हैं, वस्त्राभूषण अस्त-व्यस्त हैं।]

गोत्र : (आर्त्त स्वर में) ओह ! अब तो कैवल्य-चक्र का प्रखर ताप हमारे लिए असह्य होता जा रहा है। समूची देह ही झुलस गई है। मुख-मंडल मलिन पड़ गए हैं। शक्ति भी क्षण-प्रतिक्षण क्षीण और क्षीणतर होती जा रही है।

आयु : (शोकातुर होते हुए) ठीक कहा आपने बंधुवर ! हम पूर्णतः असहाय हो चुके हैं। इस दयनीय दशा से छुटकारे का तो अब एक ही उपाय शेष रह गया है,....... मृत्यु का आलिंगन।

वेदनीय : (निराश स्वर में) किन्तु वह भी तो हमारी इच्छानुसार संभव नहीं।

गोत्र : (हताश होकर)....... तो अब क्या किया जाए?

(कुछ समय तक सन्नाटा छाया रहता है....... तभी नैपथ्य में "ओम"....... "ओम"....... "ओम" की ओंकार ध्वनि सुनाई पड़ती है।)

गोत्र : (सेनानायक नाम से) बंधुवर....... सुना आपने !....... कैवल्य चक्र के आलोक से जगमगाती समवशरण-सभा में खिरती इस निरक्षरी ओंकार ध्वनि को?....... उसमें मोहकुल के समूल नाश और मुक्तिपुरी पहुँचने का "उपाय" ध्वनित हो रहा है।....... ('उपाय' शब्द पर विशेष बल देता है।)

आयु : और इसी से यह निरक्षरी वाणी लोक में "**दिव्य-ध्वनि**" के नाम से प्रसिद्धि पा रही है।

नाम : (आर्त्त स्वर में) ओह ! अब तो मैं भी हताश हो चुका बन्धुओ !....... कैसी विडम्बना है।....... (रुँधे कंठ से) यह ओंकार-ध्वनि....... हमारा ही उपक्रम....... और हमारे ही सर्वनाश

का मार्ग प्रशस्त करे।... हा दुर्दैव !... अब तो हृदय में एक ही कामना है... मृत्यु... केवल मृत्यु।

(इसी समय नैपथ्य में चीत्कार भरा हाहाकार सुनाई पड़ता है।)

वेदनीय : सुनो-सुनो, ऐसा प्रतीत होता है कि चेतनराज ने सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति जाति के ध्यानाग्नि शरों से हमारे अवशेष योद्धाओं की असंख्य भाग प्रमाण शक्ति नष्ट कर दी है।....... और....... अरे ! (आश्चर्य मिश्रित भय से)....... यह क्या हो रहा है.......?

(सभी ऐसा अनुभव करते हैं मानो वे किसी अदृश्य शक्ति से खिंचे चले जा रहे हों।)

आयु : (घबराए स्वर में) हम....... हम बरबस कहाँ खिंचे चले जा रहे हैं....... लगता है कि अब हमारा काल सन्निकट ही है।

(अनायास ही चारों सेनानायक दर्द से कराहने लगते हैं) ओह....... ओह ! आह....... हाय ! कहते और लड़खड़ाते हुए एक ओर को चले जाते हैं। तभी मंच का दूसरा परदा उठता है जहाँ अयोगकेवलीपुर का सुरम्य उद्यान दृष्टिगोचर हो रहा है। तत्क्षण ही नैपथ्य से सामूहिक हाहाकार और भारी आर्त्तनाद सुनाई पड़ता है। इसी समय पार्श्व-ध्वनि सुनाई देती है।)

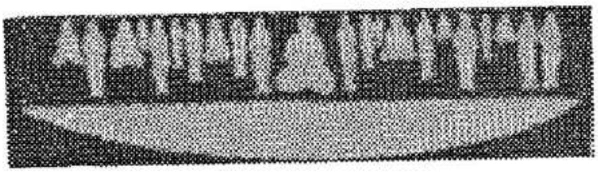

"अयोगकेवलीपुर पहुँचते ही चेतनराज अठारह हजार प्रकार के शील एवं ८४ लाख उत्तर गुण-रत्नों से विभूषित हो गये। उन्होंने व्युपरतक्रियानिवर्त्ति शुक्लध्यान से योग निरोध किया और त्रिगुप्ति के बल पर मोहराज के अवशेष चारों सेनानायकों सहित उपान्त समय में प्रथम ७२ और अन्त में १३ ऐसे उनके ८५ योद्धाओं को ससैन्य काल कवलित कर दिया। सेनानायक वेदनीय, गोत्र, नाम और आयु के निःशेष होने पर चेतनराज क्रमशः अव्याबाधत्व, अगुरु-लघुत्व, अवगाहनत्व और सूक्ष्मत्व इन चार विशिष्ट गुणों के स्वामी हो गए। दूसरे ही क्षण वे मुक्तिपुरी पहुँचे, जहाँ चिरकाल से प्रतीक्षारत मुक्ति सुन्दरी ने वरमाला पहिनाकर उनका हृदय से वरण किया और वे "सिद्ध" पद में प्रतिष्ठित हुए।

इस प्रकार चेतनराज ने सम्पूर्ण मोहवंश को निर्मूल करके त्रिलोक अभिनंदनीय मोक्ष पद प्राप्त किया और त्रिकाल वंदनीय सिद्ध परात्मा बने।"

(तभी मंच के पार्श्व में सिद्धालय का छायाचित्र दृष्टिगोचर होता है। सिद्ध शिला पर सिद्ध परमात्मा विराजमान हैं और निरन्तर "ओम नमः सिद्धेभ्यः"....... "ओम नमः सिद्धेभ्यः"....... की मंगल-ध्वनि सुनाई पड़ती है।.......)

- पटाक्षेप -

समाप्त

(इस नाटक के लेखक पण्डित हरकचन्दजी बिलाला हैं – आभार)

भरत-बाहुबली

पात्र-परिचय

भरत	:	अयोध्या के अधिपति
बाहुबली	:	पोदनपुर के अधिपति एवं भरत के भाई
दक्षिणांक	:	भरत के प्रधानमंत्री
बासन्तक एवं मागध	:	भरत के सलाहकार मंत्री
गुणबसंत एवं कलकंठ	:	बाहुबली के सलाहकार मंत्री
कुटिलनायक एवं षट्नायक	:	भरत के प्रशंसक
अन्य	:	द्वारपाल, प्रतिहारी, विद्याधर एवं चर

(प्रथम दृश्य)

स्थान : पोदनपुर का निकटवर्ती प्रदेश।

(महाराज भरत का दरबार। षट्खण्डाधिपति महाराज भरत राजसी वस्त्रों में सुशोभित सिंहासन पर विराजमान हैं। सामने अमात्यगण बैठे हैं।)

भरत : अब इन विजयोत्सवों से मैं थक गया हूँ, अमात्य ! हृदय विश्राम चाहता है।

बासन्तक : विश्राम ! जीवन में विश्राम ही कहाँ है सम्राट ! संघर्ष तो क्षत्रिय का सहोदर है। इसका जन्म ही उसके साथ होता है, फिर अभी तो स्वयं चक्ररत्न भी विश्राम नहीं चाहता। विजय का जो व्रत लेकर हम निकले हैं, उसे तो पूरा करके ही लौटना चाहिए। अभी महाराज बाहुबली भी तो नमस्कार करने नहीं पधारे, इसी से तो चक्ररत्न रुक गया है।

भरत : विजय का व्रत ! अरे ! वह हिंसा का ही तो दूसरा नाम है, पारस्परिक कलह से बचने के लिए पिता सभी सहोदरों में राज्य का जो विभाजन कर गए थे। आज मैं उससे संतुष्ट न होकर सहोदरों के मुँह का ग्रास भी झपटने के लिए तैयार हूँ। क्या सीमा है इस पाप की? हाँ ! अब मैं समझ गया कि विश्व में क्रांति का सूत्रपात क्यों होता है?

मागध : षट्खण्डाधिपति सम्राट भरत के विरुद्ध क्रांति करने की सामर्थ्य आज किसमें है महाराज !

भरत : क्रांति की सामर्थ्य ! मेरा हृदय स्वयं मेरे विरुद्ध क्रांति कर रहा है अमात्य ! पिता के

द्वारा कोमल कली की तरह पाले गए प्यारे सहोदर आज मेरी ही राज्य लिपसा से संत्रस्त होकर वन चले गये हैं। मेरा यह वज्र हृदय फटकर अर्जित पाप उनके चरणों में क्यों नहीं बिखेर देता ?

दक्षिणांक : महाराज ! क्षुब्ध न होइये। आत्म-विद्या में आप पारंगत हैं। अपने अनन्त गुणों के गहरे सागर में डुबकियाँ लगाते-लगाते आप उस अवस्था में पहुँच गये हैं। जहाँ विश्व की विभूति धूल-सी भासित होने लगती है, किन्तु स्वामिन् ! षट्खण्ड के बिखरे हुये शासन का सूत्र अपने हाथ में लेकर व्यवस्था स्थापित करना भी तो चक्री का ही कर्त्तव्य होता है। चक्ररत्न का बाहुबली की सीमा में आकर रुक जाना इसी बात का प्रमाण है।

भरत : किन्तु अमात्यवर ! बाहुबली मुझे अर्ककीर्ति से भी अधिक प्रिय है। यदि मेरा संदेश पाकर वह भी अन्य सहोदरों की भाँति दीक्षा के लिये निकल पड़े, तो क्या मैं छोटी माँ के समक्ष अपना कलंकित मुँह दिखा सकूँगा ?

दक्षिणांक : महाराज ! आप चिंता न कीजिये। मैं स्वयं इस कार्य को सम्पन्न करने का संकल्प करता हूँ और मुझे विश्वास है कि मैं शीघ्र ही महाराज बाहुबली को यहाँ लाने में समर्थ हो सकूँगा, आप निश्चिन्त रहें।

भरत : दक्षिणांक ! मेरा हृदय साक्षी नहीं देता। बाहुबली को मैं बाल्य से ही जानता हूँ। उसका हठ इस चक्र के हठ से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

दक्षिणांक : महाराज ! आपके चरणों के प्रसाद से मैं अब तक विषमतम राजनीतिक कुचक्रों में पड़कर भी असफल नहीं हुआ हूँ। फिर यह कार्य तो इतना कठिन नहीं है। स्नेह-सिक्त सहोदरों के हृदय का मिलन ! भला बताइये यह क्या बड़ा काम है।

भरत : किन्तु अमात्य ! मुझे अपने इस संदेश में अभिमान एवं भाई के अपमान की गंध आती है।

दक्षिणांक : महाराज ! बड़े भाई के संदेश में छोटे भाई के अपमान की गंध ! बहुत गहरे उतर गये हैं सम्राट? ये दो सहोदरों के कोमल हृदय हैं सम्राट ! जिनका मिलन इतना सरल है,

जितना गीली मिट्टी के टूटे हुये खिलौने को फिर से जोड़ देना। यह नदी के दो किनारे नहीं हैं, जिनका जीवन में कभी सम्मिलन नहीं होता।

भरत : दक्षिणांक ! तुम अत्यंत प्रवीण हो, तुम्हारे वाक्-चातुर्य की मैं कहाँ तक प्रशंसा करूँ। मुझे तुम पर विश्वास है, जाओ। (दक्षिणांक नमस्कार करके जाता है।)

भरत : अमात्य-वृन्द ! आज बहुत समय हो गया है, अब आप विश्राम करें।

(सब चले जाते हैं।) **पटाक्षेप**

(द्वितीय दृश्य)

स्थान : पोदनपुर का राजप्रासाद।

(महाराज बाहुबली अपने मंत्रणागृह में एकाकी बैठे किसी विचार में मग्न हैं। प्रसाद के तोरणद्वार पर द्वारपाल खड़ा है, सहसा एक अपरिचित का प्रवेश।)

द्वारपाल : कौन हो तुम? कहाँ बढ़े जा रहे हो ?

अपरिचित : मैं महाराज बाहुबली का चरण-चंचरीक विश्वासपात्र चर हूँ।

द्वारपाल : तुम महाराज के चरण-चंचरीक कबसे बने ? महाराज का अति-पुराना, अति-प्रिय और अति विश्वासपात्र चर तो मैं हूँ, मैंने तो तुम्हें आज ही देखा है। एक अपरिचित को प्रवेश की आज्ञा नहीं मिल सकती। यह महाराज की गुप्त-मंत्रणा का समय है। तुम नहीं जा सकते।

अपरिचित : मुझे महाराज को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचना देनी है। वह सूचना महाराज को अविलम्ब मिलनी चाहिए, अन्यथा भारी अनिष्ट की सम्भावना है।

द्वारपाल : इन बातों में कुछ नहीं रखा। तुम मुझे फुसलाकर भीतर नहीं जा सकते।

अपरिचित : भाई ! सच मानो, मैं महाराज का चर हूँ। मुझे इस समय महाराज से मिलना ही चाहिये, अन्यथा भारी अनिष्ट होगा, जिसका फल तुम्हें और हमें भी भोगना पड़ेगा। यदि प्रमाण चाहते हो तो यह लो (अंगूठी देता है)।

द्वारपाल : अच्छा जाओ।

(अपरिचित प्रासाद में प्रवेश कर महाराज बाहुबली के सन्मुख पहुँचता है।)

चर : महाराज की जय हो ! एक अत्यंत आवश्यक कार्यवश मुझे यहाँ आना पड़ा है।

बाहुबली : बैठो सुमेरु ! कहो, क्या कहना चाहते हो ?

चर : आपके ज्येष्ठ भ्राता महाराज भरत सेना सहित नगर के बाहर विश्राम कर रहे हैं, आज मैं वेश बदलकर घूमते-घूमते उधर जा निकला, तो महाराज भरत के दो सैनिक गुप्त चर्चा कर रहे थे कि उनका एक अत्यंत विश्वस्त और वाग्विदग्ध अमात्य आपकी सेवा में आ रहा है। वह आपको भरत के पास ले जाने का इसलिए भरसक प्रयास करेगा कि आप जाकर उन्हें नमस्कार करें, क्योंकि आपके नमस्कार के बिना चक्र-रत्न आगे नहीं बढ़ सकता।

बाहुबली : सुमेरु ! मैं तुम्हारी कर्त्तव्य-निष्ठा पर बहुत प्रसन्न हूँ। यह समाचार देकर तुमने राज्य की बड़ी भारी सेवा की है। तुम्हारी यह सेवा अवश्य पुरस्कृत होगी, जाओ ! (प्रस्थान)

(दो चरों का प्रवेश)

दोनों : महाराज की जय हो !

बाहुबली : बोलो, राज्य के क्या समाचार हैं ?

प्रथम चर : महाराज ! सम्पूर्ण राज्य में शांति है। प्रजाजन ही क्या, पक्षी भी अपने कल-कण्ठों से सुमधुर कलरव करते हुए गगन में स्वच्छंद विचरण करते हैं।

द्वितीय चर : हर ओर आपकी सुचारु शासन-व्यवस्था के ही गीत गाये जाते हैं। राज्य के प्रत्येक विभाग से प्रजाजन संतुष्ट हैं। सभी पदाधिकारी प्रजा के सुख-दुःख का पूर्ण ध्यान रखते हैं।

बाहुबली : अन्न-वस्त्र की कोई कमी तो नहीं है?

प्रथम चर : नहीं महाराज ! अन्न और वस्त्र से प्रजाजन पूर्ण सन्तुष्ट हैं।

बाहुबली : कहीं कोई हिंसक विधान देखने में आया ?

द्वितीय चर : नहीं महाराज ! सम्पूर्ण प्रजा इतनी सात्विक तथा धर्मनिष्ठ है कि सर्वत्र तात्विक चर्चा ही सुनने में आती है।

बाहुबली : उत्कोच की कोई शिकायत ?

प्रथम चर : उत्कोच ! यह तो शासन व्यवस्था का पहला दोष है। महाराज ! जिस राज्य में उत्कोच स्वीकार करने वाले राक्षस होते हैं, उनका पतन अवश्यम्भावी है।

बाहुबली : तुमने कोई अन्य वार्ता भी सुनी है ?

द्वितीय चर : नहीं महाराज ! सर्वत्र सुख और शांति के संवाद ही सुनाई पड़ते हैं।

बाहुबली : अच्छा तुम दोनों जा सकते हो। (प्रस्थान)

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल : महाराज की जय हो, महाराज ! भरत के अमात्य एक संदेश लेकर पधारे हैं।

बाहुबली : कौन? महाराज भरत के अमात्य? अच्छा आने दो।

(द्वारपाल का प्रस्थान, भरत के अमात्य दक्षिणांक का प्रवेश)

दक्षिणांक : महाराज की जय हो ! महाराज, मैं भरत का मांगलिक संदेश लेकर उपस्थित हुआ हूँ।

बाहुबली : आओ दक्षिणांक ! बड़े दिनों में आये, क्या कभी तुम्हें हमारी याद भी नहीं आती? कहो, क्या आज्ञा है महाराज भरत की?

दक्षिणांक : स्वामी ! महाराज भरत षट्खण्ड को विजय करके अयोध्या की ओर लौट रहे हैं, मार्ग में सेना सहित पूज्य पिताजी एवं मातुश्री के दर्शन कर नेत्र तृप्त किये। अब आपसे मिलने के लिये स्नेह की सरिता उमड़ रही है।

बाहुबली : भाई ! तुम्हारे स्वामी की हम पर बड़ी अनुकम्पा है।

दक्षिणांक : महाराज ! महाराज भरत अत्यंत उदार हैं। सम्पूर्ण सेना का आग्रह भी वे नहीं टाल सके। हम लोगों ने महाराज से प्रार्थना की, कि जब महाराज बाहुबली अयोध्या पधारेंगे, तब हमें आप दोनों भ्राताओं का सम्मिलन देखने का सुयोग्य कैसे प्राप्त होगा? राजमहल में आपकी स्नेहसिक्त वार्ता को हम अभागे क्यों कर सुन सकेंगे? चक्रवर्ती और कामदेव का अनूठा सम्मिलन देखने के अभिलाषी ये नेत्र तड़फते ही रह जायेंगे।

बाहुबली : हाँ दक्षिणांक ! ठीक कहते हो। **कमल-पत्र पर पड़ी हुई पानी की बूँदें मोती की शोभा को धारण कर लेती हैं।** सेना महाराज भरत की है, अतः अवश्य ही अनूठे मानवीय गुणों से अलंकृत होनी चाहिये। लेकिन दक्षिणांक ! मैं इस समय अत्यधिक व्यस्त हूँ, कुछ समय उपरान्त अयोध्या जाकर पूज्य मातुश्री एवं पूज्य सहोदर के दर्शन करूँगा।

दक्षिणांक : महाराज ! सम्पूर्ण सेना की अभिलाषा वर्षा के अभाव में नवांकुर की भाँति मुरझा जायेगी। आप दोनों भ्राताओं का विनोद हम किंकरों ने अब तक नहीं देखा है। आपकी अस्वीकृति से हम सभी की कोमल भावनाओं पर वज्रपात होगा।

बाहुबली : ठीक है, किन्तु इस समय अवकाश नहीं मिल सकेगा।

दक्षिणांक : महाराज ! सेवकों की इच्छा है, उसका निर्वाह करना स्वामी पर ही निर्भर

होता है। अयोध्या पधारने के लिये तो अधिक अवकाश की आवश्यकता है महाराज ! हमारी अभिलाषा तो थोड़े से अवकाश से ही पूरी हो जायेगी। महाराज भरत पोदनपुर के निकट ही विश्राम कर रहे हैं।

बाहुबली : हाँ ! हाँ ! ! विश्राम स्थल तो अत्यंत निकट है, किन्तु शासन का भार इस समय इतना बढ़ गया है कि अब सम्पूर्ण नगर निद्रा की गोद में विश्राम करता है, तब मैं रात्रि की विभूति के रक्षक की भाँति उसके अनन्त तारों की गणना करता हूँ।

दक्षिणांक : नहीं स्वामी ! मेरी सम्पूर्ण आशा व विश्वास पर पानी न उड़ेलिये। मैं महाराज भरत को मुँह नहीं दिखा सकूँगा। अपने बड़े भाई के दर्शन करना भी जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्य का ही एक अंग है।

बाहुबली : दक्षिणांक ! तुम अपने कार्य की सिद्धि में अत्यंत निपुण हो। राजनीतिज्ञ भरत का अमात्य राजनीतिज्ञ ही होना चाहिये। तुम अपनी वार्ता में जिस बात को अब तक छिपाते रहे हो, उसके रहस्य का उद्‌घाटन मेरे समक्ष तुम्हारे आगमन से पूर्व ही हो चुका है। क्या तुम्हें इसका पता है ?

दक्षिणांक : महाराज ! दो सहोदर, जिन्होंने समान रूप से माता-पिता का स्नेह-सलिल लूटकर अपने मानस सरोवर में संग्रहित किया हो, उनके सम्मिलन में भी कोई रहस्य हो सकता है ? यह बात मेरे लिए ही नहीं संसार के बड़े-बड़े नीतिज्ञों के लिये भी नयी प्रतीत होगी।

बाहुबली : जहाँ तक माता-पिता के दुलार का सम्बन्ध है, यह बात उतनी ही पुरानी है जितनी यह सृष्टि। किन्तु चतुर दक्षिणांक जहाँ वैभव के त्याग की बात है, यह बात उतनी ही नयी है, जितनी एक नवदम्पति की अतृप्त-वासना।

दक्षिणांक : महाराज ! आपके अपार, अगाध बुद्धि-सागर को मेरे सदृश्य क्षुद्र जन्तु कैसे तिर सकता है? किन्तु स्वामी ! हमारी सूखी हुई भावना-लतायें आपके सम्मिलिन से लहलहाने लगेंगी, हमारा तृषा-संतृप्त हृदय-पक्षी चहकने लगेगा और एक सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि छोटे भाई के द्वारा बड़े भाई की मर्यादा की रक्षा की जो आदर्श परम्परा चली आ रही है, उसकी रक्षा हो सकेगी।

बाहुबली : छोटे भाई के द्वारा बड़े भाई की मर्यादा की रक्षा ? यह कैसी अनहोनी बात कर रहे हो दक्षिणांक? फिर इस समय क्या वे हमारे बड़े भाई हैं ? सेना के सामने एक किंकर की भाँति मुझे बुलाने वाले वे मेरे स्वामी हैं या बड़े भाई? तुम मुझे बच्चों की तरह फुसलाने का प्रयत्न कर रहे हो।

दक्षिणांक : आप यह क्या कह रहे हैं, महाराज ! चक्रवर्ती की हार्दिक इच्छा यहाँ रुकने की तनिक भी नहीं थी; किन्तु आपके सदृश कामदेव के दर्शन करने की हमारी उत्कृष्ट अभिलाषा को वे न टाल सके। महाराज ! क्या आप हमें अपनी दया का पात्र नहीं बनायेंगे? क्या यह हमारे पाप की पराकाष्ठा नहीं होगी ?

बाहुबली : मेरी दया की भिक्षा लेकर पुण्यवान बनने का दंभ करने वाले दक्षिण ? पाप की परिभाषा अपने हृदय से पूछो। मेरे स्वतन्त्र राज्य की सीमा में आकर चक्र सहसा रुक गया है कि मुझे भी अन्य शक्तिहीन राजाओं की भाँति पराधीन बनाया जाये। इसलिए तो नगर के बाहर भरत ने सेना सहित पड़ाव डाला है। तुम अपने चातुर्य के बल पर मेरे प्रवंचन का प्रयास कर रहे हो। क्या बोलो, इसकी सत्यता में सन्देह है ?

दक्षिणांक : इसकी सत्यता में सन्देह उपस्थित करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है, किन्तु चक्ररत्न को भी दो सहोदरों का अनूठा सम्मिलन देखने की इच्छा हुई है। सम्राट ने उसे ताड़ना दी, बलपूर्वक आगे बढ़ाने का प्रयास किया, किन्तु सभी अपमानों को वह महालोभी की भाँति पीकर बैठा है।

बाहुबली : दक्षिणांक ! मेरा हृदय तुम्हारे कौटिल्य का दर्पण है, इसे भूलकर तुम मेरे समक्ष अपनी प्रतिष्ठा एवं मर्यादा की हानि कर रहे हो। क्या तुमने अपना सारा जीवन राजनीतिक कुचक्रों में नष्ट कर दिया है ?

दक्षिणांक : यह राजनीतिक कुचक्र नहीं महाराज ! राजनीतिक कुचक्रों का सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है, हृदय से नहीं। यह हम लोगों के हृदय की सच्ची अभिलाषा है, राजनीतिक कुचाल नहीं। सम्राट की उदारता से जितना मैं परिचित हूँ, उतना शायद संसार का कोई व्यक्ति नहीं। वे अनेक बार अपना आधा राज्य आपको अर्पित करने की इच्छा मुझे प्रगट कर चुके हैं।

बाहुबली : पिता के द्वारा जितना राज्य मुझे सहर्ष दिया गया है, मैं उससे सन्तुष्ट हूँ। राज्य का प्रलोभन देकर किसी के स्वाभिमान को खरीद लेने का व्यापार करने वाले दक्षिणांक ! मेरे हृदय को परखने की चेष्टा करो, तुम्हारे हृदय की अभिलाषाओं में कितनी सच्चाई है? क्या इसका उत्तर स्वयं तुम्हारा हृदय भी दे सकेगा?

दक्षिणांक : महाराज ! सम्राट भरत के सहोदर को उत्तर देना इस अकिंचन की क्षमता नहीं है। मैं तो चरणों में मस्तक रख कर विनम्र विनती करता हूँ।

बाहुबली : गुणों के आगे मेरा हृदय स्वयमेव झुक जाता है दक्षिण ! किन्तु मुझे बलपूर्वक

अपने चरणों में झुकाने का तुम्हारे स्वामी का सपना असत्य सिद्ध होगा। श्रेष्ठ माता के सपूत को एक किंकर की भाँति बुलावा देना क्या उसका तिरस्कार नहीं है?

दक्षिणांक : महाराज ! हमारे स्वामी अपने मन्त्रियों को साधारण व्यक्तियों के पास नहीं भेजा करते, इसमें स्वयं उनकी प्रतिष्ठा की हानि होती है। महाराज ! मेरे आगमन के समय सम्राट के मन्त्रियों ने आपकी सेवा में अनेक प्रकार की बहुमूल्य भेंटें भेजी हैं।

बाहुबली : तुम्हारे स्वामी तुम्हें साधारण व्यक्तियों के पास नहीं भेजते तो वे तुम्हें असाधारण व्यक्तियों के समीप इसलिए भेजते हैं कि तुम उन पर कुचक्रों का जाल फैलाओ। अनेक भयावह सन्देश भेजकर छोटे भाइयों को तो वनवास दे दिया है, किन्तु मेरी शक्ति का विचार करके तुम्हारे सदृश चतुर अमात्य को मुझे फंसाने के लिये भेजा है। अपनी चाटुकारिता से बाज आओ दक्षिण। मेरी क्रोधाग्नि अधिक प्रज्वलित नहीं करो, बस यहाँ से चले जाओ।

दक्षिणांक : स्वामी ! मैं जा रहा हूँ, मुझे क्षमा कीजिये। (प्रस्थान)

(गुणवसंत एवं कलकंठ का प्रवेश, वे नमस्कार कर बैठ जाते हैं।)

बाहुबली : गुणवसंत ! भरत के अमात्य दक्षिणांक से तुम्हारी भेंट हुई है?

गुणवसंत : महाराज ! उनकी आँखों से अविरल अश्रुपात हो रहा है, गला रुंध गया है। अतः उनसे वार्तालाप न हो सका।

बाहुबली : वह चक्रवर्ती भरत का सन्देश लेकर हमारे समीप आया था कि मैं जाकर नमस्कार करूँ, क्योंकि वे मुझसे बड़े हैं। क्या नमस्कार उचित है, कलकंठ,

कलकंठ : महाराज ! विनय एवं सम्मान के अनुरोध से तो छोटे भ्राता का बड़े भाई को नमस्कार सर्वथा उचित ही है, किन्तु जहाँ तक राजनीति का सम्बन्ध है, यह नमस्कार हमें उसके सिद्धान्तों से गिरा देगा।

बाहुबली : मैंने स्वयं अस्वीकार कर दिया है।

गुणवसंत : ठीक है, कलकंठ ! जाओ और दक्षिणांक को पुनः बुलाकर लाओ। (प्रस्थान)

बाहुबली : (गुणवसंत से) सम्राट को सन्देश भेज दिया जाये कि वे अपनी सेना सहित तैयार रहें।

गुणवसंत : राजनीति तो यही है महाराज ! यह लोकनीति नहीं कि मनुष्य हर किसी के समक्ष विनय से झुक जाये।

(कलकंठ एवं दक्षिणांक का प्रवेश)

बाहुबली : (दक्षिणांक से) दक्षिण ! सुनो, मैं समझ गया हूँ कि तुम्हारे स्वामी हम पर आक्रमण किये बिना न रहेंगे, किन्तु युद्ध यहाँ नहीं, युद्ध वहीं होगा जहाँ तुम्हारी सेना ने पड़ाव डाल रखा है। तुम्हारे स्वामी को षट्खण्ड जीतने का अभिमान है, उसका प्रदर्शन वे इस कामदेव के सामने करना चाहते हैं। जाकर कह दो, कि इसका निणर्य रणक्षेत्र में होगा। वे अपनी सेनायें सुसज्जित रखें।

दक्षिणांक : जो आज्ञा महाराज ! (दक्षिणांक का नमस्कार करके प्रस्थान) **(पटाक्षेप)**

(तृतीय दृश्य)

(महाराज भरत का दरबार। दो अमात्य सामने बैठे हैं।)

भरत : बासन्तक ! बाहुबली की ओर से क्या समाचार है?

बासन्तक : सम्राट ! महाराज बाहुबली के हठ एवं अभिमान से आप और हम सब परिचित हैं। आपके सन्देश की निर्मल धारा उनके पाषाण हृदय पर उसी तरह नहीं टिक सकेगी, जैसे तपते तवे पर जल की बूँदें।

भरत : तो दक्षिणांक अभी नहीं आये?

मागध : नहीं महाराज ! आ ही रहे होंगे।

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल : महाराज की जय हो ! अमात्यवर दक्षिणांक पधार रहे हैं।

भरत : जाओ, आने दो।

(द्वारपाल का प्रस्थान, दक्षिणांक का प्रवेश। वह अत्यंत उदास, नतमस्तक, झुककर नमस्कार करता है।)

दक्षिणांक : महाराज ! मैं आपके समक्ष मुँह दिखाने योग्य नहीं हूँ, आपके चरणों में जो संकल्प लेकर मैं पोदनपुर गया था, वह पूर्ण नहीं हो सका है। धिक्कार है उस सेवक को जो स्वामी के कार्य की सिद्धि के बिना ही लौट आया है।

भरत : दक्षिण ! इसमें क्षोभ की कोई बात नहीं है। कार्य की सिद्धि पर हमारा कोई अधिकार नहीं है, किन्तु उसकी सिद्धि के लिए भरसक प्रयत्न करना हमारा अधिकार और कर्त्तव्य है। क्या बाहुबली को अनुकूल बनाने में तुम्हारे प्रयत्न में कोई कमी रही?

दक्षिणांक : सम्राट ! उनको अनुकूल बनाने में मैंने कोई कसर नहीं उठा रखी। स्वामी मैंने अतिविनयपूर्वक राजनीति, धर्मनीति एवं लोकनीति से हर प्रकार उन्हें यहाँ लाने का प्रयत्न किया। आपमें और उनमें कोई भेद न रखकर भक्ति की पराकाष्ठा कर दी। जिन लोगों ने मेरी वार्ता सुनी, सबके हृदय मोम की भाँति पिघलकर पानी हो गये, किन्तु महाराज बाहुबली के पाषाण हृदय को समझाने में मैं सर्वथा असमर्थ रहा। मेरी सफलता के इतिहास में यह बात कलंक बनकर मेरे हृदय में काँटे की भाँति कसक उत्पन्न करती रहेगी।

भरत : इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है दक्षिण। बाहुबली के हठ एवं अभिमान से मैं अच्छी तरह से परिचित हूँ, आज वह बड़े भाई को नमस्कार करने में अपना अपमान समझने लगा है। एक छोटे से राज्य का ऐसा अभिमान ! धिक्कार है उसकी बुद्धि की जड़ता को। और भी कोई समाचार है ?

दक्षिणांक : महाराज ! एक बार गहरी ताड़ना देकर उन्होंने मुझे लौटा दिया, पश्चात् पुनः कलकंठ को बुलाने के लिये भेजा। मैं पुनः उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। बाहुबली कहने लगे कि "मैं समझ गया हूँ कि तुम्हारे स्वामी हम पर आक्रमण किये बिना न रहेंगे, किन्तु उन्हें यहाँ आने की आवश्यकता नहीं है। मैं स्वयं आकर उनसे मिलूँगा। उन्हें षट्खण्ड जीतने का अभिमान है। उनसे कह देना इसका निर्णय रणक्षेत्र में होगा, अपनी सेनायें सुसज्जित रखें। इतना कहकर उन्होंने अपने मन्त्रियों को आज्ञा दी कि भरत का कोई भी व्यक्ति मेरे नगर की सीमा में पैर न रखने पावे।"

भरत : मैं उसके अभिमान को एक क्षण में मिट्टी के खिलौनों की भाँति टूक-टूक कर दूँगा। वह समझता है कि उसका शरीर मुझसे अधिक ऊँचा है, किन्तु मैं एक ही अंगुली में उसे चक्र की भाँति घुमा दूँगा। किन्तु, मुझे विचार आता है दक्षिण ! छोटे भाई पर शक्ति का प्रदर्शन धर्मनीति के कहाँ तक अनुकूल है? क्या संसार की दृष्टि में मेरा यह कार्य उचित होगा? सोचता हूँ, यदि भाई के स्थान पर कोई दूसरा होता, तो केवल अपने भृकुटि विक्षेप से उसे यमलोक पहुँचा देता, किन्तु सहोदर के हृदय को इस तरह से त्रस्त करना कहाँ तक उचित होगा? वह नादान है तो क्या मैं भी अपने विवेक का परित्याग कर दूँ ? अमात्य वृन्द ! आप लोग चिन्ता न कीजिये, मैं किसी भी प्रकार से उसे जीत लूँगा। दक्षिण ! उठो और अपना यह पुरस्कार स्वीकार करो। (पुरस्कार देते हैं।)

दक्षिणांक : (खड़ा होकर नमस्कार करता है और कहता है) सम्राट ! मैं इसके सर्वथा अयोग्य हूँ, मेरा हृदय साक्षी नहीं देता।

भरत : नहीं दक्षिण ! इसे मेरा आग्रह समझकर स्वीकार करो। कुछ अन्यथा विचार मत करो और सम्पूर्ण चिन्ता और विषाद से मुक्त होकर विश्राम करो। (दोनों मन्त्रियों की ओर झुककर) अमात्यवर ! अब हम लोग विश्राम करें। चलिये। (सबका प्रस्थान) **(पटाक्षेप)**

(चतुर्थ दृश्य)

(दो विद्याधर रात्रि को शयन कक्ष में विश्राम कर रहे हैं। अचानक दोनों की नींद खुल जाती है और अर्द्धरात्रि को दोनों वार्तालाप प्रारम्भ करते हैं।)

प्रथम : भाई ! करवट बदलते-बदलते आधी रात हो गई। आज तो नींद ही नहीं आती।

द्वितीय : भाई ! मेरा भी यही हाल है। सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ है। वृक्ष का एक पत्ता भी नहीं हिलता।

प्रथम : भरत की सारी सेना तरंग रहित समुद्र की भाँति निद्रादेवी की गोद में विश्राम कर रही है। पक्षी अपने घोंसलों में सोये हुये हैं, केवल हम दोनों रात्रि के प्रहरी की भाँति जाग रहे हैं।

द्वितीय : अरे नहीं ! नहीं ! ! तुम मेरी बात समझते ही नहीं। तुम तो उसे यों उड़ा देते हो जैसे एक तिनके को भीषण आँधी।

प्रथम : अच्छा भाई ! कुछ कहो तो या यूँ ही भूमिका बाँधते रहोगे।

द्वितीय : अच्छा सुनो ! एक-एक बूँद मिलकर बड़ा भारी सागर बनता है, एक-एक तार मिलकर मोटी रस्सी बन जाती है।

प्रथम : और एक-एक ईंट मिलकर बड़ा भव्य भवन खड़ा हो जाता है।

द्वितीय : हाँ ठीक, बिल्कुल ठीक। इसी प्रकार चक्रवर्ती की महिमा बढ़ी है। सेना न हो तो कोई चक्रवर्ती की बात भी न पूछे।

प्रथम : हाँ भाई ! मैं समझ गया कि यह दुनियाँ वास्तव में कितनी पागल है। लड़ती सेना है और कहती है राजा लड़ रहा है। जीत सेना की होती है और कहती है राजा जीता।

द्वितीय : वाह, भाई वाह ! मैं तो समझता था कि तुम भी गोबर-गणेश ही हो, पर तुम तो बड़े बुद्धिमान निकले। अब मेरी बात सुनो – हाथी, घोड़ा आदि सेनाओं का संग्रह करके चक्रवर्ती दुनियाँ के सामने बड़े शक्तिशाली बन बैठे हैं, पर सेना न हो तो वे भी हमारी ही तरह साधारण से मनुष्य ही तो हैं। क्या अन्तर है उनमें और हम में ?

प्रथम : कुछ अन्तर नहीं भाई ! पर दुनिया तो दोगली होती है, चींटा तो उधर ही ज़ाता है, जिधर गुड़ होता है। तुम और हम भी तो विद्याधर हैं, अपनी शक्ति कौन चक्रवर्ती से कम है।

द्वितीय : बस ठीक है, बिल्कुल ठीक ! अब तुम पूरी तरह समझ गये हो। अच्छा तो अब रात्रि बहुत हो गयी, थोड़ी झपकी ले लें।

प्रथम : अरे ! झपकी लेने चले, पर यह बात अगर चक्रवर्ती ने सुन ली होगी तो ?

द्वितीय : अरे कुछ नहीं सुना, चक्रवर्ती अपने महल में सो रहे हैं, यहाँ कहाँ अपनी बात सुनने आ गये। जैसे हमारे कान हैं, वैसे उनके भी कान हैं। तुम तो पाँव पसार कर बेफिक्री से सो जाओ। (दोनों ओढ़कर सो जाते हैं।)

(पटाक्षेप)

(पंचम दृश्य)

(भरत का दरबार – महाराज भरत राजसिंहासन पर राजसी वस्त्रों से सुशोभित बैठे हैं, मंत्री, मित्र, प्रजाजन आदि भी यथास्थान पर बैठे हैं।)

बासन्तक : महाराज ! आपने हमें आदेश दिया था कि बाहुबली के सम्बन्ध में किसी प्रकार की चिन्ता न करना। सो हम तो चिन्तामुक्त हो गये हैं, किन्तु आप ही बहुत चिन्ताग्रस्त प्रतीत हो रहे हैं।

भरत : अमात्यवर ! मुझे बाहुबली की तनिक भी चिन्ता नहीं है, किन्तु आज रात को निद्रा में कनिष्ठा अंगुली की नस अकड़ गयी है। अतः अंगुली सीधी ही नहीं होती।

मागध : महाराज ! संसार में अधिकांश लोगों के शरीर और व्यवहार में वक्रता होती है, किन्तु आपके तो शरीर और व्यवहार में किसी भी प्रकार की वक्रता नहीं है। यह अंगुली को टेड़ापन हमें आश्चर्य में डाल रहा है।

बासन्तक : महाराज ! हम आपका कष्ट दूर करने के लिए प्राणों की भी चिन्ता नहीं करते। ऐसे स्वामी की सेवा के लिये अपने-अपने प्राणों को न्योछावर कर देना भी जीवन की सफलता है। जरा अंगुली तो बताइये सम्राट !

(मन्त्री हाथ लगाकर देखता है, अन्य मन्त्री, मित्रादि एकत्रित हो जाते हैं और सम्राट की अंगुली को हाथ लगाकर देखते हैं, सम्राट अत्यधिक वेदना की चेष्टा करते हैं। मन्त्री बासन्तक दूसरे मन्त्री मागध को आज्ञा देते हैं।)

बासन्तक : मागध ! जाओ और सम्राट के अंग वैद्य व सभी राजवैद्यों को बुलाकर लाओ।

(मागध जाता है और अंगवैद्यों व राजवैद्यों को बुलाकर लाता है और सम्राट की अंगुली पर औषधि का प्रयोग करते हैं, सम्राट उसी वेदना का अभिनय करते हैं।)

भरत : वैद्यवृन्द ! आपकी औषधि कभी किसी रोग पर असफल नहीं होती, किसी चतुर धनुर्धर की भाँति रोग आपका निशाना बन जाता है, किन्तु मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा है कि इस छोटे से रोग पर ये बड़ी-बड़ी औषधियों के प्रयोग भी क्यों असफल हो रहे हैं और मेरे अंगवैद्य! आज तुम्हें भी क्या हो गया है? (सभी नतमस्तक हो जाते हैं।)

अमात्यवृन्द ! अब यों काम न चलेगा, सभी मन्त्रवादी एवं पहलवानों को बुला लाओ।

(बासन्तक मागध को आज्ञा देते हैं।)

बासन्तक : मागध ! जाओ और सभी मन्त्रवादी और पहलवानों को बुलाकर लाओ।

(मागध जाता है, कुछ समय में मन्त्रवादी और पहलवानों को बुलाकर लाता है।)

भरत : (मन्त्रवादियों से) आप लोगों की प्रबल मन्त्र-शक्तियों की मैंने बड़ी प्रशंसा सुनी है। अब आप मन्त्रों के प्रयोग इस छोटी अंगुली पर आरम्भ कीजिये। (पहलवानों से) और मेरे शक्तिशाली पहलवानो ! तुम्हारे प्रबल मुष्ठि-प्रहार से मदोन्मत्त हाथियों के मद भी गल जाते हैं, तो इस छोटी-सी अंगुली को सीधा करना तो तुम जैसे शक्तिशाली लोगों के लिए क्या कठिन काम है? आओ और अपनी सम्पूर्ण शक्ति से इसे सीधा करो।

(पहलवान आते हैं और अंगुली पर बल प्रयोग करते हैं, पर अंगुली सीधी नहीं होती तथा सम्राट वही तीव्र वेदना का अभिनय करते हैं।)

भरत : मन्त्रीवर ! यों काम न चलेगा। तुम एक मोटी लोहे की सांकल तैयार कराओ। मैं अंगुली को उससे बाँध दूँगा और फिर समस्त सेना एवं प्रजाजन बलपूर्वक सांकल को खींचे, फिर देखता हूँ, यह छोटी-सी अंगुली कैसे सीधी नहीं होती है?

(बासन्तक विश्वकर्मा को सांकल लाने का आदेश देता है।)

बासन्तक : विश्वकर्मा। जाओ और सांकल लाओ।

(विश्वकर्मा जाकर सांकल लाते हैं, भरत सांकल से अंगुली बाँध लेते हैं, फिर सारी सेना एवं प्रजाजन को खींचने का आदेश देते हैं, पर अंगुली सीधी नहीं होती।)

भरत : नहीं, यह तरीका ठीक नहीं है। एक काम और करें, मैं सांकल को अपनी ओर खींचता हूँ और आप सब अपनी ओर खींचें, तब तो अंगुली अवश्य ही सीधी हो जायेगी।

(सांकल को अपनी और खींचते हुये) हाँ ! खींचो ! अरे ! तुम सब का बल कहाँ चला गया? अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर खींचो। (सभी खींचते हैं तथा सबके मुँह से बल प्रयोग की ध्वनि निकलती है, भरत अंगुली को एक बार स्वाभाविक रूप से अपनी ओर खींचते हैं और सभी लोग मुँह के बल गिर पड़ते हैं, भरत हँस देते हैं।)

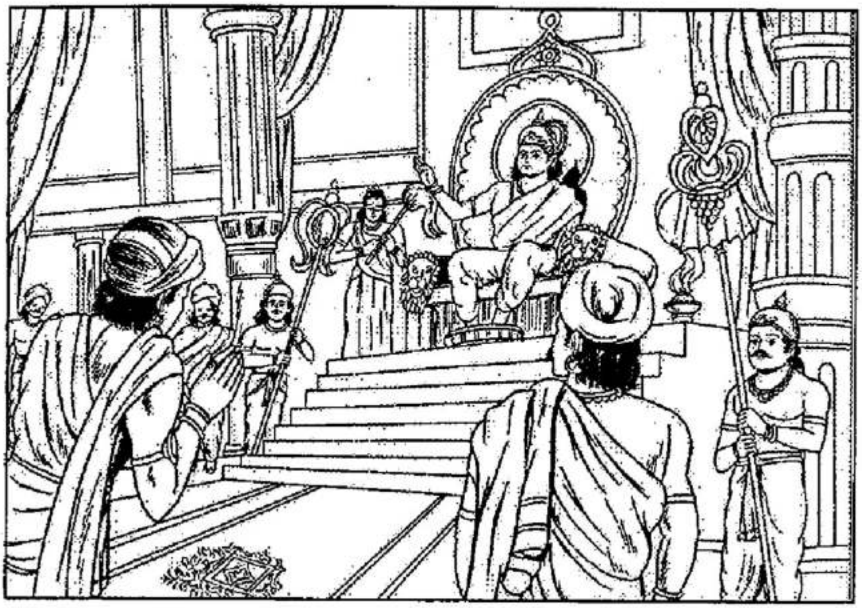

बासन्तक : महाराज ! यह कोई छोटी-मोटी व्याधि नहीं है, यह हम जैसे शक्तिहीन लोगों की बात नहीं है; अब आप ही इसे सीधा कीजिए। दूसरों से यह रोग दूर नहीं होगा। (भरत सांकल से अंगुली निकाल कर सीधी कर लेते हैं। लोग आश्चर्य में डूब जाते हैं। सभी सम्राट भरत का जयघोष करते हैं।)

बासन्तक : सम्राट ! आपके पराक्रम के आगे आज हम सबका गर्व इस प्रकार चूर हो गया है, जैसे चक्की के दो पाटों के बीच में अनाज पिस जाता है। कृपा करके यह बताइये कि यह लीला करने का अवसर आज क्यों उपस्थित हुआ है?

भरत : मन्त्रीवर ! क्या इसका कारण स्पष्ट होना चाहिए? इससे क्या लाभ होगा?

बासन्तक : महाराज ! सम्पूर्ण सेना एवं प्रजाजनों की उत्कण्ठा बढ़ रही है, कृपा करके उनकी उत्कण्ठा शांत कीजिये। (दो विद्याधरों का प्रवेश)

दोनों : चक्रवर्ती सम्राट भरत की जय हो।

भरत : प्रिय विद्याधरो ! आओ, कहो आज यहाँ कैसे आना हुआ?

विद्याधर : सम्राट ! हमारे अपराध क्षमा कीजिये।

भरत : अपराध ! तुमने क्या अपराध किया है भाई?

विद्याधर : महाराज ! आपके अतुल पराक्रम का परिज्ञान न होने के कारण हमसे आपकी बड़ी अवज्ञा हुई है। हमें क्षमा कर दीजिये सम्राट !

भरत : तो कल रात्रि के तीसरे पहर उत्तर दिशा की ओर तुम्हीं सारी दुनियाँ को पागल बना रहे थे कि शक्ति तो सेना की ही होती है और दुनियाँ कहती है कि राजा बड़ा शक्तिशाली है। क्या यह तुम्हीं ने कहा था कि सेना न हो तो कोई चक्रवर्ती की बात भी न पूछे।

विद्याधर : हाँ सम्राट ! हमने घोर अपराध किया है, हमें क्षमा कर दीजिये।

भरत : तुम्हें ऐसा अविवेकपूर्ण कार्य नहीं करना चाहिये था। **सेना राजा का एक शस्त्र अवश्य होती है, किन्तु उस शस्त्र के संचालन की क्षमता राजा में ही होती है। यदि राजा में पराक्रम न हो तो थोड़े ही समय में शासन-सूत्र ढीला होकर राज्य में अराजकता फैल जाती है।**

विद्याधर : यह बिल्कुल सत्य है महाराज ! सामान्य राजा ही इतना पराक्रमी होता है फिर चक्रवर्ती की तो बात ही क्या? चक्री तो असाधारण मानव होते हैं। आज आपकी कनिष्ठा अंगुली के कौतूहल प्रदर्शन की चर्चा सुनकर मनुष्य ही क्या देव भी चकित हो रहे हैं।

(प्रतिहारी का प्रवेश !)

प्रतिहारी : महाराज की जय हो ! राजमाता अंगुलि की चर्चा सुनकर अत्यन्त विह्वल हो रही हैं। शीघ्र पधारकर उन्हें सान्त्वना प्रदान कीजिये।

भरत : ठीक है, जाओ, हम आ रहे हैं। अच्छा, अब मैं मातुश्री के शीघ्र दर्शन करना चाहता हूँ। आप सब अपने-अपने स्थान पर पधारकर विश्राम करें। (सबका प्रस्थान)

(पटाक्षेप)

(षष्टम दृश्य)

(भरत दरबार में मन्त्री एवं मित्रों के साथ बैठे हैं।)

भरत : बाहुबली को अपने बल का कितना अभिमान हो गया है, माता एवं रानियाँ समझा-समझा कर थक गयीं, किन्तु वह कब मानने चला है ? क्या विवेक भी रूठ गया उससे ?

बासन्तक : सम्राट ! **अभिमान और विवेक में अग्नि और ईंधन जैसी शत्रुता है। भला जिसका पतन अवश्यम्भावी हो वह अभिमान के शिखर पर न चढ़ेगा तो नीचे गिरेगा कैसे?**

(एक चर का प्रवेश)

चर : महाराज की जय हो ! महाराज बाहुबली युद्ध के लिये पधार आये हैं।

भरत : ठीक है, युद्ध के अस्त्रों के विषय में सुना क्या तुमने?

चर : महाराज ! युद्ध कुसुमास्त्रों से नहीं लोहास्त्रों से होगा।

बासन्तक : सम्राट ! युद्ध लोहास्त्रों से होगा, किन्तु चक्रवर्ती और कामदेव का तो युद्ध में बाल भी बाँका नहीं हो सकता, क्योंकि वे चरम शरीरी हैं। असंख्य सेना का वृथा संहार होगा सम्राट ! इस पर विचार होना चाहिये।

भरत : तो तुम्हारी क्या इच्छा है अमात्य?

बासन्तक : महाराज ! यदि सेनाओं में लोहास्त्र से युद्ध होगा तो प्रलयकाल के दृश्य उपस्थित होंगे। युद्ध को धर्म का रूप दे दिया जाये – ऐसी हम सभी की प्रार्थना है।

भरत : ठीक है, लोकादर्श को गिराने वाले इस सहोदर-युद्ध का फल निरपराध सैनिकों को क्यों भोगना पड़े, दोनों ही सहोदर उसे क्यों न भोगें? किन्तु इसका निर्णय मैं नहीं कर सकता, बाहुबली से जाकर पूछो। वे जो भी निर्णय करें, हमें स्वीकार होगा। मागध ! प्रजाजन को लेकर बाहुबली के पास जाओ और शीघ्र ही युद्ध के निर्णय से हमें सूचित करो। (मागध का प्रस्थान)

बासन्तक : महाराज ! सम्पूर्ण सेना एवं प्रजा में युद्ध के समाचार से खलबली मच गयी है। चक्रवर्ती की सेना जिसने कभी यह नहीं जाना कि पराजय क्या होती है, आज युद्ध के नाम से उसे रोमांच हो गया है।

भरत : अमात्य ! सैनिकों का तो युद्ध ही जीवन होता है। इसमें भय की कौन-सी बात है? फिर चक्रवर्ती की सेना को तो पराजय की कल्पना भी नहीं करनी चाहिये।

बासन्तक : पराजय की कल्पना भी तो मानसिक पराजय है सम्राट ! किन्तु भाई-भाई का यह युद्ध न्यायोचित नहीं है महाराज ! भीषण रक्तपात होगा ही, किन्तु सबसे बड़ा दुष्परिणाम तो यह होगा कि लोक में भातृ-स्नेह की पावन परम्परा ही समाप्त हो जायेगी।

(मागध का प्रवेश)

भरत : कहो मागध ! सकुशल लौट आये, क्या निर्णय किया बाहुबली ने?

मागध : स्वामी ! महाराज बाहुबली ने धर्मयुद्ध सहर्ष स्वीकार कर लिया है। प्रथम दृष्टि-युद्ध होगा, दूसरा जल-युद्ध एवं तीसरा मल्ल-युद्ध होगा। (सब चले जाते हैं, मात्र भरत रहते हैं।)

भरत : (स्वगत) सहोदर के साथ धर्म-युद्ध भी कैसे किया जाये। उसके हाथ पैर बाँधकर छोटी माँ के पास क्यों न भेज दूँ? नहीं ! नहीं ! सेना के सामने अपना अपमान देखकर वह घर में नहीं रहेगा, दीक्षा के लिये निकल जायेगा। अन्य सहोदरों की भाँति इसे भी खोना पड़ेगा और भ्रातृ-स्नेह से वंचित होकर मेरा यह जीवन क्या भू पर भार नहीं हो जायेगा ? ओह ! लोग मुझे कुटुम्बद्रोही कहेंगे। नहीं ! नहीं यह अधम कृत्य मुझसे नहीं होगा। हे अन्तरात्मा इसका उपाय आप ही बताओ। (कुछ ठहर कर जैसे किसी की बात सुन रहा हो) अच्छा ! (हंसकर) ऐसी बात है। ठीक है – समझ गया मैं, हे सिद्धान्त ! ऐसी विकट घड़ियों में आप ही मेरे रक्षक रहे हैं।

(मन्त्री मागध का प्रवेश, वह भरत को नमस्कार करता है।)

मागध : महाराज ! बाहुबली युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़े हैं, आपकी प्रतीक्षा की जा रही है।

भरत : अच्छा ! चलो। (उठकर खड़े हो जाते हैं।)

मागध : स्वामी ! महाराज बाहुबली एक मल्ल की भाँति युद्ध के लिए लंगोट लगाकर खड़े हैं और आप इस प्रकार कैसे पधार रहे हैं? महाराज ! आपकी शक्ति अतुल्य है, किन्तु युद्ध में तो पूर्ण सुसज्जित होकर ही जाना चाहिये।

भरत : तुम चिन्ता न करो मागध ! मेरी पराजय नहीं होगी। चलो चलें। (प्रस्थान)

(पटाक्षेप)

(सप्तम दृश्य)

(भरत एवं बाहुबली युद्ध क्षेत्र में युद्ध के लिए दो पर्वतों की भाँति तैयार खड़े हैं। दोनों के मन्त्री, प्रजा एवं सेना आदि आश्चर्य चकित नेत्रों से चक्रवर्ती एवं कामदेव को देख रहे हैं। युद्ध की रणभेरी बज रही है, तभी भरत रणभेरी बन्द करने की आज्ञा देते हैं।)

भरत : अमात्यवर ! रणभेरी बन्द कर दी जाये।

(अमात्य सैनिकों को बन्द करने का आदेश देते हैं।)

भरत : (बाहुबली से) प्रिय सहोदर ! आज तुम्हारे और मेरे बीच युद्ध का यह अवसर क्यों उपस्थित हो रहा है, क्या तुमने इस पर विचार किया है ? भाई ! तुमने तो मेरा कोई अपराध नहीं किया, परन्तु बोलो तो क्या मुझसे कोई अपराध हुआ है? क्या तुमसे कर वसूल करने के लिए मैंने कभी अपने दूतों को तुम्हारे राज्य में भेजा है? क्या मेरे मन्त्री या प्रजाजनों ने कभी तुम्हारा तिरस्कार किया है ?

भाई ! मन में ऐसा विचार न करना कि युद्ध से डर कर मधुर-मधुर बातों से तुम्हारे प्रवंचन

का प्रयास कर रहा हूँ। युद्ध तो करेंगे ही किन्तु युद्ध से पूर्व सम्भावित प्रश्नों के समाधान से तुम्हारा और मेरा हृदय इतना स्वच्छ हो जाना चाहिए कि यह युद्ध वास्तव में सदा के लिए धर्मयुद्ध का आदर्श बन जाये।

बाहुबली : युद्ध का अवसर मैंने उपस्थित नहीं किया, वह तो आपने उपस्थित किया है। पिताश्री के द्वारा जो राज्य मुझे दिया गया है, उसके उपभोग का अधिकार मुझे है। आपने उसे हड़पने का प्रयत्न क्यों किया? यदि नहीं, तो दक्षिणांक जैसे कूठनीतिज्ञ को मेरे पास भेजने में आपका क्या उद्देश्य था?

भरत : भाई ! मैं तुमसे थोड़ा बड़ा हूँ, अतः मैंने तुम्हें अपने पास बुलवाया। यदि तुम मुझसे बड़े होते तो मैं तुम्हारे पास आता। छोटा भाई बड़े भाई के पास जाये तो क्या अनुचित लगता है। भाई ! क्या तुम मेरे शत्रु हो या मैं तुम्हारा शत्रु हूँ, इतना क्रोध किसलिए कर रहे हो?

बाहुबली : अपनी छोटी अंगुली को टेड़ा करने का जो नाटक आपने किया था, उससे आपका उद्देश्य मुझे डराने के अतिरिक्त क्या हो सकता है? मैं युद्ध के लिये कटिबद्ध हूँ, आपके लिए केवल दो ही मार्ग हैं, आगे बढ़कर युद्ध करो या पराजय स्वीकार करो।

भरत : आज दो सहोदरों के युद्ध का तमाशा देखने के लिए यह दुनियाँ खड़ी है। भगवान आदिनाथ के पुत्र आज एक दूसरे के प्राणों के ग्राहक बन रहे हैं। क्या हमारा इक्ष्वाकु कुल हमारे इन कृत्यों से कलंकित न होगा? भाई ! क्या लोग यह न कहेंगे कि आज ये कपूत त्रैलोक्य शिरोमणि भगवान आदिनाथ के पावन कुल को कलंकित करने जा रहे हैं, भ्रातृ-स्नेह की पावन संतति को आज हम भस्मसात कर रहे हैं। यह अपने कुल के लिए ही नहीं, किन्तु विश्व के प्रति क्या हमारा महान अपराध न होगा?

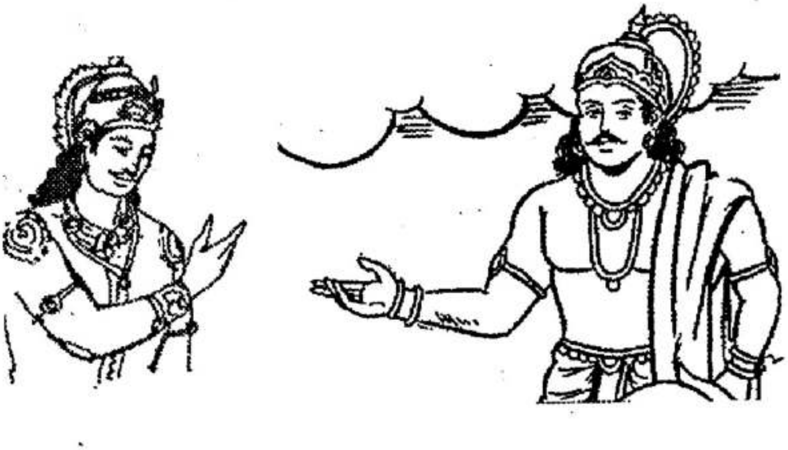

भाई ! मुझे इस चक्ररत्न की तनिक भी अभिलाषा नहीं, यह स्वतः युद्धशाला में उत्पन्न हो गया और इसने मुझे सम्पूर्ण पृथ्वी में भटकाया है। भाई ! तनिक मेरी ओर तो देखो, मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ। लो यह सम्पूर्ण राज्य (सेना

की ओर संकेत कर) तुम सम्भालो। मैं षट्खण्ड की विजय करके आया हूँ, तुम्हीं इसके स्वामी हो। मुझे रहने के लिए छोटा-सा राज्य दे दो, रूठ कर क्यों खड़े हो? (बाहुबली अत्यन्त लज्जित होकर मुँह सीधा कर लेते हैं व नतमस्तक खड़े हो जाते हैं।)

भरत : (चक्र की ओर मुँह करके) - ओ चक्र पिशाच ! अब मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं। तुम्हारे स्वामी अब बाहुबली हैं, इनकी आज्ञा में प्रवर्तन करो। अरे निर्लज्ज ! अपने स्वामी के चरणों में जाकर क्यों नहीं झुकता। (चक्र को ठोकर मारते हैं।)

(बाहुबली की ओर देखते हुए) भाई ! अब शांत हो जाओ। यदि युद्ध की बात सोचें तो तीनों ही युद्धों में तुम्हारी विजय है। तुम मुझसे ऊँचे हो अत: दृष्टि-युद्ध में तो तेरी आँखों को ऊपर देखते-देखते थककर मुझे हारना ही पड़ेगा। जल-युद्ध में भी तुम सरलता से मेरे ऊपर पानी उछाल कर मुझे पराजित कर दोगे और मल्ल-युद्ध में भी तो प्रत्यक्ष ही तुम्हारी विजय निश्चित है। अब मुझे क्षमा कर दो भाई! आज सब लोगों की साक्षी में मैं हारा और तुम्हारी विजय हुई।

बाहुबली : (अत्यन्त विनयपूर्वक भरत की ओर मुँह करके) मुझे जीवन दान देनेवाले आत्मवेत्ता भ्राता ! मैंने आपके ऊपर कांटे बरसाये, किन्तु आपने मुझ नीच पर फूलों की वर्षा की। ओह ! मैं कितना अधम हूँ। यह मस्तिष्क आपके विशाल हृदय सागर को माप नहीं सका, पूज्य ! मुझ अधम को क्षमा कर दीजिए।

भरत : भाई ! दु:खी न होओ, तुमने कोई अपराध नहीं किया।

बाहुबली : नहीं। मेरा हृदय साक्षी नहीं देता। मैंने घोर अपराध किया। यह पाप तो धोना ही पड़ेगा। मेरी एक इच्छा है, पूज्य ! आप उसे स्वीकार कीजिए।

भरत : क्या संकोच हो रहा है भाई ! नि:संकोच कहो।

बाहुबली : मुझे दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान कीजिए, मैं तपोवन जाऊँगा।

भरत : यह एक बात छोड़कर और कोई बात हो तो कहो भाई ! क्या मुझे संसार के कष्ट भोगने के लिए अकेले छोड़ जाना चाहते हो। युद्ध में तुम्हारी पराजय नहीं हुई है, जिससे इतने उदासीन हो गये हो। आज तो प्रसन्नता की बातें करो।

बाहुबली : आप महान हैं, भ्राता ! मेरी पराजय का मेरा हृदय साक्षी है। मेरी निष्ठुरता से

चक्ररत्न भी मेरे समीप न आ सका। मुझे अपने दुष्कृत्यों का प्रायश्चित कर लेने दीजिये।

भरत : नहीं भाई ! मुझे अप्रसन्न करना तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं है, मुझे प्रसन्न करके ही जा सकोगे।

बाहुबली : पूज्य भ्राता ! मैं दीक्षा लेकर मोक्ष मन्दिर में आपकी प्रतीक्षा करूँगा। अब तक आपके संरक्षण में था, अब पिताजी के संरक्षण में कैलाश पर जा रहा हूँ। ओह ! यह संसार कितना क्षणभंगुर है। इस क्षणिक ऐश्वर्य पर मैंने कितना मिथ्या अभिमान किया। अपने स्वरूप को भूलकर बहुत दूर भटक गया हूँ मैं, मुझे अपना दिव्यप्रकाश दो भाई, मैं घोर अन्धकार में ठोकरें खा रहा हूँ। बस मुझे दीक्षा की अनुमति प्रदान कीजिए। मुझे अब सांसारिक सुखों की लालसा नहीं रही।

भरत : नहीं ! तुम और मैं कुछ समय राज्य शासन व्यवस्थित करके दीक्षा लेंगे। मैं तुम्हारे भरोसे हूँ, पर तुम मुझे छोड़कर पहिले ही जा रहे हो। अभी कुमार महाबल भी तो राज्य संभालने योग्य नहीं हुआ है।

बाहुबली : भ्राता ! कुमार महाबल नहीं तो कुमार अर्ककीर्ति तो सर्व प्रकार शासन के योग्य है। यह मेरा राज्य उसे संभला दीजिए, मैं अब इस संसार में नहीं रह सकूँगा। भ्राता ! मुझे आज्ञा दीजिये।

(बाहुबली भरत के चरणों में मस्तक रख देते हैं, भरत के नेत्रों से धाराप्रवाह अश्रुपात हो रहा है।)

भरत : उठो भाई ! मेरा यह निर्बल हृदय तुम्हारा वियोग सहन नहीं कर सकेगा; किन्तु कल्याण के पथ पर जा रहे हो भाई ! जाओ।

(बाहुबली अपने पुत्र महाबल कुमार को भरत के चरणों में झुका देते हैं और आप भरत को नमस्कार कर सबसे क्षमा माँगकर दीक्षा के लिए चले जाते हैं।)

भरत : ओह ! अमात्यवर ! मेरी राज्यलिप्सा के कारण मेरे साथी सहोदरों ने वनवास ले लिया है। क्या अब साधारण लोगों की दृष्टि में यह चक्रवर्ती हीन दृष्टि से नहीं देखा जायेगा ? आज मैं सहोदर के स्नेह से वंचित होकर राजप्रासादों में क्या करूँगा?

बासन्तक : महाराज ! आज आप मानसिक वेदना से बहुत थक चुके हैं। सम्पूर्ण सेना एवं प्रजाजन शोकसागर में डूब रहे हैं। यह संसार की विविधता है महाराज ! मनुष्य जैसी सोचता है वैसा नहीं होता। अब चिन्ता का परित्याग करके प्रासाद में पधारिये।

(सबका प्रस्थान) **(पटाक्षेप)**

(अष्टम दृश्य)

(जंगल में होकर बाहुबली दीक्षा के लिए पधार रहे हैं। वैराग्य में डूब रहे हैं, पीछे से भरत के दो महाभक्त कुटिलनायक एवं शटनायक जाकर उन्हें महा-अपमान भरे शब्द कहते हैं। बाहुबली खड़े-खड़े सुनते हैं।)

कुटिलनायक : हे भाग्य फूटे बाहुबली ! सुनो, हमारे स्वामी षट्खण्ड के विजेता भरत को नमस्कार करके तुम सुख से न रह सके। अब भिक्षा के लिए तो भरत के दरबार में ही आना पड़ेगा। सोने के लिए, खाने के लिए, बैठने, उठने और तपश्चर्या के लिए भरत के राज्य के अतिरिक्त दूसरा स्थान तुम्हें कहाँ है ? राज्य में रहकर सुख भोगना तो तुम्हारे भाग्य में नहीं लिखा। अब भटक-भटक कर टुकड़े माँग-माँग कर खाने का समय आ गया है। भाई से विद्रोह करने का फल इसी जन्म में चखो।

शटनायक : (व्यंग से) पधारो राजन् ! पधारो भीख माँगकर भोजन करो। घास और काँटों से भरे जंगलों में सोओ। अब तुम्हारी दशा बिगड़ने का समय आया है। हमारे स्वामी का तिरस्कार करके कभी सुख से रह नहीं सकते।

बाहुबली : और कहो शटनायक ! क्या इतने से ही मेरी परीक्षा कर चुके ? और मित्र कुटिलनायक ! तुम्हारे यह वचन मेरी वैराग्य की वज्र की दीवार भेद कर मेरे हृदय में प्रविष्ट न हो सके। तुम्हारे ये अग्निबाण मेरे वैराग्य सागर में डूब कर शांत हो गये हैं। और बोलो, क्या कहना चाहते हो ?

कुटिलनायक : कुछ नहीं ! तुम्हारे मान का मर्दन करना था और वह हो गया। भरत की भूमि में ही अब तुम्हें अपनी सारी चर्या करनी पड़ेगी और कोई स्थान नहीं है संसार में तुम्हारे लिए। जाओ। (बाहुबली एक ओर चले जाते हैं कुटिलनायक एवं शटनायक दूसरी ओर।)

(पटाक्षेप)

(नवम दृश्य)

(विपिन तपोवन में बाहुबली तपस्या कर रहे हैं। एक वर्ष हो गया है, पैरों के ऊपर मिट्टी को मोटी तहें जम गई हैं, जिनमें सर्पों ने बांबिया बना ली हैं। सम्पूर्ण शरीर पर वन लतायें छा गई हैं। फिर भी तपश्चर्या में रत हैं, मानों पत्थर की प्रतिमा खड़ी हो, इस समय भरत सम्बोधन के लिए पधारते हैं।

भरत : (दूर से ही) भुजबली योगेश्वराय नमो नमः। (पास जाकर चरणों में मस्तक रख देते हैं और पास ही खड़े होकर विनम्र शब्दों में निवेदन प्रारम्भ करते हैं।) हे योगीराज ! आपके मन में जिस

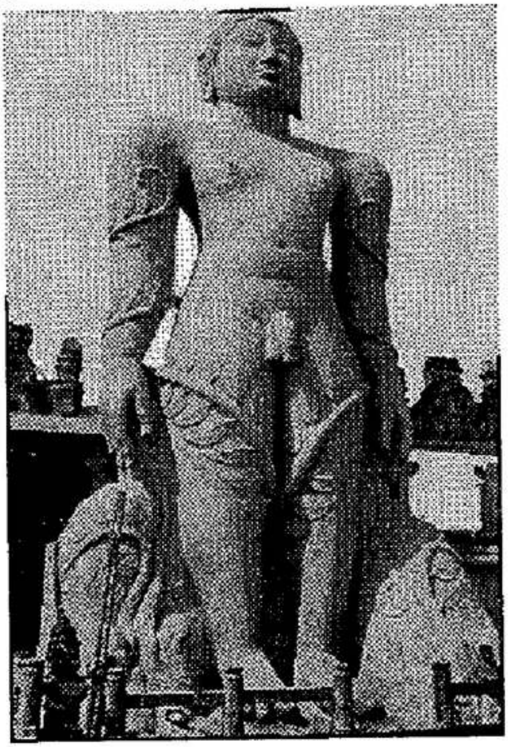

बात का क्षोभ है वह अभी मैं त्रिलोकदर्शी भगवान आदीश्वर से जान कर आया हूँ, किन्तु योगिराज ! कैसी छोटी सी बात में आप अटक गये हो। इस पृथ्वी को आप मेरी समझ रहे हैं, यह कैसी आश्चर्य की बात है। जिस पृथ्वी को अनेक राजाओं ने भोग लिया है, जिस पर अभी मेरा शासन है और भविष्य में किसी अन्य का शासन होगा। ऐसी वेश्या-सदृश इस भूमि को आप मेरी समझ रहे हैं। क्या यह बात आप जैसे ज्ञानसागर के लिए योग्य है ?

गुरुदेव ! विचार कीजिए, इस बात को गुप्त रखने की क्या आवश्यकता है कि जिस समय मैं षट्खण्ड विजय करके वृषभादि पर्वत पर निज-शासन लिखने गया तब मेरा शासन लिखने के लिये मुझे पर्वत पर स्थान न मिला। सारा पर्वत पूर्व चक्रवर्ती राजाओं के शासन लेखों से भरा हुआ था। तब मुझे एक राजा का शासन लेख मिटाकर अपना शासन लेख लिखना पड़ा। इस पृथ्वी पर मेरा ऐसा शासन ! फिर भी आप इस पृथ्वी को मेरी समझ रहे हैं। इस भूमि की तो बात ही क्या स्वर्ग के रत्नमयी विमान और कल्पवृक्षों की विभूतियाँ भी इन्द्रों की नहीं हैं। उन्हें भी वे छोड़नी ही पड़ती हैं, तो इस पृथ्वी के मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? फिर भी आप इस पृथ्वी को मेरी कैसे कह रहे हैं ?

आत्म-शोधक ! फिर विचार कीजिये, जब यह शरीर भी अपना नहीं है, तब दूसरे पदार्थों पर तो हमारा अधिकार ही क्या है ? आप इस पृथ्वी को तृण-तुल्य समझ कर छोड़ आये, किन्तु मैं नहीं छोड़ सका, इसलिए आप मेरे गुरु हुये और मैं छोटा ही रहा, फिर भूमि कैसे रही ? आप तो ज्ञानसागर हैं योगिराज ! आपके समक्ष मुझ तुच्छ प्राणी की गिनती ही क्या ?

(भरत ३-४ मिनिट हाथ जोड़कर एक ओर खड़े रहते हैं, बिजली का प्रकाश कुछ धुंधला कर दिया जाता है, उसी समय देव आकर जय-जयकार करने आते हैं। एकदम बिजली की चकाचौंध पैदा करनेवाला प्रकाश होता है। पुष्पवृष्टि होती है, बाजे बजते हैं, सबको विदित हो जाता है कि भगवान बाहुबली को केवलज्ञान हो गया है। सब विनयपूर्वक खड़े होकर समधुर स्वर में भगवान बाहुबली की स्तुति करते हैं। इधर स्तुति समाप्त होती है, उधर पटाक्षेप होता है।)

इत्यलम्

(इस नाटक के लेखक बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' हैं – आभार)

स्वतन्त्रता : जन्मसिद्ध अधिकार

(जैनदर्शन ने प्रत्येक जीवधारी प्राणी में स्वतन्त्र परमात्मत्व शक्ति को स्वीकार किया है, जिसका पुरुषार्थ पूर्वक प्रकटीकरण किया जा सकता है। अपनी शक्ति से अपरिचित रहकर प्राणी संसरण कर राग-द्वेष हिंसादि विकारों से दु:खी है। यदि वह स्वनिहित शक्ति से एक बार परिचित हो उसकी अपूर्व झांकी पाले तो वह क्रमश: विवेक पूर्वक उसका विकास कर जन्म-मरण के भँवर से छूटकर सदा के लिए बंधनों से मुक्त हो सकता है।

जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर, जिनका जीवन भगवान बनने के पूर्व हमारे वर्तमान जीवन से भी निकृष्टतम था। भस्म से आवेष्टित अंगार की भाँति उन्हें अपने में विद्यमान शक्ति का आभास मिला। उसका आश्रय ले वे सत्पुरुषार्थ कर क्रमश: विशुद्ध, विशुद्धतम अभिव्यक्तियाँ प्रकट करते हुए आत्मसिद्धि का लक्ष्य पूर्ण कर भगवत्ता प्राप्त कर सके। जिनको हम श्रद्धा-भक्ति से आज भी स्मरण करते हैं। प्रस्तुत है अहिंसा के देवता भगवान महावीर के पूर्व जन्म पर आधारित एकांकी–

"स्वतन्त्रता : जन्मसिद्ध अधिकार"

प्रस्तुत है सर्व प्रथम पात्र-परिचय –

पुरुरवा	-	भीलराज
कालिका	-	पुरुरवा की पत्नी
गोमा	-	पुरुरवा का पुत्र
साधु	-	दिगम्बर मनिराज

दृश्य	-	**प्रथम**
समय	-	दिन का तृतीय प्रहर
स्थान	-	वन प्रान्तर का एक भाग

(भीलराज पुरुरवा अपने निवास स्थान पर्वत की एक सुरक्षित गुफा में अपनी पत्नी कालिका तथा गोमा सहित रहता है। पत्नी कालिका गुफा के भीतर कार्यरत है। गुफा के द्वार पर चौरस स्थान में चारपाई बिछी हुई है। पुरुरवा बाहर से आता है। उसकी पीठ पर तूणीर बंधा जिसमें तीर हैं। हाथ में धनुष है। वह आते ही कालिका को आवाज देता है।

पुरुरवा – कालिका !

कालिका – (भीतर से ही) क्या है जी ? आज बहुत शीघ्र आ गये ?

पुरुरवा – कालिका ! तेरे द्वारा पकाये गये भोजन की सुगंध समस्त वनप्रान्तर में उड़ रही है। बस भूख लगी, चला आया।

कालिका – मैं सब समझती हूँ जी ! शिकार नहीं मिला तो आ गये।

पुरुरवा – मैं शिकार के लिये थोड़े ही गया था। जरा बाहर तो आ तू।

कालिका – (बाहर आकर हंसते हुये) शिकार खेलने नहीं गये थे जी ! तो ये तीर तरकश क्यों बांधे हो पीठ पर ?

पुरुरवा – अरे ! मैं भूल ही गया उतारना। तू सब समझती है कालिका !

कालिका – सचमुच कोई शिकार नहीं जी ?

पुरुरवा – (निराश हो) नहीं कालिका ! मुझे शिकार न मिले; ऐसा कभी नहीं हुआ ? पर आज जाने क्यों मुझे खाली लौटना पड़ा।

कालिका – एक दिन शिकार नहीं किया तो इतने उदास क्यों होते हो जी ! चलो भोजन कर लो।

पुरुरवा – तेरी सूरत बड़ी प्यारी है कालिका ! तुझे देखकर मैं सब कुछ भूल जाता हूँ (अपने हाथ में उसका हाथ लेकर) तू इन हाथों से कितना अच्छा भोजन पकाती है। मन करता है तेरे हाथ चूम लूँ। (हथेलियाँ चूम लेता है। कालिका नहीं नहीं कहती रह जाती है।)

कालिका – (कृत्रिम रुठती हुई सी) तुम कैसा करते हो जी ! कोई आ जाये तो ?

पुरुरवा – आ जाये तो क्या हुआ ? तू मेरी पत्नी नहीं है ?

कालिका – (मुस्काते हुये) पत्नी हूँ तो इसका क्या अर्थ है जी ! कोई देख लेगा तो मैं लाज की मारी किसी के सामने कैसे निकलूँगी ? अपना गोमा भी बड़ा हो गया है।

(बालक गोमा खेलता हुआ आ जाता है। कालिका उसे दूर से देखकर)

कालिका – मैंने कहा न था कि कोई आ जायगा। देखो वह गोमा आ गया जी !

पुरुरवा – (पश्चाताप करते हुये) अपराध हुआ कालिका ! क्या करूँ तुझे देखकर मेरा मन वश में नहीं रहता। (गोमा से) क्यों रे कहाँ गया था ! कुछ शिकार करके लाया ?

गोमा – मुझे भय लगता है बापू !

पुरुरवा – भय किस बात का रे ? इस वन के हम स्वामी हैं। तेरा बापू राजा है राजा, समझा ?

गोमा – (भोलेपन से) जंगल के सब पशु भी तुम्हें राजा मानते हैं बापू ?

पुरुरवा – क्यों नहीं, समूचे वन पर हमारा एक छत्र राज्य है। पुरुखों से हमारा स्वामित्व हमें प्राप्त है।

कालिका – चलो रहने दो जी ! पशुओं का राजा सिंह होता है। तुम तो भीलों के राजा हो।

पुरुरवा – क्यों, पशु मेरी प्रजा नहीं ?

कालिका – तुम्हीं बताओ, आज तक किसी पशु ने तुम्हें नमस्कार किया ? और कभी तुमने उन्हें अपनी प्रजा समझकर उनके सुख-दुःख का विचार किया है ?

पुरुरवा – (विचार में पड़ जाता है) ऐसा.....तो कुछ भी नहीं किया कालिका ?....पशु तो पशु हैं। उन्हें सुख-दुःख कैसा ?

कालिका – लो और सुनो, उन्हें सुख-दुःख होता ही नहीं।

गोमा – (भोलेपन से ही) दुःख होता है बापू अपनी बिल्ली का नन्हा बिल्ला मर गया था न बापू ! तब वह दिन रात रोती उसे खोजते फिरती थी।

पुरुरवा – क्या ऐसा बिल्ली ने बतलाया था ?

गोमा – (जोर से हंस पड़ता है) बिल्ली क्या अपने से बोलती है बापू ? जो मुझे बतलायेगी (समझाते हुये) बोनू है न, उसने बतलाया था। तुम भूल गये बापू ! अपनी गाय का बछड़ा जब तालाब में डूब गया था, तब गाय भी कूद पड़ी थी। (ऐसा कहता हुआ भाग जाता है)

कालिका – अपने सेवक भीलों ने बड़ी कठिनता से गाय को बचा पाया था, नहीं तो वह मर जाती। सचमुच वह दुर्घटना टल गई। अपना गोमा भूलता नहीं है।.....कुछ भी कहो गोमा के बापू ! पशु तुम्हें अपना नरेश स्वीकार नहीं करते। न तुम ही उन्हें अपनी प्रजा मानते हो।

पुरुरवा – मैं क्यों नहीं मानूँगा ? मुझे अपनी वन सम्पदा पर गर्व है। क्या पशुकुल उसमें नहीं आता ?

कालिका – बातें न बनाओजी ! प्रजा को कोई मारता नहीं। तुम तो उनका शिकार करते हो।

पुरुरवा – शिकार नहीं करें तो खायेंगे क्या ? तू तो चाहती है कि मैं कायर बनकर पुरखों के नाम पर कलंक लगाऊँ ?

कालिका – सत्य कह रहे हो तुम, पर क्या करूँ ? कभी-कभी तुम्हारे शिकार की मरते-मरते चीख सुनाई पड़ती है, तब न जाने मेरा मन कैसा होने लगता है। (कंठभर आता है, आँखें सजल हो उठती हैं।)

पुरुरवा – (प्यार भरी चपत लगाते हुये) पागल ! रोने लगी।

कालिका – मुझे अपने नन्हें की स्मृति हो आती है। वह कैसा रोता था जी ! मरते समय। तुमसे हाथ पसार-पसार कर बोलता था न । बापू ! मुझे बचालो। पर हम नहीं बचा सके और वह हमारे देखते-देखते चल बसा था जी !

पुरुरवा – चुप हो जा कालिका ! चुप हो जा, कब तक रोयेगी उसके लिये।

कालिका – तभी से तो मुझसे शिकार हुये पशु की चीख सुनी नहीं जाती।

पुरुरवा – तेरा हृदय बड़ा कोमल है कालिका !

गोमा – (प्रवेश कर) बापू ! बापू !

पुरुरवा – अभी कहाँ चला गया था रे !

गोमा – अभी एक प्यारे से मृगशावक के साथ खेल रहा था न। बापू ! जब चौकड़ी भरता है न, तो मैं दौड़कर भी उसे पकड़ नहीं पाता।

पुरुरवा – और तुझसे होगा क्या ? इतना बड़ा हो गया, अभी तक शिकार खेलना नहीं आया। न जाने मेरे मरने पर ये राज्य कौन संभालेगा ?

कालिका – ऐसे कुबोल क्यों बोलते हो जी ? गोमा अभी बालक है।

पुरुरवा – पूत के पैर पलने में ही दिखने लगते हैं कालिका ! ये मृगों के साथ खेलता है। मैं तो इस अवस्था में खेलते-खेलते शिकार कर लाता था। तू ही बता इसमें वीरत्व कैसे जागेगा ?

कालिका – मैं नहीं मानती कि शिकार से वीरता आयगी। जब तक कि कोई प्रतिकार करने वाला प्रतिद्वन्द्वी न हो; तब तक वीरता आना असंभव है।

गोमा – (प्रसन्न हो) मृग फिर चला गया। (पुनः चला जाता है)

पुरुरवा – (दुखित हो) फिर चला गया। कौन कहेगा कि गोमा सिंहपुरुष पुरुरवा का है। कालिका ! जब ये तेरे गर्भ में था, तब तू भी बात-बात में डरती थी।

कालिका – (रुठते हुये) मैं तुम्हारे योग्य नहीं तो पीहर चली जाऊँ ? तुम कोई दूसरी रख लेना जी !

पुरुरवा – (मनाते हुये) यह तू कह रही है कालिका। मैंने कभी कुछ तुझसे कहा है री ? तू नहीं जानती चंडी ! मैं तुझे कितना प्यार करता हूँ। जानेगी कैसे ? जो नहीं चाहती मुझे।

कालिका – छिः छिः कैसा बोलते हो जी । (दाँत से जीभ काट ले लेती है) कुल देवता की भांति ही तुम मेरे देवता हो।

(गोमा का दौड़ते हुये प्रवेश)

गोमा – बापू ! आओ। एक बहुत अच्छी चीज बताऊँ।

पुरुरवा – क्या है रे ?

गोमा – यहाँ तो आओ, वह देखो, वृक्ष की छाया में कौन बैठा है ?

पुरुरवा – (ध्यान से देखकर) कहाँ ? मुझे कोई दिखाई नहीं दे रहा !

कालिका – आओ चलो भोजन कर लें। कब से कह रहे हो मुझे भूख लगी है।

पुरुरवा – चल कालिका !

गोमा – ठहर माँ ! देख बापू ! अब दिख रहा है।

पुरुरवा – (विशेष ध्यान से देखकर) हाँ रे दिखा। अब चुपचाप खड़ा है हिरण ! (तूणीर से तीर निकाल कर प्रत्यंचा पर साधता है।)

कालिका – (पुरुरवा को रोकते हुये) तुम कैसे हो जी ! ये वन देवता हैं, हिरण नहीं। क्या उनका शिकार करोगे ? तीर वापिस तूणीर में रखो।

पुरुरवा – यहाँ कहाँ वन देवता ? तुझे भ्रम हुआ है कालिके ! देख मृग की आँखें चमक रही हैं। इस शिकार से आज की क्षतिपूर्ति हो जायगी। मुझे रोक मत।

गोमा – नहीं बापू ! वे बिलकुल अपने जैसे मनुष्य हैं। पर नग्न हैं। अपने जैसी छाल नहीं पहिने हैं।

पुरुरवा – (आश्चर्य पूर्वक) हाँ, तुझे भय नहीं लगा।

गोमा – नहीं बापू ! वे हिलते डुलते तक नहीं है।

कालिका – चलो न जी ! वहाँ तक, देखें कौन है ?

पुरुरवा – चल तेरी इच्छा है तो। परन्तु ठहर, ऐसे नहीं चलूँगा।

(गुफा के भीतर जाकर तुरन्त लौट आता है।)

कालिका – (मुस्कराते हुये) मैं समझी तुम वन देवता को कोई वस्तु भेंट करोगे। इसलिये कुछ लेने भीतर गये हो। पर तुमने तो तूणीर को तीरों से और भर लिया।

पुरुरवा – तू नहीं समझती कालिके ! वीर अपने शस्त्र सर्वदा साथ रखते हैं।

कालिका – तो तुम्हें अपने बाहुओं से अधिक शस्त्र पर विश्वास है ?

पुरुरवा – क्यों नहीं, शस्त्र संचालन वीरों का ही कार्य है। चल गोमा !

(तीनों वृक्ष के समीप जाते हैं। वहाँ तपस्वी साधु ध्यानस्थ हैं। तीनों जाकर उन्हें प्रणाम कर वहीं समीप बैठ जाते हैं। साधु का ध्यान भंग होता है। वे हाथ उठाकर अभयमुद्रा में आशीर्वाद देते हुये स्वस्ति कहते हैं। 'स्वस्ति' शब्द सुनकर तीनों साधु का मुख देखते रह जाते हैं, कुछ समझते नहीं। यह देखकर।)

कालिका – (साधु को देखकर) मैंने कहा न था गोमा के बापू ! कि ये वन देवता हैं जी ! आओ इन्हें प्रणाम करें।

पुरुरवा व कालिका – प्रणाम देवता !

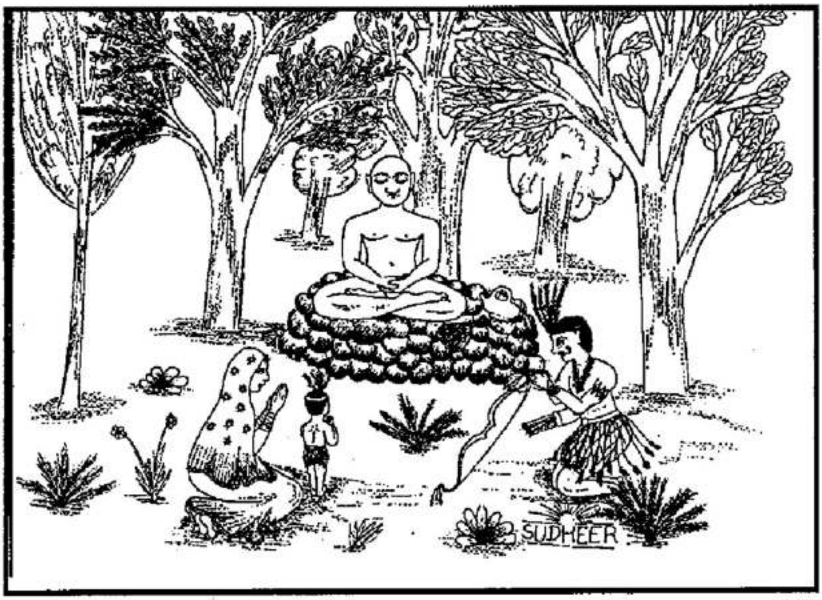

गोमा – (प्रणाम करते देख) प्रणाम देवताजी !

साधु – स्वस्ति-स्वस्ति, तुम सबका कल्याण हो भीलराज !

कालिका – क्यों जी ! कहीं इन्हें तुम्हारा तीर लग जाता तो ?

पुरुरवा – बुरा होता कालिका ! तूने आज मुझे घोर पाप से बचा लिया।

साधु – भीलराज ! तुम प्रतिदिन ही हत्यायें कर जो पाप अर्जन कर रहे हो, उनसे कैसे मुक्त हो सकोगे ?

पुरुरवा – वन देवता ! शिकार करना मेरा वंशानुगत धर्म है। उसमें पाप कैसा ?

साधु – यह तुम्हारा भ्रम है। शिकार करना धर्म नहीं, वासना है। भीलराज ! तुम्हें कभी कोई चोट आई है ?

पुरुरवा – हाँ महाराज ! कठिन सांधातिक चोट थी। बचपन में मैं वृक्ष से गिर गया था।

साधु – तुम्हें कष्ट तो हुआ ही होगा ?

पुरुरवा – कष्ट की कुछ न पूछें देवता ! आँखों से निद्रा ही उड़ गई थी। दिन-रात रोते तड़पते निकल जाते थे।

साधु – तुम्हीं बतलाओ पुरुरवा !....................(नाम सुनकर तीनों चौंक पड़ते हैं।)

साधु – तुम सब चौंक कैसे पड़े ?

पुरुरवा – आप मेरा नाम कैसे जान गये देवता !

साधु – यह असाधारण बात नहीं है भीलराज ! ज्ञान की अचिंत्य शक्ति है कि वह समस्त विश्व को एक बार में ही जान सकता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

कालिका – (हाथ जोड़कर पुनः नमस्कार करती हुई) देवता ! आप अवश्य कोई दिव्य पुरुष हैं।

साधु – दिव्य तो आत्मा है, मानव तो सब समान धर्मवाले हैं। परन्तु वह शुभ कर्मों से श्रेष्ठ और अशुभ कर्मों से निम्न श्रेणी का कहलाने लगता है।..........हाँ तो हम यह जानना चाहते थे पुरुरवा कि तुम्हें चोट से कष्ट की अनुभूति हुई ?

पुरुरवा – हाँ देवता

साधु – तुम तनिक विचार करो कि जब तुम्हारा तीर मूक पशुओं के तन में विंधता है तो उन्हें कष्ट नहीं होता होगा ?

पुरुरवा – होता है देवता ! वे प्राण निकलने तक छटपटाते रहते हैं। दिन के प्रकाश की भाँति इसे झुठलाया नहीं जा सकता।

साधु – और यह भी बतलाओ कि उन्होंने क्या अपराध किया है ? जिसके दण्ड स्वरूप तुम उनके प्राण हरण करते हो।

कालिका – वे बेचारे क्या अपराध करेंगे जी ! दूर से देखकर ही भयभीत हो भागते हैं। हिरण तो इतना भीत रहता है कि तनिक आहट पाते ही घास भी खा रहा हो तो भाग जाता है।

साधु – तुम भी कुछ कहना चाहते हो पुरुरवा !

पुरुरवा – कालिका सत्य कह रही है देवता ! अब मैं क्या कहूँ ?

साधु – पुरुरवा ! स्मरण रखो, जो निरपराधों की हत्या में संलग्न रहता है, दूसरों के द्वारा उनकी

भी हत्या होती है। यह दुर्लभ मानव जन्म अनेक सत्कर्मों का फल है। इसका सदुपयोग करो। स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। स्वतन्त्र बनने का प्रयत्न करो।

पुरुरवा – देवता ! आप अंतर्यामी होते हुये भी क्या यह नहीं जानते कि मैं इस वन खण्ड का एक मात्र शासक हूँ ? यहाँ के निवासी मेरे आधीन हैं ?

साधु – (सहज भाव से हँसते हुये) जानते हैं पुरुरवा ! परन्तु स्वतन्त्र कहाँ ? तनिक सी जिह्वा तुझे अपना दास बनाये हुये है। क्या माँस भक्षणार्थ अपने प्राण हथेली में रखकर तू शिकार नहीं करता ?

कालिका – क्षुधा की ज्वाला तो शान्त करना ही पड़ती है देवता !

साधु – यह मात्र बहाना है। प्रकृति ने विविध प्रकार के फल धान्यादि उत्पन्न किये हैं, उनसे क्षुधा शान्त होती है। क्षुधा-पूर्ति हेतु अपने उदर को श्मशान नहीं बनाया जाता।

कालिका – देवता ! धान्यादि के भक्षण में भी पराधीनता रहेगी; क्योंकि उदर-पूर्ति जीवन का प्रमुख अंग है।

साधु – सामिष भोजन से निरामिष भोजन में पराधीनता कम है। जठराग्नि को केवल आहुति अनिवार्य है। वह शाक, फल, रूखा-सूखा खाकर भी तृप्त हो जाती है। संतोष तो जिह्वा को नहीं होता, जो विविधता की रसिक चटोरी है।

पुरुरवा – यह विचार तो मैंने आज तक किया ही नहीं देवता ! आपका कथन सर्वथा सत्य है।

साधु – मांस खाना मानव अंगों के भी अनुकूल नहीं है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी यह दुष्पाच्य कामोत्तेजक विषैला अनेक रोगों का घर है, जबकि सात्विक शाकाहार सुपाच्य स्वास्थ्यप्रद अनेक गुणवर्धक है।

पुरुरवा – देवता ! हम वनवासी इन बातों को क्या जाने ? शरीर बलिष्ठ बनाने के लिये न चाहते हुये भी माँस खाना ही पड़ेगा।

साधु – यह भी धारणा भ्रामक है। प्रमाण स्वरूप अनेक शाकाहारी पशु माँसाहारी पशु से भी अधिक बलवान पाये जाते हैं। हाथी, घोड़े, बैल आदि इसी श्रेणी में आते हैं। भीलराज ! क्या कभी तुम किसी मृत को जीवित कर सके हो ?

कालिका – क्या कहते हो देवता ! ऐसा कभी हुआ है ?

साधु – विचार करो जब हम किसी को जीवन नहीं दे सकते तो जीवन हरण क्यों करें ?

कालिका – नहीं करना चाहिये। पर एक शंका है देवता ! वृक्ष भी तो क्षुद्र प्राणी हैं। क्या फल आदि तोड़ने में खाने में हिंसा नहीं होगी ?

साधु – तर्क संगत बात है कालिका ! तुम्हारी थाली यदि श्वान झूठी कर दे तो क्या करोगी ?

कालिका – फेकना पड़ेगी, उसे कौन खायगा ?

साधु – और यदि मूषक भोजन में मुँह लगा दे तब ?

कालिका – उतना हिस्सा निकाल देंगे।

साधु – मक्खी बैठ जाये तब ?

कालिका – (हँसते हुये) तब खा लेंगे, कहाँ तक फेकेंगे देवता !

साधु – मक्खी क्या अच्छी होती है ?

कालिका – नहीं, वह तो सदैव सर्वत्र गन्दगी पर ही बैठती है। विष्टा पर भिनभिनाया करती है और उड़कर तुरन्त भोजन पर बैठ जाती है। उसे रोकने का कोई उपाय भी तो नहीं है देवता !

साधु – यह तुम्हारी विवशता है, इसलिये खा लेते हो। इसी प्रकार भूख को शान्त करने के लिये हिंसा जितनी कम हो, उतना ही अच्छा है। जिस हिंसा से बचने का उपाय नहीं, वह विवशता है। उसे रोकने में मानव असमर्थ है।

पुरुरवा – देवता ! हिंसा से बचने का कोई उपाय है ?

साधु – है, हिंसा के लिये हिंसा मत करो। संकल्प पूर्वक हिंसा गृहस्थ को नहीं करना चाहिये। वैसे गृहकार्य, व्यवसाय में या अत्याचारी का विरोध करने में अनजाने अनचाहे हिंसा हो जाती है, किन्तु गृहस्थ हिंसा करने के भाव न कर केवल अपना कार्य सम्पन्न करता है।

पुरुरवा – देवता ! क्या सर्वथा हिंसा नहीं छूट सकती ?

साधु – गृह, धन, सत्ता, अधिकार के साथ देह की भी ममता छूट जाये तो फिर हिंसा को अवकाश नहीं रहेगा।

पुरुरवा – तो क्या मर जाना चाहिये ?

साधु – (स्नेह पूर्ण स्वर में) नहीं पुरुरवा ! मरने की क्या आवश्यकता ? देह में रहकर भी देह हम में न रहे। यथार्थतः संसार का कोई पदार्थ बाधक नहीं, बाधा तो मन की चंचलता है। व्यक्ति पहिले मन में हिंसा करता है, तब वह वचन से एवं शरीर के द्वारा होती है।

पुरुरवा – यह तो अत्यन्त कठिन है देवता ! आपके समान बनना पड़ेगा।

साधु – हाँ पुरुरवा ! निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है। इस समय केवल तुम शिकार का त्याग कर माँस खाना छोड़ दो।

पुरुरवा – (प्रसन्नता पूर्वक) मैं आपकी बात मानूँगा देवता ! हमारा महान सौभाग्य है जो आपके दर्शन हुये।

कालिका – (हर्षित हो पुरुरवा से) तो तुम अब शिकार नहीं करोगे जी ?

पुरुरवा – नहीं कालिका ! मैं कान पकड़ कर देवता के सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब न शिकार करूँगा, न माँस खाऊगाँ। और तू।

कालिका – मैं शिकार तो करती ही नहीं थी। अब माँस भी नहीं खाऊँगी और पकाऊँगी भी नहीं।

गोमा – (अत्यन्त प्रसन्न हो) बापू ! मुझे अब शिकार करना नहीं सीखना पड़ेगा न !

पुरुरवा – नहीं बेटे ! अब तू भी शिकार नहीं करेगा। बोल देवता के समक्ष कि अब शिकार नही करूँगा।

गोमा – देवता ! मैं कभी शिकार नहीं करूँगा।

साधु – साधुवाद पुरुरवा ! तुम्हारे परिवार का भविष्य उज्ज्वल है। तुम्हारी भावना उत्तरोत्तर शुभतम होती हुई शुद्ध हो जायगी। तुम कालान्तर में अंतिम तीर्थकर भगवान महावीर बनोगे। लोक कल्याणार्थ तुम्हारा आचरण आदर्श स्वरूप होगा।

पुरुरवा – तीर्थंकर ! ये क्या होता है देवता !

साधु – व्यक्ति अपनी विशिष्ट भावनाओं से तीर्थंकर पद प्राप्त करते हैं। उसे सांसारिक सर्वोत्कृष्ट सामग्री उपलब्ध होती है; परन्तु उनसे सर्वथा विरक्त हो आत्मविशुद्धि कर परमात्मत्व की सिद्धि करता है। जाओ तुम्हारा कल्याण हो। (तीनों का प्रस्थान)

(पटाक्षेप)

(इस नाटक की लेखिका श्रीमती किरण ज्योति जैन हैं – आभार)

पुरुष पात्र-परिचय

भानुदत्त	:	चारुदत्त के पिता (उज्जैनी के श्रेष्ठी)
रुद्रदत्त	:	चारुदत्त के काका
चारुदत्त	:	कथा नायक (भानुदत्त के पुत्र)
सोमभद्र	:	भानुदत्त का विश्वासपात्र बुजुर्ग सेवक
चक्रधर व शशांक	:	परस्पर-मित्र (विदेशी नवयुवक)
प्रियदत्त	:	भानुदत्त के अनन्य मित्र (श्रीपुर के श्रेष्ठी)
पुण्डरीक	:	चारुदत्त का नया मित्र (प्रियदत्त का पुत्र)

नारी पात्र-परिचय

देवलदेवी	:	चारुदत्त की माँ (भानुदत्त की पत्नी)
सुमित्रादेवी	:	मित्रवती की माँ (देवलदेवी की भाभी और बाद में समधिन)
मित्रवती	:	कथा नायिका (चारुदत्त की पत्नी)
वसंतमाला	:	उज्जैनी की विश्रुत वारांगना
वसंततिलका	:	वसंतमाला की पुत्री (चारुदत्त की प्रेयसी)
मंगला	:	देवलदेवी की दासी
सुनयना	:	वसंततिलका की दासी
शुभा	:	वसंतमाला की दासी

(हरिवंश पुराण में और वसंततिलका में खास दो अन्तर मिलते हैं –

१. हरिवंश पुराण में पात्रों के नाम में पाठान्तर मिलता है। जैसे – देवलदेवी का नाम सुभद्रा, वसंतमाला का नाम कलिंगसेना, वसंततिलका का नाम वसंतसेना, प्रियदत्त का नाम सुरेन्द्रदत्त आदि।

२. हरिवंश पुराण में यह उल्लेख मिलता है कि चारुदत्त को विदेशयात्रा से घर लौटने के बाद घर में सभी परिजनों के साथ वसंततिलका भी मिलती है और वे सभी के साथ कुछ समय गृहस्थ जीवन बिताते हैं तत्पश्चात् दीक्षा धारण कर स्वर्ग प्राप्त करते हैं।

नोट :– यद्यपि हरिवंश पुराण के अनुसार इस कथानक व इसके पात्रों में कहीं-कहीं पाठान्तर दृष्टिगोचर होता है; परन्तु अपने समय की स्वनामधन्य लेखिका श्रीमती किरण जैन ने इस वसंततिलका नाटक में जो नाम एवं कथानक का वर्णन किया है, वह प्रथमानुयोग के प्रयोजन को सिद्ध करने वाला होने से सार्थक एवं सम्यक् है। हो सकता है उनके समय में किसी अन्य ग्रन्थान्तर में यह कथानक मिलता हो, जो आज हमारे लिए उपलब्ध नहीं है। **– सम्पादक)**

वसंततिलका

卐 प्रथम-अंक 卐

प्रथम दृश्य

स्थान : श्रेष्ठी भानुदत्त का महल। श्रेष्ठी पुत्र चारुदत्त का कक्ष।

समय : रात्रि द्वितीय पहर।

(कक्ष सादगी से परिपूर्ण है। एक ओर पलंग पर शय्या बिछी हुई है। दूसरी ओर काष्ठासन पर बैठे हुए चारुदत्त किसी धार्मिक ग्रन्थ का अध्ययन करने में दत्तचित्त हैं। उनकी माता देवलदेवी पुत्र से उनके विवाह के विषय में परामर्श करने आती हैं। मुखाकृति खिली-सी प्रतीत होती है।)

देवलदेवी : (चारुदत्त को पढ़ने में तल्लीन देखकर, स्वतः) जब देखो तब पढ़ता ही रहता है। (विचारमग्न हो)...... इस लड़के को कैसे समझाऊँ। मेरी बुद्धि ही काम नहीं करती। आधी जिन्दगी माँ बनने की साध में बिता दी। तब कहीं जाकर इस लड़के का मुँह देखा। मेरा मन कब से वधु का चन्द्रमुख देखने को तरस रहा है, पर (गहरी साँस लेते हुए) यह है कि ग्रन्थों का कीट बना बैठा है। (चारुदत्त के पास आकर कुछ देर मौनपूर्वक खड़ी रहती हैं। वे अध्ययन में इतने तन्मय रहते हैं कि माँ के आने का उन्हें आभास ही नहीं होता।)

देवलदेवी : चारू ! रात्रि कितनी बीत चुकी है, कुछ इसका भी ध्यान है?

चारुदत्त : (चौंककर) अरे माँ ! आप कब आईं? बैठिए न।

देवलदेवी : मुझे तो नींद आ रही है पुत्र ! सोना चाहूँगी।

चारुदत्त : (विनयपूर्वक) तब यहाँ आने का कष्ट क्यों किया माँ ! विश्राम करतीं।

देवलदेवी : (निराशा के स्वर में) विश्राम ! विश्राम कहाँ हैं मेरे भाग्य में?

चारुदत्त : (ग्रन्थ को बंद कर एक ओर रखते हुए) भला ऐसी भी क्या बात है माँ? बैठ तो जायें आप। (हाथ पकड़कर पास ही बैठा लेते हैं) क्या कोई शारीरिक पीड़ा हो गई है? आप शयन करें। मैं हस्तपाद मर्दन किये देता हूँ या कहिये तो कुशल चिकित्सक को बुला लाऊँ?

देवलदेवी : मानसिक व्यथा इससे सन्तुष्टि न पा सकेगी चारू...(गहरा निःश्वास छोड़ती हैं)।

चारुदत्त : तब फिर आप बतलाने का कष्ट करें कि वह कौन-सी व्यथा है, जो आपके मानस को कुरेद रही है। मैं अवश्य उसे दूर करने का प्रयत्न करूँगा। (माँ को मौन देखकर) मौन क्यों हैं माँ ! क्या कुछ गोपनीय विषय है?

देवलदेवी : गोपनीय तो कुछ भी नहीं।

चारुदत्त : तो क्या मैं अपनी माँ की वेदना जानने का अधिकारी नहीं?

देवलदेवी : वत्स ! जानने के ही नहीं; अपितु उस वेदना का निराकरण एकमात्र तुम्हीं कर सकते हो।

चारुदत्त : तब शीघ्र ही बतलाने की कृपा करें। अवश्यमेव दूर करूँगा।

देवलदेवी : वचन दे रहे हो चारू ! फिर......

चारुदत्त : (बात काटकर) फिर क्या, कुछ संदेह है? आप निःशंक हो कहें। कहने भर की देर हैं माँ !......

देवलदेवी : (क्षणिक ठहरकर) वत्स ! अब मैं अपने आँगन को नूपुर की झंकार से झंकृत होते देखना चाहती हूँ। अकेलापन मुझे काटने को दौड़ता है। कहो, मेरी मनोकामना कब पूर्ण करोगे?

चारुदत्त : (हँसकर) अच्छा यह बात है, आपकी गंभीरता देखकर मैं कोई आकस्मिक विपत्ति का ही अनुमान कर रहा था। 'खोदा पहाड़, निकली चुहिया'।

देवलदेवी : (गंभीरता से) इस तरह हँसी में बात टालने का असफल प्रयास मत करो चारू !

चारुदत्त : कहाँ व्यर्थ की बात ले बैठीं माँ ! ऐसी जल्दी भी क्या है?

देवलदेवी : (कृत्रिम रोष से) जल्दी भी क्या है? अरे जहाँ देखो वहाँ यही चर्चा होती है कि चारुदत्त अभी तक क्वाँरा ही है। मुझे अच्छा नहीं लगता।

चारुदत्त : (हँसते हुए) **लोक चर्चा का विषय कुछ तो होना ही चाहिए।** आप इस पर ध्यान न दिया करें। उपयुक्त समय आने पर ही कार्य होते हैं।

देवलदेवी : तुम बालक नहीं रहे चारू ! तुम्हारे बराबर के लड़के दो-दो बच्चों के बाप हो गये और तुम उपयुक्त समय का बहाना ही कर रहे हो।

चारुदत्त : पर मेरा अध्ययन तो समाप्त होने दें।

देवलदेवी : चारू ! मैंने भी दुनिया देखी है। मुझे अधिक न बनाओ।

चारुदत्त : (गंभीरता से) माँ !

देवलदेवी : (ध्यान न देते हुए) मैं कुछ नहीं सुनना चाहूँगी। **शास्त्रीय अध्ययन न कभी समाप्त हुआ है और न होगा। न ही इससे गार्हस्थ जीवन में बाधा आती है; बल्कि गृहस्थ धर्म तो अध्ययन के परिपक्वपने की कसौटी है।**

चारुदत्त : (बाहर आकाश की ओर देखकर) माँ ! अर्धरात्रि हो रही है। आप निद्रा लें अन्यथा जी भारी लगेगा।

देवलदेवी : सोती तो रोज हूँ, पर आज तुम्हारा अन्तिम निर्णय जानना चाहती हूँ। तुम हो कि बातों में बहलाये जा रहे हो।

चारुदत्त : (मुस्कराकर) विचार का समय तो दो माँ !

देवलदेवी : यह वाक्य तुम्हारे मुँह से बराबर सुनती आ रही हूँ। मुझे इसमें कोई आकर्षण नहीं।

चारुदत्त : प्रतीत होता है आज माताजी मुझसे अत्यन्त रुष्ट हैं। क्या मेरा अनुमान सत्य है माँ ?

देवलदेवी : (गंभीरतापूर्वक) बस-बस बहुत हो चुका चारू ! बचपन की नादानी अब शोभा नहीं देती। तुम्हारे अध्ययन के कारण कई रिश्ते अमान्य कर दिए। परन्तु अब तुम्हारी उदासी मुझे असह्य हो रही है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्।' मित्रवती को तुमने देखा ही है। उसकी शिक्षा व स्वभाव से भी तुम पूर्णतः परिचित हो। मैं उसे अपनी पुत्रवधु के रूप में देखना चाहती हूँ। केवल तुम्हारी सम्मति की अपेक्षा है। कहो, क्या कहते हो? (चारुदत्त मौन हैं) 'मौनं सम्मति लक्षणं' के अनुसार क्या मैं इसे तुम्हारी स्वीकृति समझूँ?

चारुदत्त : (विवश होकर मंद स्वर में) माँ की बात टालकर दुराग्रह करने में मैं असमर्थ हूँ।

देवलदेवी : (विह्वल हो प्रसन्नता से) तूने मेरी बात रख ली वत्स ! मुझे अपार प्रसन्नता हुई। बस, अब कल बंधु सिद्धार्थ के घर जाकर शीघ्रातिशीघ्र इस सम्बन्ध में स्वीकृति प्राप्त करूँगी। अब सो जाओ चारू ! मैं भी शयन करूँगी। (माँ चली जाती है।)

चारुदत्त : (स्वगत) माँ की बात कब तक टालता। आज तो जैसे वे हाँ कहलवाने ही आईं थीं। उनकी गंभीर मुद्रा के आगे कुछ कहने का साहस ही नहीं हुआ। गार्हस्थिक मर्यादाओं का निर्वाह करने में मैं स्वयं को नितांत असमर्थ पाता हूँ। अज्ञात आशंका से मेरा हृदय प्रकंपित सा हुआ जा रहा है। जाने भविष्य में क्या होगा ?

- पटाक्षेप -

द्वितीय-दृश्य

स्थान : श्रेष्ठि सिद्धार्थ का भवन।

समय : दिन का द्वितीय प्रहर।

(सुमित्रादेवी अपने कक्ष में बैठी हैं। कक्ष सजा हुआ है। प्राकृतिक दृश्यों के मनोरम चित्र दीवार पर अंकित हैं। एक ओर आसंदियाँ रखी हुई हैं। दूसरी ओर जमीन पर सुखासन बिछा हुआ है। फर्श पर बिछा रंगीन कालीन कमरे की सुन्दरता को द्विगुणित कर रहा है। सुमित्रादेवी भोजन से निवृत हो मुखवास आदि खा रहीं हैं। रजत पानदान एक ओर रखकर वे आराम करना ही चाहती हैं कि इतने में उनकी ननद देवलदेवी आ जाती हैं। सुमित्रा उठकर उनका स्वागत करती हैं।)

सुमित्रादेवी : (हँसकर) आइये ननदजी ! बहुत दिनों में आने का कष्ट किया। (हाथ पकड़कर बैठाती हैं) कहिये सब कुशल मंगल है। आज बहुत दिनों में दर्शन हो रहे हैं।

देवलदेवी : (मुस्कराकर) ऐसा तो कहोगी ही। स्वयं तो आती नहीं, बल्कि मुझे ताने देती हो।

सुमित्रादेवी : आप मेरा अभिप्राय नहीं समझीं।

देवलदेवी : समझा दो न !

सुमित्रादेवी : सरल सी बात है कि ननदोई जी से आज्ञा प्राप्त की होगी, तब ही ननद जी आ सकीं हैं।

देवलदेवी : तुम भाभी बड़ी वैसी हो। सीधी बात करना जैसे तुम जानती ही नहीं।

सुमित्रादेवी : (विनोदपूर्वक) मैं क्यों जानने लगी। यह कला तो ननदोई जी जानते हैं।

देवलदेवी : (हँसते हुए) चुप भी रहो। मुझे ऐसी बातें अच्छी नहीं लगतीं।

सुमित्रादेवी : क्यों वृद्धावस्था आ गई है क्या?

देवलदेवी : अरे मैंने सोचा, भाभी को तो आने का अवकाश मिलता ही नहीं। अतः कुशलक्षेम पूछने स्वयं ही चली आई। तुम्हें कष्ट न देकर अच्छा ही किया न?

सुमित्रादेवी : सो तो है ही। बड़ी हो न ! सारी बातों का ध्यान आप ही को रखना पड़ेगा।

देवलदेवी : अच्छाजी, तो यह बात है? (विनोदपूर्वक) ननद-भावज में छोटे-बड़े का प्रश्न नहीं उठता, समझीं?

सुमित्रादेवी : समझने का प्रयत्न करूँगी। (हँसती हैं)

देवलदेवी : मित्रवती कहाँ है भाभी? बहुत दिनों से उसे देखा नहीं।

सुमित्रादेवी : उसकी सहेली वसुमती का फलदान जो है, वहीं निमंत्रण में गई है। पर्याप्त समय हो चुका है अतः आती ही होगी।

देवलदेवी : भाभी ! मित्रवती का विवाह कब करोगी?

सुमित्रादेवी : जब आपकी अनुमति हो।

देवलदेवी : हूँ...... ह..... तुमने तो मेरे पैर मेरे ही गले में फँसा दिए। मुझे ब्याह के मोदक खाना है। सीधे से बताओ कि कहीं निश्चित हुआ है क्या?

सुमित्रादेवी : आप तो ऐसे पूछ रही हैं, जैसे इस घर से आपका कोई सम्बन्ध ही न हो। अरे, आपकी सम्मति के बिना इस घर का एक पत्ता भी नहीं खड़कता। आप जैसी आज्ञा देंगी, वैसा करने को हम सदैव प्रस्तुत हैं। आप ही बताइये कोई वर?

देवलदेवी : वर ! मैं बताऊँ? अभी तक क्या तुम सो रहीं थीं। ऐसी बन रही हो मानो कोई चिन्ता ही न हो।

सुमित्रादेवी : (किंचित् गंभीर हो) सचमुच अभी तक चिन्ता की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती थी। पर अब अवश्य चिन्ता ने पकड़ लिया है।

देवलदेवी : ऐसा क्यों? क्या कारण आ गया?

सुमित्रादेवी : बातों ही बातों में उस दिन त्रिशला चाची कह उठीं कि तुम्हें क्या चिन्ता? चारुदत्त को ब्याह कर कभी भी कन्या के हाथ पीले कर दोगी।

देवलदेवी : तुमने तो भाभी मेरे मुँह की बात छीन ली। मैं आज इसीलिए ही आई हूँ। यह सम्बन्ध सुखद और मंगलकारी होगा। तुम्हारा क्या विचार है?

सुमित्रादेवी : यद्यपि न कहने की धृष्टता तो मैं नहीं कर सकती तथापि एक बाधा आती है।

देवलदेवी : (घबराकर) वह क्या?

सुमित्रादेवी : चारुदत्त ठहरे विद्याव्यसनी। भला उन्हें शादी-ब्याह से क्या मतलब? विवाह के लिए उन्हें विवश करना मैं उपयुक्त नहीं समझती। इसी कारण तुम्हारे भैया वर की खोज में बाहर जाना चाह रहे हैं।

देवलदेवी : नहीं भाभी ! मित्रा को कहीं दूर न ब्याहो। 'बगल में लड़का, गाँव में टेर'

चारुदत्त कुँवारा है, अतएव अध्ययन में लीन रहता है। जहाँ आँखें चार हुईं कि परिवर्तन आ जायेगा।

सुमित्रादेवी : ये बात मानती हूँ। अधिकांशतः ब्याह के पश्चात् तरुण गृहस्थी में रत हो जाते हैं। फिर भी आप चारुदत्त से पूछ लें कि वे क्या चाहते हैं। एक ही कन्या है, बलपूर्वक उनके गले नहीं बाँधना चाहती।

देवलदेवी : सो तो मैं भी नहीं चाहती कि कन्या का जीवन दुःखी हो। तुम्हारी तरह मेरा भी एक ही पुत्र है। अभी तक विवाह के नाम पर ना करता रहता था, पर आज मैं उसकी स्वीकृति लेकर आई हूँ।

सुमित्रादेवी : (हर्षित हो) सच ! तब हमें कोई आपत्ति नहीं।

देवलदेवी : तुम्हारी ओर से बात पक्की समझूँ।

सुमित्रादेवी : अवश्य ! आप इसमें किसी प्रकार की शंका न करें।

देवलदेवी : भैया से पूछ लेतीं तो अच्छा था। तनिक बुलवा लो न भाभी।

सुमित्रादेवी : आपके भैया को आज अवकाश नहीं है। कल से कुछ विदेशी वणिक आये हुए हैं,उत्तम बहुमूल्य रत्नों का क्रय करने। वे उसी कार्य में उलझे होंगे। यों उनकी ओर से आप निश्चिंत रहें। चारुदत्त को दामाद बनाने का विचार उनका भी था; परन्तु उदास मनोवृत्ति देखकर मन हटा लिया था। आपका प्रस्ताव सुनकर उन्हें अति प्रसन्नता होगी।

देवलदेवी : फिर भी...... (मित्रवती का प्रवेश)

मित्रवती : नमस्कार बुआ जी ! (चरण छूती है)

देवलदेवी : (मस्तक पर हाथ रखकर आशीर्वाद देती है) सदैव प्रसन्न रहो पुत्री ! (गले का मंगलसूत्र उतारकर पहिना देती हैं।)

मित्रवती : (हँसकर) यह क्या बुआ जी !

सुमित्रादेवी : ननद जी ! मंगलसूत्र अभी से क्यों पहना दिया? अभ्यागत की तरह बाजे-गाजे से आकर पहिनातीं।

देवलदेवी : (प्रसन्नता से विह्वल हो) तब तो नौलखा चन्द्र हार लेकर आऊँगी अपनी वधू के लिए। रीते हाथ बहू को थोड़े ही देखा जाता है। (मित्रवती लजाकर भाग जाती है। उलाहने के मीठे स्वर में) तुम बड़ी खराब हो भाभी। बात स्पष्ट कर मेरी बहू को तुरन्त भगा दिया। जरा भी नहीं बैठने पाई।

सुमित्रादेवी : अब तो जीवन भर आपके ही साथ रहेगी। हम लोगों का तो अब अधिकार ही समाप्त हुआ। (आँखें सजल हो उठती हैं।)

देवलदेवी : फिर क्या मित्रा यहाँ नहीं आयेगी? पागल !

सुमित्रादेवी : आने को तो आयेगी पर ब्याह के पश्चात् पुत्रियाँ पराई हो जाती हैं।

देवलदेवी : लो और सुनो ! क्या कोई दूसरे अनजाने घर में जा रही है मित्रवती। चारु भी तो तुम्हारा अपना ही है।...... अच्छा अब मैं जाऊँगी। भैया से कहना कि विवाह का शुभ मुहूर्त्त शोधन करवाकर शीघ्रातिशीघ्र सन्देश भिजवा दें। (खड़ी हो जाती हैं।)

सुमित्रादेवी : (खड़ी होकर) बिना मुँह मीठा किये समधिन जी चलीं कैसे? क्या नया रिश्ता सूखे-सूखे ही हो जायेगा। भीतर चलें, अब बिना भोजन किये जाना असंभव है। (हाथ पकड़कर ले जाने का उपक्रम करती हैं।)

(दोनों का हँसते हुए प्रस्थान)

- पटाक्षेप -

तीसरा-दृश्य

स्थान : श्रेष्ठि भानुदत्त का महल।

समय : रात्रि का प्रथम प्रहर।

(विवाह के वाद्य बज रहे हैं। शहनाई की मधुर ध्वनि से श्रेष्ठि भानुदत्त का महल मुखरित हो रहा है। द्वार पर वर-वधु खड़े हैं। द्वारचार की रस्म अदाई हुई। देवलदेवी ने दोनों की आरती उतारी। चारुदत्त तथा मित्रवती ने बारी-बारी से सास-श्वसुर के चरण छुये एवं 'चिरंजीव रहो' 'सदैव प्रसन्न रहो' के प्यार भरे मधुर शुभाशीर्वाद प्राप्त किये। तत्पश्चात् महल में प्रवेश किया। सुहागिन नारियाँ मंगल गान व नृत्य कर रहीं हैं।)

मंगल बेला आई रे, मंगल बेला आई।
जगमग-जगमग दीप प्रजाले, बाज रही शहनाई रे॥ मंगल॥
चंद्रमुखी सी पुत्रवधू है, मानो चंद्र लजाई रे॥ मंगल॥
हर्षित हैं सब परिजन पुरजन, देते भेंट बधाई रे॥ मंगल॥
दान दियो सुखमन से पितु ने, याचकगण मन भाई रे॥ मंगल॥
मिल सब गाओ नृत्य करो सखि ! मन में साध समाई रे॥
मंगल बेला आई रे, मंगल बेला आई।

(देवलदेवी सब आगंतुक महिलाओं को भर-भर अंजुलि मेवे बाँट रही हैं। धीरे-धीरे सब चली जाती हैं। दासी मंगला रह जाती है।)

देवलदेवी : मंगला ! मित्रवती को उसके कक्ष तक पहुँचा आ।

मंगला : जो आज्ञा ! चलें बहूरानी। (दोनों का जाना)

(मित्रवती के कक्ष में आकर)

मंगला : मुझे आज्ञा दें बहूरानी !

मित्रवती : तुम कहाँ जा रही हो मुझे अकेली छोड़कर।

मंगला : अकेली कहाँ हो बहूरानी ! श्रेष्ठि कुमार आते ही होंगे।

(हँसती हुई शीघ्रता से चली जाती है।)

(मित्रवती का कक्ष सजा हुआ है। आसंदिया रखी हैं। पर्यंक पर शैय्या बिछी है। जो सुन्दर वस्त्रों से आच्छादित है। विविध प्रकार के सुगंधित पुष्पों से शय्या सजी हुई है, कक्ष में यत्र-तत्र धूपदान रखे हैं। जिसमें सुगंधित धूप जल रही है। बाहर पूर्णिमा की चांदनी छिटक रही है। आज मधुरात्रि है। नव परिणीता वधू मित्रवती वस्त्राभूषणों से लदी है। अपने सौन्दर्य के कारण वह स्वर्ग की अप्सरा-सी दिख रही है। वह कक्ष में अकेली है। अर्धरात्रि हो चुकी है। मित्रवती विकलता से कक्ष से बाहर भीतर आती-जाती है। सोना चाहती है पर नींद कहाँ ? वह आर्य चारुदत्त की प्रतीक्षा में है।)

मित्रवती : (स्वगत्) अभी तक नहीं आये आर्यश्रेष्ठ ! कदाचित् मित्रों के बीच हास-परिहास चल रहा हो। रात्रि का द्वितीय पहर भी समाप्त हो चुका... आते ही होंगे। (खटका होता है) जान पड़ता है आ गये। (मंद-मंद मुस्कराते हुये द्वार की ओर पीठ करके बैठ जाती है। थोड़ी देर बाद किसी को आया न जानकर द्वार पर झाँकती है) अरे, वायु भी मुझे अकेला पा मेरे साथ अठखेलियाँ कर रही है। (पुनः आसंदी पर बैठे ही बैठे अल्साकर जम्हाई लेती है। आँखें मुँद जाती हैं। चन्द क्षणों बाद चौंककर

जागती है, सहसा हृदय में विषाद की काली रेखा खिंच जाती है।) कहीं ऐसा तो नहीं कि वे आये ही नहीं। क्या ऐसा भी हुआ है कि नव परिणीता वधु की शय्या के सुमन अछूते रहकर ही मुरझा गये हों। न..... नहीं..... नहीं ऐसा नहीं हो सकता, नहीं हो सकता। मित्रा, तू कितनी शंकालू है। मिलन के पूर्व ही अपने प्रियतम के प्रति कटुता, यह धारणा! ऐसे विचार मेरे मन में क्यों आये? जाओ, जाओ रे दुर्विचारो ! मैं अपने अनन्य प्रिय के विरुद्ध तुम्हें स्थान नहीं दे सकती। मन में बस एक प्रियतम को ही स्थान है। तुमने आने की अनधिकार चेष्टा कैसे की?..... (हर्षित हो) अब आते ही होंगे। (रजतथाल में स्वर्णदीप रखती है और कपूर जलाती है) प्रथम दर्शन कर आरती उतारूँगी। उनकी प्रेममय वाणी का आस्वादन करूँगी। (प्रसन्नता से मुख खिल उठता है) आनन्द सागर में डुबकियाँ लगाते हुये शनैः शनैः निद्रामग्न हो जाती है।

- पटाक्षेप -

चतुर्थ-दृश्य

(चारुदत्त-मित्रवती के ब्याह का दूसरा दिन)

स्थान : भानुदत्त का शयनकक्ष।

समय : रात्रि का द्वितीय प्रहर।

देवलदेवी व सेठ भानुदत्त अपने पलंग पर बैठे हैं। वे चारुदत्त के इस व्यवहार से बहुत चिन्तित एवं दुखी हैं। इस समस्या का समाधान कैसे हो – इसी चिन्ता में बैठे हैं। इन दिनों वे घर के सब काम-काज भूलकर बात भी करते हैं तो इसी विषय की।

भानुदत्त : देवी ! तुमने तो विवाहपूर्व चारुदत्त से विवाह की अनुमति ले ली थी न।

देवलदेवी : हाँ ! हाँ ! बहुत स्पष्ट शब्दों में।

भानुदत्त : फिर, अब क्या हुआ ?

देवलदेवी : यही तो मेरी समझ में नहीं आ रहा है।

भानुदत्त : चारुदत्त से बात की, वह क्या कहता है ?

देवलदेवी : वह कहता है कि आपने ब्याह के लिए कहा था, सो कर लिया; अब मुझे शास्त्र-अध्ययन में बाधा न पहुँचाओ।

भानुदत्त : बहू के बारे में क्या कहता है ?

देवलदेवी : कहता है तुम उसकी चिन्ता मत करो, मैं उसे समझा दूँगा।

भानुदत्त : तब फिर मित्रा को ही उसके पास क्यों नहीं भेज देती। जब वे दोनों परस्पर में वार्तालाप करेंगे, तो कुछ न कुछ समाधान तो अवश्य निकलेगा।

देवलदेवी : यह बात मुझे भी उचित लगती है। (दोनों चले जाते हैं।)

- पटाक्षेप -

पंचम-दृश्य

((चारुदत्त-मित्रवती के ब्याह के तीन दिन पश्चात्)

स्थान : मित्रवती का कक्ष।

समय : रात्रि द्वितीय प्रहर।

(मित्रवती अपने कक्ष में है। प्रथम रात्रि की भाँति प्रसन्न मुख नहीं, अपितु अत्यन्त मलिन उदास है। उसे चारुदत्त के दर्शन तक नहीं हो पाये हैं।)

मित्रवती : (स्वगत) तीन अहोरात्रि के पश्चात् भी पतिदेव के दर्शन न हो पाये, इसे क्या कहा जाये? (करुणा जनक हास्य) दुर्भाग्य ! घोर दुर्भाग्य। दासी से ज्ञात हुआ कि श्रेष्ठिपुत्र अध्ययन कक्ष में ही रात्रि व्यतीत करते हैं। उन्हें खाने पीने सोने तक की सुधि नहीं रहती। अध्ययन ही उनका सर्वस्व है, वही व्यसन भी।..... इससे ऐसा लगता है कि उन्हें मुझसे कोई प्रयोजन नहीं। जब अध्ययन ही करना था तो फिर विवाह रचाकर मेरा जीवन नष्ट क्यों किया?..... लाज संकोच छोड़ तनिक एकबार पूछूँ तो सही कि आखिर यह निष्ठुरता क्यों? मुझसे कब की शत्रुता का प्रतिशोध ले रहो हो? (कुछ सोचती है) परन्तु माताजी से बात कर लेना उचित होगा।

(देवलदेवी का प्रवेश, मित्रवती उठकर उनके चरण छूती है, पश्चात् बैठकर आपस में कुछ वार्तालाप करते हैं।)

देवलदेवी : बेटी मित्रा ! अब तुम ही चारू के कक्ष में चली जाओ।

मित्रवती : माताश्री ! यह जानकर पिताजी क्या सोचेंगे ?

देवलदेवी : तुम इसकी चिन्ता मत करो, मैं उनसे परामर्श करके ही यह कह रही हूँ।

मित्रवती : जैसी आपकी आज्ञा।

(फिर मित्रवती अपनी सासु देवलदेवी के चरण छूकर धीरे-धीरे चारुदत्त के कक्ष की ओर बढ़ती है।

चारुदत्त अध्ययन में मग्न हैं। सहसा पायल व कंगन की झंकार से चौंककर द्वार की ओर देखते हैं। मित्रवती का प्रवेश)

चारुदत्त : अरे मित्रवती ! तुम यहाँ कहाँ?

मित्रवती : क्यों, कुछ अनहोनी-सी हो गई? सचमुच मेरा आना आश्चर्ययुक्त तो है ही। प्यासे के निकट स्वयं नदी को आते नहीं देखा। (किंचित् व्यंग से) तीन अहोरात्रि की प्रतीक्षा के पश्चात् भी जब आपके दुर्लभ दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त न हो सका तो आज लाज संकोच छोड़ मैं ही चली आई। धैर्य किनारा कर गया।

चारुदत्त : अच्छा हुआ चली आई। जब हम दोनों पूर्व परिचित हैं, तब लाज संकोच के आवरण की क्या आवश्यकता? बैठो मित्रवती।

मित्रवती : (गहरा उच्छवास ले) बैठकर ही क्या करूँ। आपके अध्ययन में बाधा जो होगी।

चारुदत्त : (ध्यान न देते हुए) सो तो होगी ही, पर आई हो तो तनिक बैठ लो। तुम्हें अभी तक नींद नहीं आई?

मित्रवती : नींद तो आपने हरण कर ली है। इसीलिए तो मैं आपके अध्ययन में विघ्न बनकर आ पड़ी हूँ। (बैठ जाती है।)

चारुदत्त : कोई बात नहीं। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं। पर नींद की तुमने खूब कही मित्रवती ! भला किसी की नींद कोई कैसे छीन सकता है ! यदि ऐसा मान लिया जाये तो प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता नष्ट हो जायेगी और इस तरह सारे सिद्धान्त ही मिथ्या सिद्ध होंगे।

मित्रवती : व्यवहार में पारमार्थिक सिद्धान्तों को न जोड़िये देव !

चारुदत्त : किन्तु व्यवहार के बिना परमार्थ भी निरर्थक है भद्रे !

मित्रवती : मैं आपसे शास्त्रार्थ करने नहीं आई हूँ। केवल यह जानना चाहती हूँ कि आपका अध्ययन कभी समाप्त होगा या नहीं?

चारुदत्त : अध्ययन भी कभी समाप्त होने की वस्तु है? इसकी गहराई में जितने पैठते जाओ; उतना ही विस्तृत होता जाता है।

मित्रवती : तब फिर इसमें से कब तक निकलने का विचार है?

चारुदत्त : निकलने का? क्या अध्ययन से तुम्हें शत्रुता है शुभे !

मित्रवती : आप ही बतायें कि जो वस्तु अपने प्रिय को पाने में बाधक बने, उसे कौन-सी संज्ञा दी जा सकती है?

चारुदत्त : सबसे प्रथम तो यही भूल है कि कोई किसी का प्रिय अथवा बाधक है, फिर शत्रुता अंतरंग की दुष्प्रवृत्ति का नाम है मित्रा। वह मानव स्वभाव नहीं।

मित्रवती : तो क्या विवाह कर पत्नी को तिल-तिल जलाने का मानव स्वभाव है?

चारुदत्त : (सरलता से) नहीं, कौन कहता है?

मित्रवती : आप स्वयं इसे चरितार्थ कर रहे हैं।

चारुदत्त : यह कैसा मिथ्या दोषारोपण है शुभे ! मैं स्वप्न में भी मन-वाणी-कर्म से किसी के प्रति दुर्भावना नहीं कर सकता। फिर तो तुम मेरी विवाहिता पत्नी हो। भला.....

मित्रवती : तब फिर यही बतला दें कि पत्नी के प्रति पति का क्या कर्त्तव्य है?

चारुदत्त : (हँसते हुए) लो इतनी सी बात के लिए कष्ट किया। रूठो मत, अब मैंने गृहस्थाश्रम सम्बन्धी ग्रन्थों की अनुक्रमणिका बना ली है। बस अब एकाग्र हो इन्हीं ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ करना चाहता हूँ। ज्ञान हुआ और आचरण में उतारा।

मित्रवती : तब फिर विवाह की क्या शीघ्रता थी, ज्ञानवान बन जाते। ऐसा तो कहीं भी नहीं सुना कि आग लगने पर कोई कुँआ खोदता हो।

चारुदत्त : यथार्थतः तुम्हारा कथन सत्य है। मेरे भी निजी विचार ऐसे ही थे। क्या करूँ माता-पिता के समक्ष मेरी एक न चली। विवश हो उनकी आज्ञा माननी पड़ी। मुझे आध्यात्मिक ग्रन्थों में अत्यधिक रस मिलता था। अतः गृहस्थाश्रम सम्बन्धी ज्ञान नहीं कर पाया। यह मेरी भूल है।

मित्रवती : तब क्या उस भूल का प्रायश्चित मैं करूँ?

चारुदत्त : कदापि नहीं, तुम क्यों करोगी। मैं स्वयं करूँगा। मातुश्री की तुम इकलौती लाड़ली पुत्रवधू हो। उन्होंने सुख-सुविधा जुटाने में किसी प्रकार की कोई कसर न रखी होगी। मुझे विश्वास है कि न तुम्हें कोई कष्ट होगा और न तुम्हें उनसे कोई उलाहना।

मित्रवती : निश्चय ही आपका विश्वास यथार्थ है श्रेष्ठिपुत्र ! पर क्या धन वैभव से हृदय की प्यास बुझ सकती है?

चारुदत्त : कभी नहीं भद्रे ! कभी नहीं। त्रिकाल में भी ऐसी अनहोनी नहीं हुई। प्रतीत होता है तुम भी आध्यात्मिक विचारधारा वाली हो।

मित्रवती : (अस्वीकार करना चाहती है)..... मुझे गलत.....

चारुदत्त : नहीं मित्रवती ! मेरा तुम पर कोई अभियोग नहीं। यह बहुत ही अच्छा हुआ, सच बात यह है कि जो इस रहस्य को समझ लेता है, वह कभी भौतिक आकर्षणों में विमुग्ध नहीं होता।

मित्रवती : ओह ! आप बड़े निर्मम हैं।

चारुदत्त : (सरलता से) हूँ तो नहीं, पर निर्मम बनने का प्रयत्न अवश्य कर रहा हूँ। काश ! सफलता प्राप्त कर सकूँ।

मित्रवती : (निराश हो) मैं भी यही कामना करूँगी कि आपका प्रयत्न सार्थक हो।

चारुदत्त : धन्य हो मित्रवती धन्य हो। मैं तुमसे मन ही मन भयभीत था; पर तुमने स्वयं साक्षात्कार कर मेरे मन पर से बड़ा भारी भार उतार दिया। (हर्ष से विह्वल हो) मैं कितना भाग्यवान हूँ। मेरी विचारधारा के अनुरूप ही मेरी जीवन संगिनी मिल गई। आध्यात्मिक रस का स्वाद ही कुछ ऐसा मधुर होता है; जिसे कोई छोड़ना नहीं चाहता। (मित्रवती जाने लगती है) हाँ जाओ भद्रे ! रात गहरा रही है। (वह उदास खिन्न मन से चली जाती है।)

चारुदत्त : (स्वगत) अब मैं भी निश्चिंत हो आध्यात्मिक अध्ययन में अवगाहन करता रहूँगा। धन्य हो मित्रवती। तुमने मुझे सारी चिन्ताओं से मुक्त कर दिया। मेरा रोम-रोम पुलकित है।..... अब इस सूची से क्या प्रयोजन? (फाड़ देता है।)

(मित्रवती अपने कक्ष में लौट आती है, आते ही शय्या में मुँह छिपाकर रोने लगती है। कुछ समय पश्चात् सचेत होकर बैठ जाती है। कभी उदास उद्विग्न-सी कक्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक फिरती है।)

मित्रवती : (स्वगत) आर्यपुत्र के सामने जैसे मैं सब कुछ भूल गई। कुछ न कह सकी। मन का ज्वालामुखी फूट पड़ना चाहता था पर उनकी सहज सरलता के छींटों से शांत हो गया। (व्यंगात्मक हँसी हँसकर) और मेरी रुचि के प्रतिकूल मुझे विरागिन समझ बैठे। क्या कहूँ।..... पति-पत्नी की मधुरात्रि कितनी सुन्दर ! कितनी सुहावनी ! प्रथम मिलन का यह कितना अनोखा उपहार !..... कदाचित् संसार में मैं पहली पत्नी हूँ इतनी भाग्यवान। (एक-एक कर सब आभूषण उतार देती है) अब किसलिये ये आभूषण ! क्या काम इनका? जब पति ने नहीं अपनाया तो शृंगार का क्या हो? सादा जीवन बिताने के लिए बाध्य हूँ।..... (कुछ सोचकर) वे अपने ही विचारों में ऐसे खोये थे कि वे मेरी उद्विग्नता को भांप न सके। मुझे सजी-धजी देखकर भी उनके मन में अनुराग न जागा। मेरी ओर नजर भर देखा तक नहीं। **वाह रे अद्भुत पुरुष ! न दरश, न परस। मैंने कहा निर्मम हो। सहज ही बोल उठे प्रयास कर रहा हूँ। उनके सारल्य पर तन-मन न्यौछावर है।**

असीम अनुपम है उनकी निश्छलता। अब सात्विक जीवन ही मेरा इष्ट है। मैं उनकी अनुगामिनी बनूँगी। अपनी आकांक्षाओं की होली जलाकर उनकी इच्छा की दासी बनूँगी। यही नारी धर्म है। अपने मन को इसका अभ्यस्त बनाऊँगी।..... भाग्य! निष्ठुर! तू कहाँ हँस रहा था मुझ पर। वैभव के विशालागार में बैठाकर भी उससे अछूता रहने को विवश कर दिया। विविध पकवानों से भरी थाली परोसकर भी मुझ क्षुधित के खाने पर प्रतिबन्ध लग गया। देव! तेरी क्रूरता को क्या कहूँ!

(चारुदत्त पत्नी से उदासीन हो अध्ययन में सम्पूर्णतया लीन हो गये। वे घर में ही साधु संन्यासी की तरह जीवन व्यतीत करने लगे। उनका व्यवहार देखकर माता-पिता अत्यन्त दुःखी रहने लगे। वे पुत्र का विवाह कर अहर्निश पश्चाताप की अग्नि में झुलसते रहे। पुत्र को समझाया, डाँटा; परन्तु सब व्यर्थ। उल्टे घड़े में पानी भरने के समान निराशा ही हाथ लगी। विरहिणी मित्रवती को देखकर उन दोनों वृद्ध प्राणियों को घोर मानसिक कष्ट होता था। होनहार प्रबल है। भला कौन सद्गृहस्थ अपनी संतान का विवाह नहीं करते?)

- पटाक्षेप -

षष्टम-दृश्य

(कुछ दिन पश्चात्)

स्थान : श्रेष्ठि भानुदत्त के भवन से लगा हुआ उद्यान का एक भाग।

समय : सायंकाल।

(पति वियोग से व्यथित मित्रवती दिनोंदिन कृशकाय होने लगी। उसे खान-पान वस्त्राभूषण सबसे अरुचि हो गई।)

॥ गीत ॥

भाग्य निर्माता बना कितना निष्ठुर है।

नित्य नव संगीत उठता था हृदय में॥
कंठ स्वर में गीत था, गति ताल लय में।
तार टूटे हृदय वीणा के कि सहसा॥
हो गया अवरुद्ध झंकृत कंठ स्वर है।
भाग्य निर्माता बना कितना निष्ठुर है॥

मैं लुटी मधु कल्पना के स्वप्न भागे।
नींद में सो गये गहरे भाग्य जागे॥
चिर विरह चिर वेदना, चिर जागरण का।
आज मुझको मिला आँचल में कि वर है॥
भाग्य निर्माता बना कितना निष्ठुर है।

(इसी समय सुमित्रादेवी अपनी पुत्री की कुशलक्षेम पूछने आई हैं। सुमित्रादेवी का प्रवेश।)

मित्रवती : (सितार एक ओर रखती हुई फीकी हँसी हँसकर) आओ माँ ! बैठो।

सुमित्रादेवी : (पुत्री को निर्बल रोगिणी समझ घबराकर बैठते हुए) मित्रा ! कब से अस्वस्थ है पुत्री ! भला खबर तो दी होती।

मित्रवती : स्वस्थ हूँ माँ ! खबर क्या देती?

सुमित्रादेवी : (साश्चर्य) तू स्वस्थ है? क्या कह रही है पगली ! तनिक दर्पण में अपना मुँह निहार, क्या से क्या हो गया बिल्कुल पीला मुरझाया लगता है।

मित्रवती : अच्छी तो हूँ माँ ! तुम व्यर्थ ही चिंतित हो रही हो।

सुमित्रादेवी : ज्ञात होता है औषधि का भी ठिकाना नहीं। समधिन जी को तेरे स्वास्थ्य की चिन्ता नहीं है क्या? (व्यंग से) पहले मित्रवती बड़ी प्यारी लगती थी, अब उसी के प्राण आँखों में समाये हैं। सासूजी को कोई प्रयोजन ही नहीं।

मित्रवती : माँ ! माताजी को कुछ न कहिये। वे तो मुझसे अभी भी पूर्ववत् स्नेह रखती हैं।

सुमित्रादेवी : (उपेक्षा से) तभी वधू की यह दयनीय अवस्था हो रही है। तू स्वस्थ है, फिर यह वैरागियों सा वेश क्यों बना रखा है? न ढंग के वस्त्र, न आभूषण। सास को शृंगार अच्छा नहीं लगता क्या? इतने विश्रुत नगर श्रेष्ठी की वधू सन्यासी.....।

मित्रवती : (बीच में ही बात काटकर) ऐसा न कहो माँ ! माताजी की ओर से मुझे कोई कष्ट नहीं। यदि उनका भी स्नेह न मिला होता तो मेरा जीवन कब का समाप्त हो जाता।

सुमित्रादेवी : यदि उनका भी स्नेह न मिला होता ! इसका क्या अभिप्राय? (विचारने की मुद्रा में)..... क्या मेरे दामाद असंतुष्ट हैं? चारुदत्त तो बड़े सज्जन हैं, उन जैसा कुंवर कोई विरला ही होगा। लाखों में एक ही हीरा है। (मित्रवती मौन नतमस्तक बैठी है।) अरी ! मौन क्यों है बेटी। कुछ तो कह अपनी माँ से। (पीठ पर हाथ फेरती है) मैं तेरा दयनीय मुख नहीं देख सकती। हम लोगों का तेरे अलावा और कौन है? तेरा सुख-दुःख हमारा सुख-दुःख है। तुझे देख-देख कर ही तो हम जीवित हैं। (मित्रवती की ठोडी पकड़कर मुँह ऊँचा करती है। आँखों में आँसू देखकर) हाय, हाय ! तू रो क्यों रही है बिटिया ! तुझे देखकर कलेजा मुँह को आता है। (मित्रवती के आँसू अजस्र धारा की तरह प्रवाहित होने लगते हैं। वक्ष से लगाकर भरे गले से।) बोल पुत्री ! बोल तुझे क्या कष्ट है? कह तो सही अपनी माँ से। तेरे लिये आकाश के तारे भी तोड़ना पड़े तो तोडूँगी। ये सम्बन्ध करने में क्या हम लोगों से कुछ भूल हो गई है ?

मित्रवती : (सम्हलकर) माँ ! तुमसे भला क्या भूल होगी। माता-पिता सन्तान का कभी अकल्याण नहीं चाहते।..... पर यदि सन्तान का दुर्भाग्य उदित हो तब..... (गहरा निःश्वास लेते हुये) कोई क्या कर सकता है? मेरे भाग्य में अब जीवन भर रोना ही बदा है।

सुमित्रादेवी : ऐसी अपशकुन की बातें मुँह से नहीं निकाली जातीं मेरी बच्ची ! तेरा सौभाग्य चिरकाल तक अमर रहे बिटिया ! अपने जी की व्यथा तो कह मुझसे ! क्या माँ को नहीं बतलायेगी? (दुखित होती है।)

मित्रवती : क्या कहूँ माँ ! बात कहने योग्य भी तो हो।

सुमित्रोदवी : (गंभीर हो) समझी ! समधिन की प्रवंचना से मैं बिल्कुल अनभिज्ञ रही, मैं नहीं जानती थी कि सगी ननद हमें इस तरह तड़फायेगी। ज्ञात होता है चारुदत्त तुझसे बोलते नहीं। क्या यह सत्य है?

मित्रवती : (कुछ क्षण मौन रहकर) इसमें माताजी का कोई दोष नहीं है माँ ! वे भी मेरे दुःख में समान रूप से ही दुःखी हैं। बेचारी क्या करे? अपने को ही भला-बुरा कहती रहती हैं। उनके अध्ययन के सम्मुख माताजी, श्वसुरजी सभी विवश हो गये। सचमुच भाग्य के सामने सभी को हार माननी पड़ती है। ("पुराकृतं कर्म योग्यता च दैवं" – आचार्य अकलंक देव)

सुमित्रादेवी : (क्रोधपूर्वक) इसे भाग्य नहीं कहते मित्रा ! समधिन भली भाँति अवगत थीं अपने पुत्र के स्वभाव से। फिर उन्होंने जान बूझकर क्यों पराई कन्या जबर्दस्ती गले से बाँध दी।

मित्रवती : भविष्य कौन जानता है माँ ! वे भी अपना परिवार हरा-भरा सुख वैभव सम्पन्न देखना चाहती थीं। कदाचित् देव को यह स्वीकार न था। मेरे साथ-साथ उनकी भी युग-युग से संजोई साधों पर तुषारापात हो गया।

सुमित्रादेवी : पुत्री तू समझदार है, सहिष्णु है; अतः ऐसा कह रही है। मैं तेरी सासू से पूछूँगी कि क्या अपनी भतीजी ही मिली थी इस विरह की आग में झोंकने के लिये, संसार की और कुमारियाँ मर गई थीं।

मित्रवती : ऐसा न कहो माँ..... (सजल नेत्रों से) ऐसा..... न कहो। मेरे स्थान पर जो भी कन्या होती क्या उसकी भी यही अवस्था न होती? क्या उसके माता-पिता अपनी पुत्री को व्यथित देखकर सुखी रह सकते थे? इस कारण किन्हीं न किन्हीं व्यक्तियों को संतप्त होना ही पड़ता?

सुमित्रादेवी : तो क्या तू ही उपयुक्त थी?

मित्रवती : प्रतीत ऐसा ही होता है। नियति के संचालन में कभी कोई भूल नहीं होती माँ।

सुमित्रादेवी : इसी को कहते हैं ***'चलनी में दूध दुहो, भाग्य को दोष दो।'*** हाथ धर कर तेरी सासू ने गलती की है और दंड तुझे भुगतना पड़ रहा है।

मित्रवती : माँ ! 'मानवकृत कार्यों में भूलें होती हैं, किन्तु नियति के कार्यों में नहीं।' वहाँ प्रत्येक के भले-बुरे कार्यों का लेखा-जोखा है। बोये हुये बीजों के अनुसार ही क्रमशः अच्छे-बुरे फल चखना पड़ते हैं। मैं अपने पूर्वकृत् दुष्कार्यों का फल पा रही हूँ। किसी को दोष देना व्यर्थ है।

सुमित्रादेवी : धन्य है मित्रवती ! तेरे धैर्य को। किसी सीमा तक तेरा कथन सत्य है, पर माँ की ममता को संतोष कहाँ? समधिन जी के पास जाती हूँ। (खड़ी हो जाती है।)

मित्रवती : माताजी से कोई कटुवचन न कह बैठना माँ ! उनके हृदय में कहीं मर्मभेदी चोट न लग जाये एवं तुम्हें पश्चाताप करना पड़े।

सुमित्रादेवी : तेरी बात मानने में मैं स्वयं को विवश पा रही हूँ। फिर भी प्रयास करूँगी संयमित बोलने का। आश्चर्य है कि कल की अल्हड़ लड़की इन चंद दिनों में ही इतनी गहन गंभीर कैसे बन गई। यह भी प्रकृति की देन है। (वक्षस्थल से लगाकर रुदन के स्वर में) जाती हूँ पुत्री ! अब तुझे क्या समझाऊँ? तेरी बुद्धि मुझसे अधिक प्रौढ़ हो चुकी है दोनों कुलों की लाज निबाहना है तुझे। (जाते-जाते) हे भगवन् ! सरलता की प्रतिमूर्ति मेरी पुत्री के संकटों को शीघ्र ही नष्ट करना। मेरी सारी आशायें इसी पर केन्द्रित हैं।

(देवलदेवी के कक्ष में सुमित्रादेवी प्रवेश करती हैं और इस बात का अनुभव करती हैं कि देवलदेवी की मुद्रा भी दुःख की छाया से परिवेष्टित दिख रही है , फिर भी वे उठकर मुस्कराते हुये स्वागतकरती हैं। उस मुस्कराहट में भी वेदना स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है।)

देवलदेवी : आओ बैठो भाभी ! कहो सब कुशल तो है?

सुमित्रादेवी : कुशल क्षेम कैसी? जिसकी एक ही पुत्री और वह भी पति वियोग से व्यथित हो, उन माता-पिता को भला कहाँ चैन?

देवलदेवी : सच कह रही हो भाभी ! कदाचित् दैव को दोनों परिवार इसी प्रकार व्यथित करने थे। मैं क्या करूँ भाभी, तुम्हीं बताओ कोई उपाय?

सुमित्रादेवी : इसका तो पहले विचार करना चाहिये था ननदजी। **'अब पछताये होत का, जब चिड़िया चुग गई खेत।'** जब आप जानती थीं कि चारुदत्तजी अध्ययन में रमे हैं; तब

ब्याह ही न करना चाहिये था। पराई कन्या को दुःख देने में कोई लाभ तो हुआ नहीं।

देवलदेवी : भाभी ! कम से कम तुम तो ऐसा न कहो। मेरी छाती के नौ-नौ खंड होते हैं। मित्रवती क्या तुम्हारी ही थी, मेरी कुछ भी नहीं?

सुमित्रादेवी : तुम्हारी ही सही, पर पुत्र के स्वभाव से तो आप अपरिचित नहीं थीं।

देवलदेवी : चारुदत्त को विरागी सा देखकर ही मैंने सुन्दर, सुशील, निपुण मित्रवती को अपनी पुत्रवधू बनाने की अभिलाषा साकार की। मुझे पूर्ण विश्वास था कि सर्वगुण सम्पन्न मित्रा चारु को अवश्य मोह लेगी एवं उसकी जीवन दिशा परिवर्तित कर गृहस्थ जीवन को सफल बना सकेगी। ऐसी महान क्षमता की रेखायें मुझे मित्रवती में ही परिलक्षित हुईं।

सुमित्रादेवी : आपका परीक्षण हुआ और मेरी फूल-सी बच्ची का जीवन नष्टप्राय: हो गया। मैं समझ रही थी कि मैंने मित्रा का ब्याह बहुत ही अच्छा घर-वर देखकर किया है। पर यहाँ तो दरिद्रों से भी हीनतम जीवन जी रही है।

देवलदेवी : (दुखित स्वर में समझाते हुये) भाभी ! तुम भी माँ हो। तनिक गंभीरता से सोचकर देखो कि जो मैंने किया है, क्या प्रत्येक माँ का हृदय इस मार्ग को उचित न कहेगा? (गंभीर स्वर में) कौन माँ अपनी वंशबेल बढ़ती हुई नहीं देखना चाहती। हँसने-खेलने की नन्हीं-सी उम्र में ही वैरागियों की सी उदास मनोवृत्ति देखकर किस माँ का हृदय द्रवित न होगा भाभी ! (शांतिपूर्वक) तुम्हीं बताओ क्या मेरी कामना एकमात्र वधू को व्यथित करने की थी? (सुमित्रादेवी लज्जित हो जाती हैं) मौन क्यों हो भाभी ! बोलो, कुछ तो कहो, क्या मैं अनुचित कह रही हूँ?

सुमित्रादेवी : आपका कथन सत्य है ननद जी ! मैं ही ठीक नहीं समझ पा रही थी। अहं की भावना ने मेरी बुद्धि कुंठित कर दी थी। सचमुच जानबूझकर कोई भी अपने घर पर विपत्ति की काली छाया नहीं डालना चाहता।

देवलदेवी : अब हमें विचार कर कोई ऐसा उपाय निकालना चाहिये; जिससे चारु का रुझान सांसारिक विषयों की ओर आकृष्ट हो।

सुमित्रादेवी : आप स्वयं समझदार हैं। अपनी अज्ञानता के कारण मैं जो उलटा सीधा कह बैठी हूँ, उसके लिये लज्जित हूँ और बारंबार क्षमायाचना करती हूँ। (हाथ जोड़ती है।)

देवलदेवी : (हाथ पकड़कर) नहीं, नहीं भाभी ! इसकी कोई आवश्यकता नहीं। तुम क्या, कोई भी माँ अपनी कन्या को विरह की ज्वाला में जलते देखकर अधीर हो जायेगी। इन ममता के

उपालंभों से मेरी भी आँखें खुल गईं। अब अवश्य इस दुःख से निवृत्ति का उपाय निकल आयेगा। आज ही मैं देवर रुद्रदत्तजी को बुलाकर इस विषय में उनसे परामर्श करूँगी।

सुमित्रादेवी : मित्रवती की आप पर पूर्ण श्रद्धा है। उसकी बात न मानकर मैं आपसे कटु व्यवहार कर बैठी। अब मैं जाती हूँ। विलम्ब हो रहा है।

देवलदेवी : नमस्कार भाभी ! मन में किसी प्रकार की ग्लानि न रखना। कभी-कभी आती रहा करो।

सुमित्रादेवी : (हाथ जोड़कर) नमस्कार ! (जाती है।) *- पटाक्षेप -*

卐 द्वितीय-अंक 卐

प्रथम-दृश्य

स्थान : श्रेष्ठि भानुदत्त का महल।

(देवलदेवी अपने कक्ष में बैठी हैं। वे बार-बार द्वार की ओर झाँकती हैं; मानो किसी की प्रतीक्षा में हों। वे उठकर द्वार की ओर जाती हैं। किसी को न देखकर तुरन्त लौटकर -)

देवलदेवी : (स्वगत) अभी तक रुद्रदत्त नहीं आये।..... प्रतीक्षा के क्षण भी कितने असीमित हो उठते हैं। (कुछ सोचकर) क्या करूँ, मंगला को पुनः भेजूँ।..... (बुलाती हैं) मंगला !

मंगला : (नेपथ्य से) आई माता जी।

देवलदेवी : तनिक रुद्रदत्त जी को बुला ला।

मंगला : जी ! (इतने में रुद्रदत्त का प्रवेश)

रुद्रदत्त : (हँसते हुये) बार-बार बुलाने की आवश्यकता नहीं हैं भाभी जी ! मैं आ पहुँचा।

देवलदेवी : (माथे का पल्ला सम्हालती हुई) अरे, आइये आइये। बड़ी उमर हो। आपकी ही बात हो रही थी। सब कुशल मंगल तो है?

रुद्रदत्त : (पास ही आसंदी पर बैठते हुये) आपके आशीर्वाद से सब आनन्द है। पर आप बहुत उदास प्रतीत हो रही हैं। अस्वस्थ हैं क्या?

देवलदेवी : मेरी अस्वस्थता की कुछ न पूछिये। (दुःख भरी सांस लेकर) अच्छी भली तो हूँ।

रुद्रदत्त : आपकी वाणी से नैराश्य झलक रहा है। कोई गोपनीय रहस्य है क्या?

देवलदेवी : हाँ, कुछ ऐसी विषम उलझन आ गई है, जो मैं सुलझा नहीं पा रही हूँ। तदर्थ ही आपको कष्ट दिया है।

रुद्रदत्त : कष्ट की कोई बात नहीं भाभी ! निःसंकोच कहें। मैं सेवा हेतु सदैव प्रस्तुत हूँ।

देवलदेवी : सो तो जानती हूँ कि यह कार्य आप सहज ही कर लेंगे। यह जो आपका लाड़ला है न !

रुद्रदत्त : (हँसकर, बीच ही में) चारुदत्त? सो.....

देवलदेवी : सो क्या? (किंचित् रोष से) विवाह हुये इतने दिन हो गये, परन्तु मित्रवती की ओर फूटी आँख से भी नहीं देखता। वह बेचारी पति वियोग में सूखकर काँटा हो गई है।

रुद्रदत्त : (साश्चर्य) हैं ! ऐसा क्यों? आपकी बात कुछ विचित्र सी लगती है।

देवलदेवी : (दुखित हृदय से) है तो सचमुच विचित्र ही, फिर भी बात सत्य है ! मुझे क्या ज्ञात था कि चारु पर इतनी गहरी विरक्ति छा गई है, जो कि गार्हस्थ जीवन में प्रविष्ट होने पर भी ज्यों की त्यों बनी रहेगी।

रुद्रदत्त : तो क्या आपने उसे उसके कर्त्तव्य के प्रति सचेत नहीं किया?

देवलदेवी : भाई, मैं तो हिम्मत हार चुकी। अब मेरी बुद्धि भी काम नहीं करती।

रुद्रदत्त : मुझे ऐसी आशा नहीं है भाभी ! कि चारु आपकी आज्ञा का उल्लंघन कर सके, सुशील है वह।

देवलदेवी : हाँ, तो उसने आज्ञा का उल्लंघन कहाँ किया? कहता है आपके आदेशानुसार मैंने विवाह कर लिया। घर भर गया। अब मेरे मन को कुछ स्वतंत्रता दीजिये।

रुद्रदत्त : वाह री स्वतंत्रता।

देवलदेवी : (समझाते हुये) उद्दंडता भी नहीं की। ऊपर से विनयशीलता के साथ अपने व्यवहार के लिये क्षमा याचना भी कर लेता है।

रुद्रदत्त : यह भी खूब रही। (कुछ सोचकर) अच्छा मैं उससे मिलूँगा।

देवलदेवी : उसके मन में किसी भी प्रकार से सांसारिक रुचि जागृत करिये; ताकि यह हरा-भरा परिवार पुनः लहलहा उठे।

रुद्रदत्त : आप निश्चिंत रहें। मनोकामना पूर्ण होगी। अच्छा अब आज्ञा दें।

देवलदेवी : ऐसी जल्दी भी क्या है?

रुद्रदत्त : कुछ आवश्यक कार्य है आप से पुनः शीघ्र मिलूँगा। (खड़े हो जाते हैं।)

देवलदेवी : कृपया चारु का ध्यान न भूलें।

रुद्रदत्त : ऐसी भूल असंभव है भाभी ! चलूँ नमन ! (देवलदेवी भी प्रत्युत्तर में हाथ जोड़ती हैं।)

- पटाक्षेप -

दूसरा-दृश्य

समय : संध्या समय, गोधूलि बेला। (रुद्रदत्त राजपथ पर चलते हुये।)

रुद्रदत्त : (स्वगत) व्यर्थ..... सभी उपाय व्यर्थ सिद्ध हो रहे हैं। पर मैं कब हार मानने वाला हूँ। आखिर हूँ तो उसका चाचा। धूप में थोड़े ही बाल चाँदी किये हैं। आज मेरा अंतिम उपाय है और वह सफल होकर रहेगा। (दृढ़तापूर्वक) देखता हूँ चारु कहाँ भागकर जाता है। **'चाँदी की रेख तमाशा देख'** वसंतमाला के गृह-पथ पर मस्त हाथियों के द्वारा चारुदत्त को घेरकर बाकी सभी मार्ग अवरुद्ध करने का आदेश दे दिया है। नगरवधु, सुन्दरी वसंतमाला और उसकी कन्या वसंततिलका का कहना ही क्या? ऐसा लगता है मानो स्वर्ग से साक्षात् शची ही उतर आई है। एक बार तपस्वी भी विचलित हो उठे। ऐसा मादक सौन्दर्य है। **(प्रस्थान)**

(दूसरी ओर से चारुदत्त को लेकर प्रवेश)

(दोनों घबराये हुये हैं। नेपथ्य से लगातार हटो, भागो, मर जाओगे की ध्वनि आ रही है। हाथियों की चिंघाड़ सुनाई पड़ रही है और भाग दौड़ मची है, भागते हुये व्यक्ति पथ पर दिख रहे हैं।)

चारुदत्त : (हाथ पकड़े हुये) चाचाजी ! इस ओर से भाग चलें।

(दोनों भागते हैं। दो चार कदम चलकर.....)

रुद्रदत्त : (नेपथ्य की ओर देखकर घबराते हुये) देखो चारु ! इस ओर भी भीड़ लगी है। ज्ञात होता है राज्य के मतवाले गज घेरा तोड़कर भाग निकले हैं। हे भगवन् ! अब कैसे प्राण बचेंगे।

चारुदत्त : (नेपथ्य की ओर देख) भागो चाचाजी ! इस ओर भी चिंघाड़ सुनाई पड़ रही है।

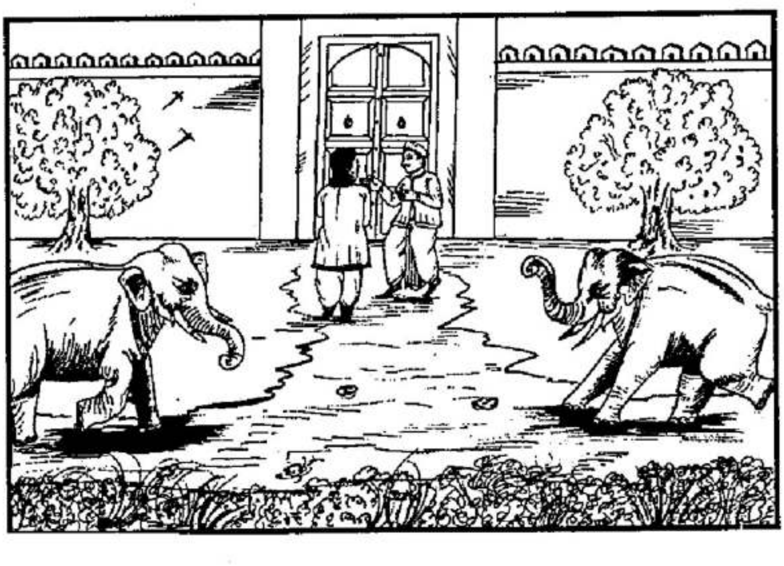

(कभी इस ओर कभी उस ओर भागते हैं। नेपथ्य में बाल-वृद्ध, नर-नारियों का भयातुर करुण क्रन्दन हो रहा है। हटो, भागो की महावतों की आवाज भीड़ रूपी महासागर में विलीन हो जाती है।)

रुद्रदत्त : चलो चारू! वह एक आवास गृह है, वहीं चलें।

चारुदत्त : (साश्चर्य) वसंतमाला कौन देवी हैं? मैंने अपने सम्बन्धियों में इनका नाम नहीं सुना। क्या आपकी परिचित हैं?

रुद्रदत्त : परिचित तो नहीं, परिचय हो जायेगा। फिर गणिका से पूर्व परिचय की आवश्यकता भी नहीं। उसके द्वार सबके लिये सदा ही खुले रहते हैं।

चारुदत्त : (साश्चर्य आँखें फाड़कर) गणिका ! उसका नाम लेना भी पाप है चाचाजी ! उस **रौरव** (भयंकर) नरक में जानबूझकर कौन पैर रखेगा? वहाँ का वातावरण अत्यन्त दुर्गंधित और विषैला रहता है।

रुद्रदत्त : रहे, हमें कौन वहाँ रहना है। संकट से बचने के लिये थोड़े समय आश्रय चाहिये। हाथी भागे और फिर हम अपने पथ पर। हमें उससे क्या लेना देना। (चीख चिल्लाहट नेपथ्य से।)

चारुदत्त : फिर भी चाचाजी ! मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। हाथी के पैरों तले कुचल जाना श्रेष्ठ है; अपेक्षाकृत वेश्या के घिनौने घर में प्रविष्ट होने से।

रुद्रदत्त : पर हम तो केवल आत्मरक्षा हेतु ही चंद समय ठहरेंगे वत्स !

चारुदत्त : पर उस स्थल में मेरा तो सांस लेना भी दुष्कर हो जायेगा। मैं नहीं जाऊँगा।

रुद्रदत्त : (घबराकर) अर्थात् तुम मरना चाहते हो? पर चारु ! मैं तुम्हें मरने नहीं दूँगा। रक्षा के लिये जिस उपाय का अवलंबन लेना पड़ेगा, मैं लूँगा। अरे पागल ! जीवन है तो बहुत धर्म कर लेंगे। शरीर ही नहीं रहा तो.....

चारुदत्त : पर चाचाजी ! गहराई में जाइये तो ज्ञात होगा कि हाथी से कुचले जाने पर शरीर का ही पतन होगा; जबकि वहाँ जाने पर नैतिक पतन होकर इहलोक-परलोक दोनों बिगड़ जायेंगे।

रुद्रदत्त : (चारु का हाथ पकड़कर जबर्दस्ती घसीटते हुये) चारु ! स्वयं पर नहीं तो अपने माता-पिता पर तो दया कर। दोनों की आँखों का तू एक ही तो तारा है। चल-चल सब पाप मैं अपने ऊपर लेता हूँ।

चारुदत्त : पाप-पुण्य किसी के बाँटने से नहीं बँटते चाचाजी ! मैं नहीं जाऊँगा, नहीं जाऊँगा।

रुद्रदत्त : तू अपनी टेक पकड़े है चारु ! जैसे मैं तेरा कोई भी नहीं हूँ।

चारुदत्त : आप कोई आदेश देकर देखिये। हथेली पर प्राण रखकर खेल जाऊँगा।

रुद्रदत्त : (सानुनय) तेरे हाथ जोड़ता हूँ वत्स ! वहाँ जाने का प्रायश्चित कर लेना।

(रुद्रदत्त खींचते हुये ले जाते हैं। चारुदत्त नहीं-नहीं कहता हुआ विवश होकर चला जाता है।)-पटाक्षेप-

तीसरा-दृश्य

स्थान : विलासिनी वसंतमाला का मनोहर प्रासाद।

(रुद्रदत्त और चारुदत्त दोनों वसंतमाला के द्वार पर पहुँच जाते हैं। दोनों सड़क की ओर मुख करके खड़े हो जाते हैं। वेशभूषा से दोनों उच्च कुलीन धनाढ्य दिख रहे हैं। वसंतमाला की कुशल आँखें यह सब ताड़ जाती हैं। वह अपना मोहास्त्र चलाने के लिये इनके निकट संभाषण करने आ जाती है। वह प्रौढ़ युवती है। तरुणाई यद्यपि ढलाव पर है; तथापि सोलह शृंगार किये हुये देखने में सुन्दर रमणी प्रतिभासित हो रही है। वसंतमाला पीछे से आकर मादक मुस्कराहट के साथ इन दोनों का स्वागत करती है।)

वसंतमाला : (मुस्कराते हुये) आइये, आइये श्रेष्ठिवर ! पधारिये। आपके आगमन से हमारी कुटिया पवित्र हुई। प्रकोष्ठ में चलने की कृपा करें।

(दोनों चौंककर पीछे देखते हैं। चारुदत्त घृणा से मुँह फेर लेते हैं। रुद्रदत्त उसकी कमनीयता पर आकर्षित हो विमुग्ध हो उठते हैं। सुधबुध खोकर अपलक रूप रसास्वादन में तन्मय हो जाते हैं। उन्हें उत्तर देने का ध्यान ही नहीं रहता। चारुदत्त चाचा की हालत देखकर ग्लानि से भर उठते हैं। उन्हें वेश्या की मधुरिम वाणी ऐसी लगती है; मानो सहस्रों बिच्छुओं ने एक साथ डस लिया हो। उन्हें ऐसी अनुभूति होती है जैसे रौरव नरक का द्वार खुल गया हो और वहाँ की अत्यन्त विषैली वायु भर-भराकर निकलने लगी हो। वह (चारुदत्त) लपटों से झुलसकर अभी-अभी गिर पड़ेगा। चाचा को मौन सम्मोहित होते देखकर क्रोध भी आता है। तब वह वसंतमाला की ओर बिना देखे ही उत्तर देता है।)

चारुदत्त : (रूक्षता से) नहीं, नहीं हम लोग इधर से जा रहे थे, परन्तु गजराज के उपद्रव के कारण हमें यहाँ रुकना पड़ा।

वसंतमाला : कोई बात नहीं। अच्छा किया आपने। हमारे अहोभाग्य हैं। चलिये अंतर्कक्ष में बैठें, यहाँ द्वार पर खड़े रहकर लज्जित न करें।

चारुदत्त : अब उपद्रव शांत होने में अधिक विलंब नहीं है।

वसंतमाला : फिर भी घड़ी भर बैठने में आपकी क्षति ही क्या? दासी आपका परिचय पाकर कृतार्थ होगी।

रुद्रदत्त : (प्रकृतिस्थ हो) हाँ, हाँ चारु ! चलो अंतर्कक्ष में ही बैठ जायें। खड़े कब तक रहेंगे? देवी की बात भी रह जायेगी। (चारुदत्त क्रोधित मुद्रा में मौन रहते हैं।)

वसंतमाला : हँसती हुई रुद्रदत्त का हाथ पकड़कर हाँ आप ही इन्हें ले चलें श्रेष्ठिवर ! (गहरी सांस लेकर) मुझमें भला इतनी क्षमता कहाँ?

रुद्रदत्त : चलो चारु ! पागलपन न करो। (मंदस्वर से समझाते हुये) बार-बार की अस्वीकारता भली प्रतीत नहीं होती। (हाथ पकड़कर) आओ (विवश से चारुदत्त चले जाते हैं।)

वसंतमाला : विराजिये श्रेष्ठिवर ! (दोनों के बैठने के उपरांत वसंतमाला भी वहीं बैठ जाती है।)

वसंतमाला : (रुद्रदत्त से) श्रेष्ठिन् ! मुझे कुछ ऐसी सुधि आ रही है; जैसे मैंने आपको कहीं देखा है?

रुद्रदत्त : हाँ देवी ! आपकी स्मरण शक्ति की प्रशंसा करनी ही होगी। लगभग एक युग बीत गया। श्रेष्ठि धनपालजी के चिरंजीव के विवाहोपलक्ष्य में उनके सदन में हम लोग निमंत्रित थे। उसी समय अपने परम सौभाग्य के कारण चन्द्र की भी उपेक्षा करने वाली आपकी अनिंद्य रूप राशि का पान किया था। आपका वह मनोहारी नृत्य..... अहा ! आज भी आँखों के सम्मुख साकार हो उठता है।

वसंतमाला : मुझे लज्जित न करें श्रेष्ठिन् ! मैं केवल आप सबकी कृपाकोर पाने की अतृप्त अभिलाषी चरणदासी हूँ।

रुद्रदत्त : यह आपकी महानता है देवी ! जो आप अपने को ऐसा तुच्छ बता रही हैं। सच है ***'हीरा मुख सों ना कहे, बड़ो हमारो मोल'।***

वसंतमाला : (चारुदत्त से) आप संकोच न करें। निश्चिंत होकर बैठें महामन् !

रुद्रदत्त : देवी ! हमारे भतीजे श्रेष्ठी चारुदत्त हैं। इनकी प्रवृत्ति साधु-संतों की सी है। अहर्निश अध्ययन में दत्तचित्त रहते हैं। आज संध्या के समय बहुत आग्रह करने पर नगर भ्रमण हेतु मेरे साथ हो लिये।

वसंतमाला : महान सौभाग्य से सहसा ऐसे महापुरुष के दर्शन लाभ होते हैं। कृतार्थ हुई मैं।

चारुदत्त : (रोष से) चाचाजी ! व्यर्थ की बातों से प्रयोजन ही क्या है?

वसंतमाला : श्रेष्ठिवर ! प्रतिवाद की मैं कोई आवश्यकता नहीं समझती। अच्छे को अच्छा कहना न्यायसंगत है।..... आपकी मुद्रा खिन्न सी प्रतीत हो रही है अनुपयुक्त न समझें तो कहिये कुछ मनोरंजन की व्यवस्था करूँ? (दासी को जोर से पुकार कर) शुभा ! तनिक चौपड़ तो उठा ला।

शुभा : (नेपथ्य से) जी महादेवी ! अभी लाई।

चारुदत्त : नहीं, नहीं चौपड़ खेलने का अवकाश नहीं है। हमें शीघ्र ही जाना है। (शुभा चौपड़ रखकर चली जाती है।)

वसंतमाला : (चौपड़ बिछाते हुए आग्रहपूर्वक) एक बाजी खेलिये न !

चारुदत्त : (दृढ़ता से) नहीं (मुख कुछ तमतमा जाता है)।

वसंतमाला : (चारुदत्त से) रुष्ट न हों कुमार (रुद्रदत्त से) मुझे निराश न करें कृपया आप ही खेलने का कष्ट करें।

रुद्रदत्त : (प्रसन्नता से) अवश्य, अवश्य एक बाजी हो ही जाये।

(दोनों खेलते हैं। चारुदत्त चुपचाप देखते रहते हैं। रुद्रदत्त की हार पर हार होती जाती है।)

वसंतमाला : (बाजी जमाते हुये कटाक्षपूर्वक) श्रेष्ठि कुमार ! देखा आपने अपने चाचाजी को? निरन्तर हार पर हार होती जा रही है। उनकी विजय हेतु तनिक आप भी सहयोग दीजिये। आप जैसे तरुण कुमार के सम्मुख उनका सम्मान जैसे अरक्षित सा हो उठा है।

चारुदत्त : (व्याकुल होकर चुनौती स्वीकार करते हुये) किन्तु आप मुझे हरा न सकेंगी। चाचाजी! लाइये पांसे। इस बार आपकी ओर से मैं खेलूँगा।

वसंतमाला : बिना खेले ही मैं आपसे हार मानती हूँ कुमार ! सचमुच मुझ वृद्धा का आपके साथ खेलना शोभास्पद नहीं कहा जा सकता। आप सुन्दर कामकुमार हैं। साथ ही मेरी पुत्री भी सुकुमारी वसंततिलका अत्यन्त सुन्दरी व इस कला में निपुण है। आप दोनों की युगल जोड़ी मनोरम होगी। कृपया उसके साथ खेलकर आप अपनी प्रवीणता का परिचय दें। बेटी तिलका ! (वसंततिलका का प्रवेश)।

वसंततिलका : कहिये माताजी ! (इन दोनों को देख वह लजाकर ठिठक जाती है।)

वसंतमाला : आओ, आओ बेटी। ये कोई पराये थोड़े ही हैं।

वसंततिलका : (लजाते हुये) नमस्कार !

वसंतमाला : बेटी ! श्रेष्ठिकुमार की तुम्हारे साथ चौपड़ खेलने की आकांक्षा है। जाओ अपने अन्तर्कक्ष में ले जाओ। ध्यान रहे अतिथि की रुचि की अवमानना न होने पाये।

वसंततिलका : आइये, अंतर्कक्ष में आपका स्वागत है। (विशेष आग्रहपूर्वक) आइये। (चारुदत्त चले जाते हैं।)

रुद्रदत्त : मेरा कार्य समाप्त हुआ देवी ! आप चारुदत्त को काम कला में निपुण करके ही घर भेजोगी। ऐसा मेरा विश्वास है। मैं अब जाना चाहूँगा।

वसंतमाला : आप निश्चिंत रहें श्रेष्ठिन् ! मेरे आवास में आकर कोई अनभिज्ञ नहीं रहा है।

रुद्रदत्त : (जेब से कुछ अशर्फियाँ निकालकर देते हुये) लो, यह रही आपकी दक्षिणा। नमस्कार!

वसंतमाला : (लेकर) नमस्कार !

वसंतमाला : (विचारते हुये, स्वगत) अभी जाकर किसी न किसी छल से चारुदत्त को मोहन चूर्ण सुंघा देना ही उचित रहेगा। अन्यथा इस धर्मात्मा सम्पत्तिशील पुरुष के समक्ष सारे कला कौशल व्यर्थ हो जायेंगे।... कहीं सोने का पंछी उड़ न जाये नहीं तो करोड़ों की निधि कैसे हाथ लगेगी? नहीं, नहीं ऐसी मूर्खता कर मैं जीवन भर पछताने की भूल करूँ, असंभव है। (दृढ़ता से) चारुदत्त ! अब तेरा मेरे हाथ से बच निकलना दुःसाध्य ही नहीं असाध्य है। चलूँ, देखूँ क्या हो रहा है।

(इतने में अंतर्कक्ष से चारुदत्त बाहर आते हैं, उनके बाहर आने पर वे अपने चाचा रुद्रदत्त को वहाँ नहीं पाते हैं तो घबड़ाकर अकेले ही वहाँ से निकल जाना चाहते हैं। परन्तु वसंतमाला ने यह कहकर रोका "कि तुम्हारे चाचा शीघ्र ही तुम्हें लेने आ रहे हैं, अतः तब तक आप यहीं ठहरें अन्यथा मेरा जीवन संकट में पड़ जायेगा।" – यह सुनकर चारुदत्त को वहाँ परवश रुकना पड़ा, क्योंकि वे अपने कारण किसी दूसरे को संकट में नहीं डालना चाहते थे।)

वसंतमाला मौका देख कर मोहनचूर्ण सुंघा देती है, मोहनचूर्ण सूंघने के पश्चात् चारुदत्त मोहित हो जाते हैं और फिर सारी रात वसंततिलका के यहाँ ही रुकने के कारण अब घर जाने में संकोच कर वहीं रुक जाते हैं। साथ ही उस अल्प समय हुई वसंततिलका की संगति और मोहनचूर्ण से वहीं रम जाते हैं।

- पटाक्षेप -

चतुर्थ-दृश्य

(तीन वर्ष पश्चात् - वारांगना वसंतमाला का प्रासाद)

समय : रात्रि का प्रथम प्रहर।

(वसंततिलका के कक्ष में चारुदत्त और वसंततिलका का वार्तालाप।)

वसंततिलका : श्रेष्ठिपुत्र ! आज पूर्णिमा का चन्द्र कितना सुहावना लग रहा है।

चारुदत्त : (स्नेहपूर्वक) हाँ देवी ! कवियों के लिये सुहावना होते हुये भी तुम्हारी अनुपम सुन्दरता के सम्मुख हेय सा प्रतीत होता है।

वसंततिलका : (कटाक्ष करते हुये) ज्ञात होता है आपको मेरी प्रशंसा करने का रोग सा हो गया है। जब देखो तब.....

चारुदत्त : (मुस्कराते हुये) क्या सच बात कहने को रोग की संज्ञा दी जाती है सुमुखि?

वसंततिलका : सदैव किसी व्यक्ति विशेष के गीत गाना रोग नहीं तो और क्या है? मुझमें अनेकों त्रुटियाँ होना स्वाभाविक है, किन्तु आपने कभी बतलाने का कष्ट नहीं किया।

चारुदत्त : मुझे तुममें कोई त्रुटि दृष्टिगत होती ही नहीं। ऐसा मालूम पड़ता है मानो तुम्हारा निर्माण चुन-चुन कर सुन्दरतम कणों से हुआ है।

वसंततिलका : यह कहकर आप अतिक्रमण कर रहे हैं श्रेष्ठिपुत्र !... कदाचित् उपहास भी।

चारुदत्त : (गंभीरतापूर्वक) नहीं... कभी नहीं, तुम मेरे रोम-रोम में परिव्याप्त हो चुकी हो शुभे!

वसंततिलका : (उदास हो) धृष्टता क्षमा करें नाथ ! एक बात कहना चाहूँगी।

चारुदत्त : प्रसन्नतापूर्वक कहो देवी !

वसंततिलका : बहुत दिनों से एक बात मन में छिपाये बैठी हूँ। पर.....

चारुदत्त : अविलम्ब कहो। तुम विलम्ब कर व्यर्थ ही मेरी उत्सुकता बढ़ा रही हो।

वसंततिलका : बात यों है.....

चारुदत्त : चुप क्यों हो गईं। शीघ्रातिशीघ्र कहकर विकलता शान्त करो।

वसंततिलका : सोचती हूँ कि मन की बात कहकर कहीं आपको खो न बैठूँ।

चारुदत्त : (आश्चर्यान्वित हो) मुझे न खो बैठो; इसका तात्पर्य? ऐसा विचार ही तुम्हारे हृदय

में क्यों कर उद्भूत हुआ? जब से आया हूँ एक क्षण के लिये भी तुमसे विलग नहीं हुआ।

वसंततिलका : मुझे शंका है कि मेरी बात श्रवण करने मात्र से कहीं आपकी पूर्व विचारधारा पुनः प्रवाहित न हो उठे एवं पिंजड़े का पंछी उन्मुक्त हो गगन में न उड़ जाये।

चारुदत्त : ऐसी अनोखी बात है? फिर भी विश्वास रखो प्रिये ! पंछी को पिंजड़ा अत्यन्त प्रिय लगने लगा है। वह इस अवस्था का चिर अभ्यस्त हो चुका है। निकालने पर भी नहीं निकलेगा।

वसंततिलका : आह! यह तो और भी अनर्थ हुआ।

चारुदत्त : ओफ ओ ! आखिर तुम कहना क्या चाहती हो? केवल पहेलियाँ ही मत बुझाओ। स्पष्ट कहो, सुनने हेतु क्षण-क्षण व्यग्रता बढ़ती जा रही है।

वसंततिलका : जन- श्रुति थी कि आप धर्मभीरु, विषय भोगों से अत्यन्त विरक्त थे; परन्तु मैंने इतने दिनों के सहवास में इसके बिल्कुल ही विपरीत अनुभव किया। कृपया आप स्पष्टीकरण करें कि मैं अपने कानों पर विश्वास करूँ अथवा आँखों पर?

चारुदत्त : (एक क्षण उदास हो पुनः जोर से हँसते हुये) हः हः..... देवी ! जो तुमने सुना है वह भी सच है, देख रही हो इसमें भी शंका का स्थान ही नहीं है।

वसंततिलका : सचमुच क्या मानव स्वभाव इतना परिवर्तित हो सकता है?

चारुदत्त : सारा संसार ही परिवर्तनशील है देवी ! फिर मानव स्वभाव इससे अछूता कैसे रह सकता है? परिवर्तन का ही दूसरा नाम संसार है। तुम जैसी रमणी रत्न को पाकर मेरी आँखें खुल गईं। मैंने जाना कि सुख क्या चीज है। तुम्हारे साथ संसार के सुख का यथार्थतः उपभोग कर सका। इन्द्रियों के दमन से जीवन नीरस हो गया था और सच तो यह है कि मुझे इसके पूर्व विषय-भोगों का रस ही नहीं आया था, तो ग्रहण कैसे करता? सच्चा आनन्द तो अब प्राप्त हुआ है। तीन वसंत निकल गये तुम्हारे साथ क्रीड़ा करते-करते; पर अतृप्ति अभी भी पूर्ववत् बनी हुई है। निरन्तर आकांक्षायें उग्र उग्रतर होती जाती हैं। कभी-कभी ऐसी कामना होती है कि तुम्हें पलकों की ओट में कर लूँ। पर क्या करूँ?..... काश ! ऐसा हो सकता तो कितना अनुपमेय सुख प्राप्त होता?

वसंततिलका : आप बहक रहे हैं श्रेष्ठिकुंवर ! इस भौतिक सुख में लालसा का जो अदम्य प्रवाह प्रवाहित हो रहा है, वह प्राणी को अवनति के गहन गर्त में पटक देता है। जीवन समाप्त हो जाता है। वासना मस्तक धुनती है और मनुष्य कहीं का नहीं रहता।

चारुदत्त : तुम्हारे हृदय में दार्शनिकता कैसे प्रवेश पा गई, जो ऐसी बातें कर रही हो? आश्चर्य ! अत्यन्त आश्चर्य ! ! मुझे कामकेलि की शिक्षा देने वाली शिक्षिका आज विराग का मंत्र जप रही है। कदाचित् मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ?

वसंततिलका : स्वप्न आप नहीं, मैं देख रही हूँ। श्रेष्ठी भानुदत्त के परम अध्यात्मवेत्ता सुपुत्र श्रीमान् श्रेष्ठी चारुदत्तजी नगरवधू वसंततिलका के विलास भवन में तीन वर्ष से निवास कर रहे हैं।

चारुदत्त : देवी ! इसका श्रेय सम्पूर्णतः तुम्हें ही है। तुमने मेरे जीवन का पथ प्रशस्त किया है। अभी तक मैं अहर्निश ग्रन्थों में ही उलझा रहा एवं तरुणाई के बीते अमूल्य वसंत अपनी अज्ञानता के कारण यूँ ही खो दिये। इस लोक की सर्व सुलभ सामग्री का उपयोग न कर परलोक सुधारने में लगा रहा। अब विचार करता हूँ कि वे कितने मंगलमय सुखद क्षण थे; जब मैंने अमरपुरी सदृश तुम्हारे भवन में प्रवेश किया था।

वसंततिलका : पर मैं तो आपसे कुछ और ही आश लगाये हुए थी।

चारुदत्त : वह क्या?

वसंततिलका : मैं आपसे धर्मशास्त्र की शिक्षा चाहती थी।

चारुदत्त : इस पागलपन के चक्र में मत पड़ो प्रिये ! सरस जीवन को विरस कर अपने हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी न पटको।

वसंततिलका : नहीं नाथ ! धर्मशास्त्र जीवन को नीरस नहीं, अपितु मानव जीवन को सार्थक बना देते हैं।

चारुदत्त : ज्ञात होता है तुम्हें किसी प्रकरण से अंतस्तल में मार्मिक चोट पहुँची है। इसका उपचार करना चाहती हो? परन्तु भद्रे ! यह उपचार उपयुक्त नहीं है। करोड़ों दीनारें तुम्हारे चरणों में अर्पित कर चुका हूँ और भी अपने मन की अभिलाषा प्रकट करो।

वसंततिलका : यह आपका सौजन्य है श्रेष्ठीकुंवर ! पर मैं आपके अमित प्रेम से ही तृप्त होती आई हूँ। ये वैभव का प्रदर्शन मुझे निस्सार सा लगता है।

चारुदत्त : किन्तु बिना ऐश्वर्य के मानव जीवन भी व्यर्थ है। संपत्ति के अभाव में जीवन की आवश्यकताओं की संपूर्ति कैसे हो?

वसंततिलका : आपका कथन नितान्त सत्य है, परन्तु जीवन निर्वाह हेतु अतुल निधि ही

अनिवार्य नहीं है नाथ ! **आवश्यकताओं को सीमित करने से भी जीवन चल सकता है।**

चारुदत्त : तो क्या ये वस्तुएँ सब व्यर्थ हैं?

वसंततिलका : मैं पुनः आपसे आग्रह करूँगी कि आप अपनी इस भूल को अवश्य ही सुधार लें।

चारुदत्त : मेरी बातों में भूल को स्थान कहाँ है प्रिये !

वसंततिलका : भूल को स्थान नहीं, अपितु यह जीवन की सबसे विशाल भूल होगी श्रेष्ठिपुत्र !

चारुदत्त : तुम कभी-कभी सूक्ष्म विचारक की तरह दर्शनशास्त्र के गंभीर रहस्य का उद्घाटन करने में समस्त चातुर्य लगा देती हो।

वसंततिलका : भला मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ नाथ ! मुझमें इतनी बुद्धि ही नहीं है।

चारुदत्त : अपने मुँह भला कौन सज्जन अपनी प्रशंसा करता है? सच बताओ देवी ! क्या तुम्हें वैभव सुहावना नहीं लगता है?

वसंततिलका : यों तो प्रत्येक प्राणी सुख का आकांक्षी है। मेरे अंतर में भी सुख-लालसा की अगणित जिह्वायें लपलपा रही हैं। उनके आक्रमण से ही संत्रस्त हो, मैं इस विलासी प्रवृत्ति को अपनाये हुये हूँ। **शारीरिक तुष्टि के अर्थ पौष्टिक सुस्वादु मधुर व्यंजन, ऐच्छिक मृदुल परिधान, रत्नजड़ित आभूषण एवं सेवा में दास-दासियों के अतिरिक्त संचित निधि का उपयोग क्या है? शेष निधि केवल भण्डारगृह की शोभा ही बढ़ाती है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि वह कंकड़ों के ढ़ेर की तरह किसी काम न आने वाली तुच्छ वस्तु है।**

चारुदत्त : तुच्छ वस्तु नहीं है देवी !

वसंततिलका : (किंचित् आवेशपूर्वक) और क्या है? जो वस्तु किन्हीं अभावग्रस्त मनुष्यों के उपयोग में न आकर निरुपयोगी हो केवल भण्डारगृह की शोभा बढ़ाये, वह नगण्य नहीं तो और क्या है?

चारुदत्त : जिसे तुम नगण्य कह रही हो; उसी निधि के सद्भाव में व्यक्ति समाज में अग्रणी बन जाता है। संसार की सभी छोटी-बड़ी समस्यायें इसी से हल होती हैं। निर्धन व्यक्ति का जीवन विषमता में ही संघर्ष करते हुये व्यतीत होता है, वह सुख चैन जानता ही नहीं।

वसंततिलका : फिर भी संतोष में जो अकथनीय आनन्द आता है, वह भोगों की

तृष्णा में नहीं। लक्ष्मी से कहीं अधिक सरस्वती के गुण गाये जाते हैं। विद्या ही अमूल्य निधि है, सम्पत्ति पुण्य की चेरी है। पुण्य क्षीण हुआ और वह अनजाने में ही चल देती है। मनुष्य करुण विलाप करता रह जाता है। लक्ष्मी रहती है तो मनुष्य भोग-उपभोग की सामग्री जुटाने व भोगने में व्यस्त रहता है यदि किसी कारणवश मनचाहा उपभोग न कर सका तो तृष्णा के कारण विकल रहता है अर्थात् पाप से अनुबंध कराने वाली संपत्ति प्रत्येक अवस्था में दुःखप्रद ही होती है। काश ! अपनी संपत्ति भी कभी चल दे तो?

चारूदत्त : (वसंततिलका का मुँह बंद करते हुये) नहीं-नहीं संपत्ति क्षीणता की कल्पना भी योग्य नहीं। तुम आनन्दपूर्वक रहो।

वसंततिलका : क्या मेरी प्रार्थना व्यर्थ होगी? मैं पति की सच्ची अर्द्धांगनी न बन सकूँगी? (दुःखित हो) प्रभो ! किस दुष्कृत्य के फल से मैं वेश्या के घर जन्मीं, जिससे सर्व सामग्री उपलब्ध होते हुये भी कल्याणकारिणी आध्यात्मिक विद्या प्राप्ति की साध मन में ही रह जायेगी।

चारुदत्त : देवी ! इतनी प्रबल जिज्ञासा जागृत है तो उसे मैं अवश्यमेव शान्त करूँगा। कल प्रभात से ही तुम्हारा अध्ययन प्रारम्भ होगा।

वसंततिलका : इस विशद उपकार के लिये मैं आपकी आजीवन चिर कृतज्ञ रहूँगी।

चारुदत्त : अब तो प्रसन्न हो? (हाथ पकड़कर) उठो विश्राम किया जाए।

(वसंततिलका की दासी सुनयना का प्रवेश)

सुनयना : (झुककर अभिवादन करती हुई) महादेवी ! श्रेष्ठी भानुदत्त के गृह से आर्य सोमभद्र पधारे हैं।

चारुदत्त : यह समय मिलने का नहीं। उससे कहो, प्रातःकाल आये।

सुनयना : (विनयपूर्वक) श्रेष्ठिकुंवर ! मैंने उनसे यही निवेदन किया था। परन्तु आवश्यक कार्य होने के कारण वे इसी समय आपसे भेंट करना चाहते हैं।

वसंततिलका : सुनयना ! उन्हें यहीं ले आओ।

चारुदत्त : (सुनयना से) ठहरो। (वसंततिलका से) देवी ! रात्रि का प्रथम प्रहर समाप्त हो चुका है। निद्रा पलकों में समा जाना चाहती है। मैं विश्राम करूँगा। उसे जाने दो।

वसंततिलका : यह आपका दुराग्रह होगा श्रेष्ठिपुत्र !

चारुदत्त : नहीं भद्रे ! मैं जानता हूँ वह यहाँ से शीघ्र नहीं टलेगा। मुहूर्त्त दो मुहूर्त्त अवश्यमेव जागरण करना पड़ेगा।

वसंततिलका : फिर भी भेंट करना अनिवार्य है। जाओ सुनयना उन्हें ले आओ।

(सुनयना आर्य सोमभद्र को अन्तर्कक्ष में भेजकर लौट जाती है। सोमभद्र को देख वसंततिलका भी कक्ष से बाहर हो जाती है।)

सोमभद्र : (झुककर दोनों हाथ अभिवादन की मुद्रा में) नमस्कार कुमार !

चारुदत्त : (रुक्षता से) कहो सोमभद्र ! असमय में तुम कैसे आये?

सोमभद्र : (दुखित हो) रोग में इतना विवेक नहीं कुमार कि वह समय-असमय का ध्यान रख सके। माताजी अनायास अस्वस्थ हो गईं हैं। उन्होंने आपको बुलाया है।

चारुदत्त : मैं क्या करूँगा वहाँ जाकर? किसी कुशल चिकित्सक को बुलाकर दिखला दो। यहाँ आकर तुमने व्यर्थ ही समय नष्ट किया।

सोमभद्र : उपचार बराबर हो रहे हैं; किन्तु लाभ दृष्टिगोचर नहीं हो रहा। गृह स्वामिनी ने घबराकर आपको बुला लाने का आदेश दिया है।

चारुदत्त : तुम देवी मित्रवती से कहना कि वें घबरायें नहीं; धैर्य धारण कर मातुश्री को नियमपूर्वक औषधि देती रहें। ताकि वे शीघ्र स्वास्थ्य लाभ कर सकें।

सोमभद्र : आप भी चलें। स्वामिनी आपकी राह देख रही हैं।

चारुदत्त : सोमभद्र ! आर्या मित्रवती स्वयं विदुषी हैं। वे माताजी की परिचर्या सुचारू रूप से करेंगी। तुम जाओ।

सोमभद्र : अकेला कैसे जाऊँ? घर जाकर क्या उत्तर दूँगा।

चारुदत्त : सोमभद्र ! कुछ बुद्धि से काम लेना सीखो। मेरी वहाँ क्या आवश्यकता? मित्रवती से उत्तम सेवा मैं नहीं कर सकूँगा। उन्हें अपने कर्त्तव्य का पूर्ण ज्ञान व ध्यान है। तुम जाओ। रात्रि गहरी हो रही है। मैं विश्राम करूँगा।

सोमभद्र : आप घर चलकर भी विश्राम कर सकते हैं कुमार ! क्या माताजी की सेवा करना आपका धर्म नहीं?

चारुदत्त : (रोषपूर्वक) मुझे तुम्हारे उपदेश की आवश्यकता नहीं। तुम जाओ। यहाँ पर समय गँवाने की अपेक्षा घर पर जाकर माताजी की सेवा में हाथ बटाओ।

सोमभद्र : (गला भर आता है) कुमार ! कठोरता की सीमा का भी अतिक्रमण कर गये। जिस माँ ने आपका लालन-पालन कर बड़ा किया। जिसकी सारी आशाएँ अपने लाड़ले पुत्र पर ही केन्द्रित हैं; उनके लिये आपकी यह भावना ! विचार करें कुमार! आप कितने अनुचित मार्ग पर बढ़ रहे हैं।

चारुदत्त : (कठोर हो आदेशात्मक स्वर में) सोमभद्र ! मैं कहता हूँ तुम जाओ।

सोमभद्र : (दृढ़तापूर्वक) नहीं जाऊँगा। मैं आपको लेने आया हूँ, लेकर ही जाऊँगा। माताजी आपके लिये तरस रही हैं कुमार ! (चारुदत्त मौन नतमस्तक हैं, सोमभद्र की आँखें सजल हो जाती हैं) आपके हाथ जोड़ता हूँ आपसे बार-बार प्रार्थना है कि आप घर चलें। कदाचित् आपके दर्शन मात्र से वे स्वस्थ हो जायें।

चारुदत्त : पागल हो गये हो सोमभद्र ! रोग औषधि से ही नष्ट होते हैं। व्यक्ति के दर्शन से नहीं। देखो, निद्रा से मेरी पलकें बोझिल हो रही हैं; अतः मैं नहीं जा सकूँगा, तुम जाओ माताजी की उचित परिचर्या करो।

सोमभद्र : कुमार ! मुझे आपसे ऐसी आशा नहीं थी। आप विचार करें। अभी नहीं तो कल प्रातःकाल निश्चित ही पधारें। (सोमभद्र का प्रस्थान)

- पटाक्षेप -

पंचम-दृश्य

समय : रात्रि का प्रथम प्रहर।

(पुत्र वियोग से दुखित देवलदेवी अस्वस्थ अवस्था में शय्या पर लेटी हैं। श्वेत वसना सादगी से परिपूर्ण वधू मित्रवती उनके माथे में शीतलता लाने वाली औषधि को मंद-मंद गति से मल रही हैं।)

देवलदेवी : (लेटे हुये ठंडी सांस भरकर) नहीं आया निष्ठुर ! वेश्या ने उसकी सारी मति भ्रष्ट कर दी। हे प्रभो ! कहाँ सो गया उसका विवेक।

मित्रवती : (दुखित हृदय से) वेश्या क्या करेगी माताजी ! जब मनुष्य स्वयं ही पथभ्रष्ट हो जाये।

देवलदेवी : परन्तु चारु का पतन होने में उस दुष्ट वेश्या का ही प्रमुख हाथ है। उस अभागिन ने मेरी बगिया में आग लगा दी। (दुःख व रोष मिश्रित स्वर में) मेरी भरी गोद से मेरा प्यारा लाल छीन लिया। (रोते हुये मित्रवती की पीठ पर हाथ फेरते हुये) मेरी मित्रा के सुहाग को लूट लिया।

मित्रवती : शान्त हों माताजी ! विश्राम लें। आपका स्वास्थ दिन-प्रतिदिन गिरता जा रहा है। अहर्निश चिन्ता कर तन को घुला बैठी हैं आप।

देवलदेवी : क्या करूँ बेटी ! तेरा मुख देखकर छाती छलनी हुई जाती है। इस तरुण वय में कैसा कष्ट? काश ! वेदना बाँटी जा सकती तो मैं ही सब ले लेती। अपनी फूल सी सुकुमारी सरल मित्रा को तनिक भी व्यथा न होने देती। किन्तु यह सर्वथा असंभव है।

मित्रवती : माताजी ! आप इतनी धैर्यवान होते हुये भी मोह से विह्वल हो गई हैं। यदि सुख-दुःख बाँटे जा सकते तो सिद्धान्तों की मान्यता कहाँ रहती? बीज कोई बोये, फल कोई और खाये। ऐसा कैसे हो सकता है?

देवलदेवी : बेटी ! सांसारिक व्यवहार ऐसे ही चलता है। माता-पिता, संतान के लिये द्रव्य उपार्जन कर रख जाते हैं। पर ये ठहरे करनी के बीज, जिसने बोये हों, वही भोगता है। हे प्रभु ! मेरे लाल को सुबुद्धि दो।

मित्रवती : इसीलिये तो कहती हूँ कि आप आठों प्रहर चिन्तित न रहा करें।

देवलदेवी : तू ठीक कहती है मित्रा ! पर ये कैसे हो सकता है कि तू जिस दुःख में घुले; उस दुःख का मुझ पर प्रभाव न पड़े। अरे मैं उठते-बैठते तेरी पीड़ा की ही अनुभूति किया करती हूँ। इतना सब होते हुये भी तेरे दुःख को लेशमात्र भी न्यून नहीं कर पा रही हूँ।

मित्रवती : माताजी ! आपके स्नेह दान ने ही मुझमें धैर्य की अंतःप्रेरणा दी है। आपकी संगति ही मुझमें नित नवीन साहस का संचार किया करती है।

देवलदेवी : तू कितनी अच्छी है बेटी ! अपना बज्र सा दुःख भुलाकर मेरी परिचर्या में सदैव व्यस्त रहती है।

मित्रवती : आपकी सेवा करना मेरा परम कर्त्तव्य है माताजी ! इसमें चूक करके मैं पुण्य का अर्जन किस प्रकार कर सकूँगी। सेवा से ही मेवा मिलता है।

देवलदेवी : तेरी धीरता, बुद्धिमत्ता कैसे सराहूँ? मेरे पास उपयुक्त वचन ही शेष नहीं हैं।

मित्रवती : व्यर्थ की सराहना कर मुझे लज्जित न करें मातुश्री ! जीवन संघर्ष में आपका आशीर्वाद ही मुझे विजित बनायेगा।

देवलदेवी : ऐसा ही हो बेटी ! तुझे पाकर अपार प्रसन्नता है। मैं कृतकृत्य हो गई हूँ। तुझ

जैसी वधू से मेरा कुल दीप्त हो उठा है। तेरा मुँह देखकर ही चारु के लिये मेरा मन दुःखित रहता है, वरना उस कपूत निर्मोही का नाम भी नहीं लेती।

मित्रवती : माताजी ! आज प्रातः स्वाध्याय करते समय सुखी रहने का सूत्र मिल गया। बड़ा ही सरल और सुरुचिपूर्ण है।

देवलदेवी : वह क्या है बेटी ! मुझे भी बता।

मित्रवती : आचार्यों का कथन कितना सुन्दर है कि हे प्राणी ! **तू अपनी आत्मा को क्रोधादि कषाय भावों से कषैला कर अपने स्वभाव से विमुख न हो। मोह से विकृत स्वभाव ही दुःखदाई है। आत्मा से भिन्न जितने भी पदार्थ हैं, उनमें अहं भाव को न जगा। वे पर हैं। कभी अपने नहीं होते। फिर भी तू उन्हें अपनाकर व्यर्थ ही क्लेश का अनुभव कर निरन्तर अनुतापित होता रहता है।**

देवलदेवी : कथन सर्वथा सत्य है, पर संसार के प्राणी अनादिकाल से ही मोह जनित संस्कारों के कारण मूर्छित हो रहे हैं। अतएव ये सदुपयोग रूपी अमृत कंठ के नीचे नहीं उतरता। न ही दुःखों की समाप्ति होती है।

मित्रवती : माताजी ! लोकोक्ति है कि संकट में मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ विशेष जाग्रत हो जाती हैं। मन को नियंत्रित कर यदि उपयोग स्वभाव में लगाया जाए तो वे चौमुखी प्रगति कर कीचड़ में कमल उत्पन्न कर देती हैं।

देवलदेवी : कुछ भी कह मित्रा ! इस समय मेरी बुद्धि कुंठित हो गई है। अनजाने ही मैं तेरे सुख में बाधक बन गई और उस दुष्टा ने सर्वस्व ही हरण कर लिया।

मित्रवती : माताजी ! आप अपने हृदय से यह काँटा निकाल दें कि आपके कारण अनर्थ हुआ है। यह मात्र मन का भ्रम है। रही उस नगरवधू की बात सो वेश्यावृत्ति ही उसकी आजीविका है। निकृष्ट कार्य से निधि संग्रह करने वाली सतीत्व की पवित्रता या पति वियोग के दुःख की अनुभूति कैसे कर सकती है?

देवलदेवी : आखिर है तो वह भी नारी। संतान को जन्म उसने भी दिया है।

मित्रवती : माताजी ! आप इतनी समझदार होकर भी कैसी बहकी-बहकी सी बातें कर रही हैं। संतान को जन्म देकर भी उसके हृदय में ममता कहाँ जागी? वेश्याओं को अनचाही संतान उत्पन्न हो जाती है। संतानोत्पत्ति तो उनकी भोगेषणा में बाधक ही बनती है।

देवलदेवी : मित्रा ! तू परीक्षा में खरी उतरी ! तेरा धैर्य देखकर मुझे सीता, अंजना-सी सतियों की सुधि हो आती है। उन्हीं सतियों की श्रेणी में तेरा स्थान भी सुरक्षित है।

मित्रवती : ऐसी भाग्यशालिनी मैं कहाँ हूँ माताजी ! उनके चरण रज की कणिका भी बन सकूँ ऐसी मुझमें सामर्थ्य नहीं।

देवलदेवी : अपने-अपने समय के देशकाल को देखते हुये मैं मिथ्या नहीं कह रही हूँ। न जाने उस अभागिन ने कैसी मोहिनी पिलाई कि चारु घरबार, माँ-बाप, पत्नी, लोक-लाज, धर्म-कर्म सब भुला बैठा।

मित्रवती : इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा माताजी ! और कुछ कहें तो भी क्या?

(श्रेष्ठी भानुदत्त का प्रवेश। वे पिछले वाक्य सुन लेते हैं।)

भानुदत्त : (दुःख भरे स्वर में) अपने हाथों अपने पैर काटकर उसे दुर्भाग्य नहीं कहा जाता बेटी !

देवलदेवी : आप यथार्थ कह रहे हैं नाथ ! जाने किस बुरे मुहूर्त्त में मैंने रुद्रदत्तजी को बुलाया। उनका आगमन ही हमें महान कष्टप्रद हो गया। इससे तो उत्तम यही था कि वह घर पर रहकर आत्मकल्याण में लीन रहता।

भानुदत्त : साथ ही जब चाहो तब देख सकते थे। सांसारिक भोगों से उदास होते हुये भी हम लोगों की सेवा स्वास्थ्य का पूर्णरूपेण ध्यान रखता था। कर्त्तव्य पालन में वह दृढ़ था। पर तुमने उसे नरक में जाने को विवश कर दिया।

देवलदेवी : आह ! ऐसा न कहें स्वामिन् ! मैं क्या जानती थी कि रुद्रदत्तजी चारु को मार्ग पर लाने के लिये यह निकृष्ट कुचक्र रचेंगे। मेरा पुत्र घर में रहकर ही क्या बुरा था। कभी उसने मेरी आज्ञा नहीं टाली। उस जैसा सज्जन पुत्र पाकर मैं अपने को धन्य समझती थी।

भानुदत्त : और अब तुम्हारी गंभीर अवस्था जानकर भी वह नहीं आया। नाश हो इन गणिकाओं का। इन्होंने न जाने कितनी गृहस्थियाँ नष्ट कर दीं। कितने माँ-बापों को तड़पाया। कितनी सुहागिनों को आँखें भर-भर रुलाया।

मित्रवती : तात् ! कृपया मन अशांत न करें। सृष्टि का यह अनादि-निधन नियम है कि कोई सुखी, कोई दुःखी। पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म ही प्राणियों के ऐन्द्रिय सुखों में व्यवधान डाला करते हैं। हमें अपने विभावों से लड़ना होगा। हम इन पर विजय पाकर ही कभी नष्ट न होने वाला सच्चा आत्मसुख प्राप्त कर सकेंगे।

भानुदत्त : बेटी ! ये श्रमण मार्ग है। हम गृहस्थाश्रम में रहकर इसे नहीं अपना सकते। हमें गृहस्थोचित कार्यों के करने की ही क्षमता का अभ्यास करना चाहिये।

देवलदेवी : हाँ पुरुषार्थ करना अपना कर्त्तव्य है। ------ सतत् अध्यात्म रस में लिप्त रहने वाला धर्मभीरु सन्मार्गी पथिक चारु कैसे एकदम विमुख हो गया। वह भी एक संध्या में। आश्चर्य ! घोर आश्चर्य !

मित्रवती : भविष्य सदा ही अज्ञात रहता है माताजी ! सचमुच इसकी कल्पना भी नहीं थी कि माँ की अगाध ममता काँच की तरह टूटकर चूर-चूर होकर बिल्कुल नष्ट हो जायेगी।

भानुदत्त : देखो न, दुर्व्यसन में इतना फँसा कि माँ की अस्वस्थता का समाचार जानकर भी वह घड़ी भर के लिये उस कीच से न निकल सका। क्या कहें उस दुर्बुद्धि को?

मित्रवती : अब तो हमें धैर्य का ही सहारा लेना होगा तात् ! अन्य उपाय भी निःशेष हो गये हैं।

भानुदत्त : नहीं बेटी ! कोई न कोई उपाय अवश्य निकलेगा। मैं प्रयत्न करूँगा। (देवलदेवी से, जैसे अनायास कोई बात याद आ जाती है।) कहो, ये कैसा रहेगा कि मैं अपनी बीमारी या मृत्यु का संवाद भेज दूँ?

मित्रवती : तात् ! कृपया ऐसे अमांगलीक वचन न कहें। दुःख होता है।

भानुदत्त : (फीकी हँसी हँसकर) पगली ! क्या कथन मात्र से मैं मर जाऊँगा। ऊँह..... यह तो एक दाव है। कदाचित् हम सफल हो जायें।

मित्रवती : रात्रि गहरा रही है तात् ! अब आप शयन करें। माताजी भी लगातार तीन दिनों से बिल्कुल भी नहीं सो सकीं हैं। अतएव अस्वस्थता अधिक बढ़ गई है। यदि कुछ समय भी निद्रा आ जाये तो थके हुये मानस को शांति लाभ हो। अच्छा हो हम सब मंगल स्वरूप प्रभु का स्मरण कर विश्राम करें।

देवलदेवी : आर्य श्रेष्ठ ! मित्रवती हम लोगों का बहुत ध्यान रखती है। अपने कार्यों, सद्गुणों से हमें निहाल कर दिया है।

भानुदत्त : पुण्योदय से बेटे का अभाव वधू पूरा कर रही है। अच्छा तुम दोनों आराम करो। मैं भी जाता हूँ।

- पटाक्षेप -

तृतीय-अंक

प्रथम-दृश्य

समय : मध्यान्ह।

स्थान : वारांगना वसंतमाला का प्रासाद।

(चारुदत्त और वसंततिलका अंतर्कक्ष में बैठे वार्तालाप कर रहे हैं। तख्त पर कालीन बिछा है। शिरोधान रखे हुये हैं। दोनों शिरोधान के सहारे अधलेटे से प्रसन्न मुद्रा में बातें कर रहे हैं।)

वसंततिलका : आर्य श्रेष्ठ ! आपसे मैं कितनी बार अनुरोध कर चुकी हूँ कि आप अपने माता-पिता के दर्शन अवश्य कर आवें। आप हैं कि जाने का नाम ही नहीं लेते।

चारुदत्त : देवी ! इस विषय में मैं कुछ कहना सुनना नहीं चाहता; और तुम हो कि जब तब यही वार्ता छेड़ देती हो।

वसंततिलका : नहीं कहने सुनने का कारण? (चारुदत्त मौन है)..... मैं जानना चाहती हूँ कि आप इतने कतराते क्यों हैं?

चारुदत्त : (उदास हो) तुम्हें न जाने क्यों इतनी रुचि है इस विषय से। यदि मुझसे ऊबने लगी हो तो स्पष्ट कहो मैं चला जाऊँ।

वसंततिलका : ऐसा न कहें स्वामिन् ! मैं आपको छोड़कर एक क्षण भी न रह सकूँगी। आप मेरे शिक्षा गुरु हैं। मुझे पढ़ाने में आपने अथक परिश्रम किया है। आपके ही प्रसाद से मैं कुछ शिक्षा प्राप्त कर अपने हिताहित का विचार कर पाई हूँ। मेरी माँ ने मुझे आजीविका हेतु निधि-संग्रह करने के लिये ही कुछ व्यावहारिक छल-विद्या अथवा नृत्य-संगीत कला सिखलाई। पर आपने मेरे आंतरिक नेत्र खोल दिये। आध्यात्मिकता ने मेरी रास-रंग में रची पगी आत्मा को झकझोर दिया है।

चारुदत्त : भद्रे ! तुमने जिस लगन से पढ़ने में रुचि दर्शाई; पढ़ाने में मेरा उत्साह उतना ही जागा। साथ ही बुद्धि की तीक्ष्णता के कारण शीघ्रता से इतना अध्ययन कर सकी हो। तुम्हारा श्रम सफल हुआ।

वसंततिलका : इसका श्रेय भी आपको है। आप जैसे कुशाग्र मेधावी विद्वान के सत्संग में रहकर ही मुझे यह लाभ प्राप्त हो सका। अन्यथा यहाँ का वातावरण तो एकदम इससे विपरीत है।

चारुदत्त : इसके लिये मेरा भी धन्यवाद स्वीकार करो देवी ! तुम्हारी अध्ययन की उत्कंठा

ने मुझे पुनः सन्मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित किया है। अपना संयमित जीवन बनाने हेतु जो ज्ञान बाल्यकाल से अर्जित व संचित कर रहा था; उसे भूलकर मैं स्वयं का अस्तित्व ही खो चुका था, तुमने उसका भान कराया है महादेवी !

वसंततिलका : (हँसकर) अच्छा तो मैं भी आपकी गुरु हूँ। अर्थात् हम दोनों का परस्पर गुरु शिष्य का दोहरा सम्बन्ध है। (आकाश की ओर देखकर) जय हो प्रभु तुम्हारी ! जो पुण्योदय से ऐसे पतिदेव प्राप्त हुये।

चारुदत्त : (साश्चर्य) पतिदेव !

वसंततिलका : (गंभीरतापूर्वक) विनोद में न लें श्रेष्ठिन् ! आपने जिस दिन पतिव्रता सतियों के मार्मिक आख्यानों द्वारा भारतीय नारी की संस्कृति से परिचय कराया; उसी दिन मैंने परमपिता परमात्मा की साक्षी ले प्रतिज्ञा की कि इस जीवन के स्वामी एकमात्र आप हैं। अन्य सभी पिता और भ्राता तुल्य है। मेरा कौमार्य आपके अतिरिक्त किसी ने भंग नहीं किया।

चारुदत्त : सच ! तो तुम कीचड़ में पड़े स्वर्ण की तरह अभीतक निर्मल थीं।

वसंततिलका : जी ! आपने मेरा पथ प्रशस्त किया है आर्यपुत्र !... अरे हम लोग अपने विषय से भटक गये स्वामिन् ! (आग्रहपूर्वक) बताइये न आखिर आप इस विषय पर मौन क्यों साध लेते हैं?

चारुदत्त : लो मैंने सोचा प्रसंग बदल गया; पर तुम घूम फिरकर पुनः उसी विषय पर आ गई।

वसंततिलका : उत्सुकता तो जागी है, भूल कैसे जाऊँ?

चारुदत्त : तब फिर समाधान करना ही होगा। सच बात यह है भद्रे ! कि चाहे तुम कितनी अच्छी होओ, किन्तु संसार की दृष्टि में वेश्या ही कहलाओगी। यहाँ रहकर मैं भ्रष्ट हो गया समझो। अब तुम्हीं बताओ ! माता-पिता के पास मैं किस मुँह को लेकर जाऊँ? मेरे सामने यह विकट समस्या हो गई है। मेरी इस भूल का दुःख तो वे अभी भोग ही रहे हैं, मेरे जाने से वे मुझे अपना लेंगे – इसकारण कहीं उन्हें समाज से बहिष्कृत होने जैसा महादुःख न भोगना पड़े। बस इसी कारण मेरी घर जाने की हिम्मत नहीं होती।

वसंततिलका : आपके विचार सामयिक होते हुये भी पूर्णतः यथार्थ नहीं कहे जा सकते; क्योंकि आर्य सोमभद्र का यहाँ बार-बार आना इस बात का द्योतक है कि उन्हें इस समय तुम्हारे पथभ्रष्ट होने के कारण उत्पन्न दुःख के सामने अन्य कोई दुःख, दुःखसा ही नहीं लगता होगा। और फिर उनके सामने तुम्हारी अर्धांगिनी मित्रवती की उपस्थिति तो उनके दुःख को प्रतिक्षण दुगना कर

देती होगी। उन्हें अपने दु:ख से कहीं अधिक मित्रवती के दु:ख की चिन्ता होगी।

चारुदत्त : तुम्हारी बात से मैं सहमत हूँ; किन्तु सदा के लिए सम्बन्ध विच्छेद करने को कहा जाएगा, तब फिर ....

वसंततिलका : सम्बन्ध विच्छेद हेतु मैं प्रस्तुत नहीं हूँ श्रेष्ठिसुत ! आप जहाँ जायेंगे मैं छाया की भाँति आपके साथ रहूँगी। यहाँ मेरा सतीत्व नष्ट हो जायेगा।

चारुदत्त : तब फिर तुम मेरा कहना मानो और इस विषय पर चर्चा ही समाप्त कर दो।

वसंततिलका : यह संभव नहीं। माता-पिता के अतिरिक्त आपकी पत्नी मेरी भगिनी मित्रवती भी आपकी बाट जोहा करती होगी। मैं कहती हूँ आप एक बार जाकर तो देखें। सब ठीक हो जायेगा।

चारुदत्त : (उदास हो, दृढ़ता से) तुम्हारा कहना ठीक है, यों तो सभी का संतान पर अगाध स्नेह होता है; परन्तु मुझे अपने माता-पिता का विशेष प्यार मिला है। उसमें भी एक राज है देवी!

वसंततिलका : आपत्ति न हो तो मुझे भी बतलायें।

चारुदत्त : प्रियजनों से भला क्या अलगाव?..... मेरे पिताश्री समाज में अग्रणी एवं करोड़ों दीनारों के स्वामी हैं। सब प्रकार से सुखी होकर भी संतान का अभाव उनके मानस को प्रति समय कुरेदने के लिये पर्याप्त था। बहुत समय व्यतीत होने पर जब वे निराश हो गये, तभी अनायास मेरा जन्म हुआ। उन्होंने मेरी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति की है।

वसंततिलका : तभी उनकी इच्छा के विरुद्ध यहाँ रहने पर भी आपको मनचाहा द्रव्य भेजते रहते हैं। तिस पर भी आप उनके प्रेम की उपेक्षा कर बैठे?

चारुदत्त : उपेक्षा बिल्कुल भी नहीं की भद्रे ! मेरी माँ बहुत ही अच्छी हैं। पर क्या करूँ, अपने ही कृत्य से लज्जित हूँ।

वसंततिलका : उसके लिये क्षमायाचना कर लेना यथेष्ट होगा प्राणप्रिय ! मुझे विश्वास है सब ठीक हो जाएगा।

चारुदत्त : तुम नहीं समझती देवी ! मानव सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना उसका अस्तित्व शून्य है। मैं निश्चय ही समाज से बहिष्कृत हो चुका हूँ।

वसंततिलका : मैं उनके पैर पकड़ लूँगी। बार-बार उनसे क्षमायाचना कर उनका हृदय परिवर्तन करने में समर्थ हो सकूँगी। ऐसा मेरा विश्वास है।

चारुदत्त : (घबराकर आश्चर्यचकित हो) उफ ! तो क्या तुम भी घर चलना चाहती हो? यह बिल्कुल असंभव है। कदाचिद् सूर्य पूर्व दिशा छोड़ पश्चिम में उदित होने लगे; परन्तु गणिका को गृहस्थाश्रम में स्वीकार करना अत्यन्त असंभव है।

वसंततिलका : प्रयत्न करने में हानि?

चारुदत्त : (एकदम खड़े होकर दुःख व ग्लानिपूर्वक) नहीं नहीं; मैं इस प्रासाद की दहलीज के बाहर पैर नहीं रख सकता।..... आह ! मैं अपने परिचितों से कैसे आँख मिला सकूँगा। दुनिया क्या कहेगी ? (प्रस्थान)

वसंततिलका :(स्वगत्) भगवन् ! इस नरक से मेरा कैसे उद्धार हो? मैं कैसे उनके विचारों को बदलूँ ?

- पटाक्षेप -

द्वितीय-दृश्य

समय : रात्रि का प्रथम प्रहर।

स्थान : वसंतमाला का प्रासाद।

(दो विदेशी नवयुवक वसंतमाला के अंतर्कक्ष में बैठे हैं। कक्ष की सजावट पूर्वोक्त पद्धति से है। एक ओर मानवाकार दर्पण रखा हुआ है। वसंतमाला सुखासन पर आसीन है। बीच में सुन्दर काष्ठ चौकी रखी हुई है। एक ओर पीठिकाओं पर दोनों मित्र बैठ जाते हैं।)

वसंतमाला : आर्य अतिथिगण ! अपना परिचय देकर दासी को कृतार्थ करें। अनुकम्पा होगी।

शशांक : देवी ! हमारा सार्थ उज्जैनी से विविध सामग्रियों का क्रय-विक्रय करता हुआ रत्नद्वीप जा रहा है। सार्थपति धरणीधर का मैं ज्येष्ठ पुत्र हूँ। मेरा नाम शशांक है। आप हैं मेरे अनन्य मित्र श्री चक्रधर।

वसंतमाला : (सहर्ष) हमारी नगरी में आपका सहर्ष स्वागत है। हमारे अहोभाग्य! जो आपके दर्शन पाकर हम कृतकृत्य हुए। (जोर से पुकार कर) शुभा !

शुभा : आज्ञा महादेवी !

वसंतमाला : (आदेशात्मक स्वर में) अतिथियों के लिये वारुणी एवं तांबूल आदि का प्रबंध करो।

शुभा : जी महादेवी !

चक्रधर : वारुणी हमें इष्ट नहीं है भद्रे ! हम केवल देवी वसंततिलका से भेंट करना चाहते हैं। उन्हें बुलाने का कष्ट करें ।

वसंतमाला : (उदास हो) उन्हें भी बुला देती हूँ। आप निश्चिंत होकर बैठें। राह की थकावट निकाल तनिक देर विश्रांति ले लें।

शशांक : हमें शीघ्र लौटना है देवी ! रात्रि का प्रथम प्रहर बीत रहा है। हम पिताश्री से छुपकर यहाँ आये हैं।

वसंतमाला : किन्तु..... वे.....

शशांक : विलम्ब न करें। (कोष से निकालकर) लीजिये ये पांच शतक स्वर्ण मुद्रायें भेंट में।

वसंतमाला : नहीं-नहीं इसकी क्या आवश्यकता? मैं स्वयं बुलाकर लाती हूँ। (भीतर जाती है।)

शशांक : (मुस्कुराकर) देखा मित्र ! वसंतमाला ने पहले कैसी आनाकानी की; किन्तु पाँच सौ स्वर्ण मुद्रायें देखकर मन ललचा गया।

चक्रधर : जहाँ तक मुझे ज्ञात हुआ है कि इसमें एक रहस्य है।

शशांक : (साश्चर्य) रहस्य है?

चक्रधर : हाँ, देवी वसंततिलका श्रेष्ठी चारुदत्त पर इतनी मुग्ध है कि उनका किसी अन्य पुरुष के समक्ष आना अथवा संभाषण करना भी उनकी रुचि के प्रतिकूल है।

शशांक : (अत्यन्त आश्चर्य से) नगर-नारी की यह अनोखी प्रीति ! अति विचित्र ! (अस्वीकारात्मक सिर हिलाते हुए) नहीं नहीं मित्र ! तुम्हें भ्रम हुआ है। इन पण्यस्त्रियों (बाजारू स्त्रियाँ) को प्रीति से क्या प्रयोजन?

चक्रधर : सचमुच अस्वाभाविक होते हुए भी यह सत्य है मित्र ! और फिर ***'हाथ कंगन को आरसी क्या'*** अभी प्रमाण लो।

शशांक : मित्र ! तुमने मुझे पहले नहीं बताया।

चक्रधर : चर्चा..... (वसंतमाला आ जाती है। वह उदास है। उसकी आहट पाते ही चक्रधर चुप हो जाता है।)

शशांक : कितनी देर प्रतीक्षा करनी होगी।

वसंतमाला : आज वे अस्वस्थ हैं श्रेष्ठिन् ! मिलने में असमर्थ हैं। उनकी ओर से मैं क्षमायाचना करती हूँ।

शशांक : इस प्रकार छल की क्या आवश्यकता है? एक सहस्र स्वर्ण मुद्रायें रखें (पुनः कोष से निकालकर स्वर्ण मुद्रायें चौकी पर रख देता है) कृपया समय नष्ट न कर शीघ्र ही भेंट करवा दें।

वसंतमाला : (अत्यन्त उदास हो) ये मुद्रायें आप रखें श्रेष्ठीकुमार ! मैं आपकी अभिलाषा पूर्ति में साधक न बन सकूँगी।

चक्रधर : बाधक बनने का कारण?

वसंतमाला : न न न न मैं भला बाधक क्यों? आप मुझे गलत न समझें।

शशांक : तब क्या कोई अन्य रहस्य है।

वसंतमाला : (हकलाते हुए) र अ अ रहस्य..... कुछ भी नहीं है। आप फिर कभी पधारें।

चक्रधर : हम लोगों ने उसकी प्रशंसा बहुत दिनों से सुन रखी थी। तभी से भेंट करने की प्रबल आकांक्षा थी। परन्तु आप हमें निराश कर रही हैं।

वसंतमाला : मैं विवश हूँ श्रेष्ठीकुमार !

शशांक : (जाने के लिए उद्यत होते हैं) तब फिर चलें मित्र ! विलम्ब हो रहा है।

वसंतमाला : ठहरिये, बातों ही बातों में आपका स्वागत रह गया। एक-एक प्याला सुरा तो डालिये।

शशांक : देवी ! सुरा-सुन्दरी की अनुपम जोड़ी है। सुन्दरी के अभाव में सुरा का क्या आनन्द?

(वसंतमाला दुःखी उदास हो मुख फेर लेती है। मित्रद्वय चले जाते हैं।)

वसंतमाला : (सुखासन पर निढाल सी हो लेट जाती है। स्वगत) हुँह..... आज तिलका के कारण बड़ा अपमान सहना पड़ा। एक सहस्र स्वर्ण मुद्रायें ! उसी के कारण हाथ से निकल गईं। कितने श्रेष्ठीपुत्र उसके लिए झकमारते रहे; परन्तु सबको टका-सा उत्तर देकर हतोत्साहित कर दिया। वृद्धावस्था मुझ पर अपना आधिपत्य जमा रही है। क्या सचमुच मैं सुन्दर नहीं हूँ? (उठकर दर्पण में अपना मुख निहारकर)..... इतनी असुन्दर भी नहीं कि किसी पुरुष को संतुष्ट न कर सकूँ।

पर ये पुरुष नित नई कलियाँ चाहते हैं। स्वार्थी..... (शुभा का पानदान व वारुणी लिए प्रवेश)

शुभा : अरे ! वे युवक चले गये महादेवी !

वसंतमाला : (ठंडी सांस भरकर) हाँ..... चले गये।

शुभा : आपकी अवज्ञा करके देवी वसंततिलका उचित नहीं करतीं।

(वसंततिलका वीणा बजाकर भजन गा रही है। बाहर इन दोनों के पास तक आवाज आ रही है।)

(**नेपथ्य से वसंततिलका** : काहे न लेत उबार, प्रभुजी मोहे काहे न लेत उबार।)

वसंतमाला : बस जब देखो तब भजन। जैसे वैरागिन हो।

शुभा : वेश्या और वैराग्य में परस्पर अत्यन्त विरोध है महादेवी !

वसंतमाला : इसीलिए मुझे अब चिन्ता होने लगी है शुभा ! तुझे तो याद होगा कि जब तिलका बालिका थी; तब भी वह किसी पुरुष के सम्मुख नृत्य हेतु नहीं आई।

शुभा : हाँ, आप उन्हें कितने प्रलोभन देती थीं, समझाती थीं, डाँटती थीं, पर वे बचपन से ही हठी प्रकृति की थीं। अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के कारण संगीत-कला में जैसे वे शीघ्र निष्णात हो गईं, वैसा उन्होंने अपने कला चातुर्य का प्रदर्शन कर पुरुष समाज को रिझाने का प्रयत्न नहीं किया।

नेपथ्य से वसंततिलका – कब से तुमसे विनती करत हों, बेगि करो भवपार।
प्रभुजी मोहे काहे न लेत उबार॥

(दोनों सुनकर रस लेती हैं।)

वसंतमाला : शुभा ! तिलका का कंठ कितना मधुर एवं स्वर कैसे सधे हुए हैं।

शुभा : हाँ महादेवी ! ऐसा लगता है जैसे कोई किन्नरी अपने संगीत से कर्ण कुहरों में सुधा घोल रही हो।

वसंतमाला : (उदास हो) जंगल में मयूर नाचा, किसने देखा, क्या लाभ हुआ? पहिले मैं सोचती थी कि अभी बालिका है। अंग-अंग में अनंग जागृत होते ही स्वयमेव समझ आ जायेगी। परन्तु पूर्ण युवती होने पर भी स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आया। उसने मेरी आशाओं पर तुषारापात कर दिया शुभा !

शुभा : महादेवी ! वे लज्जाशील कुलवधू की तरह आर्य चारुदत्त पर ही न्यौछावर हो चुकी हैं।

वसंतमाला : किन्तु शुभे ! विलासिनी कहीं पतिव्रता बनी है? हम नगर वधुओं का जीवन

सर्ववल्लभा बनकर ही श्रेष्ठता के शिखर पर पहुँता है। नित नवीन भ्रमरों का गुञ्जन ही हमें प्रिय है।

शुभा : सच है महादेवी ! जितने अधिक श्रीमान् जन आवेंगे; उतना ही भंडार भरेगा। यदि आपने सर्व आगन्तुकों को सन्तुष्ट न किया होता तो ये भव्य प्रासाद अपना मस्तक ऊँचा न किए होता। वार-वनिताओं में सर्वोपरि आपका ही प्रमुख स्थान है।

वसंतमाला : वे भी कैसे दिन थे शुभा ! प्रेमियों की टोली नित नवीन उपहार लिये ड्योढ़ी पर डटी रहती थी। मुझे भेंट करने का अवकाश भी नहीं मिल पाता था। तिलका मुझसे कहीं अधिक सुन्दर लगती है।

शुभा : अपने यहाँ आने वाले अतिथि बचपन में उन्हें देखकर कहा करते थे कि यह बालिका आपके यश में चार चाँद लगा देगी।

वसंतमाला : और वह है कि चारुदत्त की ही माला फेरा करती है। बड़े-बड़े श्रेष्ठीपुत्र दूर-दूर से आकर लौट जाते हैं। किसी को दर्शन देकर कृतार्थ नहीं करती। न जाने इससे उसकी कौन-सी हानि होती है। संकोच व लज्जा हमारे समाज का घोर कलंक है।

शुभा : हाँ महादेवी ! मुझे तो आपकी परम्परा आगे चलना कठिन दिखती है।

वसंतमाला : कठिन ! अरी असंभव कह असंभव। यह तो स्पष्ट ही दिख रहा है। वह तो कभी बाहर निकलती ही नहीं।

शुभा : सोंगंध खाकर कहती हूँ महादेवी ! यदि वे संध्या को समाज में तनिक भी समय दें तो आगन्तुकों को स्थान न रहे बैठने के लिए।

वसंतमाला : पर आये तब न ! उसने तो जैसे शपथ ले ली है नहीं आने की।

शुभा : मैं समझाने का प्रयत्न करके देखूँ?

वसंतमाला : व्यर्थ है। कोई दूसरा मार्ग निकालना होगा। *- पटाक्षेप -*

....धर्मदत्त पुन: समझाते हैं – इतना ही नहीं, और भी सुनो ! दुनिया में व्यन्तरादि देव तो अपने से द्रोह करनेवाले लोगों को दु:ख देते हैं; किन्तु राजा तो राजद्रोही के साथ उसके वंशजों और सम्बन्धियों एवं उनके धन-सम्पत्ति आदि का भी नाश कर देता है।

– क्षत्रचूड़ामणि, पहला लम्ब, श्लोक ४९, पृष्ठ ७२-७३

तीसरा-दृश्य

समय : प्रातःकाल प्रथम प्रहर।

(श्रेष्ठि चारुदत्त अभी-अभी शय्या का परित्याग कर प्रभात की मनोरम वायु सेवनार्थ उद्यान में टहल रहे हैं। वृद्ध सेवक आर्य सोमभद्र आते हुये दृष्टिगत होते हैं। सोमभद्र उदास खिन्न मन हैं। उनके नयनों से आसुँओं की बूँदें ढुलक पड़ती हैं। चारुदत्त हतप्रभ हो जाते हैं। वे सेवक का हाथ पकड़कर पास में ही पड़ी शिला पर अपने साथ बैठा लेते हैं।)

चारुदत्त : (स्नेहपूर्ण स्वर में) आओ सोमभद्र ! बैठो भाई, क्या बात है? तुम्हारी आँखों से आँसू क्यों नहीं थमते?

(सोमभद्र अपने उत्तरीय से निरन्तर आँसू पोंछते जाते हैं। आँखों से सावन-भादों की झड़ी लगी है। बोलने का प्रयत्न करते हैं; किन्तु हिचकियों के मारे बोल नहीं निकलते।)

चारुदत्त : शान्त होओ सोमभद्र ! मुझसे तुम्हारा रुदन नहीं देखा जाता। बताओ क्या बात हुई?

सोमभद्र : (कठिनता से शान्त होकर) कुमार ! मैंने आपको चंद दिन पूर्व स्वामी की अस्वस्थता के समाचार दिये थे, पर आप नहीं आये। अब वे इस संसार में नहीं हैं।

चारुदत्त : (दुःख से चीखते हुये) चल बसे तात ! आह ! मुझ अभागे ने उनके दर्शन भी नहीं किये। मैं कुल कपूत निकला। जन्मते ही मुझे काल ने अपना ग्रास क्यों न बना लिया? कुल की लाज तो न जाती। (शनैः शनैः आँखों से आँसू टपकते रहते हैं।)

सोमभद्र : अपने ही घर जाने में कौन-सी बाधा है कुमार ! (मुँह बनाकर) मेरी समझ से परे है। माताजी के दुःख का पारावार नहीं है।

चारुदत्त : तुम सच कह रहे हो सोमभद्र ! जाओ, उन्हें धैर्य बंधाओ। क्या किया जाए? महाकाल से सब हार मान गये। क्या राजा, क्या रंक, ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी सब उसी राह के राही हैं।

सोमभद्र : माताजी बिलख रही हैं। उन पर सबके समझाने का कोई प्रभाव नहीं हो रहा। और तो और अभी तक गृह स्वामिनी ने सास श्वसुर को आपका अभाव नहीं खटकने दिया; किन्तु आज स्वामी की मृत्यु से वे भी अधीर हो उठी हैं।

चारुदत्त : (दुखित हृदय से) सोमभद्र ! तात के अभाव से परिवार पर कठोर वज्रपात हुआ है।

मैंने उन्हें किसी प्रकार का सुख नहीं दिया। उनकी सेवा सुश्रुषा नहीं की। धिक्कार है मुझे। मैंने पुत्र का कर्त्तव्य तनिक भी पालन नहीं किया। मैं अधम हूँ। तात !..... तात !.....

सोमभद्र : धैर्य धारण करें कुमार ! जो होना था सो हो गया। कदाचित् भाग्य को यही स्वीकार्य था। सचमुच मृत्यु के समक्ष सब मात खा जाते हैं।

चारुदत्त : (आह भरकर) अब क्या होगा सोमभद्र ! हा तात ! तुम कहाँ चले गये।

सोमभद्र : धैर्य धरो कुमार ! माता-पिता सदैव किसी के जीवित नहीं रहते। धैर्य ही अपना संबल है आप स्वयं ज्ञानवान हैं। मैं भला क्या समझाऊँ?

चारुदत्त : सृष्टि का यह निश्चित नियम है; यह जानते हुये भी हृदय में ममता की लहरें उठ-उठकर विवेक को आन्दोलित कर देती हैं। सोमभद्र ! मैं क्या? बड़े-बड़े विवेकशील साधक भी कभी-कभी इसके भँवर मैं फँस जाते हैं। मेरा मन भी बड़ा व्याकुल हो रहा है।

सोमभद्र : (दुखित हो संवेदनात्मक स्वर में) सो तो होगा ही कुमार ! कौन ऐसा कठोर हृदय पुत्र होगा जिसे पिता का वियोग सन्तप्त न करता हो। पर अब कोई उपाय नहीं। केवल दुःख ही हाथ लगेगा।

चारुदत्त : यहीं मनुष्य निरुपाय है। सारे उपाय धरे रह जाते हैं। सांसारिक विशाल भोग सामग्री भी न काम आती है, न साथ जाती है।

सोमभद्र : (आह भरकर) आपका कथन उचित है कुमार !..... अब शीघ्र चलें, दाह संस्कार करना है।

चारुदत्त : (कुछेक क्षण रुककर) मेरी क्या आवश्यकता? दाह संस्कार तुम भी कर सकते हो।

सोमभद्र : (स्तब्ध हो) आप कैसी बातें कर रहे हैं? आपके होते हुए पूज्य पिता का दाह संस्कार करना क्या मुझे शोभा देगा? मैं ठहरा घर का भृत्य।

चारुदत्त : क्यों क्या हुआ? तुम तो घर में आत्मीय की भाँति रहे हो।

सोमभद्र : पर, दुनिया मुझे सेवक के रूप में ही जानती है।

चारुदत्त : दुनिया से क्या प्रयोजन?

सोमभद्र : भले ही प्रयोजन न हो; परन्तु विचारिये तो सही, पुत्र की उपस्थिति में दाह संस्कार सेवक करे?

चारुदत्त : विवाद करने का तुम्हारा स्वभाव ही हो गया है सोमभद्र ! तुम मेरी बात नहीं मानते।

सोमभद्र : आपकी आज्ञा सिर माथे पर है कुमार ! पर आप अनुचित जो कह रहे हैं। मैं आपका पुराना सेवक हूँ। घर की लाज जावे, आप ही बताइये मैं कैसे सहन कर सकता हूँ?

चारुदत्त : ये सब कोरी रूढ़ियाँ हैं। कोई भी दाह दे, इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं।

सोमभद्र : यथार्थ है। फिर भी गृहस्थाश्रमियों को लोक रूढ़ियाँ भी माननी पड़ती हैं। (उठकर खड़ा हो जाता है) शीघ्र चलें विलम्ब हो रहा है।

चारुदत्त : (अस्वीकारात्मक मुद्रा में मौन हैं।)

सोमभद्र : (रोषपूर्वक) क्या आप अन्तिम बार भी अपने पिताश्री के दर्शन नहीं करना चाहते? व्याकुल माँ के हृदय को क्षणिक शीतलता भी प्रदान नहीं कर सकते। रोती पत्नी को सान्त्वना देने के लिए आपके पास दो बोल भी अवशिष्ट नहीं?

चारुदत्त : (दुखित हो) बस करो सोमभद्र ! बस करो। मैं स्वयं ही क्या कम दुःखी हूँ; जो तुम जले पर नमक छिड़क रहे हो।

सोमभद्र : तब फिर क्यों नहीं घर चलते?

चारुदत्त : (आत्मग्लानि से भरकर) तुम्हीं बताओं सोमभद्र ! इस कलंकित मुख को लेकर कहाँ जाऊँ?

सोमभद्र : ऊँह, इससे क्या होता है? चार दिन चर्चा करके सब शान्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त आप नारी तो हैं नहीं, पुरुष हैं, पुरुष भ्रमर की तरह निर्बंध है।

चारुदत्त : ऐसा नहीं है सोमभद्र ! नियति दंड देते समय नर-नारी को भिन्न नहीं देखती।

सोमभद्र : आपकी बात मान लूँ, तब मार्ग और भी अधिक स्पष्ट है। ***'बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेहु।'*** अंतरंग के सच्चे पश्चाताप से आत्मा का कालुष अविलंब धुल जाता है।

चारुदत्त : मैंने कहा न कि तुम्हारी आदत ही विवाद की हो गई है।

सोमभद्र : अर्थात् आप नहीं चलेंगे? (कठोरतापूर्वक) कुमार ! मैं अन्तिम चेतावनी देता हूँ कि इस बार आप घर न चलकर जघन्यतम अपराध कर रहे हैं। कभी आपको सुख चैन न मिल

सकेगा। कर्त्तव्य पालन करने की शल्य जीवन भर चुभकर अंतस्तल को छलनी बना देगी। चल रहे हैं अथवा मैं जाऊँ?

चारुदत्त : (मौन हैं)

सोमभद्र : अपने प्रिय परिवार के प्रति यह कठोरता देखकर मुझे आपकी बुद्धि पर तरस आता है कुमार ! पिता के महामौन से भी आप सत्पथ पर न लौट सके। (शीघ्रता से प्रस्थान)

चारुदत्त : (विह्वल हो) हा तात् ! (कहते हुए रो पड़ते हैं और शोकातुर हो जमीन पर बैठकर शिला पर सिर रखकर अधीर हो बिलख उठते हैं।)

- पटाक्षेप -

चतुर्थ-दृश्य

समय : प्रातः द्वितीय प्रहर।

स्थान : श्रेष्ठी भानुदत्त का महल।

(श्रेष्ठी भानुदत्त उनकी पत्नी श्रीमती देवलदेवी बैठी हैं। दम्पत्ति प्रतिदिन की अपेक्षा आज विशेष प्रसन्न दिखाई दे रहे हैं। बीच-बीच में गहरी विषाद की रेखा क्षण भर को आकर हृदय के सघन दुःख का परिचय दे देती है।)

देवलदेवी : नाथ ! आज क्या सचमुच चारु आ जायेगा?

भानुदत्त : देवी ! इस शंकालु वृत्ति को स्थान ही कहाँ है? आज हमने उस उपाय का अवलम्बन लिया है; जिसका चारु अनुमान भी नहीं लगा सकता।

देवलदेवी : आर्य सोमभद्र अभी तक नहीं आये?

भानुदत्त : विलम्ब तो लगेगा ही।

देवलदेवी : (विह्वल हो) वर्षों की थकी आँखें आज विश्राम पायेंगी नाथ !..... और मेरी मित्रा..... उसको जो असीम सुख होगा, उसकी कल्पना से मेरा रोम-रोम खिल उठता है।

भानुदत्त : सचमुच ही उसके भाग्य की काली रात्रि का अवसान हो चुका है। आज का मंगल प्रभात उसके जीवन में सुख, शान्ति लेकर उपस्थित हुआ है।

देवलदेवी : उदित दिनकर की लाली उसके आँगन को ऐसे सुनहले रंग से रंग दे जहाँ नित्योदय ही बना रहे।

(मित्रवती का प्रवेश)

मित्रवती : (विषाद भरी मुस्कुराहट से) केवल कल्पनाओं से सुख की उपलब्धि नहीं होती माताजी !

देवलदेवी : होती है बेटी ! आशारूपी आकाश का अनन्त वितान तना हुआ है, जगत इन्हीं की छाया में अपने स्वप्नों के संसार संजोया करता है।

मित्रवती : ये सपनों के संसार कभी साकार नहीं होते माँ श्री !

भानुदत्त : पुत्री ! निराशा के थपेड़ों को खाकर तुम विश्वास खो चुकी हो। परन्तु अब वह क्षण दूर नहीं जबकि निराशारूपी तम पलायन करता दृष्टिगोचर होगा।

मित्रवती : कदाचित् ऐसा ही हो। जाने क्यों मेरे हृदय में प्रसन्नता की लहर नहीं उठ रही; जबकि यह स्वाभाविक है कि भविष्य का आभास वर्तमान में होने लगता है।

(सोमभद्र का प्रवेश)

देवलदेवी : (विह्वल हो) कहाँ है मेरा लाल?

सोमभद्र : (उदास नतमस्तक मौन है।)

भानुदत्त : क्या यह अस्त्र भी निरर्थक सिद्ध हुआ?

सोमभद्र : (रुँधे गले से) हाँ स्वामिन् ! मुझे स्वप्न में भी ऐसी आशा नहीं थी।

देवलदेवी : (दुखित हो) क्या कहा था तुमने मेरे लाल से?

सोमभद्र : वही कहा जो आर्यश्रेष्ठि ने मुझे आदेश दिया था; किन्तु मैं इस कार्य में भी विफल रहा।

भानुदत्त : दोहराओ सोमभद्र ! उन्हीं शब्दों को दोहराओ जो तुमने चारु से कहे थे।

सोमभद्र : (दुखित हो मुँह फेरकर) नहीं स्वामिन् ! नहीं ! मैं पुनः न कहने योग्य उन मर्मभेदी वचनों को न कह सकूँगा। उस समय कहते हुए मेरी पापिन जिह्वा भी न गली। मुँह पर वे शब्द लाते ही हृदय पर आघात सा लगता है।

भानुदत्त : (गम्भीरतापूर्वक) नहीं कह सके.....

सोमभद्र : (शीघ्रता से) कहा है आर्यश्रेष्ठी ! वही कहा..... बल्कि उससे भी अधिक..... (गला भर आता है) पूछिये मूझसे, यह पूछिये कि मैंने क्या नहीं कहा और क्या नहीं किया?

मित्रवती : तात की अनहोनी सुनकर भी पुत्र के हृदय में दुःख का संचार नहीं हुआ? कितना हृदयस्पर्शी मर्मान्तक आघात है।

भानुदत्त : सोमभद्र ! क्या सचमुच, तुमने मेरे मरण का समाचार चारु से कहा?

सोमभद्र : (क्षणिक रुककर) हाँ स्वामिन् ! केवल कहा ही नहीं वरन् बिल्कुल उसी प्रकार अभिनय किया। जैसे कोई प्राणी इष्ट वियोग में घनी पीड़ा का अनुभव करता है। मैंने खून के आँसू बहाये तात ! पर.....

देवलदेवी : पर क्या? आगे कहो सोमभद्र ! क्या मेरा लाल व्यथित नहीं हुआ?

सोमभद्र : सुनकर उन्हें दुःख हुआ।

मित्रवती : दुःख हुआ ! तब आये क्यों नहीं?

सोमभद्र : कहते हैं विवशता है।

मित्रवती : (अन्यमनस्क हो) विवशता?..... कौन-सी विवशता उनका पथ रोके है? प्रत्येक बार यही वाक्य सुनती आ रही हूँ।..... उसका निराकरण भी हो सकता है।

सोमभद्र : दुनिया का प्रत्येक कार्य सम्भव है गृहस्वामिनी ! पर कुमार बतलावें तब न? इसके आगे तो वे मौनव्रत ले लेते हैं। सचमुच उनकी विवशता के सम्मुख मैं भी विवश हो उठता हूँ। यह सब मेरी बुद्धि से परे है। सच बात तो यह है कि नहीं आने के सौ बहाने। वे उस अभागिन के प्रेम में ऐसे फँसे हैं कि आने का मन ही नहीं करते। (चला जाता है।)

भानुदत्त : (गम्भीर हो) अब मैं अपना पथ चुन चुका हूँ।

देवलदेवी : (साश्चर्य) पथ चुन चुका हूँ ! अर्थात्?

भानुदत्त : गृहस्थाश्रम का त्याग कर मैं वनवास ग्रहण करूँगा। कल सूर्योदय के साथ ही मैं भी गृह जंजाल से मुक्ति पा लूँगा। दिशायें मेरा परिधान बनेंगी। धरती मेरी शैय्या और नीलगगन चादर होगा और मेरे अनन्त गुणों का ही मेरा परिवार होगा।

मित्रवती : (उदास हो) नहीं नहीं तात् ! अनायास आप ये कैसे विचार कर रहे हैं?

भानुदत्त : आयुष्मती ! यह विचार किया नहीं, हो चुका। आज तक मोह ममता से बेसुध होने से आत्मस्वरूप की सुधि भी नहीं हुई थी। कभी भूले बिसरे विरागता की लहर आती भी थी तो चारु से मिलने की उत्कंठा तीव्र हो उठती और ममता के गहरे गड्ढे में वह लहर विलीन हो जाती!

देवलदेवी : चारु से मिलने की साध/कामना तो पूर्ववत् ही बनी हुई है।

भानुदत्त : (दृढ़तापूर्वक) नहीं, मैंने आशा की पाँख काट दी है। अशांत मन शान्ति की ओर अग्रसर हो रहा है। विचार दृढ़ हो चुके हैं।

देवलदेवी : नाथ आपका संकल्प पूर्ण न हो सकेगा। श्मशान, संकट व दरिद्रता की विरक्ति क्षणिक हुआ करती है।

भानुदत्त : तुम यथार्थ कह रही हो। किन्तु मेरा संकल्प आज का नहीं, बहुत पुराना है। मैं कई दिनों से अपने मन को तोल रहा हूँ। कोई भी शक्ति मुझे इस निश्चय से नहीं डिगा सकती। उदित वैराग्य को चिरस्थायी रखना चाहता हूँ देवी !

देवलदेवी : (चौंककर) नाथ ! यह आपने कैसा निर्णय कर डाला? उचित-अनुचित का विचार भी कुछ किया होता।

भानुदत्त : देवी ! इसमें अनुचित है ही क्या?

देवलदेवी : हम परिवार वालों का ध्यान रखना भी आवश्यक कर्त्तव्य है आपका।

भानुदत्त : मैंने अपने कर्त्तव्य से मुख मोड़ा ही कब है?

देवलदेवी : भविष्य में तो कतराकर भाग निकलना चाहते हैं।

भानुदत्त : मैं पलायनवादी नहीं हूँ देवलदेवी ! अभी तक इसी आशा में पड़ा रहा कि चारू को घर सौंपकर गृहत्याग करूँगा। पर ठीक दस वर्ष से उस उत्तराधिकारी की राह देखते-देखते आँखें थक गईं। वृद्धावस्था का आक्रमण प्रारम्भ हो चुका है। कभी न समाप्त होने वाले विकल्पों के चक्र में फँसे रहने पर आत्म कल्याण के द्वार सदा के लिए अवरुद्ध हो जायेंगे।

देवलदेवी : (रुद्धकंठ से) पुत्र जिस दिन से गया, लौटकर न आया। आप भी उस पथ पर चले जाना चाहते हैं; जहाँ घर कुटुम्ब की सुधि भी बिसरा दी जाती है। जायें, आप भी जायें। समझ लूँगी मेरा कोई भी नहीं है।

भानुदत्त : (स्नेहपूर्वक समझाते हुए) देवी ! तुम्हें व्यथित कर नहीं जाना चाहता। जब तक तुम प्रसन्नतापूर्वक न कहोगी; तब तक आगे नहीं बढ़ूँगा। सच्चे हृदय से विचार करो कि संसार में सुख है कहाँ? क्या हम मिथ्या मृग मरीचिका में नहीं भटक रहे? क्या ये अतृप्त आकांक्षायें कभी पूर्ण हुई हैं?

देवलदेवी : पुत्र के आ जाने के पश्चात् आप जायें तो सुखकर रहेगा। आप हम लोगों के पालन-पोषण का भार किस पर छोड़ रहे हैं? रक्षक के अभाव में हमारी सुरक्षा किस प्रकार होगी?

भानुदत्त : देवी ! कभी न सुलझने वाली ये समस्याऐं जीवन को सदा ही दुरूह बनाये

रखेंगी। यहाँ न चैन है, न तृप्ति। सुरक्षा की बात तुमने खूब कही। अरी बावरी ! इस नाशवान संसार में कौन किसका रक्षक है? आज तुम मुझे दीक्षा नहीं लेने देती। काश ! मैं मर जाऊँ तब कौन रक्षा करेगा? सत्य यही है कि प्राणी के सत्कर्म ही उसकी रक्षा करते आये हैं।

मित्रवती : यही सत्य है, परन्तु आप अपने लिये ऐसे कटु वचनों का प्रयोग न करें।

भानुदत्त : यह असम्भव नहीं है पुत्री ! ममत्व हमें तथ्य तक पहुँचने नहीं देता। जहाँ तक मेरा कर्त्तव्य व तुम्हारी सुरक्षा का प्रश्न है; वह पूरी तरह सुलझा हुआ है। चारु के कारण वेश्या का घर भरकर भी अभी इतनी सम्पत्ति शेष है कि कोई भी भरी पूरी गृहस्थी सुचारुरूप से चल सकती है। मैं रहूँ अथवा जाऊँ, तुम्हारे जीवन निर्वाह में आँच नहीं आ सकती।

मित्रवती : एक बार मैं पुनः आपसे आग्रह करूँगी कि विचार परिवर्तन कर चंद दिन और पुत्र की राह देख लें तो शुभ हो।

भानुदत्त : पुत्री ! मैं पुत्र की राह देखूँ और मृत्यु मेरी राह देख रही हो तो आत्मकल्याण किस प्रकार सम्भव हो सकेगा?

मित्रवती : गृह में रहकर भी विरागता का अभ्यास किया जा सकता है तात !

भानुदत्त : हाँ अभ्यास किया जा सकता है, किन्तु पूर्णता श्रमण अवस्था में ही होती है। अतः तुम अपनी माताजी को समझाओ; ताकि तुम दोनों की सहर्ष स्वीकृति से मैं कल्याणकारी मार्ग पर अग्रसर हो सकूँ।

देवलदेवी : समझाने की आवश्यकता नहीं रही गुरुवर। जब आप निर्णय कर चुके; तब मैं क्यों मुक्ति के पथ की बाधा बनूँ। श्री प्रभु से मंगल कामना करूँगी कि आपकी चेतन ज्योति निरन्तर उज्जवल-उज्जवलतर होकर जाज्वल्यमान हो।

भानुदत्त : धन्य है देवी ! परम प्रसन्नता हुई तुम्हारी स्वीकृति प्राप्त कर। (मित्रवती से) और बेटी मित्रा ! तुम क्यों मौन हो? तुम्हारी स्वीकृति की भी मुझे अत्यन्त आवश्यकता है, क्या विचार कर रही हो?

मित्रवती : तात् ! मैं सोच रही हूँ कि आपके जीवन के ये कितने महान मंगलमय क्षण हैं कि शरीर से ममता का अभाव हो गया और मैं कितनी मोही हो रही हूँ कि प्रतिक्षण वियोग की ज्वाला में जलकर भी मेरी आंतरिक निवृत्ति न हो पाई। मैं यदि इस कीच में फँसी हूँ तो आपको भी क्यों लिप्त रखूँ। अच्छा हो आप अहर्निश अविरत अबाध गति से सहज आनन्द का उपभोग करें।

भानुदत्त : आयुष्मती ! मुझे तुमसे यही आशा थी। प्रभु तुम्हारा कल्याण करे। - *पटाक्षेप* -

पंचम-दृश्य

स्थान : वसंतमाला का आवासगृह।

(वसंतमाला क्षुभित बैठी है। दासी शुभा का प्रवेश)

वसंतमाला : अरी ! तू आज रीते हाथ ही आ गई?

शुभा : हाँ स्वामिनी ! चारुदत्त की माँ ने आज मुझे कुछ न देकर रीते हाथ लौटने को बाध्य कर दिया। साथ ही तिरस्कृत भी किया।

वसंतमाला : (क्रोध से फुँफकारती हुई) उस बुढ़िया का इतना साहस ! तूने कहा नहीं कि चारुदत्त को बैठे-बैठे कौन खिलायेगा? क्या हमने उससे ऋण लिया है?

शुभा : मैंने भी सुनाया खूब ! कहने लगी करोड़ों की सम्पत्ति को ढो-ढोकर ले गई। मैं क्यों चुप रहती। मैंने भी कह दिया कि तुम्हारा बेटा ही तो भोग विलास कर रहा है। कोई अपने लिये थोड़े ही ले गई हूँ। सम्पत्ति से मोह नहीं छूटता तो अपने बेटे को क्यों नहीं बुला लेतीं?

वसंतमाला : (व्यंग्यात्मक हँसी हँसकर) फिर क्या बोली?

शुभा : बोलती क्या? ऊपर के दाँत ऊपर और नीचे के नीचे रह गये। मानें तो एक बात कहूँ महादेवी !

वसंतमाला : तू तो मेरी मंत्राणी है। तेरी न मानूँगी तो और किसकी मानूँगी?

शुभा : आप विनोद करती हैं; पर मैं कहती हूँ बात पते की।

वसंतमाला : (आग्रहपूर्वक) कह तो सही।

शुभा : यदि देवी वसंततिलका चारुदत्त को नहीं छोड़ना चाहती तो क्यों न चारुदत्त को ही निकाल दिया जाये। ***'न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।'***

वसंतमाला : तेरा कहना ठीक है; किन्तु वह मुआ, निकले तब न ! बातों ही बातों में मैं कह भी चुकी हूँ। पर वह निर्लज्ज ड्योढ़ी से बाहर पैर भी नहीं निकालता।

शुभा : इसकी बिल्कुल चिन्ता न करें आप।

वसंतमाला : तूने कोई युक्ति सोच रखी है क्या?

शुभा : (मुस्कराते हुए) पूरी योजना बना ली है मैंने। ***'साँप भी मर जावेगा और लाठी भी नहीं टूटेगी'।***

वसंतमाला : (उत्सुकतापूर्वक) कुछ मुझे भी तो बता !

शुभा : रात्रि को किसी बहाने मद पिलाकर बेसुध होने पर निद्रित अवस्था में चतुष्पथ पर डाल आऊँगी। देवी तिलका को कानों कान खबर भी न होगी।

वसंतमाला : तेरी बुद्धि का लोहा मानती हूँ शुभा। (कुछ सोचकर) पर ठहर, तनिक मैं वसंततिलका से परामर्श कर लूँ।

शुभा : (व्यंग्यपूर्वक हँसते हुये) उनसे परामर्श? तब तो हो गया कार्य सिद्ध। क्या कहेंगी? यही न कि चारुदत्त को निकाल रही हूँ और वे सहर्ष अनुमति भी दे देंगी? आप बड़ी भोली हैं महादेवी! क्या बहकी-बहकी सी बातें करने लगती हैं। अरे, तिलका के कानों में भनक भी पड़ी तो मेरी कुशल नहीं। कहीं ऐसा न हो कि तिलकाजी से भी आप हाथ धो बैठें। वे तो अहर्निश चारुदत्त के नाम की ही माला जपा करती हैं।

वसंतमाला : नहीं री, मैं तनिक उसके मन की थाह लेना चाहती हूँ।

शुभा : यह भी खूब कही आपने ! अरे बारह वर्ष अर्थात् पूरा एक युग बीत गया रंग-ढंग देखते। फिर भी थाह पाने की अभिलाषा विद्यमान ही है। कृपया उनसे कहकर अपना रहस्य न खोलें।

वसंतमाला : अच्छा तेरी सम्मति स्वीकार है मुझे।

- पटाक्षेप -

卐 चतुर्थ-अंक 卐

प्रथम-दृश्य

समय : अर्धरात्रि।

(चारुदत्त चतुष्पथ पर पड़े हैं। मार्ग के बीचों-बीच दीप स्तम्भ है। सुनसान अंधेरी रात है। दीपक का प्रकाश मंद-मंद फैल रहा है। चारुदत्त नींद में करवट बदलते हैं। कंकरों के चुभने से अचानक जाग पड़ते हैं।)

चारुदत्त : (साश्चर्य) हैं ! यह क्या ! मेरी शय्या, बिछावन सब कहाँ गये? देवी वसंततिलका ! कहाँ हो तुम? (चारों और देखते हुए महल..... अटारी कुछ भी नहीं, स्वप्न है ! (पुनः निद्रित होने की चेष्टा करते हैं, कुछ क्षण पश्चात्)

प्रहरी : (रात्रि में गश्त लगाते हुये, नेपथ्य से) जागते रहो..... सावधान।

चारुदत्त : (चौंककर बैठ जाते हैं) महल में यह ध्वनि कैसी ! ध्वनि बिल्कुल निकट से ही आती प्रतीत हो रही है। महादेवी तिलका !..... सुनयना !.....

प्रहरी : (पुनः) सावधान, जागते रहो।

चारुदत्त : (आँखें मलकर) पुनः यह ध्वनि !..... नेत्र भ्रम है अथवा मेरे कान मुझे धोखा दे रहे हैं। यहाँ न महल है, न मेरी पतिव्रता साध्वी पत्नी तिलका। (चारों ओर आश्चर्यपूर्वक देखते हुए) यह तो राजपथ सा लग रहा है।..... मैं राजपथ पर कैसे ! कुछ समझ में नहीं आ रहा। (वस्तु स्थिति का ज्ञान करके दीप स्तम्भ की ओर लक्ष्य करकेकहते हैं।)

हे पथिकों के पथ प्रदर्शक प्रदीप ! युगों-युगों से तुम न जाने कितने यात्रियों को प्रकाशदान कर रहे हो। तुम्हारा सहारा पाकर कितने भूले-भटके ठिकाने लगे होंगे? परन्तु तुमने मुझ जैसे भूले-भटके के अंतर का अंधकार दूर किया है।

हे तिमिरहर ! तुमने मेरे विवेक की आँखें खोल दी। काश ! यहाँ तुम न होते तो कदाचित् मैं स्वप्न समझ इसी कंकरों भरे मार्ग में न जाने कब तक पड़ा रहता। संभव है किसी मानव, पशु आदि के पदाघात से मेरी भ्रान्ति दूर होती। अथवा हो सकता है किसी के वाहन आदि से दबकर मुझे अपनी सच्ची स्थिति का भान होता या त्रस्त हो परलोक गमन कर जाता।

हे दीप ! तुमने मुझे वह अलौकिक आलोक प्रदान किया है जो अब तक मेरे माता-पिता, पत्नी मित्रवती, मेरा वृद्ध सेवक आर्य सोमभद्र भी बारह वर्ष में न दे पाये।

प्रहरी : सावधान..... (हठात् चारुदत्त को देखकर) ऐसी अंधेरी रात्रि में बीच राजपथ पर तुम कैसे बैठे हो बटोही !

चारुदत्त : (घबराकर अटकते हुये)..... मुझे..... मैं स्वयं अनभिज्ञ हूँ प्रहरी !

प्रहरी : अच्छा, प्रतीत होता है तुमने आसवपान किया है। चलते-चलते यहीं लड़खड़ाकर गिर पड़े हो। कदाचित् अब चेत आया है। (डाँटकर) उठो अपनी राह चलते बनो। नहीं तो बच्चू चोर-उचक्कों के भ्रम में तुम्हीं पकड़कर कैद कर लिये जाओगे।

चारुदत्त : (स्वाभिमान जागृत हो आता है) जिह्वा पर संयम रखो प्रहरी ! मैं कभी आसवपान नहीं करता।

प्रहरी : (व्यंग्यपूर्वक मंद-मंद मुस्कुराते हुये) तब श्रीमान् इस अवस्था में कैसे पहुँचे? तुम्हारी वेषभूषा निश्चय ही चोर, डाकू होने का संकेत नहीं कर रही। पर तुम हो कौन?

(चारुदत्त विचार मग्न मौन है।)

प्रहरी : (चारुदत्त का कंधा हिलाकर) अरे भाई ! बोलते क्यों नहीं, किन विचारों में बह रहे हो?

चारुदत्त : (खिन्नमन) सताओ मत भाई ! समझ लो समय का मारा एक मनुष्य हूँ। छेड़ो मत, छोड़ दो मुझे मेरे भाग्य पर।

प्रहरी : (अकड़ कर) मुझे क्या लेना देना। कुशल चाहते हो तो शीघ्र ही अपने घर चले जाओ।

चारुदत्त : घर ! घर कहाँ है ! (आह भरते हैं।)

प्रहरी : तुम्हारा घर नहीं है राही ! क्या तुम परदेशी हो?

चारुदत्त : नहीं, इसी नगरी का नागरिक हूँ। अब कृपा कर आगे न पूछो।

प्रहरी : (करुणा से भीगकर चारुदत्त का हाथ पकड़ मार्ग के एक ओर बैठकर) तुम बहुत संतप्त दिख रहे हो पथिक ! कदाचित् तुम्हारे मर्मस्थल पर गहरी चोट पहुँची है। चलो मैं तुम्हारे घर तक साथ चलता हूँ। किसी भाग्यवान के कुल दीपक हो तुम? तुम्हारी भव्य मुखाकृति कुलीनता का परिचय दे रही है। सब दिन समान नहीं हुआ करते। प्रत्येक मानव पर संकट के बादल मंडराया करते हैं। मन छोटा न करो।

चारुदत्त : कुल दीपक नहीं, कुल का कलंक हूँ प्रहरी ! श्रेष्ठी भानुदत्त के पवित्र नाम पर लांछन लगा.....

प्रहरी : (बीच में ही बात काटकर) तो क्या आप कुंवर चारुदत्त हैं?

चारुदत्त : हाँ, मैं ही अभागा वह चारुदत्त हूँ; जो अपनी कुकीर्ति के लिये प्रसिद्ध हो चुका है। मतिभ्रम चारुदत्त अब किस मुँह से घर जावे? मेरे सारे मार्ग अवरुद्ध हो चुके हैं। इस अधम तुच्छ जीवन से मृत्यु ही श्रेष्ठ है। तुम जाओ प्रहरी ! अपना कार्य करो। मैंने अपना पथ चुन लिया है।

प्रहरी : क्या आपका अभिप्राय आत्महत्या से है? छिः पुरुष होकर ऐसी बात शोभा नहीं देती। **अपराध पर अपराध करते जाना कहाँ की बुद्धिमानी है?** चलिये, मैं आपको आपके भवन तक पहुँचा दूँ।

चारुदत्त : हठ न करो बन्धु !

प्रहरी : मैं आपको अकेला नहीं छोड़ सकता। मानवता के नाते मेरा यह कर्त्तव्य हो जाता है। आपकी मनोदशा इस समय स्वस्थ नहीं है। (मंद-मंद मुस्कुराकर) आपको स्मरण रखना चाहिए कि मैं राज कर्मचारी हूँ। ऐसे अपराधियों को राज्य की ओर से कड़ी सजायें दी जाती हैं।

चारुदत्त : तुम हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ गये हो प्रहरी !

प्रहरी : अवश्य ! कर्त्तव्य का यही आह्वान है। आप भी अपने कर्त्तव्य का समुचित रूप से निर्वाह करें। अतीत की अनावश्यक भूलों की खाई प्रायश्चित कर सुकार्यों द्वारा पाट दें; ताकि भविष्य में पुनः पतन न हो। चलिये, मार्ग में कोई और कर्मचारी व्यर्थ ही पेरशान न करे आपको।

चारुदत्त : (दुखित हो खिन्नता से)..... अपने जघन्यतम कृत्यों से कुयश रूपी वल्लरी उगाकर मैंने अपनी पवित्र वंश परम्परा में जो घोर लांछन लगाया है, उसका क्या होगा बन्धु !

प्रहरी : आप स्वयं समझदार हैं श्रीमान् ! क्या अन्तरात्मा के सच्चे पश्चाताप से अनन्तभवों के गहन कलुष नहीं धुल जाते? प्रभात का भूला पथिक संध्याकाल में भी गंतव्य स्थान पर पहुँच जाये तो क्या बुरा?

(दोनों का प्रस्थान)

- पटाक्षेप -

दूसरा-दृश्य

समय : मध्यान्ह काल।

स्थान : श्रेष्ठी भानुदत्त का निवास।

(चारुदत्त शयनकक्ष में विश्राम कर रहे हैं। वे उदास हैं। पत्नी मित्रवती का प्रवेश। वे पास ही बैठ जाती हैं। चारुदत्त भी उठकर बैठ जाते हैं। दोनों में संभाषण हो रहा है।)

मित्रवती : आर्यवर ! आपका शुभागमन हुये आज कुल तीन दिवस हुये हैं। उत्तरोत्तर आपका मुख मलीन होता जा रहा है। कारण जानने की अधिकारिणी न होते हुये भी मेरे मन में उत्सुकता जागी है, कृपया कारण बताकर अनुगृहीत करें।

चारुदत्त : ये व्यंग्य वाण भी मुझे सह्य हैं। यदि मैं अपनी पतिव्रता पत्नी के हृदय को तनिक भी शान्ति दे सकूँ।

मित्रवती : अनर्थ न करें देव ! मैं सत्य कह रही हूँ। मेरा अभिप्राय आपके अतंस् को आघात पहुँचाने का नहीं है। अनधिकार चेष्टा से भय लगता है। इसलिये.....

चारुदत्त : सच-सच कहो भद्रे ! क्या अभी भी मुझे पराया समझ रही हो?

मित्रवती : भला मैं क्यों समझने लगी? मेरे मन-मन्दिर में तो आपकी ही मूर्ति विराजमान है।

चारुदत्त : समझा ! मुझ पर विश्वास नहीं। हो भी कैसे? कभी एक क्षण भी तुम्हें स्नेहदृष्टि से देखा हो तब न !

मित्रवती : कहने का अभिप्राय यही है कि बारह वर्ष की संयोगिनी की सुधि अनायास ही कैसे भुलाई जा सकती है। कदाचित् बुरा तो नहीं कह रही।

चारुदत्त : तुम्हारी वाणी को विषय मिला है देवी ! कहो जो तुम्हें कहना है। युग बीत गया। मैं तुम्हें विरह की आग में झुलसाता रहा। कंचन सी देह सूखकर काँटा हो गई। सच, मैं तुम्हारे समक्ष अपराधी हूँ।

मित्रवती : कौन कहता है?

चारुदत्त : कहेगा कौन? स्वयं मेरे कृत्य कह रहे हैं।

मित्रवती : आप कहाँ की बात ले बैठे। भूल होना मानव स्वभाव है। उसको परिमार्जित करना विवेक का कार्य है। आपके विवेक ने आपका उचित साथ दिया है।

चारुदत्त : (दुखित हो) कैसा साथ दिया, मैं जानता हूँ। जब सारा धन लुट चुका। अपकीर्ति ने आजीवन संग पकड़ लिया। अपनी प्यारी पत्नी, जन्मदातृ माँ को रक्त के आँसू रुलाया। पिताश्री मेरे ही कारण गृह त्यागकर संन्यासी हो गये।

मित्रवती : जो हो गया सो हो गया। समय पुनः लौटकर नहीं आता। सम्पत्ति की आप चिन्ता न करें। ये हाथ का मैल है। साथ ही पुण्य की दासी है। आपको जीवन निर्वाह में किसी प्रकार की असुविधा न होगी। मैं अपने पिताश्री की इकलौती पुत्री हूँ। उनकी बत्तीस कोटि दीनारों की सम्पत्ति की एकमात्र उत्तराधिकारिणी भी मैं हूँ। और कितनी सम्पत्ति चाहिये आपको?

चारुदत्त : पर वह सम्पत्ति लेकर मेरी कीर्ति में चार चाँद नहीं लगेंगे मित्रवती ! भला ससुराल के धन से धनी कहलाना शोभा देगा?

मित्रवती : हानि ही क्या है? याचना थोड़े ही कर रहे हैं। वे स्वयमेव ही देंगे।

चारुदत्त : मेरा पौरुष मुझे धिक्कारेगा महादेवी !..... हृदय में हाहाकार मचा है तीव्र बवंडर उठ खड़ा हुआ है। एक प्रकार की उलझन सी बनी हुई है, जो प्रतिक्षण मानस को कुरेद रही है।

मित्रवती : (व्यंग्य से) अच्छा तो यों कहिये कि वसंततिलका की सुधि हृदय सागर में लहरा रही है। अहा ! कितनी भाग्यशालिनी है वह।

चारुदत्त : वसंततिलका ईर्ष्या की नहीं, तुम्हारी दया की पात्र है भद्रे !

मित्रवती : परिहास न करें आर्यवर ! मैं स्वयं आप दोनों के प्रेम व दया की भिखारिणी हूँ। निरन्तर बारह वर्षों से पल-पल बाट जोहती रही। आपके दर्शन दुर्लभ रहे। पगध्वनि भी दुर्लभ हो गई। न जाने क्यों इतने पर भी स्नेह की डोर नहीं टूटी। अतएव आत्म-कल्याण भी नहीं हो सका। उस गणिका ने स्नेह पाश में ऐसा बाँधा कि आपने घर को बिल्कुल ही भुला दिया। कभी भूले बिसरे ही सुधि आई होती। (आह भरकर) सब मेरे भाग्य का प्रतिफल है। आपको दोष नहीं दूँगी।

चारुदत्त : मैं अपना जघन्यतम अपराध भाग्य की ओट में छिपाना नहीं चाहता देवी ! मैं दोषी हूँ, लक्ष-लक्ष बार दोषी हूँ। हृदय की विशालता के कारण ही तुमने मुझे गृह में पुनः स्थान दिया। मैं तुम्हारा चिर कृतज्ञ रहूँगा।

मित्रवती : यह भी मेरा स्वार्थ है आर्यपुत्र ! सुख प्राप्ति की लालसा अंतरंग में छुपी हुई है और फिर गृह मेरा नहीं स्वामिन् ! गृहस्वामी आप हैं। आपके अभाव में हम लोग मात्र रक्षक थे।

चारुदत्त : यह भी तुम्हारी महानता है।

मित्रवती : ये सब स्वार्थ की बातें हैं। यह बताइये कि आप उस वेश्या की विरहाग्नि में तो नहीं दग्ध हो रहे हैं? यदि ऐसा है तो आपका यहाँ आना निष्प्रयोजन ही रहा।

चारुदत्त : कृपया उपहास करना छोड़ो शुभे ! मन की व्यथा तुम्हारी सान्त्वना एवं सहायता की भूखी है।

मित्रवती : मेरी सहायता !

चारुदत्त : हाँ, आश्चर्य को अवकाश कहाँ ! क्या पत्नी पति की मंत्राणी नहीं?..... बहुत सोच विचार के पश्चात् मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि मुझे वसंततिलका की दृष्टि से बचाकर चोरी से निकाला गया है। चूँकि देवी वसंततिलका वेश्यावृत्ति सदा अस्वीकार करती रहीं। इसी कारण माँ-बेटी की जब तब खटक पड़ती थी। इस ओर कुछ महीनों से दोनों में विशेष अनबन थी। तिलका उस गृह से निकलने के लिये बंदी पक्षी की नाईं तड़पती रहती हैं। मेरे बिछोह में उस बेचारी पर क्या बीत रही होगी।

मित्रवती : वेश्या को वेश्यावृत्ति से अस्वीकृति ! नहीं नहीं नाथ ! आपके लिये छलावा मात्र था। केवल आपको अपने निकट रोक रखने का साधन ! ताकि अहर्निश सम्पत्ति स्रोत बना रहे।

चारुदत्त : तुम भ्रम में हो देवी ! यह अनोखी बात अवश्य है, परन्तु असंभव नहीं। वह

विशुद्ध कुमारी थी। तथ्य यह है कि लगभग तीन वर्ष विषय भोगों में लिप्त रहने पर देवी तिलका ने मुझे धर्म के प्रति सचेत किया। मुझे अपने कर्त्तव्य का भान कराया। उसी समय से वह भी नियमित धार्मिक अध्ययन में दत्तचित्त हो गई। तब से अभी तक का समय धर्म सेवन में ही व्यतीत करते आ रहे थे हम लोग। उन्होंने पतिव्रत अंगीकार कर लिया है एवं यही व्रत उनकी माँ वसंतमाला को खल गया है।

मित्रवती : सचमुच ! तब तो अवश्य ही वह सती कहलाने योग्य है।

चारुदत्त : धर्म की साक्षी पूर्वक कहता हूँ कि तुम्हारे और माँ श्री के प्रति उसके हृदय में अगाध स्नेह व आदर है। वह मुझे सदैव ही यहाँ आने के लिये प्रेरित करती रहीं एवं गृहिणी की भाँति परिवार की सेवा में स्वयं को समर्पण करने की उत्सुकता प्रकट करती रही, किन्तु लोकलाज की मर्यादा का झीना परन्तु दृढ़तर अंचल के कारण मनोकामना पूर्ण करने में दोनों विवश थे देवी !

मित्रवती : आह ! बेचारी पर क्या बीत रही होगी।

चारुदत्त : वसंतमाला तो धन लोलुपी दुष्ट प्रकृति की वेश्या है। कौन जाने बेटी के साथ उसका कितना क्रूर व घृणित व्यवहार होगा। उसकी मुक्ति का कोई उपाय? प्रभु उसकी रक्षा करें।..... यदि तुम कुछ सुझाव दे सको तो सुन्दर हो। एक बात और कह दूँ, कुछ कटु जान पड़ेगी।

मित्रवती : सब कुछ सहन करने की आदत पड़ गई है। निःसंकोच कहें।

चारुदत्त : अन्यथा न समझो शुभे ! मैं धनार्जन हेतु देशान्तर जाना चाहता हूँ। तुम बतलाओ कब जाऊँ?

मित्रवती : लम्बी गहन रात्रि के पश्चात् चन्द्र का आलोक उपलब्ध हुआ और पुनः वही सघन तिमिर ! चन्द्र लुप्त हो जाना चाहता है। कितने कष्टप्रद वचन हैं देव !

चारुदत्त : मैं पति का कर्त्तव्य निबाहने में तुम दोनों के समक्ष बिल्कुल असफल रहा। तुमने विवाह के पश्चात् सुख की अनुभूति नहीं की। दुःख पूर्ण जीवन व्यतीत करने को मैंने ही तुम्हें विवश किया। तुम्हारी किन शब्दों में सराहना करूँ। अतुल धैर्यपूर्वक तुमने अपनी सहिष्णुता का परिचय दिया। अब एक बार कुछ समय के लिये और क्षमाप्रार्थी हूँ।

मित्रवती : जाने की आवश्यकता नहीं है आर्यपुत्र ! यहीं व्यापार करें और आनन्द से रहें। बिछुड़ना सह्य नहीं।

चारुदत्त : भद्रे ! मेरी विवशता पर ध्यान दो। मेरी स्थिति यहाँ मुख दिखाने योग्य भी नहीं है। हाट में साख रखना नितान्त कठिन है। लज्जा से मेरा मस्तक नत है। विदेश में व्यापार बढ़ाकर पुनः यहाँ अपनी प्रतिष्ठा दृढ़ कर सकूँगा। तभी सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह होगा।

मित्रवती : फिर विरह.....

चारुदत्त : मैं शीघ्रातिशीघ्र लौटने का प्रयास करूँगा। तुम्हारी स्नेह-ज्योति मेरे मन मन्दिर में निरन्तर जागृत रहेगी। उसी के मधुर आलोक में मैं अपना पथ प्रशस्त करूँगा। स्वीकृति प्रदान कर मुझे अनुगृहीत करो महादेवी !

मित्रवती : यदि मैं वज्र बनकर हाँ कह भी दूँ; तब भी मातुश्री की ममता कभी आज्ञा प्रदान नहीं करेगी। ज्ञात है, आपकी अनुपस्थिति ने उनके सशक्त तन को कितना जर्जर कर दिया है।

चारुदत्त : जानता हूँ देवी !..... पर परिस्थिति के अनुकूल कठोर बनना होगा। उन्हें मनाना पड़ेगा। आशा है तुम मेरी सहयोगिनी रहोगी। विश्वास करूँ न तुम पर?

- पटाक्षेप -

तीसरा-दृश्य

स्थान : वसंतमाला का प्रासाद।

समय : प्रातः द्वितीय प्रहर।

(वसंततिलका उदास है। चारुदत्त के अभाव में आज वह अत्यन्त व्यथित है। वह परसों प्रातः से ही सारा महल कई बार छान चुकी है, परन्तु उसके प्रिय पति का कहीं चिन्ह भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा। नहीं मिलने तक निराहार रहने का निश्चय कर लिया है। वह अपने शयनकक्ष में तख्त पर लेटी है। आँखें अधिक रुदन के कारण फूल आईं हैं व लाल भी हैं।)

(वसंतमाला का प्रवेश।)

वसंतमाला : (वसंततिलका के सिर पर हाथ फेरते हुये स्नेहपूर्ण स्वर में) पुत्री ! आज तूने मुख में जल की बूँद भी न डाली। मैंने तेरे लिये स्वादिष्ट शीतल पेय विशेष रीति से तैयार कराकर भेजा, पर तूने ओष्ठ तक लगाने का कष्ट न किया। शुभा सुवासित दुग्ध लाई उसे भी लौटा दिया। क्या हो गया है तुझे?

वसंततिलका : (उठकर रोषपूर्ण मुद्रा में) मुझे कुछ हो जाता तो अच्छा था। दुःख है कि मैं अच्छी हूँ।

वसंतमाला : ऐसे अप्रिय वचन न कह बेटी ! दुःख हो तेरे शत्रुओं को। भला मेरी आँख की पुतली को क्यों हो?

वसंततिलका : माँ ! मैं जानना चाहती हूँ कि श्रेष्ठीपुत्र कहाँ हैं?

वसंतमाला : (अत्यन्त स्नेहपूर्ण स्वर में) बेटी ! मुझे ज्ञात नहीं। (नाटकीय ढंग से हाथ नचाते हुये) तुम दोनों के बीच का हाल मैं क्या जानूँ?

वसंततिलका : हमारे बीच कोई वार्ता नहीं हुई। इसमें तुम्हारा ही हाथ है। उन्होंने बारह वर्षों से भवन की देहलीज भी पार नहीं की। अब अनायास रहस्यमय ढंग से उनकी अनुपस्थिति खल रही है।

वसंतमाला : खलने का तो कोई प्रश्न नहीं तिलका ! एक गया तो क्या, सैंकड़ों पूँजीपति तेरे चरणों में लोटेंगे।

वसंततिलका : (जोर से चिल्लाकर) ये अवांछनीय पापयुक्त वचन मत सुनाओ माँ ! ऐसी कल्पना मात्र से मुझे पाप लगता है।

वसंतमाला : देखती हूँ तेरे हृदय में मेरे लिये कोई स्थान नहीं।

वसंततिलका : निश्चय ही नहीं है। वह माँ कैसी जो अपनी कन्या को सुखी नहीं देख सकती ।

वसंतमाला : यह तेरा भ्रम है पुत्री ! मैं तो तुझे इससे अधिक सुखी करना चाहती हूँ। पर तू है कि मेरी बात मानती ही नहीं।

वसंततिलका : अभी भी और कभी भी न मानूँगी। तुम मेरा सतीत्व नष्ट करने पर तुली हो। बताओ आर्य चारुदत्त कहाँ है?

वसंतमाला : तू तो ऐसे पूछ रही है जैसे वह मुझे जतला कर गया हो।

वसंततिलका : जतलाकर न सही। पर तुम्हें निःसंदेह ज्ञात है।

वसंतमाला : यह सभी जानते हैं कि जिसे दरिद्रता ने घेर लिया हो, उससे वेश्या को क्या प्रयोजन?

वसंततिलका : न श्रेष्ठीपुत्र दरिद्र हैं, न मैं वेश्या।

वसंतमाला : गलत है पुत्री ! तेरा कथन सर्वथा गलत है। शुभा उसके घर से चाहे जब रीते

हाथ लौटने लगी थी। उसका पिता है नहीं, वहाँ कौन बैठा है कमाऊ, जो धन बढ़े। दरिद्रता न आएगी तो और क्या होगा?

वसंततिलका : मेरी करोड़ों की सम्पत्ति उन्हीं की देन है। वे दरिद्र नहीं कहला सकते।

वसंतमाला : बावली न बन तिलका ! वेश्या की सम्पत्ति पर किसी दूसरे का अधिकार नहीं होता।

वसंततिलका : माँ ! मैं तुमसे बार-बार कह रही हूँ। मुझे वेश्या शब्द से संबोधित मत करो। मुझे वेश्यावृत्ति से अत्यन्त ग्लानि है। मेरा सतीत्व लांछित होता है। आर्य श्रेष्ठि ही मेरे पति हैं। उन्हें छोड़कर अन्य सब पुरुष तो मेरे लिए पिता व बन्धु की भाँति हैं।

वसंतमाला : (व्यंग्य से आँखें नचाते हुये) अरी वाह री सती ! ये खूब कही तूने। ***'मेंढ़की को भी जुकाम होने लगा।'*** पति था तो छोड़कर क्यों चला गया चोरी-चोरी?

वसंततिलका : इसी में रहस्य है। यदि संध्या तक ये आते हैं तो ठीक है। अन्यथा मैं ही अपना मार्ग खोज लूँगी।

वसंतमाला : क्या करेगी?

वसंततिलका : चली जाऊँगी। इस नारकीय गृह से सदा-सदा के लिये मुक्त हो जाऊँगी। उनकी माँश्री व सुश्री भगिनी मित्रवती की सेवा में स्वयं को समर्पित कर दूँगी।

वसंतमाला : ***'धोबी का गधा, घर का न घाट का।'*** इस गगनचुम्बी प्रासाद को त्यागकर मूर्खता न करना पगली। आज तक किसी वेश्या को समाज ने नहीं अपनाया। तू दुत्कारी जायेगी। तेरे लिये वहाँ कोई स्थान नहीं। चारुदत्त भी तुझे किसी अवस्था में स्थान नहीं देगा। ऐसी कल्पना भी तुझे दुःखकर है। बेटी ! तू मेरी प्यारी पुत्री है। मैं तेरे भले की ही कहूँगी। तुझ पर मेरी बड़ी-बड़ी आशायें केन्द्रित हैं। (बार-बार बलैया लेती हैं।)

वसंततिलका : इसलिए न कि तिलका तुम्हारा घर सोने से मढ़ दे। यह स्वार्थ की दुनिया है। जहाँ देखो वहाँ स्वार्थ..... केवल स्वार्थ..... (फूट-फूटकर रो पड़ती है।)

वसंतमाला : तुझे अच्छी बातें भी बुरी लगती हैं। तो ले मैं चली। पर भविष्य का विचार कर ले। तेरी नन्हीं सी वय, तुझे दुनिया का अनुभव नहीं है। यदि मेरी बात न मानी तो हानि ही उठानी पड़ेगी। (प्रस्थान)

(वसंततिलका रो रही है। सहसा उसके कानों में वही प्रतिध्वनि बार-बार होती है। वह घबरा जाती है। कानों पर हाथ रखकर यहाँ वहाँ देखती है।)

वसंततिलका : (कुछ क्षण रुककर, स्वगत्) मैं अनुभव शून्य हूँ। मेरे लिये कोई स्थान नहीं। (कक्ष में व्यग्र होकर चक्कर लगाने लगती है।) न सही; यदि यहाँ से निकलने का प्रयत्न सफल न हुआ तो तिलका ! शीलव्रत का महान संबल सदा के लिए छूट जायेगा। (अत्यधिक क्रोध में दाँत पीसती है) यहाँ वासना के कीड़े, कामी कुत्ते तेरे तन की बोटी-बोटी चींथ लेंगे। कुत्तों से भी जघन्यतर मौत होगी। संभल तनिक भी डिगी तो जीवन और मरण दोनों भयावह हो उठेंगे। (विचारकर)..... जाना ही होगा। चलूँ कुछ बहुमूल्य रत्न रख लूँ। समय पर काम आयेंगे।..... न..... नहीं, यह द्रव्य अनर्थ कर डालेगा। इसको छूना भी पाप है। मेरा भाग्य और मेरा धर्म ही सहायक होगा। इन जड़ ठीकरों से कैसी सुरक्षा? (दबे पैर बाहर निकलती है पुनः रुककर) सादा वेश बना लूँ; नहीं तो मार्ग भी दूभर हो उठेगा ! (मंजूषा में से एक श्वेत सादी शाटिका निकालकर पहिन लेती है, ताकि पहिचानी न जा सके। तन के सम्पूर्ण आभूषण एक-एक कर उतार देती है और तुरन्त ही चुपचाप गृह त्याग देती है।)

- पटाक्षेप -

चौथा-दृश्य

समय : संध्या काल।

स्थान : वसंततिलका श्रेष्ठी चारुदत्त के निवास स्थान के बाहर।

(चारुदत्त विदेश प्रयाण कर गये हैं। घर में माँश्री देवलदेवी व पत्नी मित्रवती हैं। वसंततिलका पता लगाती हुई द्वार पर पहुँचती है। वह असमंजस में पड़ी है। क्या कहे, किस प्रकार प्रविष्ट हो भवन में। थकान से उसका तन चूर-चूर हो रहा है। वहीं बैठ जाती है। दो-तीन दिन से निराहार रहने के कारण और मार्ग की थकावट से उसकी साँस तेजी से चलने लगती है। वेदना से व्यथित होकर अंतःकरण भर आता है। आँसुओं की झड़ी लग जाती है तत्पश्चात् वह द्वार पर ही मूर्च्छित हो जाती है। नयनों से आँसू ढुलककर कपोलों पर रेखायें अंकित कर देते हैं। मुखाकृति मलिन है। कुछ समय पश्चात् देवलदेवी बाहर आती हैं। अचानक वसंततिलका को देखकर -)

देवलदेवी : (स्वगत्) अरे ये कौन? कहाँ से आई, कैसी पड़ी है यहाँ? (निकट आकर) मूर्च्छित सी दिख रही है। (हिला डुलाकर) जल लाऊँ। (तत्क्षण पात्र में जल लाती है एवं तिलका के मुख पर छिड़कती है। वह धीरे-धीरे सचेत होकर आँखें खोलती है।)

वसंततिलका : (घबराकर क्षरण स्वर में) मैं कहाँ हूँ?

देवलदेवी : (माथा सहलाते हुए) घबरा मत बेटी ! तू सुरक्षित स्थान में है। तू किस गृह की शोभा है एवं यहाँ कैसे आई?

वसंततिलका : (बोलते हुये सांस भर आती है) कुछ न पूछो माताजी ! मुझ अभागिन की करुण कहानी।

देवलदेवी : तुझसे बोला नहीं जा रहा बेटी ! चल भीतर कुछ कौर खा ले। (हाथ पकड़कर भीतर ले जाती है। वसंततिलका धरती पर बैठ जाती है। बिछे हुये गलीचे की ओर संकेत कर) अरी यहाँ बैठ बेटी !

वसंततिलका : मेरे लिये यही स्थान उचित है।

देवलदेवी : (दुग्ध पात्र व पकवान लाकर) ले बेटी ! ये मधुर दूध पी ले और ये मोदक खा ले; ताकि वाणी को बल मिले।

वसंततिलका : केवल जल लूँगी माँजी ! तीन दिन से निराहार हूँ अपनी प्रतिज्ञा पूर्ति हेतु।

देवलदेवी : कुछ उदर में डाल ले पुत्री ! फिर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर लेना। बन सका तो पूर्ति में मैं भी सहायता दे दूँगी।

वसंततिलका : (प्रसन्न हो) सच ! आप सहायता देंगी? वचन दे रही हैं?

देवलदेवी : (शान्ति से) अवश्य, मानव को सहयोग देना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है पुत्री ! वचन ही मान लो। (दुग्ध पात्र देती है)

वसंततिलका : माँश्री ! आपके स्नेह पूर्ण वचन सुनकर परम प्रसन्नता हुई। कृपया जल ही देती तो.....

देवलदेवी : (बात काटकर) पुत्री ! पागलपन नहीं किया करते। रीते पेट भला जल क्या पी सकोगी? मोदक न खा, पर दुग्ध पान तो कर ले। जब मैं वचन दे रही हूँ, तब ये आनाकानी कैसी? पी ले बेटी पी ले। (वसंततिलका दुग्धपान करने लगती है) तनिक चैन मिले। देख तो कंचन सी काया कैसी कुम्हला गई है।

वसंततिलका : यह काया ही शत्रु बन गई है माँजी ! (पीकर) आप कितनी अच्छी हैं। आपके कर-कमलों द्वारा दिया गया दुग्ध अमृतसम सुमधुर लगा।

देवलदेवी : तुझे क्या कष्ट है बेटी !

(मित्रवती का प्रवेश)

मित्रवती : माँश्री ये कौन हैं? मैं इन्हें नहीं पहिचान पा रही।

वसंततिलका : भगिनी श्री ! मैं आपकी शरणागत हूँ। साथ ही कृपाकांक्षिणी भी।

मित्रवती : तुम्हारा अभिप्राय?

वसंततिलका : तुम्हारी दयादृष्टि की भिखारिणी अपना आँचल फैलाये है। (आँचल फैला लेती है।)

मित्रवती : स्पष्ट कहो सखी ! किस प्रकार की सहायता की आवश्यकता है?

देवलदेवी : हाँ, हाँ कहो पुत्री ! मैं अपना वचन कैसे पूर्ण करूँ?

मित्रवती : मातेश्वरी ! कैसा वचन?

देवलदेवी : कौन जाने इस बावली ने किस प्रतिज्ञा पूर्ति हेतु निराहार रहने का व्रत ठान लिया है। मैंने इसकी प्रतिज्ञा-पूर्ति में सहयोग देने का वचन दिया, तब कहीं जाकर इसने दुग्ध सेवन किया है।

मित्रवती : तब कहो क्या चाहती हो?

वसंततिलका : वचन.....

मित्रवती : वचन ! वचन तो मातुश्री दे चुकी हैं। उनकी बात अटल है। निश्चिन्त होकर कहो।

वसंततिलका : मुझे आपका सहयोग अपेक्षित है।

मित्रवती : अवश्यमेव !

देवलदेवी : अरे पुत्री ! कुछ कहोगी भी या केवल वचनों में ही बाँधती रहोगी।

वसंततिलका : (संकोचपूर्वक) माँ जी ! मैं आपकी शरण चाहती हूँ?

देवलदेवी : (साश्चर्य) शरण ! स्पष्टत : तुम्हारा अभिप्राय क्या है? कुछ समझ में नहीं आ रहा है।

वसंततिलका : आपके आँचल की छाया चाहती हूँ मैं वसंततिलका।

देवलदेवी : (जैसे सर्प ने डस लिया हो, इस प्रकार दूर छिटककर) वसंततिलका वेश्या ! (क्रोध से फटकारती हुई) आह ! क्या यहाँ भी आग लगाने आ गई?

वसंततिलका : (करुण स्वर से) आग लगाने नहीं मातुश्री ! अपनी स्वयं की आग बुझाने आई हूँ। (चरण स्पर्श करती है।)

देवलदेवी : चल हट पापिष्ठा ! तेरी परछाई भी दुःखदाई है। मुझे छूकर अपवित्र न कर अभागिनी !

वसंततिलका : (अत्यन्त विनम्र हो) लक्ष-लक्ष अपशब्द कह लें; परन्तु अपनी छाया में विश्राम दें मातुश्री !

देवलदेवी : (दाँत पीसकर) ताकि मेरे लाल को पुनः मेरी आँखों से ओझल करने में सफल हो सके।

वसंततिलका : नहीं-नहीं.....

देवलदेवी : (वसंततिलका के शब्दों पर ध्यान न देते हुए) बारह वर्ष मेरे एकमात्र पुत्र का मुख नहीं देखने दिया। (आँखों में आँसू भरकर) मेरी वधू मित्रवती भरी तरुणाई में पति विरह का घोर कष्ट सहती रही। तूने परिवार भर को रक्त के आठ-आठ आँसू रुलाया है कुलक्षिणी।

वसंततिलका : (दुःखपूर्वक) नहीं माँ जी ! ऐसी बात नहीं है। मैं.....

देवलदेवी : (क्रोधपूर्वक) हूँ..... मैं सब समझती हूँ। जिस लोभ लालच से तू यहाँ दौड़ी आई है; वह सम्पत्ति अब नहीं रही तेरा मुँह भरने के लिये।

वसंततिलका : (व्यथित हो) माँ ! मुझे नहीं चाहिये सम्पत्ति ! केवल आपका स्नेहपूर्ण आश्रय चाहती हूँ।

देवलदेवी : नागिन के पोर-पोर में विष समाया रहता है।

मित्रवती : मातुश्री ! आप प्रकोष्ठ में विश्राम करें, अन्यथा अस्वस्थ हो जायेंगी। (हाथ पकड़कर अन्तर्कक्ष में पहुँचा देती है। वे वसंततिलका की ओर आग्नेय नेत्रों से देखती हैं। मित्रवती बलात् भीतर ले जाती है। पुनः आकर) तुम जा सकती हो। व्यर्थ ही माँश्री को आघात मत पहुँचाओ।

वसंततिलका : (अश्रुपूर्ण मुद्रा में) तुम भी ऐसा कहने लगीं भगिनी ! मैं कहा जाऊँ? न मेरा घर न द्वार।

मित्रवती : जहाँ से आई हो, तुम्हारा वहीं लौट जाना उचित होगा।

वसंततिलका : वहाँ के द्वार मेरे लिये सदा-सदा को अवरुद्ध हो चुके हैं बहिन ! यदि यहाँ तुम्हारी छाया न मिली तो जीवित रहने का एकमात्र साधन भी खो चुकूँगी। फिर आत्मघात ही मेरा अन्तिम सहारा होगा।

मित्रवती : ऐसा न कहो बहिन ! जाओ सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करो। अनेकों श्रीमान् तुम्हारे पद पंकजों पर न्यौछावर होंगे। तुम्हारा सौन्दर्य मादक व अनुपमेय है।

वसंततिलका : ऐसे वचन सुनने से भी मुझे पाप लगता है। निष्ठुर न बनो जीजी ! नारी हृदय कोमल होता है। वह कभी अनुचित अविवेकी कार्य करने को प्रेरित नहीं करता। क्या इस कार्य के विचारने मात्र से सतीत्व पर लांछन नहीं लगेगा?

मित्रवती : लगेगा सतियों को, तुम्हें.....

वसंततिलका : (बीच ही में संतप्त हो) समझी..... (आह भरकर) मैं वेश्याकुल में उत्पन्न हुई हूँ। तुम्हारा मुझे वेश्या समझना अनुचित नहीं कहा जा सकता। फिर भी जीजी मुझे वारांगना न कहो। प्रभु की साक्षी से शपथपूर्वक मैंने पति के रूप में केवल आर्य चारुदत्त का ही वरण किया है। चरित्र ही मेरी पूँजी है। मेरे पास यही एकमात्र निधि शेष है। संसार का सारा वैभव भी मेरी पूँजी की समानता नहीं कर सकता। मुझे कुछ नहीं चाहिये। केवल आपकी संगति की अभिलाषा है। तुम आर्यश्रेष्ठी से मेरे चरित्र के विषय में अनुसंधान कर सकती हो।

मित्रवती : परन्तु वे हैं कहाँ बहिन !

वसंततिलका : (घबराकर) क्या वे यहाँ नहीं आये? आह ! दुर्भाग्य तूने पल्ला जो पकड़ लिया है।

मित्रवती : (शान्तिपूर्वक) आये तो थे; पर आज प्रातः ही धन उपार्जन हेतु विदेश प्रयाण कर गये।

वसंततिलका : तब तुम्हीं बताओ जीजी ! अब मैं कहाँ जाऊँ ! तुम मुझे उनके दर्शन भी मत करने देना, पर इस विशाल भवन के एक कोने में स्थान दे दो भगिनी ! मैं क्रीतदासी के सदृश्य रहूँगी। यहाँ रहने से मेरा शील निष्कलंक रह जायेगा।

मित्रवती : (सुदृढ़ता पूर्वक) परन्तु मातुश्री.....

वसंततिलका : उन्हें मनाना होगा जीजी ! और ..... तुम्हीं उन्हें मना सकोगी। मेरे स्त्रीत्व की विवशता, जन्मदातृ माँ अवश्य समझ सकेंगी। क्या शीलवती नारी दूसरी शीलवती को व्यभिचार

की वैतरणी में धकेलने का साहस कर सकेगी? नहीं (दृढ़तापूर्वक) कभी नहीं।

मित्रवती : (विचार मग्न है)

वसंततिलका : कहो मेरी रक्षिका (पैर पकड़कर) कहो, क्या एक शीलवती नारी का तुम पर कोई अधिकार नहीं? क्या मेरे शील रक्षण का तुम्हारे ऊपर कोई उत्तरदायित्व नहीं?

मित्रवती : है, (गले लगाकर) रहा और रहेगा, कोने में नहीं मेरी लघु भगिनी के सदृश्य। इस गृह में जितना मेरा अधिकार है उतना ही तुम्हारा भी रहेगा। नारी, नारी के द्वारा कदापि तिरस्कृत नहीं हो सकती। नारी अपनी सुशीलता के कारण अतीत अनागत किसी भी काल में सदैव ही सम्माननीय रहेगी। (हाथ पकड़ कर अन्दर ले जाने का उपक्रम करती है।)

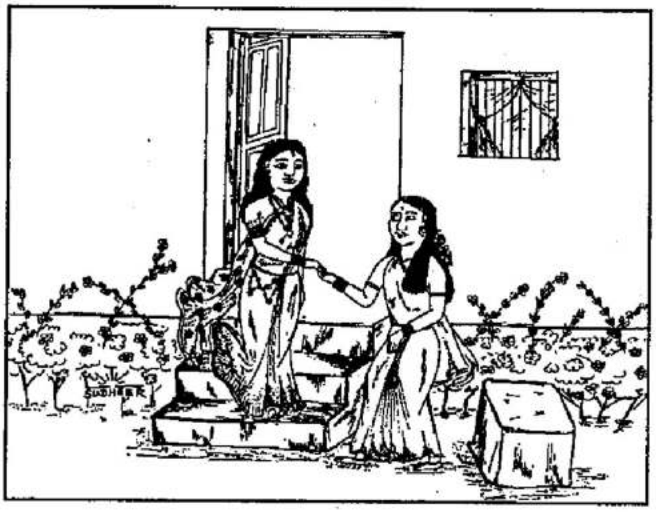

वसंततिलका : (हर्षाश्रु बहने लगते हैं) धन्य हो उठी जीजी! कृतकृत्य हो गई तुम्हारा सहारा, स्नेहाश्रय पाकर। तुम जैसी वत्सला बहिनश्री को पा जन्म-जन्म के पुण्य का फल किंवा आज अनायास ही प्राप्त हो गया। वर्षों की साधना आकांक्षा आज फलवती हुई।

मित्रवती : सुन चुकी हूँ तुम्हारे विषय में। आर्यश्रेष्ठी से जैसा सुना था उससे कहीं अधिक तुम्हें पाया। सचमुच तुम्हारा यह निर्णय सराहना योग्य है बहिन।

वसंततिलका : सब आर्यश्रेष्ठी की सत्संगति का प्रभाव है जीजी! अन्यथा मुझे सद्भावना छू भी नहीं पाती।

मित्रवती : (हँसकर) कीचड़ में कमल खिला है। चलो अंतर्प्रकोष्ठ में। प्रथम तो हमारा कार्य पूज्य मातेश्वरी की क्रोधाग्नि को प्रशान्त करना होगा। तुम तनिक ओट में हो जाओ।

वसंततिलका : गृहप्रवेश के प्रथम ही प्रवंचना! नहीं जीजी ऐसा न कहो। आत्मघात से अधिक प्रवंचना असह्य हो उठेगी।

मित्रवती : तब फिर चलो। साँच को आँच कहाँ? हीरे की आभा घनों की सहस्रों चोटों से

कहीं क्षीण नहीं होती। कदाचित् मैं गलत समझी थी। यथार्थतः खरा स्वर्ण कसौटी पर कसने से भीत नहीं होता।

वसंततिलका : (संकुचित हो) यदि आपका कथन यथार्थ भी मान लिया जाये तो हीरे की नहीं, उसके पारखी की महिमा ही माननी होगी। जिसने उसे अमूल्य घोषित किया है।

मित्रवती : तुझमें वचन चातुरी खूब है री ! चल अब सीधे माँश्री के समीप ही चलें। (हाथ पकड़कर कक्ष में ले जाती है।)

(वसंततिलका हठात् रुक जाती है।)

मित्रवती : अरी, रुक क्यों गई भगिनी।

वसंततिलका : (अनुनयपूर्वक) एक बात कहूँ जीजी ! इस पवित्र गृह में प्रविष्ट होने के प्रथम उस महा अपवित्र गृह के अवशेष इस तन के वसनों का भी परित्याग कर देना मुझे इष्ट है। तुम्हारी दी हुई मंगल शाटिका (साड़ी) से स्वयं का शृंगार करूँगी।

मित्रवती : यह भी तुमने सद्गृहिणी के सदृश्य उचित ही कहा है। परमपिता परमात्मा की अनुकम्पा से तुम्हारे समस्त अभीष्ट सिद्ध हों।

- पटाक्षेप -

पंचम-दृश्य

समय: मध्यान्ह काल।

स्थान : समुद्र का किनारा।

(श्रेष्ठि चारुदत्त विविध प्रकार का वाणिज्य करते हुये अनेक आपत्तियों को पार कर अर्जित सम्पत्ति को लेकर अपनी नगरी चम्पा लौट रहे थे कि अकस्मात् उनका जलपोत भँवर में आ जाता है। सारे यात्री त्राहि-त्राहि करने लगते हैं। देवयोग के श्रेष्ठि पुंडरीक दूसरे जलयान पर उसी मार्ग से श्रीपुर लौट रहे थे। वे प्रयत्न कर डूबते जलपोत के कुछ यात्रियों को बचाने में सफल हो जाते हैं।)

(**नेपथ्य में** - जलयान भँवर में आ जाता है। त्राहि-त्राहि का करुण स्वर वायुमंडल में गूँज उठता है। कर्णभेदी चीत्कारें मृत्यु की भयानकता का उद्घोष कर रही हैं। शनैः शनैः कोलाहल शांत होने लगता है। बचे हुये चंद व्यक्तियों का प्रवेश। वे परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं)

पहला व्यक्ति: हम लोगों का सौभाग्य है जो जीवित बच गये हैं।

दूसरा व्यक्ति : हाँ बन्धु ! (गहरी सांस लेकर) उफ ! मैं तो उस क्षण की कल्पना करता हूँ तो

रोमांच हो आता है। कितना भयानक संकट था। मृत्यु ताल स्वर से नाच रही थी। एक क्षण पश्चात् ही हम लोगों की इहलीला समाप्त हो जाती।

तीसरा व्यक्ति : कहावत है न मित्र ! मारनेवाले से बचानेवाला सदैव बड़ा होता है।

चौथा व्यक्ति : यही हुआ भी। उस क्षण तो केवल मृत्यु ही दिखलाई पड़ रही थी। जीवन की रेखा का सूक्ष्म अस्तित्व भी प्रायः समाप्त हो गया था कि अनायास ही उद्धारक के रूप में श्रीपुर के श्रेष्ठिपुत्र आर्य पुंडरीक का यान त्वरित गति से निकट आ गया।

पांचवा व्यक्ति: और हम चंद लोग बच गये। सचमुच आर्य पुंडरीक ने हमें मृत्यु के मुख से खींच लिया।

दूसरा व्यक्ति: अपने कितने साथी तो हमसे बिछुड़कर गहरे जल में समा गये। बेचारों के परिवार वाले कितनी आशा भरी आँखें लगाये होंगे।

पहला व्यक्ति: और यह हृदय विदारक समाचार हमीं को देना पड़ेगा मित्र ! कितना दुःख होगा। मेरे कानों में तो वही हाहाकार गूँज रहा है।

तीसरा व्यक्ति : वह तरुण कैसा भला सा नाम था उसका, उसे मैं हाथ में पकड़कर यान में खींच रहा था कि विनाशिनी लहर पृथक् कर अपने साथ ले भँवर में विलीन हो गई। आह ! उसकी वह विवशता, आशा भरी चितवन और मर्मभेदी चीत्कार मेरे हृदय पटल पर ज्यों की त्यों अंकित है। कालान्तर में भी मैं उसे भुला न सकूँगा।

चौथा व्यक्ति : नियति के आगे मनुष्य बिलकुल विवश है बन्धु ! मनुष्य कुछ सोचता है और होता कुछ और है।

पाँचवां व्यक्ति : लो क्या यह कल्पना भी की थी कि इस प्रकार हम लुट पिटकर अपने घर पहुँचेंगे। खूब व्यवसाय किया। लाखों की सम्पत्ति अर्जित की। सोचा था सुख चैन से जाकर परिवार से मिलेंगे। सम्पत्ति के नाम से तो लगभग सभी स्वाहा हो गया।

दूसरा व्यक्ति : जैसे घर से निकले थे, वैसे ही फिर पहुँच जायेंगे। वर्षों के कठिन परिश्रम पर पानी फिर गया।

तीसरा व्यक्ति : बस बंधु ! यही समझो कि जीवन बचा है। सम्पत्ति तो हाथ का मैल है। जीवन है तो पुनः अर्जित कर लेंगे। न कुछ लेकर आये हैं न कुछ लेकर जायेंगे।

पाँचवा व्यक्ति : तुम्हारा कथन सत्य है बंधु ! पर मेरी दूसरी ही धारणा है। मेरा अनुभव

यही कहता है कि सम्पत्ति है तो जीवन सार्थक है अन्यथा जीवन दो कौड़ी का है। मानव का नहीं, उसकी सम्पत्ति का सम्मान होता है। दरिद्र दुरदुराया जाता है। मेरे घर की भूतपूर्व स्थिति से तुम अपरिचित नहीं हो मित्र ! उस निर्धनता ने मेरे परिवार को कहीं का न रखा। समाज से च्युत हुआ, सम्बन्धियों ने मुख फेर लिया। सच मित्र ! वे सब ऐसे हो गये जैसे जन्म-जन्म से हम परस्पर अपरिचित रहे हों।

चौथा व्यक्ति : ऐसा ही होता है मित्र ! संसार स्वार्थी है। विपत्ति में मनुष्य का कर्त्तव्य है परस्पर सहयोग देना। वह अपने इस प्रकृतिजन्य कर्त्तव्य की अवहेलना करता है, क्यों ? केवल अपने क्षुद्र स्वार्थों के कारण।

पाँचवां व्यक्ति : इसलिये मित्र ! मेरा मर जाना ही अच्छा था; क्योंकि जीवन की विषम परिस्थितियों से मैं खूब अवगत हूँ। जीवित रहने की अपेक्षा मरना अधिक सरल है।

पहला व्यक्ति : किन्तु निर्धन का जीवन अत्यन्त दुरूह है। मृत्यु.... (श्रेष्ठिपुत्र आर्य पुंडरीक का श्रेष्ठि चारुदत्त के साथ प्रवेश)

पुंडरीक : (उपर्युक्त व्यक्ति की पीठ थपथपाते हुये) चिन्तित न हों आर्य ! आपके कष्ट निवारण का मैं भरसक प्रयत्न करूँगा। आज से आप सब मेरे अतिथि हैं। निःसंकोच हो मुझे सेवा का अवसर प्रदान करें।

दूसरा व्यक्ति : आर्य ! हम सब आपके इस असाधारण सौजन्य के प्रति अत्यधिक आभारी हैं।

पुंडरीक : आभारी नहीं, आर्यजन ! अधिकारी हैं। मानवता का यही आह्वान है। इस सत्य की अवहेलना नहीं की जा सकती।

चारुदत्त : आप न होते तो शायद अभी हम आपके समक्ष न बैठे होते, कबके काल कवलित हो गये होते।

पुंडरीक : चारुदत्त ! यह आपका बडप्पन बोल रहा है।

चारुदत्त : मित्र ! बडप्पन नहीं, सत्य यही है।

पुंडरीक : (गंभीर होते हुए) चारुदत्त ! आपका कथन एक अपेक्षा सत्य है, परन्तु वह बहुत छोटी सी बात है; उसके कारण आप वास्तविक सत्य को नहीं ठुकरा सकते। यथार्थ तो यह है कि

मैं आप सबके बचाने में निमित्त बना हूँ, वह भी मात्र बहिरंग निमित्त। अरे ! अंतरंग निमित्त तो तुम्हारे आयुकर्म का उदय ही है। और.....

चारुदत्त : (बीच में ही टोकते हुए) और क्या ?

पुंडरीक : और उपादान जीव की चैतन्य शक्ति है। अरे, उस चैतन्य शक्ति के बल पर ही तो इस जड़देह को जीव कहा जाता है, जिसे उस चैतन्य शक्ति के निकल जाने पर जला दिया जाता है।

चारुदत्त : यह सत्य है, फिर भी जिसप्रकार व्यवहार से आपने हमारी रक्षा की है, उसीप्रकार व्यवहार से हमारा दायित्व एवं परिणाम भी हमें आपके प्रति आभार व्यक्त करने के कर्त्तव्य की याद दिलाता है।

पहला व्यक्ति : यह दार्शनिक बातें हमारी समझ में नहीं आती, हम तो यही मानते हैं कि हमारे प्राणदाता तो आप ही हैं।

पुंडरीक : मित्रो ! मुझे इतना अधिक सम्मान देकर लज्जित न करो और ना ही सत्य को दार्शनिक बातें कहकर झुठलाने का प्रयत्न करो। अब अधिक समय नष्ट न करें, आप सब चलें। रथ तैयार है। - *पटाक्षेप* -

卐 पंचम-अंक 卐

प्रथम-दृश्य

समय : प्रातः काल का द्वितीय प्रहर।

स्थान: श्रेष्ठी प्रियदत्त का भवन।

(श्रेष्ठीपुत्र पुंडरीक व चारुदत्त का वार्तालाप)

चारुदत्त : मित्र ! मैं अब घर जाना चाहता हूँ। अनुमति प्रदान करो।

पुंडरीक: (चौंकते हुये) ऐसी शीघ्रता क्या है मित्र ! पूर्ण स्वस्थ तो हो लो।

चारुदत्त : अब मैं पर्याप्त स्वस्थता अनुभव कर रहा हूँ। तुमने मुझ पर जो अकारण अनुग्रह किया है, उसके लिये मैं किन शब्दों में सराहना करूँ।

पुंडरीक: नहीं मित्र ! इसकी क्या आवश्यकता है, जबकि मेरा यह कर्त्तव्य था। कर्त्तव्य प्रशंसा नहीं चाहता। तुम्हारा जैसा मित्र पाकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है। तुम्हें स्वस्थ देखकर मेरा आनन्द हृदय में नहीं समा रहा।

चारुदत्त : यह मेरा परम सौभाग्य ही है जो मधुर स्नेह की अनुभूति हुई है, उसे मैं आजीवन नहीं भूल सकता। तुम्हारे संरक्षण में मेरा पुनर्जीवन हुआ है। तुम्हारा चिर कृतज्ञ रहूँगा।

पुंडरीक: ऐसी बात नहीं हैं बंधु ! भला मुझमें इतनी सामर्थ्य कहाँ ?

चारुदत्त : यद्यपि सिद्धांततः तुम्हारा कथन यथार्थ है, तथापि मैं गलत नहीं कह रहा हूँ। यदि मेरी बात न मानी तो व्यवहार ही नष्ट हो जयेगा।

पुंडरीक: सिद्धान्त के समक्ष लोक व्यवहार कोई मायने नहीं रखता।

चारुदत्त : यह तुम्हारी हठ है मित्र ! तुम्हीं बताओ हमारा जलयान जब लहरों की चपेट में आ गया, तब उस समय यदि तुम अपने यान में शरण न देते तो?

पुंडरीक: अरे भाई ! देते कैसे नहीं, होनहार ही ऐसी थी। तुम्हारा बचना अनिवार्य था। प्रकृति के ऐसे कुछ सुनिश्चित कार्यक्रम हैं, जिन्हें हम अल्पज्ञ समझ नहीं पाते।

चारुदत्त : कुछ भी हो। मैंने जिस दिन गृह त्याग किया, उसी दिन से विपत्तियाँ मेरी सहगामिनी बन गईं। स्नहेशवह मेरे श्वसुर भी साथ हो लिये। निर्यात के कारण उनसे बिछुड़ एकाकी रह गया। अर्जित सम्पत्ति भीलों ने लूट ली। निर्धनता में व्यापार कैसा ? जंगलों में भटकता रहा। दरिद्रता में मति भ्रष्ट हो जाती है। एक संन्यासी के प्रलोभन-जाल में फँस मैंने तो जीवन की आशा भी छोड़ दी थी।

पुंडरीक : (दुखित हो) ओह ! संकट पर संकट !

चारुदत्त : किन्तु आयु शेष थी। प्रकृति सहायक बनी। अंतर में साहस का संचार हुआ। एक बार पुनः आत्म विश्वास से कार्य प्रारम्भ किया। इस बार भाग्य अनुकूल रहा और पुरुषार्थ सफल।

(अनायास श्रेष्ठी प्रियदत्त का प्रवेश)

प्रियदत्त : तरुणों में आदर्श हो वत्स ! तुमने विधि के अंक मिटाये हैं।

(दोनों खड़े हो जाते हैं)

चारुदत्त : (अभिवादन की मुद्रा में) चारुदत्त का अभिवादन स्वीकार करें तात् ! कृपया विराजें।

पुंडरीक : (हाथ जोड़कर) नमन करता हूँ तात् !

प्रियदत्त : (पास ही रखी पीठिका पर बैठकर) चिरंजीव रहो आयुष्मानों ! वत्स चारुदत्त ! तुम्हारा स्वास्थ्य अब कैसा है ?

पुंडरीक : ये जाना चाहते हैं पिता श्री !

प्रियदत्त : नहीं, कुछ दिन शान्ति से रहो, तुम अभी यथेष्ट स्वास्थ्य लाभ नहीं कर पाये हो।

चारुदत्त : (संकुचित हो) महानुभाव ! मैंने आप सबको अत्यधिक कष्ट दिया है। मुझे गृहत्याग किये बहुत दिन हो गये हैं। मातेश्वरी राह देखती होंगी।

प्रियदत्त : फिर भी शारीरिक क्षीणता देखते हुये तुम्हारा रुकना अनिवार्य है। अभी हमें तुम्हारा पूर्ण परिचय भी प्राप्त नहीं हुआ। क्या इतने स्नेही होकर भी अपरिचित ही रह जाओगे ?

पुंडरीक : बतलाने में हानि न हो मित्र ! तो क्या हम सब तुम्हारा परिचय पाने की आकांक्षा कर सकते हैं ?

चारुदत्त : अवश्यमेव मित्र ! हानि की कोई संभावना नहीं। तुम सबने मुझे अपनाया है, स्नेह प्रदान किया है तो फिर अभिन्नों से दुराव कैसा ? पर मैं अपना परिचय भी क्या दूँ? मैंने निरन्तर भूलें की हैं। जब मैं अपने विगत जीवन पर दृष्टिपात करता हूँ तो हृदय रो पड़ता है।

प्रियदत्त : वत्स ! तुम भूल रहे हो। भाग्य की प्रतिकूलता सभी मनुष्यों को अपने दुष्प्रभाव से, आक्रांत कर देती है।

चारुदत्त : भाग्य का आवरण डालकर अपनी भूलों को छिपाने में मुझे आत्मग्लानि होती है। अब केवल पश्चाताप ही शेष रह गया है।

पुंडरीक : ज्ञात होता है तुम दार्शनिक भी हो। आत्म निरीक्षण कर तुमने अपने को माँज लिया है।

चारुदत्त : नहीं, ऐसा कहकर तुम अतिक्रमण कर रहे हो मित्र ! मैं कुसंगति में पड़ अपना धर्म, धन सब कुछ खो बैठा। कुल की प्रतिष्ठा का भी मुझे ध्यान न था। मैं अविवेकी स्वेच्छाचारी बन गया। अपने ही हाथों अपना घोर अकल्याण कर डाला।

पुंडरीक : मित्र ! अतीत को बार-बार दोहराने से लाभ नहीं। तुम्हारे वर्तमान ने उस कालिमा को धो दिया है।

प्रियदत्त : यह बड़ी सुन्दर बात है। जब कि वृद्ध अतीत को तथा तरुण भविष्य को सुखद

सुनहला मानते हैं और वर्तमान से दोनों असंतुष्ट रहते हैं, तब तुम्हारा वर्तमान भी सुख शान्तिदायक है। सचमुच तुम भाग्यवान हो चारुदत !

चारुदत्त : आप सबका आशीर्वाद ही उन्नति में सहायक सिद्ध हुआ है तात् ! जीवन का मूल्य समझ सकने की क्षमता कदाचित् आ रही है। नियति का मुझपर यह बड़ा भारी उपकार है।

प्रियदत्त : आयुष्मान् ! आपदायें विवेक की जननी तथा अभाव आविष्कार के जनक हैं।

चारुदत्त : आपका कथन यथार्थ है। मुझे इन संकटों ने इतनी शिक्षा दी है, जितनी सहस्रों उपदेशक भी मेरे मस्तिष्क में न भर पाते।

प्रियदत्त : प्रयोगों के माध्यम से यह शिक्षा अनुभव प्रसूत होकर तुम्हारे जीवन में निखरी है।

पुंडरीक : इनका जीवन एक बृहद् आख्यान ही बन गया है तात् ! ऐसे कर्मठ मित्र को पाकर मैं धन्य हो उठा हूँ।

चारुदत्त : (हर्षित हो) और मैं भी।

प्रियदत्त : आयुष्मान चारुदत्त ! तुम्हारा स्थायी निवास कहाँ है ?

चारुदत्त : जी, उज्जैनी मेरी मातृभूमि है।

प्रियदत्त : उज्जैनी ?

चारुदत्त : जी हाँ ! आपके आश्चर्यान्वित होने का कारण ?

प्रियदत्त : 'उज्जैनी' नाम सुनते ही युगों-युगों पहले की घटना नयनों में साकार हो आई

चारुदत्त : धृष्टता न हो तो मुझे भी उस घटना से अवगत करावें।

प्रियदत्त : (आँख बंदकर क्षणिक सुख का रसास्वादन कर) यदि सुनने की जिज्ञासा है तो सुनाने में मुझे कोई आपत्ति नहीं। पर.... अच्छा प्रथम तुम्हारी बात समाप्त हो ले। यहाँ तम्हारे आगमन का हेतु ? क्या पर्यटनार्थ आये थे ?

चारुदत्त : नहीं व्यवसाय करना मुख्य ध्येय था, उसी की पूर्ति हेतु मैंने विदेश भ्रमण किया।

प्रियदत : कहाँ-कहाँ भ्रमण कर आये ? वाणिज्य लाभदायक रहा ?

चारुदत्त : नहीं महानुभाव ! लाभ का स्थान क्षति एवं संकट ही भरते रहे। बहुत से द्वीप सागरों को लांघकर जब मैं रत्नद्वीप पहुँचा, तब भाग्य ने करवट बदली। दिन दूनी रात चौगुनी व्यापार में वृद्धि होने लगी। लक्ष्य पूर्ति कर मैंने स्वदेश हेतु प्रयाण करना उचित समझा। मार्ग में

हमारा जलपोत दुर्घटना ग्रस्त हुआ। मित्र पुंडरीक ने मुझे सम्पत्ति सहित जीवन दान दिया। संप्रति मैं आपके समक्ष पुत्र रूप में उपस्थित हूँ।

प्रियदत्त : ज्ञान होता है तुम्हें मेरी बात सुनने की तीव्र उत्कंठा है। इसीलिये संक्षेप में ही तुमने अपनी बात समाप्त कर दी।

चारुदत्त : हाँ जिज्ञासा बलवती हो उठी है, कहें आप।

प्रियदत्त : लो सुनो ! हमें भी अपने अनन्य मित्र की सुधि हो आई है। हमारे परिवार को सुख वैभव से परिपूर्ण बनाने में उन्हीं का वरद हस्त रहा। तुम्हारी उज्जैनी नगरी के ही निवासी थे मेरे मित्र भानुदत्त।

चारुदत्त : (साश्चर्य) भानुदत्त ?

प्रियदत्त : चौंक क्यों गये वत्स ! क्या तुम्हारा उनसे परिचय है ?

चारुदत्त : (धीरे से) कदाचित् हो, आप आगे कहें।

प्रियदत्त : उनके स्मरण मात्र से रोमांच हो आता है। हमें पूर्व में किये सत्कर्मों के फल से ऐसे सुदृढ़ मित्र की प्राप्ति हुई है।

पुंडरीक : तात् ! आप उन्हीं का स्मरण करते रहते हैं ?

प्रियदत्त : हाँ वत्स ! तब तुम शिशु थे। परिवार पर अचानक संकट के बादल घिर आये। आपत्तियों ने घेर लिया। उस समय मित्र भानु ने हमारी जो सहायता की, उसे हम जन्म-जन्म तक नहीं भुला सकते। वत्स ! तुम पुंडरीक के गुणगान करते नहीं थकते, किन्तु मेरे मित्र की उदारता के सम्मुख तुम्हारे मित्र का उपकार नगण्य है।

चारुदत्त : यह कैसी अनोखी सहायता थी?

प्रियदत्त : अवश्य ही तुम्हारे हृदय में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। सहायक तो कुछ और भी मिल जाते हैं, पर ऐसा रहस्यात्मक दानी का नाम सुनना भी असंभव सा है।

पुंडरीक : तात् ! रहस्यात्मक दानी । अर्थात् ?

प्रियदत्त : और कोई शब्द उनके लिये उपयुक्त भी नहीं है। उन्होंने करोड़ों की निधि चुपचाप लाकर दी थी। भीषण अग्निकांड से हमारा भवन धराशायी हो गया था। यह संवाद किसी अन्य व्यक्ति से पाकर वे तत्काल यहाँ आये। साथ ही मणि मंजूषा भी लेते आये। जब मैंने अस्वीकार

करना चाहा तो उन्होंने मित्रता की शपथ दिलाकर यह रहस्योद्घाटन न करने का वचन भी ले लिया।

पुंडरीक : मित्र की मित्रता महानता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गई।

प्रियदत्त : प्रिय वत्स ! उस निधि से हमारी आपत्तियाँ ही नहीं टलीं, अपितु सुख समृद्धि की वृद्धि भी हुई। पश्चात् हमने उनकी दी हुई सम्पत्ति लौटाना चाही तो यह कहकर उन्होंने टाल दिया कि उदरस्थ भोजन पुनः व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। मित्र ! हमें उनके ये स्नेहपूर्ण वचन आज भी ज्यों के त्यों स्मरण हैं कि "मित्र ! अपने मित्र भानु को अपने मित्र के प्रति कर्त्तव्य व अधिकार का समुचित उपयोग करने से वंचित न करो।" (हर्ष विभोर हो) सचमुच जीवन में ऐसे मित्र का मिलना अति दुर्लभ है।

पुंडरीक : वे दो बार अपने यहाँ आये भी हैं। ऐसी कुछ धुंधली सी सुधि है मुझे।

प्रियदत्त : दो बार नहीं वत्स ! कई बार आ चुके हैं।

पुंडरीक : मुझे तो दो बार का ही स्मरण है पिताश्री !

प्रियदत्त : (सिर हिलाते हुये) हाँ तुम छोटे भी थे। इधर कुछ वर्षों से कोई समाचार नहीं मिले। मेरे प्रयत्न निष्फल रहे। वत्स चारुदत्त ! नाम सुनकर तुम आश्चर्यचकित कैसे रह गये थे। क्या इसमें कोई राज है?

पुंडरीक : मित्र ! क्या तुम उन्हें जानते हो ?

चारुदत्त : (विचारणीय मुद्रा में) जानता हूँ मित्र ! परन्तु....

प्रियदत्त : परन्तु क्या ?

चारुदत्त : मैं सोच रहा हूँ, जिन्हें मैं जानता हूँ वे ही आपके मित्र हैं अथवा नहीं, क्योंकि एक ही नाम के दो व्यक्ति भी हो सकते हैं।

प्रियदत्त : शंका उचित है वत्स ! (विचारकर) उनका छोटा सा परिवार है। पत्नी है, पुत्र है और पुत्रवूध भी है। सृष्टि का नियम है कि फूलों के साथ काँटे भी उत्पन्न हो जाते हैं। एक ओर जहाँ फूल अपने सौन्दर्य व सौरभ से जन-जन को आकर्षित कर मुग्ध कर लेता है, वहीं दूसरी ओर काँटे भयानक चुभन भी पैदा कर देते हैं। इसी अनुसार उनके एकमात्र पुत्र ने पत्नी का त्यागकर माता-पिता के सहज स्नेह को तिलांजलि दे गणिका को अपना लिया है। भानुदत्त की आशा आकांक्षाओं पर तुषारापात हो गया। तब से वे दुखी उदास रहने...

चारुदत्त : (अत्यन्त व्यथित हो) बस अब आगे और कुछ न कहें तात् ! उनका अभागा पुत्र मैं ही हूँ।

प्रियदत्त : (हर्षित हो) तुम ! तुम्हीं हो उनके पुत्र ! मित्र भानुदत्त के पुत्र चारुदत्त !

पुंडरीक : यह अद्‌भुत संयोग ! प्रकृति ने अपना कैसे मिलाप कराया।

चारुदत्त : पिताश्री मेरे ही कारण संसार से विरक्त हो साधु हो गये। मेरी आँखें बहुत विलम्ब से खुली। मैं ही अपने परिवार के संक्लेश का कारण बना।

प्रियदत्त : मित्र भानु स्वकल्याण में लग गये और हम गृहस्थी के दलदल में ही लिप्त हैं। उन्हें मेरा कोटिशः प्रणाम। वत्स चारुदत्त ! (दुखित, लज्जित चारुदत्त की पीठ थपथपाते हुये) तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। तुम्हारे पिता शुभ कार्य में लगे हैं। साथ ही तुम भी सुमार्ग पर लौट आये हो और अपने कर्त्तव्य को पहिचानकर अग्रसर हो गये हो।

चारुदत्तः तात् ! मैंने अपने निर्मल वंश की परम्परा में जो कलंक लगाया है, वह अमिट हो गया। अब तक जीवन का कुछ भी सदुपयोग नहीं कर सका।

प्रियदत्त : भूल को समझ लेने से ही कल्याणपथ प्रशस्त होने लगता है। आयुष्मान् ! भविष्य में उत्तरोत्तर वृद्धि हो।

पुंडरीक : चलो अंतर्प्रकोष्ठ में चलें । यह सुसंवाद सबको सुनाकर आनन्द का प्रसाद बाँट दें । (सबका प्रस्थान। कुछ दिन और स्वास्थ्यलाभ लेकर श्रेष्ठी चारुदत्त अपने नगर उज्जैनी के लिए प्रस्थान कर गये।) - *पटाक्षेप* -

द्वितीय-दृश्य

स्थान : श्रेष्ठी चारुदत्त का भवन।

समय : प्रातःकाल का द्वितीय प्रहर।

मित्रवती : (स्वगत) वसंततिलका आज कहीं दिखाई नहीं दे रही। न जाने किस विवर में प्रविष्ट हो गई। भवन का एक-एक कक्ष छान लिया पर उसका पता नहीं। जैसे पंछी बनकर उड़ गई हो। (सहसा सुधि हो आती है) सब जगह खोज चुकी। दासी कक्ष और देख लूँ। कदाचित् उन लोगों को कुछ आदेश दे रही हो। (प्रस्थान)

(दासी कक्ष के समीप ही दूसरे कक्ष में वसंततिलका बैठी है। उसका मुख द्वार की विपरीत दिशा में

है। मित्रवती आती है। सहसा उसे विनोद सूझता है। वह वसंततिलका के नेत्र बंद कर लेती हैं वसंततिलका घबरा जाती है। किन्तु शीघ्र ही सावधान हो मित्रवती के हाथ टटोलती हुई।)

वसंततिलका : कौन ? भद्रा !

मित्रवती : (स्वर बदलकर) ऊँ....... हूँ.......

वसंततिलका : (हँसते हुये) ओह जीजी ! हाँ ! जीजी ही हैं । (मित्रवती हँसते हुये आँख खोल देती है) अरे तुम यहाँ कैसे चली आईं ?

मित्रवती : तुझे ढूँढ़ते थक गई सखी ! और तू यहाँ छुपी बैठी है। विदित नहीं है क्या कि श्रेष्ठीपुत्र पधार रहे हैं ?

वसंततिलका : (प्रसन्नतापूर्वक) बड़ी प्रसन्नता हुई जीजी ! प्रातः ही दासी भद्रा के द्वारा यह संदेश प्राप्त हुआ था।

मित्रवती : अरी, तो यहाँ बैठी-बैठी आनन्द ले रही है क्या ? शीघ्रता कर उनकी आगमन बेला सन्निकट है।

वसंततिलका : (अनुनय करती हुई) ना जीजी ! मुझे यहीं रहने दो।

मित्रवती : सखी ! आज सौभाग्य का मंगलोदय है, जो आर्यपुत्र देश-विदेश का भ्रमण कर अनेक द्वीप सागरों को लाँघकर हमारे बीच पुनः सकुशल आ रहे हैं। जहाँ मेरा हृदय तो बाँसों उछल रहा है। वहीं तुम यह क्या कह रही हो ?

वसंततिलका : इस आनन्दमय सुसमाचार से मेरे भी अंग-अंग पुलकने लगे।

मित्रवती : मातेश्वरी कह रही थीं कि प्रातःकाल उनके विमान नगर के बाहर रुके हैं। उनके स्वागतार्थ नगर श्रेष्ठियों ने विशाल आयोजन किया है। वे उन्हें ससम्मान ला रहे हैं। इस प्रकार समझो कि एकाध मुहूर्त में हम दर्शन पा सकेंगे। तदर्थ मैं तेरा अन्वेषण करती रही कि यह सुसंवाद शीघ्र ही तुझ तक पहुंचा दूँ।

वसंततिलका : पर जीजी ! मेरा विचार है कि मैं प्रकट न होकर प्रच्छन्न रीति से इसी कक्ष में निवास करूँ।

मित्रवती : (हँसकर) पगली। भला ऐसा क्यों ?

वसंततिलका : (गंभीरतापूर्वक) सच जीजी ! विनोद नहीं। आप गंभीरतापूर्वक विचार करें। मेरा रहना यहाँ विपत्तिकारक सिद्ध हो सकता है। जन साधारण में प्रकट होने पर आर्यश्रेष्ठी

की कीर्ति में कालिख लग जायेगी। उनका अपयश होगा और मुझे सहन न होगा जीजी! कि उनके सुदिन आने पर मेरी उपस्थिति दुर्दिन की सुधि दिलाती रहे।

मित्रवती : तुम यथार्थ अनुमान नहीं पा रही हो भगिनी! श्रेष्ठीपुत्र के हृदय में तुम्हारे लिये अत्यधिक स्नेह व आदर है।

वसंततिलका : हो सकता है कि उनकी वही पुरातन विचारधारा हो। तब भी मैं नहीं चाहती कि वे उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो मुझ जैसी तुच्छ नारी को ग्रहण करें। मैंने बहुत दिनों तक उनकी उन्नति का मार्ग अवरुद्ध किया है। तुम्हारी शरण में रहकर मैं अपने नारीधर्म शील का संरक्षण भले प्रकार से कर सकूँ। इसी तरह मेरा शेष जीवन निःशेष हो। बस यही आकांक्षा है। सुख, वैभव से तृप्त हूँ।

मित्रवती : सखी! ऐसा मत कहो। अभी तुम्हारी वय ही क्या है तुम आदर्श हो। तुमने शील संरक्षण हेतु सभी सामग्री को तूल सदृश्य ठुकराया है। अब अपने सुदिन आये हैं। तुम अपनी तरुण वय में पति के सुखों का त्याग करो और मैं अखंड सुख का उपभोग करूँ? नहीं, कदापि नहीं।

वसंततिलका : जीजी! तुममें और मुझमें धरती आकाश का अंतर है। आर्यश्रेष्ठी से तुम्हारा गठबंधन धार्मिक संस्कारों सहित सामाजिक मान्यता प्राप्त है। जबकि मेरा प्रेम अनुचित है।

मित्रवती : धार्मिक संस्कार न सही, न सही सामाजिक मान्यता। पर उन्होंने तुम्हें अपनाया तुमने प्रभु की साक्षी ले अपना कौमार्य उन्हें सौंपा। तुमने सत्कर्त्तव्य का निर्वाह कर आजीवन उन्हें ही पति माना, अब तुम्हीं बताओ! अधार्मिकता कहाँ रही? यह न्याय है। नीति की भित्ती पर ही हम आधारित नहीं रह सकते। न्याय की नींव डालनी ही होगी।

वसंततिलका : तुम भूल रही हो जीजी! हम सामाजिक प्राणी हैं सामाजिक रूढ़ियाँ हमें माननी ही होंगी। लोकव्यवहार पर चलना हमारा कर्त्तव्य है।

मित्रवती : (सरोष) लोक व्यवहार क्या नारियों के लिये ही है? पुरुष अपराध कर निर्दोष कहलाये और नारी निरपराधिनी रहकर भी मस्तक न उठा सके। श्रेष्ठीपुत्र अपराध से अछूते नहीं रह सकते। (गर्वपूर्वक) ये कैसा न्याय? मैं इन रूढ़ियों के बंधनों से उन्मुक्त रहना चाहती हूँ। नारी सदैव पद दलित हो, त्रास पाये एवं पुरुष गर्वोन्नत रहकर समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करे असंभव ..... असंभव। यह अन्याय है। अन्याय का प्रतिकार होना नितांत आवश्यक है।

वसंततिलका : जीजी! तुम अपनी भगिनी के प्रति उत्कृष्ट स्नेहाभिभूत हो लोक व्यवहार भूल बैठी हो।

मित्रवती : मैंने कहा न सखी ! ये मिथ्या लोक व्यवहार मुझे तनिक भी मान्य नहीं। लोक निर्मम हैं। सत्य से कोसों दूर हैं। यहाँ सत्य की अर्थी जलती है।

वसंततलिका : तो बताओ, हम तुम सभी उसकी लपटों में झुलसने से बच सकेंगे ?

मित्रवती : हाँ, बचने का उपक्रम अवश्य करेंगे। न भी बचें पर एक न एक दिन हम कुंदन बन लोगों को आश्चर्यचकित तो कर सकते हैं। व्यक्ति अपनी भावनाओं से ही बनता बिगड़ता है।

वसंततिलका : जीजी ! समाज के विरुद्ध होकर लोहा लेना कहाँ की बुद्धिमानी है ?

मित्रवती : तो क्या थोथे भय से भीत होकर अपने अमूल्य मानव जीवन को साधारण कीट पतंग की भाँति नष्टप्राय कर देना चाहती है ?

देवलदेवी : (नेपथ्य से) मित्रा ! वसंत ! कहाँ हो ? (शीघ्रता से प्रवेश)।

वसंततिलका : विराजें मातुश्री ! (दोनों खड़ी हो जाती हैं)

देवलदेवी : ना ना बैठूँगी नहीं। तुम दोनों बैठी-बैठी क्या कर रही हो ? सुसज्जित हो जाओ, चारु आता ही होगा। (हर्षपूर्वक) वर्षों पश्चात् मेरा चारु आ रहा है। मनसिन्धु में हर्ष की उत्ताल तरंगें उठ-उठ विलीन हो रही हैं। आनन्द हृदय में समा नहीं रहा। तुम्हें ज्ञात है री ! मेरा चारु वैभव सहित आ रहा है। नगर के नर नारी उसे देखने दौड़ रहे हैं। सभी श्रेष्ठी समुदाय में होड़ सी लगी है कि प्रथम कौन उससे भेंट करता है। (हर्ष विभोर हो आँखें मूँदकर) मुझे ऐसा लग रहा है कि कब उसे अपनी पलकों में समेट लूँ। उठो, मेरी वधुओ ! सोलह श्रृंगार कर लो। तुम सुहागिनियों को देख मैं अपने नयन जुड़ा लूँ।

मित्रवती : इस पगली की बातें सुनी माँजी ! क्या कह रही है ये?

देवलदेवी : क्या कह रही है ?

मित्रवती : ये श्रेष्ठीपुत्र से साक्षात्कार नहीं करेगी और आज से इस गृह में प्रच्छन्न रूप से निवास करेगी।

देवलदेवी : (साश्चर्य) क्यों ? भला अपने पति से साक्षात्कार करने में असमंजस का क्या कारण ?

वसंततिलका : तब की बात और थी माताजी ! अब तो वे समाज में पुनः प्रतिष्ठित हो रहे हैं। केवल मेरे ही कारण कुल में कलंक लगे – यह उचित नहीं। अनेकों के हित में परिवार का और परिवार की भलाई में एक का बलिदान श्रेयस्कर है।

मित्रवती : पर यहाँ अहित कहाँ हो रहा है ?

वसंततिलका : मेरे कारण लोग उनकी अवमानना करें, इसे अहित ही मानना होगा जीजी ! लोकलाज .....

देवलदेवी : (बीच ही में) अरी ! ये लोकलाज़ कौन बला है ? तुमने अभी दुनिया देखी ही कहाँ है, क्या जानो इसकी रीति-नीति। चमत्कार को नमस्कार करती है दुनिया। किसके मुँह में दाँत हैं जो विरुद्ध में एक वचन भी निकाले।

वसंततिलका : भय के कारण यदि कोई कुछ न कहे तो उससे सम्मान नहीं बढ़ सकता मातुश्री !

देवलदेवी : अच्छा, तू ही बता, यदि लोग अज्ञानतावश स्वर्ण को पीतल कहें तो क्या बुद्धिमान उसे फेंक देंगे ?

मित्रवती : यही तो मैं भी कह रही हूँ मातुश्री ! विरहाग्नि में इसे जानबूझकर जलती हुई कैसे छोड़ दूँ ? अपराध भी क्या है इसका ?

देवलदेवी : मित्रवती यथार्थ कह रही है तिलका ! मेरी तुम दोनों आँखें हो ! ये कैसे हो सकता है कि एक आँख रोये और दूसरी हँसे । मेरी आँखों की ज्योति तो तुम्हीं हो।

वसंततिलका : एक बार पुनः विचार करें मातुश्री ! आवेग में आकर कोई निर्णय करना उचित नहीं।

देवलदेवी : (स्नेहपूर्वक) आवेग तुम्हारे रक्त में आ सकता है बेटी ! मैं तो अनुभव करते-करते वृद्ध हो गई हूँ। नारी में क्षमा व धैर्य धारण की अद्भुत शक्ति है। माँ, पत्नी, सहोदर व पुत्री के रूप में उसकी क्षमता सर्वत्र निखरी है। (दृढ़तापूर्वक) परिवार की भलाई बुराई का मुझे पूरा-पूरा ध्यान है। सत्य की सदा सर्वदा विजय होती आई है। व्यर्थ की बातों को छोड़ निश्चिन्त रहो। कहाँ का विवाद ले बैठी इस शुभावसर पर। तेरी बुद्धि पर तरस आ रहा है वसंत ! उठ, सुन्दर वसनाभूषणों से सज्जित हो ले। विलम्ब हो रहा है।

मित्रवती : (हाथ पकड़कर) उठ, उठ, आर्यपुत्र की आगमन बेला आसन्न है।

वसंततिलका : जीजी ! मुझे विवश न करो। मैं बार-बार यही प्रार्थना करती हूँ, हाथ जोड़ती हूँ तुम्हारे पैरों गिरती हूँ। यदि मैं एक डग भी आगे बढ़ी तो निश्चय ही गिर पड़ूँगी। मेरे पैर डगमगा रहे हैं।

मित्रवती : मैं जो हूँ तेरे साथ । गिर कैसे पड़ेगी ? जीवन भर सहारा देती रहूँगी।

वसंततिलका : मुझ जैसी दुर्बल नारी पर अब और अधिक भार न रखो, इसे सहन न कर सकूँगी।

देवलदेवी : बड़ों की आज्ञा माननी पड़ती है बेटी ! ऐसा पागलपन नहीं किया करते।

वसंततिलका : धृष्टता क्षमा करें माँश्री ! मैं लाख अच्छी हूँ, पर संसार ऐसा नहीं मान सकता । वह मुझे वेश्या के अतिरिक्त और कुछ भी स्वीकार नहीं करेगा।

देवलदेवी : कितनी बार कहा कि दुनिया की बात मत कर। इस दुनिया का कौन ठिकाना।

वसंततिलका : क्षमा करें माँश्री ! आपका दृष्टिकोण ममता के कारण एक पक्षीय हो रहा है। आप यह क्यों नहीं सोच पा रहीं कि **'यदि प्रतिष्ठित घरों में यह अनियमितता व्यवहृत हुई तो घर-घर में यह स्थान पा लेगी। सार्वजनिक जीवन अनर्थों से भरकर घृणित हो उठेगा।'** और मैं अपने अन्तर को भ्रम में न रख सकूँगी माँश्री ! कि इस महा अनर्थ की जड़ में मेरी लालसा, मेरी घिनौनी दुर्दमनीय वासना ही प्रमुख रूप से कारण होगी। (अत्यन्त दुखित हो) नहीं माँजी ! बहुत पाप कर चुकी हूँ । अब पश्चाताप भी कर लेने दें, ताकि कुछ हल्की हो सकूँ।

देवलदेवी : तेरा तर्क अनोखा है वसंत ! तू जीती मैं हार गई। फिर भी एक बार पुनः विचार कर ले । क्वचित तेरा ही तर्क तुझे मिथ्या प्रतिभासित हो ।

वसंततिलका : पुनर्विचार की समस्या नहीं है मातेश्वरी ! पूर्णरूपेण सत्य कैसे झुठलाया जा सकता है । यह समाज का मान बिन्दु है । इसे उल्लंघन करने की मानव में सामर्थ्य नहीं। सांसारिक जीवन में लोक व्यवहार के बिना कार्य नहीं चल सकता । **यदि मनुष्य की आंखों से लोक लाज का आवरण हट जाये तो वह अत्यन्त निर्लज्ज हो जायेगा** । यदि सामाजिक बंधन नहीं रहे तो मनुष्य स्वच्छन्द प्रवृत्ति में रत हो उच्छृंखल बन जायेगा। अन्याय, अत्याचार प्रतिबंधित न हो सकेंगे। समाज विश्रृंखलित हो जायेगा। एक भयानक अराजकता फैल जायेगी माँ जी !

देवलदेवी : यथार्थ कह रही है वसंत ! (लम्बी आहभर) तेरा ही कथन सुसंगत है। जैसी तेरी इच्छा हो बेटी ! वैसा कर। अब मैं क्या कहूँ। (धीर-धीरे प्रस्थान)

वसंततिलका : एक अन्तिम निवेदन है माँश्री ! (देवलदेवी रुक जाती हैं) कृपया आज से मेरा नाम सर्वथा विस्मृत कर दें, ताकि आर्यपुत्र को तनिक भी भनक न हो पाये।

देवलदेवी : ऐसा ही होगा बेटी ! मुझे भी तुझसे एक शिक्षा मिली है वसंत ! मैं वृद्ध हो गई हूँ, पर आत्मकल्याण की रुचि अब तक भी जागृत नहीं हो पाई। इस तरुण वय में तेरी विचार शक्ति ने मुझे झकझोर दिया है। सचमुच मुझ वृद्धा को गृहस्थी से क्या प्रयोजन ? मैं भी गृहजाल से निवृत्त हो स्वस्थचित्त से एकाग्रतापूर्वक अपना कल्याण करूँ। अन्यथा मोह की कीचड़ में धँसती ही जाऊँगी। कौन जाने मृत्यु कब अनजाने आ गला दबोच ले, इसके पहले ही सावधानी श्रेयस्कर है। चारू भी आ गया। सचमुच आज का मंगल दिवस है।

मित्रवती : यह आप क्या कह रही हैं मातुश्री !

देवलदेवी : उचित ही कह रही हूँ मित्रा !

मित्रवती : मैं तो तुम दोनों की बातें सुन-सुनकर हतबुद्धि हो रही हूँ। मैं क्या करूँ ?

देवलदेवी : तुम अपना कर्त्तव्य भली भाँति समझती हो पुत्री ! मैं तुमसे निश्चिंत हूँ।

मित्रवती : परन्तु आपका यह आकस्मिक निर्णय मुझे विकल बना रहा है।

देवलदेवी : (समझाते हुए) अच्छा, अच्छा सम्प्रति मेरा कथन भूल जाओ।

मित्रवती : भूल कैसे जाऊँ ?

देवलदेवी : (ऊपरी मन से) अच्छा तो मैं अपना निर्णय अभी स्थगित कर पुनर्विचार करूँगी अब तो प्रसन्न हो ?

मित्रवती : आश्वस्त हुई माँ श्री !

(देवलदेवी का प्रस्थान)

वसंततिलका : जीजी ! मेरी इस अवज्ञा और अवहेलना को हृदय से बाहर निकाल फेंकना। परन्तु अपनी इस अकिंचना अबोध अनुजा को मन से उतारने का कदापि प्रयत्न न करना, ताकि तुम्हारी स्नेह ज्योति के आलोक में निरन्तर मैं अपना पथ प्रशस्त कर सकूँ एवं भूलकर भी आर्यपुत्र को मेरा आभास न होने देना, इसी में हमारा-तुम्हारा और आर्यपुत्र का कल्याण व मंगल है।

मित्रवती : (गले लगाकर) वसंत ! तेरी महानता के समक्ष मैं व मेरी बातें अत्यन्त क्षुद्रातिक्षुद्र नगण्य हो गई हैं। सुहागिन नारी स्वेच्छा से किसी अन्य नारी के सुख हेतु अपने सुहाग को अर्पित कर दे इससे बड़ा त्याग एवं संयम और क्या हो सकता है ?

वसंततिलका : इतनी निस्वार्थी नहीं हूँ जीजी ! मुझे पराया न समझो। तुम मेरे लिये कोई

अन्य नहीं, अपनी मेरी ही हो, मैं केवल यही जानती हूँ। अपनों के लिये सब कुछ करणीय है, इसमें महानता नहीं।

मित्रवती : (हर्षाश्रु छलछला उठते हैं) सब जानती हूँ भगिनी ! तेरी उदारता के सम्मुख मैं परास्त हो गई और अपनी स्वार्थवृत्ति के कारण लज्जित।

वसंततिलका : इन व्यर्थ की बातों में न उलझो जीजी ! उनके आने के क्षण निकट आ रहे हैं। मेरी बातें आँचल में बाँध लेना। भूल जाओ कि मुझसे तुम्हारा कोई परिचय भी है। जाओ जीजी ! उनके स्वागत के लिये प्रस्तुत हो जाओ ! जाओ......

(मित्रवती का प्रस्थान) *- पटाक्षेप -*

तीसरा-दृश्य

समयः रात्रि का प्रथम प्रहर

स्थान : श्रेष्ठी भानुदत्त का शयन कक्ष

(मित्रवती और वसंततिलका शयन कक्ष में हैं। यही शयन कक्ष आज विशेष ढंग से सजाया गया है। चारों भित्तियों पर दीपघरों में दीप स्थित हैं। एक ओर सुन्दर वस्त्रों से आवेष्ठित तल्प बिछा हुआ है। उस पर बेला, गुलाब आदि विविध सुमनों की पंखुड़ियाँ पड़ी महक रही हैं। धूपदानी में मंद-मंद चंदन का धूम्र उड़कर कक्ष को सुवासित कर रहा है। वसंततिलका मित्रवती का श्रृंगार कर रही है। उसने वेणी गूँथी। उसे फूलों से सजाया। कपोलों पर लोध्रचूर्ण मला, आलत्तक से पैरों को रंग दिया। माथे पर शीश फूल लगाया। हीरों से जगमगाती बिंदिया बाँधी। अन्य अंगों में यथावत् आभूषण पहिनाये। बीच-बीच में वह धूपदानी में धूप डाल आती है एवं मंद पड़ती वर्त्तिकायें उठा देती है जिससे प्रकाश तेज हो जाता है।)

वसंततिलका : (वेणी गूँथते हुये) जीजी ! आज तुम्हारा मुख चन्द्र को भी लजा रहा है। देखो न बेचारा लज्जा से बार-बार मेघों की ओट में चला जाता और वही से झांक-झांककर तुम्हें देख रहा है।

मित्रवती : मुझे तू बार-बार लज्जित न कर भगिनी ! तुझसे श्रृंगार कराकर आज मुझे अच्छा नहीं लग रहा।

वसंततिलका : क्यों, अच्छा क्यों नहीं लग रहा ? मन छोटा न करो जीजी ! तुम अपने जीवन में सुख सुहाग भरी रात्रि के मधुमय आनन्द से अभी तक वंचित रह आज प्रथम बार ही तो उसको प्राप्त करोगी ! ऐसे राग रंग में यह उदासी भली प्रतीत नहीं होती।

मित्रवती : कौन जाने वसंत ! मेरे मानस को जैसे कोई कुछ कौंच रहा है। तुझसे मैं बड़ी होकर भी आज क्या करने जा रही हूँ। मैं स्वार्थी हूँ सखी ! अत्यन्त स्वार्थी हूँ।

वसंततिलका : तुम जो जीजी ! अनोखी सी बात करती हो। इसमें तुम्हारा कौन सा स्वार्थ आ गया ? पति-पत्नी के भी कुछ आवश्यक करणीय कर्त्तव्य हैं, क्या उन्हें न निबाहोगी ?

मित्रवती : सो तो है, पर तू जो मेरी सहयोगिनी न रहकर न्यारी हो रही है। यह मुझे सहा नहीं जा रहा।

वसंततिलका : प्रत्येक के कार्य भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं जीजी ! तुम स्नेहवश कर्त्तव्य का उल्लंघन करो, यह मैं भी तो नहीं सह सकती। (बिंदिया बाँधती है।)

मित्रवती : सब समझ रही हूँ सखी ! बड़ी श्रृंगार कर रंगरेलियाँ मनाये और छोटी उदास विरागिनी बन सादगी से जीवन व्यतीत करे। यह क्या बड़ों को शोभा देता है ?

वसंततिलका : जीजी ! अपने-अपने नियत स्थानों पर सभी वस्तुयें सुशोभित होती हैं। अनुचित स्थान पर वे उपहास की पात्र हो जाती हैं।

मित्रवती : जानती हूँ, किस विवशता में तू ये दर्शनशास्त्र बखान रही है। तेरे लिये क्यों ये स्थान उपयुक्त नहीं ? तनिक सुनूँ तो, क्या नहीं है तुझमें ?

वसंततिलका : (हँसकर)

चम्पा तुझमें तीन गुण, रूप रंग और बास।
अवगुण तुझमें एक है, भँवर न आवे पास ॥

सब कुछ होते हुये भी चम्पा भँवर को आकर्षित नहीं कर पाता जीजी !

मित्रवती : तो इसमें भ्रमर ही अपराधी है चम्पा का क्या दोष ?

वसंततिलका : भले ही कोई दोषी हो, परन्तु दोनों का मिलन तो असंभव है। छोड़ो जीजी! इन बातों को, रस में विष न घोलो। (कपोलों पर लोध्रचूर्ण मलती है।)

मित्रवती : ना ना यह सब मैं नहीं लगा सकूँगी।

वसंततिलका : (स्नेहपूर्ण स्वर में) मेरी बड़ी अच्छी जीजी ! आज भर मुझे अपने मन की कर लेने दो। फिर न कहूँगी, कभी भी न कहूँगी। तुम्हें मेरी सौगंध है जीजी !

मित्रवती : यह तुम मुझपर अन्याय कर रही हो बहिन !

वसंततिलका : अन्याय ही सही। अपनी लघु अबोध अनुजा का क्या तनिक अन्याय सहन नहीं कर सकोगी ? मेरी प्रसन्नता के निमित्त तो तुम्हें कष्ट भुगतना ही होगा जीजी !

मित्रवती : तेरी प्रसन्नता अत्यधिक मूल्यवान है वसंत ! इसे क्रय करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है !

वसंततिलका : (आलक्तक लगाते हुये) इसकी तुम चिन्ता न करो। सब मुझ पर छोड़ दो।

मित्रवती : सुन वसंत ! एक बात कहूँ ? अब मैं तेरा श्रृंगार कर दूँ। जब आर्यपुत्र शयन कक्ष में प्रवेश करेंगे, तब मैं तुझे ही सर्वप्रथम प्रस्तुत कर अनायास ही उन्हें आश्चर्यचकित कर दूँगी। (अपने आभूषण उतारकर पहिनाने का उपक्रम करती है)।

वसंततिलका : (हाथ पकड़कर रोकते हुये) यह क्या जीजी ! मंगलसूत्र मत उतारो। इसके पहिनने का अधिकार मुझे नहीं है। जो उचित नहीं, वह शोभास्पद भी नहीं हो सकता।

मित्रवती : अब मैं तेरी कुछ न सुनूँगी। मुझे भी अपने मन की कर लेने दे।

वसंततिलका : ऐसी भूल न करना जीजी ! मन की करना ही तो आपत्तिजनक है। मन की सेवा की तो समझो नित नई विपत्तियाँ बिना निमंत्रण के आ गईं।

मित्रवती : तू अपने मन की कर रही हो सो ? मेरे लिये दर्शनशास्त्र लेकर बैठ जाती है अपने लिये नहीं।

वसंततिलका : **'काहू को बैंगन बायले, काहू को पथ्य बराबर।'** फिर भी मैं मन की ही नहीं कर रही। मन को नियंत्रण रख उचित कर्त्तव्य कर रही हूँ। मन तो ऐसा छलिया है कि कहीं भी ले जाकर पटक देगा।

मित्रवती : तू आज मुझे बहुत बड़ी लग रही है बहिन ! तेरी महानता देखकर मैं स्वयं पर लज्जित हूँ। बस चरण रज लेने को जी चाहता है। (झुकती है)

वसंततिलका : ना जीजी ! ये क्या अनर्थ कर रही हो ?

मित्रवती : अनर्थ नहीं सखी ! तेरे उज्जवल महान त्याग ने मुझे विवश कर दिया है, पदरज लेने को; तू आदर्श रमणी है, सतियों में महासती। होगी कोई ऐसी उदार सहिष्णु कुलीन नारी !

वसंततिलका : भावुकता में न बहो जीजी ! कहीं ऐसा उद्वेग न आ जाय कि यह सुनहली तारों भरी निशा किरकिरी हो जावे। अच्छा जीजी ! मुझे आज्ञा दो। रात गहरा रही है। आर्यपुत्र आना ही चाहते हैं।

मित्रवती : बैठ तो, अभी से मुझे अकेले अच्छा नहीं लगेगा।

वसंततिलका : (रूठते हुये) मुझे नींद आ रही है।

मित्रवती : झूठी कहीं की। मुझसे ही छल? देखूँ तनिक आँखें ! कहाँ है निद्रा ?

वसंततिलका : लो देखो न, मेरी आँखें अलसाई सी नहीं लगती ? पलकें गिरी जा रही हैं। आर्यपुत्र आ जायेंगे तो मेरा स्वर्ग-सा घर नष्ट हो जायेगा। मुझे शीघ्रातिशीघ्र जाना ही उचित है।

मित्रवती : ओह ! मुझे अच्छी सुधि आ गई। तू बैठ मैं अभी आई। (जाते-जाते) जाना नहीं वसंततिलका। हाँ......

(एक ओर से मित्रवती का प्रस्थान दूसरी ओर से चारुदत्त का प्रवेश। वसंततिलका मित्रवती का मार्ग देखती रहती है, वह चारुदत्त को नहीं देख पाती। चारुदत्त वसंततिलका का नाम सुनकर चौंक पड़ते हैं। पुरातन सुधियाँ उनके स्मृति पटल पर तैरने लगती हैं। किसी के आगमन की आहट पा वह पीछे मुड़कर देखती है। और पहिचानी न जा सके, अत: साटिका से अवगुंठन कर जाने लगती है, पर चारुदत्त उसे पहिचान लेते हैं।)

चारुदत्त : (हर्ष आश्चर्यान्वित हो) देवी वसंततिलका ! मुख पर यह आवरण कैसा ? हमने पहिचानने में भूल नहीं की है। व्यर्थ छुपने की चेष्टा मत करो।

वसंततिलका : (सारंग की ओट में ठिठककर) मुझे दुविधा में न डालें देव ! जाने का मार्ग दें। मैं वसंततिलका नहीं हूँ। आर्या मित्रवती आपकी बाट जोहती रही हैं। आती ही होंगी। उन्हें उपकृत करें देव !

चारुदत्त : तुम वसंततिलका नहीं हो ?

वसंततिलका : (दृढ़तापूर्वक) नहीं।

चारुदत्त : तुम्हारा नाम ?

वसंततिलका : देव!मुझे वासंती कहते हैं।

चारुदत्त : ओफ ! वासंती ! बड़ा सुन्दर नाम हैं, किन्तु हमें वसंततिलका और वासंती में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता देवी ! अभी-अभी देवी मित्रवती तो वसंततिलका ही कह रही थीं।

वसंततिलका : (हिचकते हुये) हाँ, वे वसंततिलका भी कह देती हैं। मैं दासी हूँ। सेवा में नई-नई ही आई हूँ।

चारुदत्त : किन्तु यह मुख पर आवरण रखना कौन से देश की रीति है ? अभी तक हमारी

दृष्टि में ऐसा कोई देश नहीं आया। स्यात् तुम बहुत दूर देश से आई हो, जिसका हम नाम भी नहीं जानते। (वसंततिलका मौन है। मित्रवती का प्रवेश)।

मित्रवती : (मुस्कुराते हुये) धन्य भाग्य, आर्यपुत्र आ गये। विराजें देव ! (वसंततिलका की ओर देखकर) अरी, यह क्या वसंततिलका ! (वह हँसती हुई वसंततिलका के मुख से आँचल हटाते हुये) यह कौन सा स्वाँग धारण कर रखा है तूने ?

(वसंततिलका आँचल को जोर से पकड़कर होठों पर उंगली रखकर मौन रहने का संकेत करती है।)

मित्रवती : अब मौन कैसे रह सकती हूँ, जबकि आर्यपुत्र जान चुके हैं, तब उन्हें भ्रम में रखना असंभव है। आर्यपुत्र ! ये रही आपकी प्रेयसी वसंततिलका। आशा है आप भूले न होंगे। बैठो बहिन ! तुम भी बैठ जाओ (आवरण हटा देती है।)

चारुदत्त : सच मित्रवती ! परन्तु इन्होंने वासंती नामक दासी के रूप में ही अपना परिचय दिया है।

मित्रवती : (आश्चर्य से प्रश्नात्मक स्वर में) हाँ, अच्छा।

वसंततिलका : मुझे न छेड़ो जीजी !

चारुदत्त : मेरी समझ में कुछ नही आ रहा। मुझे बताओ शुभे ! यह सब कैसी पहेलियाँ हैं। ये यहाँ कैसे आई ? तुम दोनों में मुझे घनिष्ठ स्नेह जान पड़ रहा है। कैसे तुम दोनों में परिचय हुआ ? सभी उत्कंठायें जाग गई हैं इनका समाधान करो भद्रे !

वसंततिलका : आज नही कल इसका समाधान हो जायेगा देव ! आज आप यात्रा के थके हुये हैं। विश्राम करें।

चारुदत्त : विश्राम ! नहीं बोझिल मन में विश्राम कहाँ ? तुम्हें देखकर जो शंकायें उठ खड़ी हुई हैं, उनका समाधान हुये बिना कैसे शान्ति मिल सकेगी ? देखो न, इन अलसाई पलकों से भी निद्रा रूठकर उड़ गई है।

(वसंततिलका जाने लगती है)

मित्रवती : तुम बैठो वसंत! जा कहाँ रही हो। अब तो प्रगट होकर तुम्हारा आर्यश्रेष्ठी से साक्षात्कार भी हो गया। प्रच्छन्नता की बात समाप्त हो गई। अब जो होना होगा सो होगा।

वसंततिलका : कुछ भी हो जीजी ! मैं आप दोनों के मध्य न रह सकूँगी। यदि आपने

बलात् घसीट का प्रयत्न किया तो फिर गृह सम्मान की रक्षार्थ मुझे अपने जीवन का उत्सर्ग करने में तनिक भी हिचक नहीं होगी।

(मित्रवती उसे पुनः बैठा लेती है)

चारुदत्त : अपना तात्पर्य स्पष्ट करो देवी ! तुम्हारे मनोगत भावों से हम परिचित हो लें।

मित्रवती : आप ही निर्णय करें आर्यपुत्र ! मैं विस्तार में समय नष्ट न कर संक्षेप में ही इस घटना से अवगत करा दूँ। एक दिन संध्याकाल में इसे हमने ''अपने घर के दरवाजे पर मूर्च्छितावस्था में पाया। ज्ञात हुआ कि यह वसंततिलका है और आपके वियोग में उस नारकीय जीवन की कल्पना से घबराकर चुपचाप गृहत्याग कर आश्रय हेतु चली आई है। बहुत तर्क-वितर्क के पश्चात् हमने इसे अपने पारिवारिक जीवन में प्रश्रय दिया। तब से आज तक हम दोनों सहोदरा की भाँति रह रही हैं।

चारुदत्त : आश्चर्य है भद्रे ! तुम दोनों का प्रेम आदर्श है। अभी चंद क्षणों में ही हम इसका आभास पा चुके हैं। पारस्परिक ईर्ष्या की मलिन रेख भी दिखलाई नहीं पड़ती। हम इस विचार में पड़ गये हैं कि क्या यह संभव है ?

वसंततिलका : क्या आपको अपने नेत्रों पर भी विश्वास नहीं हो रहा ? मेरी जीजी में औदार्य कूट-कूट कर भरा है, वरन् मुझे पुनः आपके दर्शनों का सौभाग्य नहीं मिल पाता।

चारुदत्त : सत्य कर रही हो देवी ! आर्या मित्रवती की महानता निस्संदेह श्रद्धा के योग्य है।

मित्रवती : श्रद्धास्पद बना मुझे दूर ने ठेलें देव ! नारी का उत्थान पति के चरणों में है, माथे पर नहीं। मैं जो कुछ वसंत के प्रति कर्त्तव्य निभा पाई हूँ वह अपने अनुभव के कारण ही। मैं निरन्तर बारह वर्ष पति-विरह की ज्वाला में जली हूँ। मैं नहीं चाहती कि मेरा निमित्त पाकर मेरी जैसी ही नारी पति की अर्द्धांगिनी होकर दारुण दुःख भोगने हेतु विवश हो।

वसंततिलका : किन्तु जीजी सभी व्यक्तियों को कष्ट के कष्टप्रद होने का अनुभव होता है। पर अनुभूति होते हुए भी दूसरों के प्रति विशेषकर सपत्नी के प्रति ऐसा सारल्य तुम जैसी बिरली नारी ही रख पाती है।

चारुदत्त : देवी ! वसंततिलका का कथन अक्षरशः सत्य है। अविवाहित सपत्नी के प्रति ऐसा मृदु व्यवहार अभी तक देखने-सुनने में नहीं आया।

मित्रवती : आपका वसंत के त्याग की ओर तो ध्यान गया ही नहीं,आपके आगमन पर

अचानक ही इसने दूसरा रूप धारण कर लिया। कहती है कि प्रच्छन्न रूप से दासी की भाँति निवास करूँगी। क्या यह उचित है ?

चारुदत्त : देवी वसंततिलका ! ऐसा निर्णय करने का कारण क्या है ?

वसंततिलका : आर्यश्रेष्ठी ! आपने ही मुझे विवेक दिया, जिससे मेरी बुद्धि ने विचार करने की क्षमता पाई और आज आप जैसे विवेकवान इस 'प्रश्न' को उठायें तो अत्यन्त आश्चर्य होता है। क्या लोक हमारे संबंध को स्वीकार करेगा ?

चारुदत्त : निश्चित ही नहीं करेगा, परन्तु हम करायेंगे। हम तुम्हारी उज्ज्वलता की साक्षी देंगे।

वसंततिलका : यह असंभव है देव ! आपकी साक्षी नहीं मानी जायेगी। बारह वर्ष की घनिष्ठता से प्रमाणित है कि मैं और आप दोनों एक ही साँचे में ढले हुये हैं। **चोर की साक्षी दूसरा चोर दे तो सफलता तो दूर वह हास्यास्पद ही बनकर रह जायेगा।**

चारुदत्त : एक बात और है देवी ! जबकि देवी मित्रवती तुम्हें अपना चुकी हैं, तब आन्तरिक बाधाओं से हम निर्भय हैं। रही लोक की बात सो यदि समाज हमें मानने को प्रस्तुत नहीं तो हम भी लोक मान्यता को त्याग देंगे।

वसंततिलका : लोक मान्यता क्या त्यागेंगे ? मुझे ग्रहण करना या लोक मान्यता त्यागना ये दो नहीं, एक ही बात है।

चारुदत्त : चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। हम और हमारा घर। बस लघु परिवार ही हमारा सब कुछ होगा।

वसंततिलका : समाज का त्याग करना हँसी खेल नहीं आर्यपुत्र ! ये माटी के घरौंदे नहीं कि मनचाहे बनायें और मिटा डालें। इससे समस्या का समाधान नहीं होगा। समस्या ज्यों की त्यों बनी रहेगी, अपितु और भी उलझ जायेगी। क्या आप बतला सकते हैं कि आप अपनी संतान के विवाह संबंध किस प्रकार करेंगे ? उनके प्रति किये गये लांछन, अपशब्द क्या आपको प्रियकर हो सकेंगे? (चारुदत्त मौन हैं) निश्चय ही नहीं। निरुत्तर हो गये आर्यश्रेष्ठी ! आपका मौन इसका सूचक है। आप ही क्या, इसका उत्तर मनीषियों के पास नहीं है। प्रलयकाल तक इसका उत्तर अप्राप्य ही रहेगा।

चारुदत्त : देवी वसंततिलका ! रुको ......

वसंततिलका : मेरी वाणी रोक देना समस्या का हल नहीं है। यह समस्या जटिल है और

सदैव ही जटिल बनी रहेगी। इस विषय में तर्क कुतर्क बनकर रह जायेगा। जो अनुचित है। इससे अनेक दुराचार फैलने की संभावनायें हैं, जो विघातक होंगी। हम सामाजिक प्राणी हैं। समाज के हित में योगदान श्रेयस्कर है। हमें समाज के मानबिन्दु की रक्षा करनी होगी। अस्तु ! आत्म नियन्त्रण कर समाज को घुन लगने से रोकें। अब हमारी वार्ता यहीं समाप्त हो। मुझे जाने की आज्ञा दें देव ! एवं भविष्य में कभी दर्शन देने का कष्ट न करें। आज से वसंततिलका का अस्तित्व समाप्त हुआ। भूलें दोहराना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता।

चारुदत्त : इतनी कठोर न बनो देवी !

मित्रवती : आर्यपुत्र ही नहीं, मैं भी तुम्हारी यह अवस्था नहीं देख सकूँगी। एक बार पुनः विचार करो।

वसंततिलका : जीजी ! मैं तुमसे दूर कहाँ हूँ। (चरण छूकर) मेरी धृष्टता क्षमा कर अपने वात्सल्य की पवित्र छाया मुझ पर छाये रहना, ताकि मेरा जीवन शान्ति से निकल जाये। (चारुदत्त की ओर) नमस्कार देव ! आपसे भी यही पुनः निवेदन है कि आप यही समझें कि संसारपट से वसंततिलका सदा के लिये लुप्त हो चुकी है। मैं प्रभु से आप युगल दम्पत्ति के भविष्य की मंगल कामना सदैव करती रहूँगी। अच्छा, विदा ! (वसंततिलका का प्रस्थान। वह द्वार पर पहुँचती है कि)–

मित्रवती : रुको भगिनी !

वसंततिलका : (रुककर) आज्ञा जीजी !

मित्रवती : एक मार्ग और है वसंत !

वसंततिलका : (मुस्कुराकर) अब और अधिक मोह में पड़ विकल्प न करें जीजी ! जीवन-तरणी को बहाव के मार्ग पर सरलगति से रहने दें। हस्तक्षेप कर उसकी गति वक्र बनाने का असफल प्रयास न करें। वह दुःखपूर्ण ही होगा।

मित्रवती : मेरे मन ने सरल से सरल पथ का इसी क्षण अन्वेषण कर लिया है सखी ! आओ सुनो, तुम्हें भी आपत्ति न होगी।

वसंततिलका : (बैठकर) अवश्य सुनूँगी जीजी ! तुमने तत्क्षण मार्ग खोजा है तो जानने की जिज्ञासा स्वाभाविक प्रबल होगी ही। सचमुच आपकी विचार शक्ति प्रशंसनीय है।

मित्रवती : ज्ञात होने पर तुम उपहास न कर सकोगी। सुनो, यदि हम तीनों मिलकर सांसारिक

सामग्री का उपभोग कर भोग का आनन्द नहीं ले सकते तो आध्यात्मिक विचारधारा का अवलम्बन ले योग धारण कर श्रमण पथ के एक साथ पथिक तो बन सकते हैं। इससे किसी को कोई बाधा भी न होगी। देश, काल, धर्म के विपरीत भी हम नहीं जायेंगे।

वसंततिलका : मार्ग तो सचमुच ही सुन्दर है जीजी ! इस अनोखी तात्कालिक सूझबूझ के लिए तुम धन्यवाद की पात्र हो। सुखद शुभ सम्मति कल्याणकारी एवं मेरे हित में है। आप दोनों अभी गृहस्थधर्म सेवन करें और मैं योग पथ पर चलकर आत्महित करूँगी। इस प्रकार सब सानन्द अपने-अपने कार्य में रत हो सकेंगे।

चारुदत्त : खूब विचार कर लो शुभे ! श्रमण पथ असिधाराव्रत के सदृश्य है। इस वय में असाध्य नहीं तो दुस्साध्य अवश्य है।

मित्रवती : पर मैं अकेली वसंत को योगिनी नहीं बनाना चाहती। मैं स्वयं भी उसी पथ का अनुसरण करूँगी।

चारुदत्त : और हम ?

मित्रवती : आपकी जो इच्छा हो, करें। स्वतंत्र हैं आप। आप घर में रहें। हम अपना अभ्यास प्रारम्भ कर सफलता की ओर अग्रसर हों।

चारुदत्त : यह कैसे हो सकता है। तुम दोनों आगे और हम पीछे। पीछे रहना हमें तनिक भी रुचिकर नहीं है देवियो ! क्यों न हम भी आत्म साक्षात्कार कर चिर शान्ति पाने का प्रयास करें।

वसंततिलका : नहीं, नहीं मैं यह न चाहूँगी कि मुझ अकिंचन के कारण सम्पूर्ण घर ही समाप्त हो जाये। मैं आप दोनों से साग्रह निवेदन करूँगी कि मुझे अकेले ही श्रमण पथ पर जाने की अनुमति प्रदान करें। धर्म संकट में न डालें।

मित्रवती : मैं भी यही आग्रह आर्यपुत्र से करूँगी।

चारुदत्त : 'सुनना सबकी करना मन की' हम भी स्वतंत्र हैं। देवी मित्रवती का सुझाव मंगलमय है। अस्तु ! हम तीनों उसी योगपंथ के पथिक बनेंगे। जहाँ कोई ऊँच-नीच नहीं, छोटा-बड़ा नहीं, कोई बिघ्न बाधा नहीं। जिस पर चलकर सभी अपना कल्याण कर सकते हैं। जहाँ प्रत्येक मानव सर्वोदय के पात्र हों, वही उन्मुक्त मार्ग प्रशस्त है। जिसे अपना कल्याण करना हो, जो नीच-ऊँच के भेद मिटाना चाहता हो वह आये और इस मार्ग पर चलकर भव-भव की भटकन को समाप्त कर परमात्म स्वरूप बनें।

वसंततिलका : इस प्रकार हम लोक-हृदय परिवर्तन कर सकने में भी समर्थ होंगे।

मित्रवती : चलें, फिर अपना मुक्ति अभियान प्रारम्भ हो।

वसंततिलका : जीजी ! सचमुच ही तुम्हारा त्याग, तुम्हारी विरक्ति अभूतपूर्व है।

चारुदत्त : देवी मित्रवती ! यह ज्वलंत सत्य है।

मित्रवती : परन्तु इन प्रशंसात्मक शब्दों की परिधि से हम सब बाहर निकल आये हैं। अरुणोदय के साथ ही हम अपने पथ पर चल पड़ेंगे। - *पटाक्षेप* -

समाप्त

(इस नाटक की लेखिका श्रीमती किरण जैन हैं – आभार)

शत्रु-मित्रता कल्पना, सच्चा सम्यग्ज्ञान

अनादौ सति संसारे केन कस्य न बन्धुता।
सर्वथा शत्रुभावश्च सर्वमेतद्धि कल्पना॥

रानी विजया काष्ठांगार के प्रति विशेष शत्रुता का भाव व्यक्त कर रही है; तब राजा सत्यन्धर रानी को समझा रहे हैं –

"इस षट्द्रव्यात्मक लोक का न तो कभी प्रारम्भ हुआ है और न कभी अन्त होगा। यह तो अनादि-अनन्त है और रहेगा। इस अनादि विश्व का अनन्त वर्षों का भूतकाल व्यतीत हो चुका है और भविष्यकाल भूतकाल से सदैव अनन्तगुणा रहेगा; ऐसा शाश्वत सत्य है।

इस संसार भ्रमण करते हुए प्रत्येक जीव के अन्य अनेक जीवों के साथ माता-पिता, बहिन-भाई, पति-पत्नी आदि अनेक सम्बन्ध हो चुके हैं। जो भाई है, वह उसी भव में कुछ निमित्त पाकर शत्रु हो जाता है। जैसे – रावण का भाई विभीषण रावण का शत्रु बना। इसीप्रकार अन्य-अन्य प्रकार के सम्बन्ध बनते हैं। जैसे भविष्य में जब रावण का जीव तीर्थंकर बनेगा, तब सीता का जीव रावण का गणधर बनेगा। राजा श्रेणिक का पुत्र कुणिक उसी भव में श्रेणिक का महान शत्रु बना था। इत्यादि अनेक उदाहरणों से पुराण भरे हुए हैं और प्रत्यक्ष में भी हम देखते हैं। वास्तव में न कोई किसी का शत्रु है न मित्र, सब परिस्थितियों के संयोग हैं – ऐसा समझकर काष्ठांगार के सम्बन्ध में आपको समताभाव रखना ही उचित है।"

– क्षत्रचूड़ामणि, पहला लम्ब, श्लोक : ६१, पृष्ठ : ८३

वृद्धावस्था से क्या घबराना !

बुढापे में शरीर काम न करता हो, प्रतिकूलता के ढेर लगे हों, सेवा-सुश्रुषा करनेवाला कोई भी न हो...तो भी बापू ! तू घबराना मत !! 'मेरा कोई भी नहीं है'-ऐसा सोचकर हताश मत हो जाना ! तुम्हारे जीवनपर्यंत के उत्तम संस्कारों की अमूल्य निधि तुम्हारे पास ही है।

जीवन के अन्तिम समय में तुम्हारी भावनाएँ ही तुम्हें शान्ति प्रदान करनेवाली हैं, इसलिए उन पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करो। **शरीर से ममत्व तो छोड़ना ही है, उससे ममत्व किया जाय– ऐसा इस शरीर में है ही क्या? फिर इस शरीर की सेवा करनेवाला कोई हो या न हो, उसकी क्या चिन्ता ?**

अरे बापू ! आत्मा की चिन्ता करो, जिससे तुम्हारा भविष्य उत्तम बने।

जवानी में भी जो काम न हो सका, उसे शूरवीर होकर अभी कर लो! शूरवीर आत्मा की शूरवीरता को यह शरीर की वृद्धावस्था कोई कमजोर नहीं बना सकती है।

यदि चलने-फिरने में असमर्थ हो गये हो तो हृदय में ही जिन-भक्ति करो.... पंच-परमेष्ठी भगवन्तों को याद करो....... मुनिपद की भावना करो......। शरीर की क्षणभंगुरता और आत्मा की नित्यता का विचार करके वैराग्य की उत्तम भावना करो..... बस, तुम्हें कोई दुख नहीं रहेगा।

अन्दर में जिनभावना है तो बाहर की प्रतिकूलता क्या बिगाड़ सकती है? इसलिए खेद छोड़ो .... और प्रसन्नचित्त से आत्मा की साधना करो।

हे मोक्ष के इच्छुक भव्यात्मा ! जीवन में भगवान महावीर शासन को पाकर अब खेद-खिन्न जीवन नहीं जीना है। आनंदमय जीवन जियो। अपने जीवन को आनंदमय बनाने के लिए ही तुमने सैंकड़ों बार सन्त पुरुषों के उपदेशों को सुना है,..... बहुत कुछ पढ़ा है.... बहुत कुछ विचारा है। **अरे ! ऐसे आनन्द को साधने के अवसर पर खेद कैसा ? मुमुक्षु को तो निजानन्द की प्राप्ति के अवसर में परम-उत्साह होता है।**

अरे मुमुक्षु ! भले ही वृद्ध हो गये....... तो भी तुम मुमुक्षु ही हो.... शरीर भले कमजोर हो गया, लेकिन उससे मुमुक्षुपने के उत्साह को ढीला मत करना। जवानी नष्ट होकर वृद्धावस्था आ गई, परन्तु उससे तुम कोई 'मुमुक्षु' नहीं मिट गये। केवल मोक्ष की ही जिसे अभिलाषा रह गई है– ऐसे 'मुमुक्षु' जीव को फिर खेद किस बात का ? अरे, जगत में ऐसा कौनसा दुख है, जिसके कारण तुम्हें खेद करना पड़े।

सुनो, भाई ! तुम्हारे लिये तो अब आत्मा को साधने का महा-आनंद-प्रसंग आया है.....अतः प्रसन्नचित्त से आत्मा की साधना में लग जाओ। खेद छोड़ो ! और विचार करो कि तुम्हें जीवन में कैसे सरस देव-गुरु-शास्त्र मिले हैं! कैसा सरस मार्ग मिला है!! और अन्दर कितना आनंददायी आत्मा विराजमान है!!! जगत में इतना सरस योग मिलने पर फिर खेद करने के लिए क्या रह जाता है?

खेद करने की आदत छोड़ो..... और महान उल्लास के साथ शान्त भाव से अपने आनदधाम भगवान आत्मा की तरफ देखो ! तुम्हारा जीवन अपूर्व चैतन्य लाभ से भर जायेगा। ●

कथा खण्ड

卐 अनुक्रमणिका 卐

१.	मैं स्वयं भगवान हूँ	२१२
२.	अपने में अपनापन	२२५
३.	अपनी खोज	२३४
४.	सुख का रहस्य	२४६
५.	उपसर्गजयी सुकुमाल	२४७
६.	प्रोफेसर की डायरी	३४६
७.	अध्रुव के उस पार	३५२
८.	कूप मण्डूक को जगी जिज्ञासा	३५८
९.	संयम	३७०
१०.	पुण्यास्त	३७४
११.	विचित्र महोत्सव	३७७

मैं स्वयं भगवान हूँ

जैनदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कहता है कि सभी आत्मा स्वयं परमात्मा हैं। स्वभाव से तो सभी परमात्मा हैं ही; यदि अपने को जानें, पहिचानें और अपने में ही जम जायें, रम जायें तो प्रगटरूप से पर्याय में भी परमात्मा बन सकते हैं।

जब यह कहा जाता है तो लोगों के हृदय में एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि 'जब सभी परमात्मा हैं' तो 'परमात्मा बन सकते हैं'–इसका क्या अर्थ ? और यदि 'परमात्मा बन सकते हैं'– यह बात सही है तो फिर 'परमात्मा हैं –इसका कोई अर्थ नहीं रह जाता है; क्योंकि बन सकना और होना – दोनों एकसाथ संभव नहीं हैं।

भाई, इसमें असंभव तो कुछ भी नहीं है; पर ऊपर से देखने पर भगवान होने और हो सकने में कुछ विरोधाभास अवश्य प्रतीत होता है, किन्तु गहराई से विचार करने पर सब बात एकदम स्पष्ट हो जाती है।

एक सेठ था और उसका पाँच वर्ष का एक इकलौता बेटा। बस दो ही प्राणी थे। जब सेठ का अन्तिम समय आ गया तो उसे चिन्ता हुई कि यह छोटा-सा बालक इतनी विशाल सम्पत्ति को कैसे संभालेगा ?

अतः उसने लगभग सभी सम्पत्ति बेचकर एक करोड़ रुपये इकट्ठे किये और अपने बालक के नाम पर बैंक में बीस वर्ष के लिए सावधि जमायोजना (फिक्स डिपाजिट) के अन्तर्गत जमा करा दिये। सेठ ने इस रहस्य को गुप्त ही रखा, यहाँ तक कि अपने पुत्र को भी नहीं बताया, मात्र एक अत्यन्त घनिष्ठ मित्र को इस अनुरोध के साथ बताया कि वह उसके पुत्र को यह बात तब तक न बताये, जब तक कि वह पच्चीस वर्ष का न हो जावे।

पिता के अचानक स्वर्गवास के बाद वह बालक अनाथ हो गया और कुछ दिनों तक तो बची-खुची सम्पत्ति से आजीविका चलाता रहा, पर अन्त में रिक्शा चलाकर पेट भरने लगा। चौराहे पर खड़े होकर जोर-जोर से आवाज लगाता कि दो रुपये में रेलवे स्टेशन, दो रुपये में रेलवे स्टेशन .....।

अब मैं आप सबसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि वह रिक्शा चलाने वाला बालक करोड़पति है या नहीं ?

क्या कहा ?

नहीं।

क्यों ?

क्योंकि करोड़पति रिक्शा नहीं चलाते और रिक्शा चलानेवाले करोड़पति नहीं हुआ करते।

अरे भाई, जब वह व्यक्ति ही करोड़पति नहीं होगा, जिसके करोड़ रुपये बैंक में जमा हैं तो फिर और कौन करोड़पति होगा ?

पर भाई बात यह है कि उसके करोड़पति होने पर भी हमारा मन उसे करोड़पति मानने को तैयार नहीं होता; क्योंकि रिक्शावाला करोड़पति हो – यह बात हमारे चित्त को सहज स्वीकार नहीं होती। आज तक हमने जिन्हें करोड़पति माना है, उनमें से किसी को भी रिक्शा चलाते नहीं देखा और करोड़पति रिक्शा चलाये – यह हमें अच्छा भी नहीं लगता; क्योंकि हमारा मन ही कुछ इस प्रकार का बन गया है।

'कौन करोड़पति है और कौन नहीं है ?'– यह जानने के लिए आजतक कोई किसी की तिजोरी के नोट गिनने तो गया नहीं; यदि जायेगा भी तो बतायेगा कौन ? बस बाहरी ताम-झाम देखकर ही हम किसी को भी करोड़पति मान लेते हैं। दस-पाँच नौकर-चाकर, मुनीम-गुमास्ते और बंगला, मोटरकार, कल-कारखाने देखकर ही हम किसी को भी करोड़पति मान लेते हैं; पर यह कोई नहीं जानता कि जिसे हम करोड़पति समझ रहे हैं, हो सकता है कि वह करोड़ों का कर्जदार हो। बैंक से करोड़ों रुपये उधार लेकर कल-कारखाने खुल जाते हैं और बाहरी ठाठ-बाट देखकर अन्य लोग भी सेठजी के पास पैसे जमा कराने लगते हैं। इस प्रकार गरीबों, विधवाओं, ब्रह्मचारियों के करोड़ों के ठाठ-बाट से हम उसे करोड़पति मान लेते हैं।

इस संभावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि जिसे हम करोड़पति साहूकार मान रहे हैं, वह लोगों के करोड़ों रुपये पचाकर दिवाला निकालने की योजना बना रहा हो।

ठीक यही बात सभी आत्माओं को परमात्मा मानने के सन्दर्भ में भी है। हमारा मन इन चलते-फिरते, खाते-पीते, रोते-गाते चेतन आत्माओं को परमात्मा मानने को तैयार नहीं होता, भगवान

मानने को तैयार नहीं होता। हमारा मन कहता है कि यदि हम भगवान होते तो फिर दर-दर की ठोकर क्यों खाते फिरते ? अज्ञानांधकार में डूबा हमारा अन्तर बोलता है कि हम भगवान नहीं हैं, हम तो दीन-हीन प्राणी हैं; क्योंकि भगवान दीन-हीन नहीं होते और दीन-हीन भगवान नहीं होते।

अब तक हमने भगवान के नाम पर मन्दिरों में विराजमान उन प्रतिमाओं के ही भगवान के रूप में दर्शन किये हैं, जिनके सामने हजारों लोग मस्तक टेकते हैं, भक्ति करते हैं, पूजा करते हैं; यही कारणं है कि हमारा मन डाटे-फटकारे जाने वाले जनसामान्य को भगवान मानने को तैयार नहीं होता। हम सोचते हैं कि ये भी कोई भगवान हो सकते हैं क्या? भगवान तो वे हैं, जिनकी पूजा की जाती है, भक्ति की जाती है। सच बात तो यह है कि हमारा मन ही कुछ ऐसा बन गया है कि उसे यह स्वीकार नहीं कि कोई दीन-हीन जन भगवान बन जावे। अपने आराध्य को दीन-हीन दशा में देखना भी हमें अच्छा नहीं लगता।

भाई, भगवान भी दो तरह के होते हैं – एक तो वे अरहंत और सिद्ध परमात्मा, जिनकी मूर्तियाँ मन्दिरों में विराजमान हैं और उन मूर्तियों के माध्यम से हम उन मूर्तिमान परमात्मा की उपासना करते हैं, पूजन भक्ति करते हैं; जिस पथ पर वे चले, उस पथ पर चलने का संकल्प करते हैं, भावना भाते हैं। ये अरंहत और सिद्ध कार्यपरमात्मा कहलाते हैं।

दूसरे, देहदेवल में विराजमान निज भगवान आत्मा भी परमात्मा है, भगवान है; इसे कारणपरमात्मा कहा जाता है।

जो भगवान मूर्तियों के रूप में मन्दिरों में विराजमान हैं; वे हमारे पूज्य हैं, परमपूज्य हैं; अतः हम उनकी पूजा करते हैं; भक्ति करते हैं, गुणानुवाद करते हैं; किन्तु देहदेवल में विराजमान निज भगवान आत्मा श्रद्धेय है, ध्येय है, परमज्ञेय है; अतः निज भगवान को जानना, पहिचानना और उसका ध्यान करना ही उसकी आराधना है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति इस निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही होती है; क्योंकि निश्चय से निज भगवान आत्मा को निज जानना ही सम्यग्ज्ञान है, उसे ही निज मानना, 'यही मैं हूँ- ऐसी प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है और उसका ही ध्यान करना, उसी में जम जाना, रम जाना, लीन हो जाना सम्यक्चारित्र है।

अष्टद्रव्य से पूजन मन्दिर में विराजमान 'पर-भगवान' की की जाती है और ध्यान शरीररूपी मन्दिर में विराजमान 'निज-भगवान' आत्मा का किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति निज-आत्मा को

भगवान मानकर मन्दिर में विराजमान भगवान के समान स्वयं की भी अष्टद्रव्य से पूजन करने लगे तो उसे व्यवहार-विहीन ही माना जायेगा; वह व्यवहारकुशल नहीं, अपितु व्यवहारमूढ़ ही है।

इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति आत्मोपलब्धि के लिए ध्यान में भी मन्दिर में विराजमान भगवान का ही करता रहे तो उसे भी विकल्पों की ही उत्पत्ति होती रहेगी, निर्विकल्प आत्मानुभूति कभी नहीं होगी; क्योंकि निर्विकल्प आत्मानुभूति निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही होती है। निर्विकल्प आत्मानुभूति के बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति भी नहीं होगी। इस प्रकार उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग का आरंभ ही नहीं होगा।

जिस प्रकार वह रिक्शावाला बालक रिक्शा चलाते हुए भी करोड़पति है; उसी प्रकार दीन-हीन हालत में होने पर भी हम सभी स्वभाव से ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान हैं, कारण परमात्मा हैं- यह जानना-मानना उचित ही है।

इस सन्दर्भ में मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि भारत में अभी किसका राज है?

"कांग्रेस का"

"क्या कहा, कांग्रेस का? नहीं भाई ! यह ठीक नहीं है; कांग्रेस तो एक पार्टी है,भारत में राज तो जनता-जनार्दन का है; क्योंकि जनता जिसे चुनती है, वही भारत का शासन चलाता है; अतः राज तो जनता-जनार्दन का ही है।"

उक्त सन्दर्भ में जब हम जनता को जनार्दन (भगवान) कहते हैं तो कोई नहीं कहता कि जनता तो जनता है, वह जनार्दन अर्थात् भगवान कैसे हो सकती है? पर जब तात्त्विक चर्चा में यह कहा जाता है कि हम सभी भगवान हैं तो हमारे चित्त में अनेक प्रकार की शंकाएँ-आशंकाएँ खड़ी हो जाती हैं, पर भाई गहराई से विचार करें तो स्वभाव से तो प्रत्येक आत्मा परमात्मा ही है – इसमें शंका-आशंकाओं को कोई स्थान नहीं है।

प्रश्न : यदि यह बात है तो फिर ये ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा वर्तमान में अनन्त दुःखी क्यों दिखाई दे रहे हैं?

उत्तर : अरे भाई, ये सब भूले हुए भगवान हैं, स्वयं को – स्वयं की सामर्थ्य को भूल गये हैं; इसी कारण सुखस्वभावी होकर भी अनन्त दुःखी हो रहे हैं। इनके दुःख का मूलकारण स्वयं को नहीं जानना, नहीं पहिचानना ही है। जब ये स्वयं को जानेंगे, पहिचानेंगे एवं स्वयं में ही जम जायेंगे, रम जायेंगे; तब स्वयं ही अनन्तसुखी भी हो जावेंगे।

जिस प्रकार वह रिक्शा चलाने वाला बालक करोड़पति होने पर भी यह नहीं जानता है कि "मैं स्वयं करोड़पति हूँ – इसी कारण दरिद्रता का दुःख भोग रहा है। यदि उसे यह पता चल जावे कि मैं करोड़पति हूँ, मेरे करोड़ रुपये बैंक में जमा हैं तो उसका जीवन ही परिवर्तित हो जावेगा। उसी प्रकार जब तक यह आत्मा स्वयं के परमात्मस्वरूप को नहीं जानता-पहिचानता है, तभी तक अनन्तदुःखी है; जब यह आत्मा अपने परमात्मस्वरूप को भली भाँति जान लेगा, पहिचान लेगा तो इसके दुःख दूर होने में भी देर न लगेगी।

कंगाल के पास करोड़ों का हीरा हो, पर वह उसे कांच का टुकड़ा समझता हो या चमकदार पत्थर मानता हो तो उसकी दरिद्रता जाने वाली नहीं है; पर यदि वह उसकी सही कीमत जान ले तो दरिद्रता एक क्षण भी उसके पास टिक नहीं सकती, उसे विदा होना ही होगा। इसी प्रकार यह आत्मा स्वयं भगवान होने पर भी यह नहीं जानता कि मैं स्वयं भगवान हूँ। यही कारण है कि यह अनन्तकाल से अनन्त दुःख उठा रहा है। जिस दिन यह आत्मा यह जान लेगा कि मैं स्वयं भगवान ही हूँ, उस दिन उसके दुःख दूर होते देर न लगेगी।

इससे यह बात सहज सिद्ध होती है कि होने से भी अधिक महत्त्व जानकारी होने का है, ज्ञान होने का है।

होने से क्या होता है ? होने को तो यह आत्मा अनादि से ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा ही है, पर इस बात की जानकारी न होने से – ज्ञान न होने से ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान होने का कोई लाभ इसे प्राप्त नहीं हो रहा है।

होने को तो वह रिक्शा चलाने वाला बालक भी गर्भश्रीमन्त है, जन्म से ही करोड़पति है; पर पता न होने से दो रोटियों की खातिर उसे रिक्शा चलाना पड़ रहा है। यही कारण है कि जिनागम में सम्यग्ज्ञान के गीत दिल खोलकर गाये हैं। कहा गया है कि –

"ज्ञान समान न आन जगत में सुख कौ कारण।
इह परमामृत जन्म-जरा-मृतु रोग निवारण ॥[१]

इस जगत में ज्ञान के समान अन्य कोई भी पदार्थ सुख देनेवाला नहीं है। यह ज्ञान जन्म, जरा और मृत्यु रूपी रोग को दूर करने के लिए परम-अमृत है, सर्वोत्कृष्ट औषधि है।"

---

१. छहढाला, चौथी ढाल

और भी देखिए –

''जे पूरब शिव गये जाहिं अरु आगे जैहैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनी मुनिनाथ कहै हैं ॥[१]

आजतक जितने भी जीव अनन्त सुखी हुए हैं अर्थात् मोक्ष गये हैं या जा रहे हैं अथवा भविष्य में जावेंगे, वह सब ज्ञान का ही प्रताप है – ऐसा मुनियों के नाथ जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।''

सम्यग्ज्ञान की तो अनन्त महिमा है ही, पर सम्यग्दर्शन की महिमा जिनागम में उससे भी अधिक बताई गई है, गाई गई है।

क्यों और कैसे?

मानलो रिक्शा चलानेवाला वह करोड़पति बालक अब २५ वर्ष का युवक हो गया है। उसके नाम जमा करोड़ रुपयों की अवधि समाप्त हो गई है, फिर भी कोई व्यक्ति बैंक से रुपये लेने नहीं आया। अतः बैंक ने समाचार-पत्रों में सूचना प्रकाशित कराई कि अमुक व्यक्ति के इतने रुपयें बैंक में जमा हैं, वह एक माह के भीतर आकर ले जावे। यदि कोई व्यक्ति एक माह के भीतर नहीं आया तो लावारिस समझकर रुपये सरकारी खजाने में जमा करा दिये जावेंगे।

उस समाचार को उस युवक ने भी पढ़ा और उसका हृदय प्रफुल्लित हो उठा, पर उसकी वह प्रसन्नता क्षणिक साबित हुई, क्योंकि अगले ही क्षण उसके हृदय में संशय के बीच अंकुरित हो गये।

वह सोचने लगा कि मेरे नाम इतने रुपये बैंक में कैसे हो सकते हैं? मैंने तो कभी जमा कराये ही नहीं। मेरा तो किसी बैंक में कोई खाता भी नहीं है। फिर भी उसने वह समाचार दुबारा बारीकी से पढ़ा तो पाया कि वह नाम तो उसी का है, पिता के नाम के स्थान पर भी उसी के पिता का नाम अंकित है, कुछ आशा जागृत हुई, किन्तु अगले क्षण ही उसे विचार आया कि हो सकता है, इसी नाम का कोई दूसरा व्यक्ति हो और सहज संयोग से ही उसके पिता का नाम भी यही हो। इस प्रकार वह फिर शंकाशील हो उठा।

इस प्रकार जानकर भी उसे प्रतीति नहीं हुई, इस बात का विश्वास जागृत नहीं हुआ कि ये रुपये मेरे ही हैं। अतः जान लेने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ। इससे सिद्ध होता है कि प्रतीति बिना, विश्वास बिना जान लेने मात्र से भी कोई लाभ नहीं होता। अतः ज्ञान से भी अधिक महत्त्व श्रद्धान का है, विश्वास का है, प्रतीति का है।

---

१. छहढाला, चौथी ढाल

इसी प्रकार शास्त्रों में पढ़कर हम सब यह जान तो लेते हैं कि आत्मा ही परमात्मा है (अप्पा सो परमप्पा), पर अन्तर में यह विश्वास जागृत नहीं होता कि मैं स्वयं ही परमात्मस्वरूप हूँ, परमात्मा हूँ, भगवान हूँ। यही कारण है कि यह बात जान लेने पर भी कि मैं स्वयं परमात्मा हूँ, सम्यक्श्रद्धान बिना दुःख का अन्त नहीं होता, चतुर्गतिभ्रमण समाप्त नहीं होता, सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती।

समाचार-पत्र में उक्त समाचार पढ़कर वह युवक अपने साथियों को भी बताता है। उन्हें समाचार दिखाकर कहता है कि "देखो, मैं करोड़पति हूँ अब तुम मुझे गरीब रिक्शेवाला नहीं समझना।"—इसप्रकार कहकर वह अपना और अपने साथियों का मनोरंजन करता है, एक प्रकार से स्वयं अपनी हँसी उड़ाता है।

इसी प्रकार शास्त्रों में से पढ़-पढ़कर हम स्वयं अपने साथियों को भी सुनाते हैं। कहते हैं- 'देखो हम सभी स्वयं भगवान हैं, दीन-हीन मनुष्य नहीं।' —इस प्रकार की आध्यात्मिक चर्चाओं द्वारा हम स्वयं का और समाज का मनोरंजन तो करते हैं, पर सम्यक्श्रद्धान के अभाव में भगवान होने का सही लाभ प्राप्त नहीं होता, आत्मानुभूति नहींहोती, सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती, आकुलता समाप्त नहीं होती।

इस प्रकार अज्ञानीजनों की आध्यात्मिक चर्चा भी आत्मानुभूति के बिना, सम्यग्ज्ञान के बिना, सम्यक्श्रद्धान के बिना मात्र बौद्धिक व्यायाम बनकर रह जाती है।

समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो जाने के उपरान्त भी जब कोई व्यक्ति पैसे लेने बैंक में नहीं आया तो बैंकवालों ने रेडियो स्टेशन से घोषणा कराई। रेडियो स्टेशन को भारत में आकाशवाणी कहते हैं। अतः आकाशवाणी हुई कि अमुक व्यक्ति के इतने रुपये बैंक में जमा हैं, वह एक माह के भीतर ले जावे, अन्यथा लावारिस समझकर सरकारी खजाने में जमा करा दिये जावेंगे।

आकाशवाणी की उस घोषणा को रिक्शे पर बैठे-बैठे उसने भी सुनी, अपने साथियों को भी सुनाई, पर विश्वास के अभाव में कोई लाभ नहीं हुआ। इसीप्रकार अनेक प्रवक्ताओं से इस बात को सुनकर भी कि हम सभी स्वयं भगवान हैं, विश्वास के अभाव में बात वहीं की वहीं रही। जीवनभर जिनवाणी सुनकर भी, पढ़कर भी, आध्यात्मिक चर्चायें करके भी आत्मानुभूति से अछूते रह गये।

समाचार-पत्रों में प्रकाशित एवं आकाशवाणी से प्रसारित उक्त समाचार की ओर जब स्वर्गीय सेठजी के उन अभिन्न मित्र का ध्यान गया, जिन्हें उन्होंने मरते समय उक्त रहस्य की जानकारी दी थी, तो वे तत्काल उस युवक के पास पहुँचे और बोले- "बेटा! तुम रिक्शा क्यों चलाते हो?"

उसने उत्तर दिया– "यदि रिक्शा न चलायें तो खायेंगे क्या?"

उन्होंने समझाते हुए कहा–"भाई तुम तो करोड़पति हो, तुम्हारे तो करोड़ों रुपये बैंक में जमा है।"

अत्यन्त गमगीन होते हुए युवक कहने लगा–

"चाचाजी, आपसे ऐसी आशा नहीं थी, सारी दुनिया तो हमारा मजाक उड़ा ही रही है, पर आप तो बुजुर्ग हैं, मेरे पिता के बराबर हैं, आप भी.....।"

वह अपनी बात समाप्त ही न कर पाया था कि उसके माथे पर हाथ फेरते हुए अत्यन्त स्नेह से वे कहने लगे–

"नहीं भाई, मैं तेरी मजाक नहीं उड़ा रहा हूँ। तू सचमुच ही करोड़पति है। जो नाम समाचार-पत्रों में छप रहा है, वह तेरा ही नाम है।"

अत्यन्त विनयपूर्वक वह बोला– "ऐसी बात कहकर आप मेरे चित्त को व्यर्थ ही अशान्त न करें। मैं मेहनत-मजदूरी करके दो रोटियाँ पैदा करता हूँ और आराम से जिन्दगी बसर कर रहा हूँ। मेरी महत्त्वाकांक्षा को जगाकर आप मेरे चित्त को क्यों उद्वेलित कर रहे हैं। मैंने तो कभी कोई रुपये बैंक में जमा कराये ही नहीं। अतः मेरे रुपये बैंक में जमा कैसे हो सकते हैं?"

अत्यन्त गद्गद् होते हुए वे कहने लगे–

"भाई तुम्हें पैसे जमा कराने की क्या आवश्यकता थी? तुम्हारे पिताजी स्वयं बीस वर्ष पहले तुम्हारे नाम एक करोड़ रुपये बैंक में जमा करा गये हैं, जो अब ब्याज सहित दश करोड़ से भी अधिक हो गये होंगे। मरते समय यह बात वे मुझे बता गये थे।"

यह बात सुनकर वह एकदम उत्तेजित हो गया। थोड़ा-सा विश्वास उत्पन्न होते ही उसमें करोड़पतियों के लक्षण उभरने लगे। वह एकदम गर्म होते हुए बोला–

"यदि यह बात सत्य है तो आपने अभी तक हमें क्यों नहीं बताया?"

वे समझाते हुए कहने लगे– "उत्तेजित क्यों होते हो ? अब तो बता दिया। पीछे की जाने दो, अब आगे की सोचो।"

"पीछे की क्यों जाने दो? हमारे करोड़ों रुपये बैंक में पड़े रहे और हम दो रोटियों के लिए मुँहताज हो गये। हम रिक्शा चलाते रहे और आप देखते रहे। यह कोई साधारण बात नहीं है, जो ऐसे ही छोड़ दी जावे, आपको इसका जवाब देना ही होगा।"

"तुम्हारे पिताजी मना कर गये थे।"

"आखिर क्यों?"

"इसलिए कि बीस वर्ष पहले तुम्हें रुपये तो मिल नहीं सकते थे। पता चलने पर तुम रिक्शा भी न चला पाते और भूखों मर जाते।"

"पर उन्होंने ऐसा किया ही क्यों?"

"इसलिए कि नाबालिगी की अवस्था में कहीं तुम यह सम्पत्ति बर्बाद न कर दो और फिर जीवनभर के लिए कंगाल हो जावो। समझदार हो जाने पर तुम्हें ब्याज सहित आठ-दस करोड़ रुपये मिल जावें और तुम आराम से रह सको। तुम्हारे पिताजी ने यह सब तुम्हारे हित में ही किया है। अतः उत्तेजना में समय खराब मत करो। आगे की सोचो।"

इसप्रकार सम्पत्ति सम्बन्धी सच्ची जानकारी और उस पर पूरा विश्वास जगृत हो जाने पर उस रिक्शेवाले युवक का मानस एकदम बदल जाता है, आजीविका की चिन्ता न मालूम कहाँ चली जाती है, चेहरे पर सम्पन्नता का भाव स्पष्ट झलकने लगता है।

इसी प्रकार शास्त्रों के पठन, प्रवचनों के श्रवण और अनेक युक्तियों के अवलम्बन से ज्ञान में बात स्पष्ट हो जाने पर भी अज्ञानीजनों को इसप्रकार का श्रद्धान उदित नहीं होता कि ज्ञान का घनपिण्ड, आनन्द का रसकन्द, शक्तियों का संग्रहालय, अनन्त गुणों का गोदाम भगवान आत्मा मैं स्वयं ही हूँ। यही कारण है कि श्रद्धान के अभाव में उक्त ज्ञान का कोई लाभ प्राप्त नहीं होता।

काललब्धि आने पर किसी आसन्नभव्य जीव को परमभाग्योदय से किसी आत्मनुभवी ज्ञानी धर्मात्मा का सहज समागम प्राप्त होता है और वह ज्ञानी धर्मात्मा उसे अत्यन्त वात्सल्यभाव से समझाता है कि हे आत्मन्! तू स्वयं भगवान है, तू अपनी शक्तियों को पहिचान, पर्याय की पामरता का विचार मत कर, स्वभाव के सामर्थ्य को देख, सम्पूर्ण जगत पर से दृष्टि हटा और स्वयं में ही समा जा, उपयोग को यहाँ-वहाँ न भटका, अन्तर में जा, तुझे निज परमात्मा के दर्शन होंगे।

ज्ञानी गुरु की करुणा-विगलित वाणी सुनकर वह निकट भव्य जीव कहता है–

"प्रभो! यह आप क्या कह रहे हैं, मैं भगवान कैसे हो सकता हूँ? मैंने तो जिनागम में बताये भगवान बनने के उपाय का अनुसरण आजतक किया ही नहीं है। न जप किया, न तप किया, न व्रत पाले और न स्वयं को जाना-पहिचाना – ऐसी अज्ञानी-असयंत दशा में रहते हुए मैं भगवान कैसे बन सकता हूँ?"

अत्यन्त स्नेहपूर्वक समझाते हुए ज्ञानी धर्मात्मा कहते हैं – "भाई, ये बनने वाले भगवान की बात नहीं है, यह तो बने-बनाये भगवान की बात है। स्वभाव की अपेक्षा तुझे भगवान बनना नहीं है, अपितु स्वभाव से तो तू बना-बनाया भगवान ही है। – ऐसा जानना-मानना और अपने में ही जमजाना, रमजाना पर्याय में भगवान बनने का उपाय है। तू एकबार सच्चेदिल से अन्तर की गहराई से इस बात को स्वीकार तो कर, अन्तर की स्वीकृति आते ही तेरी दृष्टि परपदार्थों से हटकर सहज ही स्वभाव-सन्मुख होगी, ज्ञान भी अन्तरोन्मुख होगा और तू अन्तर में ही समा जायगा, लीन हो जायगा, समाधिस्थ हो जायगा। ऐसा होने पर तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ेगा कि तू निहाल हो जावेगा, कृतकृत्य हो जावेग। एकबार ऐसा स्वीकार करके तो देख।"

"यदि ऐसी बात है तो आजतक किसी ने क्यों नहीं बताया?"

"जाने भी दे, इस बात को, आगे की सोच।"

"क्यों जाने दें? इस बात को जाने बिना हम अनन्त दुःख उठाते रहे, स्वयं भगवान होकर भी भोगों के भिखारी बने रहे और किसी ने बताया तक नहीं।"

"अरे भाई, जगत को पता हो तो बताये और ज्ञानी तो बताते ही रहते हैं, पर कौन सुनता है उनकी, काललब्धि आये बिना किसी का ध्यान ही नहीं जाता इस ओर। सुन भी लेते हैं तो इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते हैं, ध्यान नहीं देते।समय से पूर्व बताने से किसी को कोई लाभ भी नहीं होता। अतः अब जाने भी दो पुरानी बातों को, आगे की सोचो। स्वयं के परमात्मस्वरूप को पहिचानो, स्वयं के परमात्मस्वरूप को जानो ओर स्वयं में समा जावो। सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

कहते-कहते गुरु स्वयं में समा जाते हैं और वह भव्यात्मा भी स्वयं में समा जाता है। जब उपयोग बाहर आता है तो उसके चेहरे पर अपूर्व शान्ति होती है, संसार की थकान पूर्णतः उतर चुकी होती है, पर्याय की पामरता का कोई चिह्न चेहरे पर नहीं होता, स्वभाव की सामर्थ्य का गौरव अवश्य झलकता है।

आत्मज्ञान, श्रद्धान एवं आंशिक लीनता से आरम्भ मुक्ति के मार्ग पर आरूढ़ वह भव्यात्मा चक्रवर्ती की सम्पदा और इन्द्रों जैसे भोगों को भी तुच्छ समझने लगता है। कहा भी है –

"चक्रवर्ती की सम्पदा अर इन्द्र सारिखे भोग।
कागवीट सम गिनत हैं सम्यग्दृष्टि लोग॥"

पिता के मित्र रिक्शेवाले युवक से यह बात रिक्शा स्टेण्ड पर ही कर रहे थे। उनकी यह सब बातें रिक्शे पर बैठे-बैठे ही हो रही थी। इतने में एक सवारी ने आवाज दी–

''ये रिक्शेवाले ! स्टेशन चलेगा?''

उसने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया – ''नहीं।''

''क्यों? चलो न भाई, जरा जल्दी जाना है, दो रुपये की जगह पाँच रुपये ले लेना, पर चलो, जल्दी चलो।''

''नहीं, नहीं जाना, एक बार कह दिया न।''

''कह दिया पर.......''

उसकी बात जाने दो, अब मैं आपसे ही पूछता हूँ कि क्या वह अब भी सवारी ले जायेगा? यदि ले जायेगा तो कितने में? दस रुपये में, बीस रुपये में....?

क्या कहा, कितने ही रुपये दो, पर अब वह रिक्शा नहीं चलायेगा।

'क्यों?'

''क्योंकि अब वह क़रोड़पति हो गया है।''

''अरे भाई, अभी तो मात्र पता ही चला है, अभी रुपये हाथ में कहाँ आये हैं?''

''कुछ भी हो, अब उससे रिक्शा नहीं चलेगा;क्योंकि करोड़पति रिक्शा नहीं चलाया करते।''

इसीप्रकार जब किसी व्यक्ति को आत्मानुभवपूर्वक सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हो जाता है, तब उसके आचरण में भी अन्तर आ ही जाता है। यह बात अलग है कि वह तत्काल पूर्ण संयमी या देशसंयमी नहीं हो जाता, फिर भी उसके जीवन में अन्याय, अभक्ष्य एवं मिथ्यात्व पोषक क्रियाएँ नहीं रहती हैं। उसका जीवन शुद्ध सात्विक हो जाता है, उससे हीन काम नहीं होते।

वह युवक सवारी लेकर स्टेशन तो नहीं जावेगा, पर उस सेठ के घर रिक्शा वापिस देने और किराया देने तो जावेगा ही, जिसका रिक्शा वह किराये पर लाया था। प्रतिदिन शाम को रिक्शा और किराये के दस रुपये दे आने पर ही उसे अगले दिन रिक्शा किराये पर मिलता था। यदि कभी रिक्शा और किराया देने न जा पावे तो सेठ घर पर आ धमकता था, मुहल्लेवालों के सामने उसकी इज्जत उतार देता था।

आज वह सेठ के घर रिक्शा देने भी न जावेगा। उसे वहीं ऐसा ही छोड़कर चल देगा। तब फिर क्या वह सेठ उसके घर जायेगा ?

हाँ जायेगा, अवश्य जायेगा; पर रिक्शा लेने नहीं, रुपये लेने नहीं; अपनी लड़की का रिश्ता लेकर जायेगा; क्योंकि यह पता चल जाने पर कि इसके करोड़ों रुपये बैंक में जमा हैं, कौन उसे अपनी कन्या देकर कृतार्थ न होना चाहेगा?

इसीप्रकार किसी व्यक्ति को आत्मानुभव होता है तो उसके अन्तर की हीनभावना तो समाप्त हो ही जाती है, पर सातिशय पुण्य के प्रताप से लोक में भी उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है, लोक भी उसके सद्व्यवहार से प्रभावित होता है। ऐसा सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

ज्ञात हो जाने पर भी जिसप्रकार कोई असभ्य व्यक्ति उस रिक्शेवाले से रिक्शेवालों जैसा व्यवहार भी कदाचित् कर सकता है; उसीप्रकार कुछ अज्ञानीजन उन ज्ञानी धर्मात्माओं से भी कदाचित् असद्व्यवहार कर सकते हैं, करते भी देखे जाते हैं; पर यह बहुत कम होता है।

यद्यपि अभी वह वही मैला-कुचेला फटा कुर्ता पहने है, मकान भी टूटा-फूटा ही है; क्योंकि ये सब तो तब बदलेंगे, जब रुपये हाथ में आ जावेंगे। कपड़े और मकान श्रद्धा-ज्ञान से नहीं बदले जाते, उनके लिए तो पैसे चाहिए पैसे; तथापि उसके चित्त में आप कहीं भी दरिद्रता या हीनभावना का नामोनिशान भी नहीं पायेंगे।

उसीप्रकार जीवन तो सम्यक्चारित्र होने पर बदलेगा, अभी असंयमरूप व्यवहार ही ज्ञानी धर्मात्मा के देखा जाता है, पर उनके चित्त में रंचमात्र भी हीनभावना नहीं रहती, वे स्वयं को भगवान ही अनुभव करते हैं।

जिसप्रकार उस युवक के श्रद्धा और ज्ञान में तो यह बात एक क्षण में आ गई कि मैं करोड़पति हूँ; पर करोड़पतियों जैसे रहन-सहन में अभी वर्षों लग सकते हैं। पैसा हाथ में आ जाय, तब मकान बनना आरम्भ हो, उसमें भी समय तो लगेगा ही। उस युवक को अपना जीवन-स्तर उठाने की जल्दी तो है, पर अधीरता नहीं, क्योंकि जब पता चल गया है तो रुपये भी अब मिलेंगे ही; आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों; बरसों लगने वाले नहीं हैं।

उसी प्रकार श्रद्धा और ज्ञान तो क्षणभर में परिवर्तित हो जाते हैं, पर जीवन में संयम आने में समय लग सकता है। संयम धारण करने की जल्दी तो प्रत्येक ज्ञानी धर्मात्मा को रहती ही है, पर अधीरता नहीं होती; क्योंकि जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान और संयम की रुचि (अंश) जग गई है तो इसी भव में, इस भव में नहीं तो अगले भव में, उसमें नहीं तो उससे अगले भव में संयम भी आयेगा ही; अनन्तकाल यों ही जानेवाला नहीं है।

अतः हम सभी का यह परम पावन कर्त्तव्य है कि हम सब स्वयं को सही रूप में जानें, सही रूप

में पहिचानें, इस बात को गहराई से अनुभव करें कि स्वभाव से तो हम सभी सदा से ही भगवान ही हैं – इसमें शंका-आशंका के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। रही बात पर्याय की पामरता की, सो जब हम अपने परमात्मस्वरूप का सम्यग्ज्ञान कर उसी में अपनापन स्थापित करेंगे, अपने ज्ञानोपयोग (प्रगटज्ञान) को भी सम्पूर्णतः उसी में लगा देंगे, स्थापित कर देंगे और उसी में लीन हो जावेंगे, जम जावेंगे, रम जावेंगे, समा जावेंगे, समाधिस्थ हो जावेंगे तो पर्याय में भी परमात्मा (अरहंत-सिद्ध) बनते देर न लगेगी।

अरे भाई ! जैनदर्शन के इस अद्भुत परमसत्य को एक बार अन्तर की गहराई से स्वीकार तो करो कि स्वभाव से हम सभी भगवान ही हैं। पर और पर्याय से अपनापन तोड़कर एकबार द्रव्य-स्वभाव में अपनापन स्थापित तो करो, फिर देखना अन्तर में कैसी क्रान्ति होती है, कैसी अद्भुत और अपूर्व शान्ति उपलब्ध होती है, अतीन्द्रिय आनन्द का कैसा झरना झरता है।

इस अद्भुत सत्य का आनन्द मात्र बातों से आनेवाला नहीं है, अन्तर में इस परमसत्य के साक्षात्कार से ही अतीन्द्रिय आनन्द का दरिया उमड़ेगा।

उमड़ेगा, अवश्य उमड़ेगा; एकबार सच्चे हृदय से सम्पूर्णतः समर्पित होकर निज भगवान आत्मा की आराधना तो करो, फिर देखना क्या होता? बातों में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता है। अतः यह मंगलभावना भाते हुए विराम लेता हूँ कि सभी आत्माएँ स्वयं के परमात्मस्वरूप को जानकर, पहिचानकर स्वयं में ही जमकर, रमकर अनन्त सुख-शान्ति को शीघ्र ही प्राप्त करें।

आत्मा ही लक्ष्य होवे, आत्मा ही साथ हो।
आत्मा की सिद्धि होवे, ज्ञान की बरसात हो॥
आत्मा ही धर्म हो और आत्मा ही कर्म हो।
आत्मा शिवशर्मदाता, ज्ञान का ये मर्म हो॥

(इसके लेखक डा. हुकमचन्द भारिल्ल हैं – आभार)

अपने में अपनापन

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही सच्चा मोक्षमार्ग है, अनादिकालीन अनंत दुःख को दूर करने का एकमात्र उपाय है। अतः हमें इन्हें समझने में पूरी शक्ति लगाना चाहिए, इन्हें प्राप्त करने के लिए प्राणपण से जुट जाना चाहिए।

इनके स्वरूप को समझने के लिए हमें जैनदर्शन में प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्था को समझना होगा; क्योंकि तत्त्वार्थ के श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। तत्त्वार्थ सात होते हैं – जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

जीवतत्त्व अनादि-निधन द्रव्यरूप भगवान है और मोक्षतत्त्व सादि प्रगट दशारूप भगवान है। भगवान स्वभावी आत्मा का प्रकटरूप से पर्याय में भगवान बनना ही मोक्ष प्राप्त करना है। यही कारण है कि जैनदर्शन कहता है कि स्वभाव से तो हम सभी भगवान हैं ही, पर यदि अपने को जानें, पहिचानें और अपने में ही जम जायें, रम जायें तो प्रकटरूप से पर्याय में भी भगवान बन सकते हैं।

अपने को पहिचानना, जानना ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है तथा अपने में ही जम जाना, रम जाना सम्यक्चारित्र है। इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकरूपता ही मोक्षमार्ग है, सुखी होने का सच्चा उपाय है।

यद्यपि यह भगवान आत्मा अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है, अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है; तथापि मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जिन गुणों की चर्चा जिनागम में सर्वाधिक प्राप्त है, उनमें श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण प्रमुख हैं।

इनमें ज्ञान गुण का कार्य सत्यासत्य का निर्णय करना है, श्रद्धा गुण का कार्य अपने और पराये की पहिचान कर अपने में अपनापन स्थापित करना है और अच्छे-बुरे का निर्णय हम अपने राग के अनुसार करते हैं। ध्यान रहे, राग चारित्र गुण की विकारी पर्याय है।

इस जगत में कोई भी वस्तु अच्छी-बुरी नहीं हैं। उनमें अच्छे-बुरे का निर्णय हम अपने रागानुसार ही करते हैं। रंग न गोरा अच्छा होता है न साँवला, जिसके मन जो भा जाय, उसके लिए वही अच्छा है। हम गोरे रंग के लिए तरसते हैं और गोरी चमड़ी वाले यूरोपियन घंटों नंगे बदन धूप में इसलिए पड़े रहते हैं कि उनका रंग थोड़ा-बहुत हम जैसा साँवला हो जावे।

दूसरों की बात जाने भी दें, हम स्वयं अपना चेहरा गोरा और बाल काले पसन्द करते हैं। जरा विचार तो करो, यदि चेहरे जैसे बाल और बालों जैसा चेहरा हो जावे तो क्या हो? तात्पर्य यह है कि जगत में कुछ भी अच्छा-बुरा नहीं है। अच्छे-बुरे की कल्पना हम स्वयं अपने रागानुसार ही करते हैं।

इस जगत में न अच्छे की कीमत है न सच्चे की, अपनापन ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है; क्योंकि सर्वस्व-समर्पण अपनों के प्रति ही होता है। यही कारण है कि मुक्ति के मार्ग में सर्वाधिक महत्वपूर्ण श्रद्धा गुण है, श्रद्धा गुण की निर्मल पर्याय सम्यग्दर्शन है।

पर और पर्याय से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना ही सम्यग्दर्शन है, निज भगवान आत्मा को निज जानना ही सम्यग्ज्ञान है और निज भगवान आत्मा में ही जमना-रमना सम्यक्-चारित्र है।

यहाँ आप कह सकते हैं कि विद्वानों का काम तो सच्चाई और अच्छाई की कीमत बताना है और आप कह रहे हैं कि इस जगत में न सच्चाई की कीमत है और न अच्छाई की।

भाई, हम क्या कह रहे हैं, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

एक करोड़पति सेठ था। उसका एक इकलौता बेटा था।

"कैसा?"

"जैसे कि करोड़पतियों के होते हैं, सातों व्यसनों में पारंगत।"

उसके पड़ोस में एक गरीब व्यक्ति रहता था। उसका भी एक बेटा था।

"कैसा?"

"जैसा कि सेठ अपने बेटे को चाहता था, सर्वगुणसम्पन्न, पढ़ने-लिखने में होशियार, व्यसनों से दूर, सदाचारी, विनयशील।"

सेठ रोज सुबह उठता तो पड़ोसी के बेटे की भगवान जैसी स्तुति करता और अपने बेटे को हजार गालियाँ देता। कहता है –"देखो वह कितना होशियार है, प्रतिदिन प्रातःकाल मन्दिर जाता है, समय पर सोकर उठता है और एक तू है कि अभी तक सो रहा है। अरे नालायक! मेरे घर में पैदा हो गया है, सो गुलछर्रे उड़ा रहा है, कहीं और पैदा होता तो भूखों मरता, भूखों.....। अरे अभागे.....।"

बीच में ही बात काटते हुए पुत्र कहता–"पिताजी, और चाहे जो कुछ कहो, पर अभागा नहीं

कह सकते।"

"क्यों?"

"क्योंकि, जिसे आप जैसा कमाऊ बाप मिला हो, वह अभागा कैसे हो सकता है? अभागे तो आप हैं, जिसे मुझ जैसा गमाऊ बेटा मिला है।"

एक दिन पड़ौसी का बेटा स्कूल नहीं गया। उसे घर पर देखकर सेठ ने कहा–"बेटा ! आज स्कूल क्यों नही गये?

बच्चे ने उत्तर दिया–"मास्टरजी कहते हैं कि स्कूल में ड्रेस पहिनकर आओ और पुस्तकें लेकर आओ। मैं पापा से कहता हूँ तो उत्तर मिलता है कि कल ला देंगे, पर उनका कल कभी आता ही नहीं है, आज एक माह हो गया। अतः आज मैं स्कूल ही नहीं गया हूँ।"

पुचकारते हुए सेठ बोला–"बेटा चिन्ता की कोई बात नहीं। अपना वो नालायक पप्पू है न। वह हर माह नई ड्रेस सिलाता है और पुरानी फेंक देता है। पुस्तकें भी हर माह फाड़ता है और नई खरीद लाता है। बहुत-सी ड्रेसें और पुस्तकें पड़ी हैं। ले जावो।"

अब जरा विचार कीजिए, सेठ जिसकी भगवान जैसी स्तुति करता है, उसे अपने नालायक बेटे के उतारन के कपड़े और फटी पुस्तकें देने का भाव आता है और अपने उस नालायक बेटे को करोड़ों की सम्पत्ति दे जाने का पक्का विचार है। कभी स्वप्न में भी यह विचार नहीं आया कि थोड़ी-बहुत किसी और को भी दे दूँ।

अब आप ही बतायइये कि जगत में अपने की कीमत है या अच्छे की, सच्चे की? अच्छा और सच्चा तो पड़ौसी का बेटा है, पर वह अपना नहीं; अतः उसके प्रति राग भी सीमित ही है, असीम नहीं। अपना बेटा यद्यपि अच्छा भी नहीं है, सच्चा भी नहीं है; पर अपना है; अपना होने से उससे राग भी असीम है, अनन्त है।

इससे सिद्ध होता है कि अपनापन ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

आज तक इस आत्मा ने देहादि पर-पदार्थों में ही अपनापन मान रखा है। अतः उन्हीं की सेवा में सम्पूर्णतः समर्पित है। निज भगवान आत्मा में एक क्षण को भी अपनापन नहीं आया; यही कारण है कि उसकी अनन्त उपेक्षा हो रही है। देह की संभाल में हम चौबीसों घंटे समर्पित हैं और भगवान आत्मा के लिए हमारे पास सही मायनों में एक क्षण भी नहीं है। भगवान आत्मा अनन्त उपेक्षा का शिकार होकर सौतेला बेटा बनकर रह गया है।

हम इस जड़ नश्वर शरीर के प्रति जितने सतर्क रहते हैं, उसके सहस्रांश भी आत्मा के प्रति हमारी सतर्कता दिखाई नहीं देती।

यदि यह जड़ शरीर अस्वस्थ हो जावे तो हम डॉक्टर के पास दौड़े-दौड़े जाते हैं; जो वह कहता है, उसे अक्षरशः स्वीकार करते हैं; वह कहता है, वैसे ही चलने को निरन्तर तत्पर रहते हैं; उससे किसी प्रकार का तर्क-वितर्क नहीं करते। यदि वह कहता है कि तुम्हें कैंसर है तो बिना मीन-मेख किये स्वीकार कर लेते हैं। वह कहे ऑपरेशन अतिशीघ्र होना चाहिए और एक लाख रुपये खर्च होंगे, तो हम कुछ भी आना-कानी नहीं करते, मकान बेचकर भी भरपूर सीजन के समय ऑपरेशन कराने को तैयार रहते हैं। डॉक्टर की भरपूर विनय करते हैं, लाखों रुपये देकर भी उनका आजीवन एहसान मानते हैं। पर जब आत्मा का डॉक्टर बताता है कि आपको मिथ्यात्व का भंयकर कैंसर हो गया है, उसका शीघ्र इलाज होना चाहिए तो उसकी बात पर एक तो हम ध्यान ही नहीं देते और देते भी हैं तो हजार बहाने बनाते हैं। प्रवचन का समय अनुकूल नहीं है, हम बहुत दूर रहते हैं, काम के दिनों (वीकडेज) में कैसे आ सकते हैं? न मालूम कितने बहाने खड़े कर देते हैं।

आखिर शरीर के इलाज की इतनी अपेक्षा और आत्मा के इलाज की इतनी उपेक्षा क्यों? इसका एकमात्र कारण शरीर में अपनापन और भगवान आत्मा में परायापन ही तो है। जब तक शरीर से अपनापन टूटेगा नहीं और भगवान आत्मा में अपनापन आएगा नहीं, तब तक शरीर की उपेक्षा और भगवान आत्मा के प्रति सर्वस्व समर्पण संभव नहीं है। यदि हमें आत्मदर्शन करना है, सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है तो देह के प्रति एकत्व तोड़ना ही होगा, आत्मा में एकत्व स्थापित करना ही होगा।

देह के भिन्नता एवं आत्मा में अपनापन स्थापित करने के लिए देह की मलिनता और आत्मा की महानता के गीत गाने से काम नहीं चलेगा, देह के परायेपन और आत्मा के अपनेपन पर गहराई से मंथन करना होगा।

"पल रुधिर राध मल थैली, कीकस बसादि तैं मैली।
नव द्वार बहें घिनकारी, अस देह करे किम यारी॥

कफ और चर्बी आदि से मैली यह देह मांस, खून, पीप आदि मलों की थैली है। इसमें नाक, कान, आँख नौ दरवाजे हैं; जिनसे निरन्तर घृणास्पद पदार्थ बहते रहते हैं। हे आत्मन्! तू इस प्रकार की घिनावनी देह से यारी क्यों करता है?"

"इस देह के संयोग में, जो वस्तु पलभर आयगी।
वह भी मलिन मल-मूत्रमय, दुर्गन्धमय हो जायगी॥

किन्तु रह इस देह में, निर्मल रहा जो आतमा।
वह ज्ञेय है श्रद्धेय है, बस ध्येय भी वह आतमा॥''

इस देह की अपवित्रता की बात कहाँ तक कहें? इसके संयोग में जो वस्तु एक पल भर के लिए ही क्यों न आये, वह भी मलिन हो जाती है, मल-मूत्रमय हो जाती है, दुर्गन्धमय हो जाती है। सब पदार्थों को पवित्र कर देनेवाला जल भी इसका संयोग पाकर अपवित्र हो जाता है। कुएँ के प्रासुक जल और अठपहरे शुद्ध घी में मर्यादित आटे से बना हलुआ भी क्षणभर को पेट में चला जावे और तत्काल वमन हो जावे तो उसे कोई देखना भी पसंद नहीं करता। ऐसी अपवित्र है यह देह और इसमें रहने वाला भगवान आत्मा परमपवित्र पदार्थ है।

''आनन्द का रसकन्द सागर शान्ति का निज आतमा।
सब द्रव्य जड़ पर ज्ञान का घनपिण्ड केवल आतमा॥

यह परम पवित्र भगवान आत्मा आनन्द का रसकंद, ज्ञान का घनपिण्ड, शान्ति का सागर, गुणों का गोदाम और अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है।

इस प्रकार हमने देह की अपवित्रता तथा भगवान आत्मा की पवित्रता और महानता पर बहुत विचार किया है, पढ़ा है, सुना है; पर देह से हमारा ममत्व रंचमात्र भी कम नहीं हुआ और आत्मा में रंचमात्र भी अपनापन नहीं आया। परिणामस्वरूप हम वहीं के वहीं खड़े, एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाये हैं।

देह के अपनापन नहीं टूटने से राग भी नहीं टूटता; क्योंकि जो अपना है, वह कैसा भी क्यों न हो, उसे कैसे छोड़ा जा सकता? इसी प्रकार आत्मा में अपनापन स्थापित हुए बिना उससे अंतरंग स्नेह भी नहीं उमड़ता है। अतः हमारे चिन्तन का बिन्दु आत्मा का अपनापन और देह का परायापन होना चाहिए। इसी से आत्मा में एकत्व स्थापित होगा, देह से भिन्नता भासित होगी।

निज भगवान आत्मा में अपनापन ही सम्यग्दर्शन है और निज भगवान आत्मा से भिन्न देहादि पदार्थों में अपनापन ही मिथ्यादर्शन है।

अपनेपन की महिमा अद्भुत है। अपनेपन के साथ अभूतपूर्व उल्लसित परिणाम उत्पन्न होता है। आप प्लेन में बैठे विदेश जा रहे हों; हजारों विदेशियों के बीच किसी भारतीय को देखकर आपका मन उल्लसित हो उठता है। जब आप उससे पूछते हैं कि आप कहाँ से आये हैं ? तब वह यदि उसी नगर का नाम ले दे, जिस नगर के आप हैं तो आपका उल्लास द्विगुणित हो जाता है। यदि वह आपकी ही जाति का निकले तो फिर कहना की क्या? यदि वह दूसरी जाति, दूसरे नगर या

दूसरे देश का निकले तो उत्साह ठंडा पड़ जाता है। इस उल्लास और ठंडेपन का एकमात्र कारण अपनेपन और परायेपन की अनुभूति ही तो है। अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है; यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा-अधर्म है।

अपने में से अपनापन खो जाना ही अनन्त दुःखों का कारण है और अपने में अपनापन हो जाना ही अनन्त सुख का कारण है। अनादिकाल से यह आत्मा अपने को भूलकर ही अनन्त दुःख उठा रहा है और अपने को जानकर, पहिचानकर, अपने में ही जमकर, रमकर, अनन्तसुखी हो सकता है।

दुःखों से मुक्ति के मार्ग में अपने में अपनापन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

एक सेठ था और उसका एक दो-ढाई वर्ष का इकलौता बेटा। घर के सामने खेलते-खेलते वह कुछ आगे बढ़ गया। घर की खोज में वह दिग्भ्रमित हो गया और पूर्व के बजाय पश्चिम की ओर बढ़ गया। बहुत खोजने पर भी उसे अपना घर नहीं मिला। घरवालों ने भी बहुत खोज की, पर पार न पड़ी। वह रात उसे गली-कूचों में ही रोते-रोते बितानी पड़ी। प्रातःकाल तक उसकी हालत ही बदल गई थी, कपड़े गंदे हो गये और चेहरा मलिन, दीन-हीन।

बहुत कुछ प्रयत्नों के बाद भी न उसे घर मिला और न घरवालों को वह। भीख मांगकर पेट भरने के अतिरिक्त कोई रास्ता न रहा। थोड़ा बड़ा होने पर लोग कहने लगे – काम क्यों नहीं करता? आखिर एक हलवाई की दुकान पर बर्तन साफ करने का काम करने लगा।

पुत्र के वियोग में सेठ का घर भी अस्त-व्यस्त हो गया था। अब न किसी को खाने-पीने में रस रह गया था और न आमोद-प्रमोद का प्रसंग ही। घर में सदा मातम का वातावरण ही बना रहता। ऐसे घरों में घरेलू नौकर भी नहीं टिकते; क्योंकि वे भी तो हंसी-खुशी के वातावरण में रहना चाहते हैं। अतः उनका चौका-बर्तन करने वाला नौकर भी नौकरी छोड़ कर चला गया था। अतः उन्हें एक घरेलू नौकर की आवश्यकता थी। आखिर उस सेठ ने उसी हलवाई से नौकर की व्यवस्था करने को कहा और वह सात-आठ साल का बालक अपने ही घर में नौकर बन कर आ गया।

अब माँ बेटे के सामने थी और बेटा माँ के सामने; पर माँ बेटे के वियोग में दुःखी थी और बेटा माँ-बाप के वियोग में। माँ भोजन करने बैठती तो मुँह में कौर ही नहीं दिया जाता, बेटे को याद कर-करके रोती-बिलखती हुई कहती–

"न जाने मेरा बेटा कहाँ होगा, कैसी हालत में होगा? होगा भी या नहीं? या किसी के यहाँ चौका-बर्तन कर रहा होगा?"

वहीं खड़ा बेटा एक रोटी माँगता तो झिड़क देती–

"जा अभी काम कर, बचेगी तो फिर दूँगी। काम तो करता नहीं और बार-बार रोटी माँगने आ जाता है।"

उसी बेटे के लिए रोती-बिलखती और उसे ही रोटी माँगने पर झिड़कती। क्या है यह सब? आखिर वह माँ दुःखी क्यों है?

क्या कहा, बेटे के अभाव में?

बेटा तो सामने है। बेटे के अभाव में नहीं, बेटे में अपनेपन के अभाव में ही वह माँ परेशान हो रही है, दुःखी हो रही है।

उसका बेटा नहीं खोया है, बेटा तो सामने है, बेटे की पहिचान खो गई है, बेटे में अपनापन खो गया है। मात्र पहिचान खो जाने, अपनापन खो जाने का ही यह दुष्परिणाम है कि वह अनन्त दुःख के समुद्र में डूब गई है, उसकी सम्पूर्ण सुख-शान्ति समाप्त हो गई है।

उसे सुखी होने के लिए बेटे को नहीं खोजना, उसमें अपनापन खोजना है।

एक दिन पड़ोसिन ने कहा–"अम्माजी ! एक बात कहूँ, बुरा न मानना यह लड़का अभी बहुत छोटा है, इससे काम कम लिया करें और खाना भी थोड़ा अच्छा दिया करें, समय पर दिया करें।"

सेठानी एकदम क्रोधित होती हुई बोली–"क्या कहती हो? यह काम करता ही क्या है? दिन भर पड़ा रहता है और खाता भी कितना है? तुम्हें क्या पता-दिन भर चरता ही रहता है।"

बहुत कुछ समझाने पर भी वह सेठानी यह मानने को तैयार ही नहीं होती कि बच्चे के साथ कुछ दुर्व्यवहार किया जा रहा है। क्या है – इस सबका कारण? एकमात्र अपनेपन का अभाव।

कहते हैं – मातायें बहुत अच्छी होती हैं। होती होंगी, पर मात्र अपने बच्चों के लिए, पराये बच्चों के साथ उनका व्यवहार देखकर तो शर्म से माथा झुक जाता है। यह सभी माताओं की बात नहीं है; पर जो ऐसी हैं, उन्हें अपने व्यवहार पर एक बार अवश्य विचार करना चाहिए।

एक बार एक दूसरी पड़ोसिन ने बड़े ही संकोच के साथ कहा –

"अम्माजी ! मेरे मन में एक बात बहुत दिनों से आ रही है, आप नाराज न हों तो कहूँ ? बात यह है कि यह नौकर शकल से और अकल से सब बातों में अपना पप्पू जैसा ही लगता है। वैसा ही

गोरा-भूरा, वैसे ही घुंघराले, बाल; सब-कुछ वैसा ही तो है, कुछ भी तो अन्तर नहीं और यदि आज वह होता तो होता भी इतना ही बड़ा।''

उसकी बात सुनकर सेठानीजी उल्लसित हो उठी, उसके लाड़ले बेटे की चर्चा जो हो रही थी, कहने लगी – ''लगता तो मुझे भी ऐसा ही है। इसे देखकर मुझे अपने बेटे की और अधिक याद आ जाती है। ऐसा लगता है, जैसे यह मेरा ही बेटा हो।''

सेठानी की बात सुनकर उत्साहित होती हुई पड़ोसिन बोली–''अम्माजी ! अपने पप्पू को खोये आज आठ वर्ष हो गये हैं, अब तक तो मिला नहीं; और न अब मिलने की आशा है। उसके वियोग में कब तक दुःखी होती रहोगी? मेरी बात मानो तो आप इसे ही गोद क्यों नहीं ले लेती?

उसने इतना ही कहा था कि सेठानी तमतमा उठी–

''क्या बकती है, न मालूम किस कुजात का होगा यह ?

सेठानी के इस व्यवहार का एकमात्र कारण बेटे में अपनेपन का अभाव ही तो है। वैसे तो वह बेटा उसी का है, पर उसमें अपनापन नहीं होने से उसके प्रति व्यवहार बदलता नहीं है।

अपना होने से क्या होता है? जब तक अपनापन न हो, तब तक अपने होने का कोई लाभ नहीं मिलता। यहाँ अपने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण अपनापन है।

भाई, यही हालत हमारे भगवान आत्मा की हो रही है। यद्यपि वह अपना ही है, अपना ही क्या, अपन स्वयं ही भगवान आत्मा हैं, पर भगवान आत्मा में अपनापन नहीं होने से उसकी अनन्त उपेक्षा हो रही है, उसके साथ पराये बेटे जैसा व्यवहार हो रहा है। वह अपने ही घर में नौकर बन कर रह गया है।

यही कारण है कि आत्मा की सुध-बुध लेने की अनन्त प्रेरणायें भी कारगर नहीं हो रही हैं, अपनापन आये बिना कारगर होंगी भी नहीं। इसलिए जैसे भी संभव हो, अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करना ही एकमात्र कर्तव्य है, धर्म है।

इसी प्रकार चलते-चलते वह लड़का अठारह वर्ष का हो गया। एक दिन इस बात का कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध हो गया कि वह लड़का उन्हीं सेठजी का है। उक्त सेठानी को भी यह विश्वास हो गया कि वह सचमुच उसका लाड़ला बेटा है।

अब आप बताये – अब क्या होगा?

होगा क्या? वह सेठानी जोर-जोर से रोने लगी। सेठजी ने समझाते हुए कहा–

"अब क्यों रोती है ? अब तो हँसने का समय आ गया है, अब तो तुझे तेरा पुत्र मिल गया है।"

रोते-रोते ही सेठानी बोली–"मेरे बेटे का बचपन बर्तन मलते-मलते यो ही अनन्त कष्टों में निकल गया है, न वह पढ़-लिख पाया है, न खेल-खा पाया।

हाय राम ! मेरे ही आँखों के सामने उसने अनन्त कष्ट भोगे हैं, न मैंने उसे ढंग का खाना ही दिया और न पलभर निश्चिंत हो आराम ही करने दिया, जब देखो तब काम में ही लगाये रखा।"

जो सेठानी इस बात को स्वीकार करने को कतई तैयार न थी कि वह उस बालक से बहुत काम कराती है और खाना भी ढंग का नहीं देती है, वही अब इकबालिया बयान दे रही है कि मैंने बहुत काम कराया है और खाना भी ढंग का नहीं दिया।

यह सब अपनेपन का ही माहात्मय है। अब क्या उसे यह समझाने की आवश्यकता है कि जरा काम कम लिया करें और खाना भी अच्छा दिया करें। अब काम का तो कोई सवाल ही नहीं रह गया है और खाने की भी क्या बात है, अब तो उसकी सेवा में सब कुछ हाजिर है। व्यवहार में इस परिवर्तन का एक मात्र कारण अपनेपन की पहिचान है, अपनेपन की भावना है।

इसी प्रकार जब तक निज भगवान आत्मा में अपना अपनापन स्थापित नहीं होगा, तब तक उसके प्रति अपनेपन का व्यवहार भी संभव नहीं है।

इन देहादि परपदार्थों से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होना ही एक अभूतपूर्व अद्भुत क्रान्ति है, धर्म का आरम्भ है, सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्चारित्र है, साक्षात् मोक्ष का मार्ग है, भगवान बनने, समस्त दुःखों को दूर करने और अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है। **(इसके लेखक डा. हुकमचन्द भारिल्ल हैं – आभार)**

जगत के छह द्रव्यों में जीव द्रव्य महान है, जीवों में भी पंचपरमेष्ठी महान हैं, पंचपरमेष्ठी में भी सिद्ध महान हैं, इसलिये उन्हें भजो; किन्तु अरे ! वह सिद्ध पद प्रगट होने की शक्ति तो अन्तरंग में नित्य प्रत्यक्ष ऐसे शुद्ध-आत्मस्वभाव में भरी है; इसलिये अपने शुद्ध-आत्मस्वभाव का ही भजन करो – ऐसा सन्तों का उपदेश है। श्रीप्रवचनसार की टीका में जयसेनाचार्य कहते हैं कि – **"पंचास्तिकाय में जीवास्तिकाय उपादेय है; उसमें भी पंचपरमेष्ठी उपादेय हैं, उन पंचपरमेष्ठी में भी अर्हंत और सिद्ध उपादेय हैं, उनमें भी सिद्ध उपादेय हैं; और वस्तुत: (परमार्थत:) रागादि रहित अन्तर्मुख होकर, सिद्ध जीवों के सदृश परिणमित स्वकीय आत्मा ही उपादेय है।**

– ज्ञानदीपिका से साभार

अपनी खोज

अपने में अपनापन ही धर्म और पर में अपनापन ही अधर्म है; इसलिए ज्ञानी धर्मात्मा निरन्तर इस प्रकार की भावना भाते रहते हैं कि –

मोहादि मेरे कुछ नहीं, मैं एक हूँ उपयोगमय।
है मोह-निर्ममता यही, वे कहें जो जाने समय॥
धर्मादि मेरे कुछ नहीं, मैं एक हूँ उपयोगमय।
है धर्म निर्ममता यही, वे कहें जो जाने समय॥
मैं एक दर्शन-ज्ञानमय, नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं।
ये अन्य सब परद्रव्य, किंचित् मात्र भी मेरे नहीं॥[1]

धर्मादि परद्रव्यों एवं मोहादि विकारीभावों में से अपनापन छोड़कर उपयोगस्वरूपी शुद्ध निज भगवान आत्मा में अपनेपन की दृढ़ भावना ही धर्म है, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति का मार्ग है; अतः निज भगवान आत्मा को जानने-पहिचानने का यत्न करना चाहिए और निज भगवान आत्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न : हम तो बहुत प्रयत्न करते हैं, पर वह भगवान आत्मा हमें प्राप्त क्यों नहीं होता?

उत्तर : भगवान आत्मा की प्राप्ति के लिए जैसा और जितना प्रयत्न करना चाहिए; यदि वैसा और उतना प्रयत्न करें तो भगवान आत्मा की प्राप्ति अवश्य ही होती है। सच्ची बात तो यह है कि भगवान आत्मा की प्राप्ति की जैसी तड़फ पैदा होनी चाहिए; अभी हमें वैसी तड़फ ही पैदा नहीं हुई है। यदि अन्तर की गहराई से वैसी तड़फ पैदा हो जावे तो फिर भगवान आत्मा की प्राप्ति में देर ही न लगे।

भगवान आत्मा की प्राप्ति की तड़फवाले व्यक्ति की स्थिति कैसी होती है? इसे हम उस बालक के उदाहरण से अच्छी तरह समझ सकते हैं कि जिसकी माँ मेले में खो गई हो।

एक पाँच वर्ष का बालक माँ के साथ मेला देखने गया था। मेले की अपार भीड़ में वे दोनों बिछुड़ गये। एक पुलिस चौकी पर माँ पहुँची और उसने बेटा खोने की रिपोर्ट लिखाई; दूसरी पुलिस चौकी पर बेटा पहुँचा और उसने माँ के खोने की रिर्पोर्ट लिखाना चाही। पर उसकी रिर्पोर्ट को सही रूप में कोई लिखता ही नहीं है।

१. समयसार पद्यानुवाद, गाथा-३६ से ३८

इन्सपेक्टर ने काँस्टेबल से पूछा – "कौन है?"

काँस्टेबल ने उत्तर दिया –"एक खोया हुआ बालक आया है।"

बालक ने बीच में ही टोकते हुए कहा –"इन्सपेक्टर साहब मैं नहीं, मेरी माँ खोई है; मैं तो आपके सामने ही खड़ा हूँ।"

डपटते हुए काँस्टेबल बोला –"चुप रह, कहीं माँ भी खोती है? खोते तो बच्चे ही हैं।"

आखिर उन्होंने यही रिपोर्ट लिखी की एक खोया हुआ बालक आया है। जो भी हो; अब बालक से पूछताछ आरम्भ होती है।

"क्यों भाई, तुम्हारा नाम क्या है?"

'पप्पू'

"तुम्हारी माँ का क्या नाम है?"

'मम्मी'

"तुम रहते कहाँ हो?"

"अपने घर में"

बालक के ऐसे उत्तर सुनकर पुलिसवाले आपस में कहते हैं कि जब यह बालक अपनी माँ को पहिचानता ही नहीं है। उसका नाम तक भी नहीं जानता है तो इसकी माँ को कैसे खोजा जाए?

उनकी बातें सुनकर बालक सोचता है कि जिस नाम से मैं माँ को रोजाना बुलाता हूँ, क्या वह नाम, नाम ही नहीं है? मम्मी कहकर जब भी बुलाता हूँ, माँ हाजिर हो जाती है; फिर भी ये लोग कहते हैं कि मैं माँ का नाम भी नहीं जानता।

बालक यह सोच ही रहा था कि पुलिसवाला फिर पूछने लगता है–"तेरी माँ मोटी है या पतली है, गोरी या काली, लम्बी या ठिगनी?"

बालक ने तो कभी सोचा भी न था माताएँ भी छह प्रकार की होती हैं, उसने तो अपनी माँ को कभी इन रूपों में देखा ही न था। उसने तो माँ का माँपन ही देखा था, रूप-रंग नहीं, कद भी नहीं। वह कैसे बताये कि उसकी माँ गोरी है या काली, लम्बी है या ठिगनी, मोटी या पतली है?

ये तो सापेक्ष स्थितियाँ हैं।

दूसरों से तुलना करने पर ही किसी को गोरा या काला कहा जा सकता है, लम्बा या ठिगना कहा जा सकता है, मोटा या पतला कहा जा सकता है।

मैं आपसे ही पूछता हूँ कि मैं गोरा हूँ या काला, लम्बा हूँ या ठिगना, मोटा हूँ या पतला?

मैं तो जैसा हूँ, वैसा ही हूँ, न गोरा हूँ, न काला हूँ, न लम्बा हूँ , न ठिगना हूँ और न मोटा ही हूँ, न पतला ही। मेरे बगल में एक अंग्रेज को खड़ा कर दें तो उसकी अपेक्षा मुझे काला कहा जा सकता है, किसी अफ्रीकन को खड़ा कर दें तो गोरा भी कहा जा सकता है; किसी ठिगने आदमी को खड़ा कर दो तो लम्बा कहा जा सकता है और मुझसे भी लम्बे आदमी को खड़ा कर दो तो ठिगना भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार किसी मोटे आदमी को खड़ा कर दो तो मुझे पतला कहा जा सकता है और मुझसे भी पतले आदमी को खड़ा कर दो तो मोटा भी कहा जा सकता है।

मैं किसी की अपेक्षा भले ही मोटा-पतला या गोरा-काला हो सकता हूँ, पर निरपेक्षपने तो जैसा हूँ, वैसा हूँ।

उसने अपनी माँ की तुलना किसी दूसरे से की ही न थी। अतः वह कैसे बताये कि उसकी माँ कैसी है?

उसके निरुत्तर रहने पर पुलिसवाले कहते हैं कि वह तो अपनी माँ को पहिचानता ही नहीं है, पर क्या बात सच है? क्या वह बालक अपनी माँ को पहिचानता नहीं है?

पहिचानना अलग बात है और पहिचान को भाषा देना अलग। हो सकता कि वह अपने भावों को व्यक्त नहीं कर सकता हो, पर पहिचानता ही न हो – यह बात नहीं है; क्योंकि यदि उसकी माँ उसके सामने आ जावे तो वह एक क्षण में पहिचान लेगा।

एक बीमा एजेन्ट ने कुछ वर्ष पूर्व उसकी माँ का एक बीमा करवाया था। अतः उसकी डायरी में सब-कुछ नोट है कि उसकी लम्बाई कितनी है, वजन कितना है, कमर कितनी है और सीना कितना है।

अतः वह यह सब-कुछ बता सकता है, पर उसके सामने वह माँ आ जाये तो पहिचान न पावेगा। यदि पूछा जाय तो डायरी निकाल कर देखेगा और फीता निकाल कर नापने की कोशिश करेगा; पर सब बेकार है; क्योंकि जब उसने नाप लिया था, तब सीना ३६ इंच था और कमर ३२ इंच, पर आज सीना ३२ इंच रह गया होगा और कमर ३६ इंच हो गई होगी।

इसी प्रकार शास्त्रों में पढ़कर आत्मा की नाम्-जोख करना अलग बात है और आत्मा का अनुभव करके पहिचानना, उसमें अपनापन स्थापित करना अलग बात है।

जो भी हो, जब बालक कुछ भी न बता सका तो पुलिसवालों ने बालक को एक ऐसे स्थान पर खड़ा कर दिया, जहाँ से मेले में आने वाली सभी महिलायें निकलती थीं। बालक की सुरक्षा के लिए एक पुलिसवाले को भी साथ में खड़ा कर दिया और बालक से कहा–

"यहाँ से निकलनेवाली प्रत्येक महिला को ध्यान से देखो और अपनी माँ को खोजो।"

इससे एक ही बात फलित होती है कि बालक को अपनी माँ स्वयं ही खोजनी होगी, किसी का कोई विशेष सहयोग मिलनेवाला नहीं; पुलिसवालों का भी नहीं।

इसी प्रकार प्रत्येक आत्मार्थी को अपने आत्मा की खोज स्वयं ही करनी होगी, किसी दूसरे के भरोसे कुछ होने वाला नहीं है, गुरु के भरोसे रहने पर भी आत्मा मिलनेवाला नहीं है। **'अपनी मदद आप करो'** – यही महासिद्धान्त है।

किसी भी महिला के वहाँ से निकलने पर पुलिसवाला पूछता – "क्या यही तेरी माँ है?"

बालक उत्तर देता – 'नहीं'

ऐसा दो-चार बार होने पर पुलिसवाला चिढ़चिढ़ाने लगा और बोला–

"क्या नहीं-नहीं करता है, जरा अच्छी तरह देख।"

क्या माँ को पहिचानने के लिए भी अच्छी तरह देखना होता है, वह तो पहली दृष्टि में ही पहिचान ली जाती है, पर पुलिसवाले को कौन समझाये?

पुलिसवाले की झल्लाहट एवं डाट-डपट से बालक, जो माँ नहीं है, उसे माँ तो कह नहीं सकता; यदि डर के मारे कह भी दे, तो भी उसे माँ मिल तो नहीं सकती; क्योंकि उस माँ को भी तो स्वीकार करना चाहिए कि यह बालक मेरा है। यदि कारणवश माँ भी झूठ-मूठ कह दे कि हाँ यह बालक मेरा ही है। पर उससे वह बालक उसका हो तो नहीं जायेगा।

आप कह सकते हैं कि वह महिला भी ऐसा क्यों कहेगी? पर मैं कहता हूँ – कह सकती है, बाँझ हो तो बालक के लोभ में कह सकती है और पुलिसवाले तो किसी से भी कुछ भी कहला सकते हैं। क्या आप यह नहीं जानते? पर बात यह है कि इतने मात्र से माँ को बालक और बालक को अपनी माँ तो नहीं मिल जावेगी।

इसीप्रकार गुरु बार-बार समझायें और समझ में न आने पर हमें भला-बुरा कहने लगें तो हम भय से, इज्जत जाने के भय से कह सकते हैं कि हाँ समझ में आ गया, पर इतना कहने मात्र से तो कार्य चलनेवाला नहीं है।

इज्जतवाले सेठ ने गुरुजी से पूछा – "भगवान! आत्मा कैसा है और कैसे प्राप्त होता है?"

गुरुजी ने पाँच मिनट समझाया और पूछा –

"आया समझ में?"

सेठ ने विनयपूर्वक उत्तर दिया – "नहीं गुरुजी"

गुरुजी ने पाँच मिनट और समझाया और फिर पूछा –

"अब आया?"

"नहीं" उत्तर मिलने पर व्याकुलता से गुरुजी फिर समझाने लगे, उदाहरण देकर समझाया और फिर पूछा "अब तो आया नहीं?"

'नहीं' उत्तर मिलने पर झल्लाकर बोले –

"माथे में कुछ है भी या गोबर भरा है?"

घबराकर सेठजी बोले – "अब समझ में आ गया"

इज्जतवाले थे न, इज्जत जाती दिखी तो बिना समझ में आये ही कह दिया, पर बालक तो इज्जतवाला नहीं है न?

अतः वह माँ के मिले बिना कहने वाला नहीं है; क्योंकि उसे इज्जत नहीं, माँ चाहिए। जिन्हें आत्मा से अधिक इज्जत प्यारी है, उन्हें इज्जत ही मिलती है, आत्मा नहीं।

जब बार-बार बालक ना कहता रहा तो पुलिसवाला झल्लाकर बोला – "मैं धूप में क्यों खड़ा रहूँ, माँ तो तुझे ही खोजनी है। अतः मैं वहाँ छाया में बैठा हूँ, तू सभी महिलाओं को देख; जब माँ मिल जावे, तब मुझे बता देना।"

ऐसा कहकर पुलिसवाला दूर छाया में जा बैठा। बालक ने भी राहत की सांस ली; क्योंकि पुलिसवाला कुछ सहयोग तो कर ही नहीं रहा था; व्यर्थ ही टोका-टोकी कर ध्यान को भंग अवश्य कर रहा था।

कम से कम अब उसके चले जाने पर बालक पूरी शक्ति से, स्वतंत्रता से माँ को खोज तो सकता है।

इसीप्रकार जब साधक आत्मा की खोज में गहराई से तत्पर होता है, तब उसे अनावश्यक टोका-टोकी या चर्चा-वार्ता पसन्द नहीं होती; क्योंकि वह उसके ध्यान को भंग करती है।

उस बालक को अपनी माँ की खोज की जैसी तड़प है, आत्मा की खोज की वैसी तड़प हमें भी जगे तो आत्मा मिले बिना नहीं रहे।

वह बालक अच्छी तरह जानता है कि यदि सायं तक माँ नहीं मिली तो क्या होगा? घनी अंधेरी रात उसे पुलिस चौकी की काली कोठरी में अकेले ही बितानी होगी और न मालूम क्या-

क्या बीतेगी उस पर? बात मात्र इतनी ही नहीं है। यदि माँ मिली ही नहीं तो सारा जीवन भीख मांगकर गुजारा करना पड़ सकता है। इसका ख्याल आते ही वह काँप उठता है, सब-कुछ भूलकर अपनी माँ की खोज में संलग्न हो जाता है।

क्या उस बालक के समान हमें भी यह कल्पना है कि यदि जीवन की संध्या तक भगवान आत्मा नहीं मिला तो चार गति और चौरासी लाख योनियों के घने अंधकार में अनन्त काल तक भटकना होगा, अनन्त दुःख भोगने होंगे। यदि हमें इसकी कल्पना होती तो हम यह बहुमूल्य मानवजीवन यों ही विषय-कषाय में बर्बाद नहीं कर रहे होते।

उस बालक से यदि कोई कहे कि बहुत देर हो गई धूप में खड़े-खड़े; जरा इधर आओ, छाया में बैठ जाओ; कुछ खाओ-पिओ, खेलो-कूदो, मन बहलाओ; फिर खोज लेना अपनी माँ को, क्या जल्दी है अभी; अभी तो बहुत दिन बाकी है।

तो क्या वह बालक उसकी बात सुनेगा, शान्ति से छाया में बैठेगा, इच्छित वस्तु प्रेम से खायेगा, खेलेगा-कूदेगा, मन बहलायेगा? यदि नहीं तो फिर हम और आप भी यह सब कैसे कर सकते हैं, पर कर रहे हैं; – इससे यही प्रतीत होता है कि हमें आत्मा की प्राप्ति की वैसी तड़प नहीं है, जैसी उस बालक को अपनी माँ की खोज की है। इसलिए मैं कहता हूँ कि आत्मा की प्राप्ति के लिए जैसा और जितना पुरुषार्थ चाहिए, वह नहीं हो रहा है – यही कारण है कि हमें भगवान आत्मा की प्राप्ति नहीं हो रही है।

यह बात भी नहीं है कि वह बालक भूखा ही रहेगा; खायेगा, वह भी खायेगा, पर उसे खाने में कोई रस नहीं होगा। धूप बर्दाश्त न होने पर थोड़े समय को छाया में भी बैठ सकता है, पर ध्यान उसका माँ की खोज में ही रहेगा। खेलने-कूदने और मनोरंजन का तो कोई प्रश्न ही नहीं है।

इसी प्रकार आत्मा का खोजी भी भूखा तो नहीं रहता, पर खाने-पीने में ही जीवन की सार्थकता उसे भासित नहीं होती। यद्यपि वह स्वास्थ्य के अनुरूप ही भोजन करेगा, पर अभक्ष्य-भक्षण करने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। कमजोरी के कारण वह अनेक सुविधाओं के बीच भी रह सकता है, पर उसका ध्यान सदा आत्मा की ओर ही रहता है। खेलने-कूदने और मनोरंजन में मनुष्य भव खराब करने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

जब माँ की खोज में व्यस्त बालक का मन खेल-कूद और मनोरंजन में नहीं लगता; तब आत्मा के खोजी को यह सब कैसे सुहा सकता है?

संयोग तो पुण्य-पापानुसार जैसे होते हैं, वैसे होते हैं, उनमें ही वह अपना जीवन-निर्वाह करता है। यदि पुण्ययोग हुआ तो उसे अधिकतम लौकिक सुविधायें भी उपलब्ध हो सकती हैं, रहने को राजमहल भी मिल सकता है; यद्यपि वह राजमहल में रहेगा, उसे झोंपड़ी में परिवर्तित नहीं करेगा; तथापि वह उन अनुकूल संयोगों में मग्न नहीं होता, उसका अन्तर तो निज भगवान आत्मा की आराधना में ही रत रहता है।

जिस प्रकार संध्या के पूर्व बालक को माँ मिलनी ही चाहिए; उसी प्रकार जीवन संध्या के पूर्व हमें भगवान आत्मा की प्राप्ति होना ही चाहिए – ऐसा दृढ़-संकल्प प्रत्येक आत्मार्थी का होना चाहिए; तभी कुछ हो सकता है।

मानलो मेला प्रातः १० बजे आरंभ हुआ था और शाम को ६ बजे समाप्त होना है। इस प्रकार कुल मेला ८ घंटे का है। मानलो हमारा जीवन भी कुल ८० वर्ष का होगा। इस हिसाब से १० वर्ष का एक घंटा हुआ। मानलो १० बजे हमारा जन्म हुआ तो ११ बजे हम १० वर्ष के हो गये। इसी प्रकार १२ बजे २० वर्ष के, १ बजे ३० वर्ष के, २ बजे ४० वर्ष के, ३ बजे ५० वर्ष के, ४ बजे ६० वर्ष के, ५ बजे ७० वर्ष के और ६ बजे पूरे ८० वर्ष के हो जावेंगे।

दिन के दो बज गये हैं; पर अभी तक माँ नहीं मिली तो वह बालक आकुल-व्याकुल हो उठता है; क्योंकि उसे कल्पना है कि यदि शाम तक माँ न मिली तो उसका क्या होगा?

अरे, भाई ! हमारे तो चार बज गये हैं। चार बज गये हैं अर्थात् हम तो साठ वर्ष के हो गये हैं और अभी तक आत्मा नहीं मिला। ऐसे ही दो घंटे और निकल गये, दस-बीस वर्ष और निकल गये तो फिर क्या होगा हमारा। उस बालक के समान हमें भी इस बात की कल्पना है या नहीं? जरा, एक बार गंभीरता से विचार तो करो।

यह बहुमूल्य जीवन यों ही बीता जा रहा है और हम रंग-राग में ही मस्त हैं; क्या होगा हमारा?

आत्मखोजी की दृष्टि भी उस बालक जैसी ही होना चाहिए। जिसप्रकार वह बालक अपनी माँ की खोज की प्रक्रिया में अनेक महिलाओं को देखता है, पर उसकी दृष्टि किसी भी महिला पर जमती नहीं है। यह पता चलते ही कि यह मेरी माँ नहीं है; वह नजर फेर लेता है; उसी को देखता नहीं रहता। यह नहीं सोचता कि यह मेरी माँ तो नहीं है, पर है तो सुन्दर; किसी न किसी की माँ तो होगी ही; पता चलाओ कि यह किसकी माँ है? – ऐसे विकल्पों में नहीं उलझता, उसके सम्बन्ध में विकल्पों को लम्बाता नहीं है; अपितु तत्काल तत्सम्बन्धी विकल्पों से निवृत्त हो जाता है।

उसीप्रकार आत्मार्थी को भी चाहिए कि वह पर पदार्थों को जानते समय, उनके सम्बन्ध में व्यर्थ ही विकल्पों को लम्बा न करे। जिस प्रयोजन से उनका जानना बना है, उसकी सिद्धि होते ही तत्सम्बन्धी विकल्पों को विराम दे दे; किसी भी प्रयोजनभूत-अप्रयोजनभूत पर पदार्थ को जानकर उसे ही जानते रहना आत्मार्थी का लक्षण नहीं है।

अपनी माँ की खोज करनेवाला बालक किसी अन्य महिला की सुन्दरता पर रीझता नहीं है; उसे तो अपनी माँ चाहिए, दूसरी महिलाओं से उसे क्या उपलब्ध होनेवाला है? अपनी माँ की खोज में व्यस्त बालक के पास दूसरी महिलाओं का सौन्दर्य निरखने का समय ही कहाँ है, उन पर रीझने योग्य मानस ही उसके पास कहाँ है? वह तो अपनी माँ की खोज में ही आकुल-व्याकुल है।

इसीप्रकार पर पदार्थों के अवलोकन से, उन पर रीझने से इस भगवान आत्मा को क्या मिलने वाला है? आत्मार्थी के पास इतना समय भी कहाँ है कि वह दूसरों की सुन्दरता निरखता रहे; किसी आत्मार्थी के पास परपदार्थों पर रीझने योग्य मानस भी कहाँ होता है? वह तो अपनी आत्मा की खोज के लिए ही सम्पूर्णतः समर्पित होता है।

दूसरे की माताओं को जाना तो क्या, नहीं जाना तो क्या? अपनी माँ मिलनी चाहिए। उसी प्रकार दूसरे पदार्थों को जाना तो क्या, नहीं जाना तो क्या; अपनी आत्मा जानने में आना चाहिए, पहिचानने में आना चाहिए, क्योंकि हमें अनन्त आनन्द की प्राप्ति तो निज भगवान आत्मा के जानने से ही होने वाली है। यही कारण है कि जिनागम में स्वद्रव्य के आश्रय से सुगति और परद्रव्य के आश्रय से दुर्गति होना बताया गया है।

जिस प्रकार वह बालक अन्य महिलाओं को जानता तो है, पर उनकी ओर लपकता नहीं है; उनसे लिपटता नहीं है; पर जब उसे अपनी माँ दिख जावेगी तो मात्र उसे जानेगा ही नहीं; उसकी तरफ लपकेगा भी; उससे लिपट भी जावेगा; उसमें तन्मय हो जावेगा, एकमेक हो जावेगा, आनन्दित हो जावेगा।

उसी प्रकार आत्मार्थी आत्मा भी परद्रव्यों को जानते तो हैं, पर उनमें जमते, रमते नहीं हैं; पर जब यह निज भगवान आत्मा उसके ज्ञान का ज्ञेय बनेगा, तब वह उसे भी मात्र जानता ही नहीं रहेगा, अपितु उसी में जम जावेगा, रम जावेगा, उसी में तन्मय हो जावेगा, उसी में अपनापन स्थापित कर लेगा, अनन्त आनन्दमय हो जावेगा।

उसकी यह अतीन्द्रिय आनन्दमय निजावलोकन की दशा ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्चारित्र है, मुक्ति का मार्ग है, सुखी होने का एकमात्र उपाय है, परमात्मा बनने की प्रक्रिया है,

धर्म है; अधिक क्या कहें – **जीवन में करने योग्य एकमात्र कार्य यही है, इसे ही स्वद्रव्य का आश्रय कहते हैं और यही सुगति भी है, बंध का निरोध भी इसी से होता है।**

अच्छा तो अब कल्पना कीजिए कि उस बालक को माँ दिखाई दे गई और उसने उसे अच्छी तरह पहिचान भी लिया कि यही मेरी माँ है तो फिर वह दौड़कर माँ, के पास जायेगा या पुलिसवाले के पास यह सूचना देने कि मेरी माँ मिल गई है। निश्चित रूप से वह माँ के ही पास जायेगा; क्योंकि एक तो वह माँ के वियोग में तड़प रहा था और दूसरे यह भी तो खतरा है कि जब तक वह पुलिस को सूचना देने जाता है तब तक माँ फिर आँखों से ओझल हो गई तो....।

अतः वह तेजी से दौड़कर माँ के पास पहुँचेगा; पहुँचेगा ही नहीं, उससे लिपट जायेगा; माँ और बेटा तन्मय हो जावेंगे, अभेद हो जावेंगे, एकरूप हो जावेंगे।

उसीप्रकार जब इस आत्मा की दृष्टि में निज भगवान आत्मा आता है, तब यह गुरु को या किसी अन्य को यह बताने नहीं दौड़ता कि मुझे आत्मा का अनुभव हो गया है; अपितु निज भगवान आत्मा में ही तन्मय हो जाता है, अपने में ही समा जाता है, एकरूप हो जाता है, अभेद हो जाता है, विकल्पातीत हो जाता है।

जब वह माँ की ओर दौड़ा तो पुलिसवाला भी घबड़ाया और उसके पीछे वह भी दौड़ा। पुलिसवाले की घबराहट का कारण यह था कि यदि बच्चा भी भीड़ में गायब हो गया तो मुश्किल हो जायेगा; क्योंकि उसकी तो रिपोर्ट लिखी हुई है। पुलिस की कस्टडी से बालक का गायब हो जाना उसकी नौकरी जाने का कारण भी बन सकता है।

जब पुलिसवाला वहाँ पहुँचा तो क्या देखता है कि वह बालक किसी अधेड़ महिला से एकमेक हो रहा है, दोनों एक-दूसरे से तन्मय हो रहे हैं।

उन्हें एकाकार देखकर भी अपनी आदत के अनुसार पुलिसवाला घुड़ककर पूछता है – "क्या यही है तेरी माँ?"

क्या अब भी यह पूछने की आवश्यकता थी? उनके इस भावुक सम्मिलन से क्या यह सहज ही स्पष्ट नहीं हो गया था कि ये ही वे बिछुड़े हुए माँ-बेटे हैं, जिनकी एक-दूसरे को तलाश थी। जो इस सम्मिलन के अद्भुत दृश्य को देखकर भी न समझ पाये, उससे कुछ कहने से भी क्या होगा?

उसीप्रकार आत्मानुभवी पुरुष की दशा देखकर भी जो यह न समझ पाये कि यह आत्मानुभवी है, उसे बताने से भी क्या होनेवाला है?

पुलिसवालों की वृत्ति से तो आप परिचित ही हैं, उनसे उलझना ठीक नहीं है; क्योंकि यह बता

देने पर भी कि यही मेरी माँ है, वे यह भी कह सकते हैं कि क्या प्रमाण है इसका? जैसा कि लोक में देखा जाता है कि खोई हुई वस्तु पुलिस कस्टडी में रखी जाती है, केस चलता है, अनेक वस्तुओं में मिलाकर पहिचानना होता है, तब भी मिले तो मिले, न मिले तो न मिले।

मेरी यह घड़ी यहीं पर रह जावे और इसे कोई पुलिस में जमा करा दे तो समझना कि अब मुझे इसका मिलना बहुत कठिन है। केस चलेगा, उसीप्रकार की अनेक घड़ियों में मिलाकर मुझसे पहिचान कराई जावेगी। मैं आपसे ही पूछता हूँ कि एक कम्पनी की एक सी घड़ियों में क्या आप अपनी घड़ी पहिचान सकेंगे? नहीं तो फिर समझ लीजिए कि मेरी घड़ी मिलना कितना दुर्लभ है?

अतः पुलिसवालों से उलझना ठीक नहीं हैं, वे जो पूछें चुपचाप उत्तर देते जावो, इसी में भलाई है; क्योंकि यदि उन्होंने माँ और बेटे दोनों को ही पुलिस कस्टडी में रख दिया तो क्या होगा?

यह जगत भी पुलिसवालों से कम थोड़े ही है, इससे उलझना भी ठीक नहीं है; जगत के लोग यह भी तो पूछ सकते हैं कि क्या प्रमाण है कि तुम ज्ञानी हो; तो क्या ज्ञानीजन फिर इस बात के प्रमाण भी पेश करते फिरेंगे? प्रमाण पेश करने पर उन प्रमाणों की प्रामाणिकता पर संदेह किया जायेगा। अतः ज्ञानीजन इस प्रकार के प्रसंगों में जगत से उलझते नहीं हैं। इसी में सबकी भलाई है।

क्या वह बालक इस बात की घोषणा करता है कि मुझे मेरी माँ मिल गई है। बालक या माँ के खोने पर तो यहाँ-वहाँ तलाश भी की जाती है और समाचार पत्रों में विज्ञापन भी निकाला जाता है, पर मिल जाने पर तो कोई घोषणाएँ नहीं करता, विज्ञापन नहीं निकालता।

इसी प्रकार आत्मा की खोज की प्रक्रिया में तो पूछताछ हो सकती है, होती भी है, होना भी चाहिए; पर आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर घोषणा की आवश्यकता नहीं होती, विज्ञापन की भी आवश्यकता नहीं होती।

खोये हुए लोगों के फोटो तो समाचार-पत्रों में छपे देखे हैं, पर मिले हुए लोगों के फोटो तो आज तक नहीं देखे। यदि कोई छपाये तो यही समझा जाता है कि यह तो स्वयं के सम्पन्न होने के प्रचार का हल्कापन है। इसी प्रकार ज्ञानी होने की घोषणाएँ भी सस्ती लोकप्रियता अर्जित करने की ही वृत्ति है, प्रवृत्ति है।

बालक को माँ मिल गई, इतना ही पर्याप्त है, उसे माँ मिलने का यश नहीं चाहिए; इसी प्रकार ज्ञानियों को तो आत्मा की प्राप्ति ही पर्याप्त लगती है, उन्हें आत्मज्ञानी होने का यश मोहित नहीं करता। बालक को तो माँ का मिलना ही पर्याप्त है, वह तो उसी में मग्न है, अत्यन्त सन्तुष्ट है, पूरी तरह तृप्त है, उसे अन्य कोई वांछा नहीं रहती। इसी प्रकार ज्ञानी धर्मात्माओं को तो आत्मा की

प्राप्ति ही पर्याप्त है, वे तो उसी में मग्न रहते हैं उसी में सन्तुष्ट रहते हैं; उसी में पूरी तरह तृप्त रहते हैं, उन्हें अन्य कोई वांछा नहीं रहती। वे इस बात के लिए लालायित नहीं रहते कि जगत उन्हें ज्ञानी समझे ही।

बालक को माँ मिल गई, बस, वह तो उसमें मग्न है, तृप्त है; पर माँ के सामने एक समस्या है कि बालक के खोने पर उसने एक घोषणा की थी कि जो व्यक्ति बालक को उससे मिलायेगा, खोज लायेगा; उसे वह ५०० रुपये पुरस्कार देगी। अब वह पुरस्कार किसे दिया जाय – पुलिस को, बालक को या माँ को?

पुलिस ने तो कुछ किया ही नहीं, माँ को तो बालक ने ही खोजा है और बालक को माँ ने खोजा है पुलिस तो पुरस्कार पाने योग्य नहीं और माँ पुरस्कार देने वाली है; अब बालक ही शेष रहता है, पर बालक को तो पुरस्कार नहीं, माँ चाहिए थी, जो उसे मिल गई है; अब उसे पुरस्कार में कोई रस नहीं है। वह तो अपनी माँ में ही इतना तृप्त है कि पुरस्कार की ओर उसका लक्ष्य ही नहीं है।

भाई, पुलिस का कोई योगदान ही न हो, यह बात भी नहीं है। आखिर बालक ने अपनी माँ की खोज पुलिस की सुरक्षा में ही की है, पुलिस के मार्गदर्शन में ही की है, यदि पुलिस की सुरक्षा उसे न मिली होती तो बालकों को उड़ाने वाला कोई गिरोह उसे उड़ा ले गया होता।

यदि पुलिसवाले मार्मिक बिन्दु पर उसे खड़ा नहीं करते तो माँ की खोज में बालक यहाँ-वहाँ मारा-मारा फिरता और माँ हाथ न लगती। पुलिस ने उसे ऐसा स्थान बताया कि जहाँ से प्रत्येक महिला का निकलना अनिवार्य-सा ही था, तभी तो उसे माँ मिल सकी।

अतः पुरस्कार पुलिस को ही मिलना चाहिए। इतने श्रम के बावजूद भी पुलिस को पुरस्कार के अतिरिक्त और मिला ही क्या? बालक को तो माँ मिल गई, माँ को बालक मिल गया, पुलिस को क्या मिला? यह पुरस्कार मिल रहा है, सो आप वह भी नहीं देना चाहते – यह ठीक नहीं है।

इसी प्रकार ज्ञानी गुरुओं के संरक्षण और मार्गदर्शन में ही आत्मा की खोज का पुरुषार्थ प्रारम्भ होता है। यदि गुरुओं का संरक्षण न मिले तो यह आत्मा कुगुरुओं के चक्कर में फंसकर जीवन बर्बाद कर सकता है। तथा यदि गुरुओं का सही दिशा-निर्देश न मिले तो अप्रयोजनभूत बातों में ही उलझकर जीवन बर्बाद हो जाता है। अतः आत्मोपलब्धि में गुरुओं के संरक्षण एवं मार्गदर्शन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

गुरुजी अपना कार्य (आत्मोन्मुखी उपयोग) छोड़कर शिष्य का संरक्षण और मार्गदर्शन करते

हैं; उसके बदले में उन्हें श्रेय के अतिरिक्त मिलता ही क्या है? आत्मोपलब्धि करने वाले को तो आत्मा मिल गया, पर गुरुओं को समय की बर्बादी के अतिरिक्त क्या मिला? फिर भी हम उन्हें श्रेय भी न देना चाहें – यह तो न्याय नहीं है। अतः निमित्तरूप में श्रेय तो गुरुओं को ही मिलता है, मिलना भी चाहिए, उपादान निमित्त की यही संधि है, यही सुमेल है।

जिस प्रकार उस बालक ने अपनी माँ की खोज के लिए विश्व की सभी महिलाओं को दो भागों में विभाजित किया। एक भाग में अकेली अपनी माँ को रखा। दूसरे भाग में शेष सभी महिलाओं को रखा।

उसी प्रकार आत्मा की खोज करने वालों को भी विश्व को दो भागों में विभाजित करना आवश्यक है। एक भाग में स्वद्रव्य अर्थात् निज भगवान आत्मा को रखें और दूसरे भाग में परद्रव्य अर्थात् अपने आत्मा को छोड़कर सभी पदार्थ रखे जावें।

जिस प्रकार उस बालक को अपनी माँ की खोज के सन्दर्भ में देखने-जानने योग्य तो सभी महिलायें हैं; पर लिपटने-चिपटने योग्य मात्र अपनी माँ ही है; उसी प्रकार आत्मार्थी के लिए भी देखने-जानने योग्य तो सभी पदार्थ हैं; पर जमने-रमने योग्य निज भगवान आत्मा ही है, रति करने योग्य तो सुगति का कारणरूप स्वद्रव्य ही है, अपनापन स्थापित करने योग्य अपना आत्मा ही है, दुर्गति के कारणरूप परद्रव्य नहीं; इसलिए मोक्षपाहुड़ में कहा गया है –

''परद्रव्य से हो दुर्गति, निज द्रव्य से होती सुगति।
यह जानकर रति करो निज में, अर करो पर से विरति ॥[1]

अपनी माँ को खोजने की जिस प्रकार की धुन-लगन उस बालक को थी, आत्मा की खोज की उसी प्रकार की धुन-लगन आत्मार्थी को होना चाहिए। आत्मार्थी की दृष्टि में स्वद्रव्य अर्थात् निज भगवान आत्मा ही सदा ऊर्ध्वरूप से वर्तना चाहिए। गहरी और सच्ची लगन के बिना जगत में कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता, तब फिर आत्मोपलब्धि भी गहरी और सच्ची लगन के बिना कैसे संभव है?

सभी आत्मार्थी भाई परद्रव्य से विरक्त हो स्वद्रव्य की आराधना कर आत्मोपलब्धि करें और अनन्त सुखी हों- इसी मंगल भावना से विराम लेता हूँ।

(इसके लेखक डा. हुकमचन्द भारिल्ल हैं – आभार)

---

१. मोक्षपाहुड़ पद्यानुवाद, गाथा-१६

सुख का रहस्य

"बहन तितली ! एक बात मेरी समझ में नहीं आती।" – भौंरे ने तितली से कहा।

"कहो क्या भला ?" – तितली बोली।

"वह सामनेवाला गुलाब का फूल है न ! वह तो सदैव हँसता-मुस्कराता खिलता रहता है; परन्तु उसके पासवाला जो सूरजमुखी का फूल है, वह साँझ होते-होते ही मुरझा जाता है, उदास एवं दुःखी हो जाता है। ऐसा क्यों ? क्या कारण है इसका ?" – भौंरे ने पूछा।

"हाँ, बात तो तुम ठीक कहते हो, पर मेरी समझ में भी यह बात नहीं आ रही। क्यों न गुलाब के पास जाकर ही इसका समाधान प्राप्त कर लिया जावे ?" – सोचते हुए तितली ने समाधान सुझाया।

"हाँ, हाँ; यही ठीक रहेगा।" – भौंरे ने कहा और फिर वे दोनों वहाँ से उड़ चले। गुलाब के फूल के पास जाकर उसकी एक टहनी पर बैठ गये।

"गुलाब महाशय ! आपकी खुशी के रहस्य को हम जानना चाहते हैं। क्या कारण है कि काँटों के बीच में रहते हुए भी आप सदा हँसते-मुस्कुराते खिलते रहते हैं ? और वह बेचारा सूरजमुखी का फूल तो साँझ होते-होते ही उदास हो जाता है। कृपया बताइये न ?" – नम्रतापूर्वक तितली ने पूछा।

"जो लोग पर के आश्रय से जीते हैं, परद्रव्यों में अपना सुख खोजते हैं, उन्हें तो उदास होना ही पड़ता है; क्योंकि परद्रव्यों का परिणमन सदैव ही प्राणियों की इच्छाओं के अनुकूल नहीं हुआ करता। परसंयोगों का वियोग तो एक न एक दिन अवश्य होता ही है। इसके विपरीत जो प्राणी स्व के आश्रय से जीते हैं, निज के आश्रय से जीते हैं, वे सदा हँसते-मुस्कराते रहते हैं। उन्हें उदास नहीं होना पड़ता; क्योंकि निजस्वभाव तो सदाकाल ही अनुकूल है, अपने पास ही है, आप स्वयं ही हैं।

सूरजमुखी का फूल सूर्य के आश्रय से जीता है, सूर्य को ही उसने अपना सब कुछ मान रखा है, सूर्य में ही वह अपना सुख खोजता है; इसलिए सूर्य के अस्त होते ही बेचारा उदास हो जाता है। सूर्यास्त के साथ ही उसकी सारी खुशियाँ छिन जाती हैं।

जबकि इसके विपरीत मुझे ही देख लो न ! मैं किसी भी परद्रव्य के आश्रय से अपना सुख नहीं मानता। एकमात्र अपने निज स्वभाव में ही सदाकाल मग्न रहकर अपने स्वयं के ही आनन्दरस का पान करता हूँ; इसलिए सदैव ही हँसता-खिलता-मुस्कराता नजर आता हूँ। मुझे परद्रव्यों का लक्ष्य ही नहीं है, फिर मेरे इर्द-गिर्द काँटे रहें तो भी क्या ? और कोई मेरे रस को चूसे तो भी क्या ? मैं तो सदाकाल अपने आनन्दरस में ही मग्न हूँ। आप चाहें तो आप भी मेरी ही तरह स्वभावसन्मुख होकर, अन्तरोन्मुखी होकर स्वाश्रय से सदाकाल के लिए अपनी उदासी को दूर कर सकते हैं; क्योंकि आप स्वयं भी ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण आत्मतत्त्व हैं। ज्ञान और आनन्द आपके आत्मस्वभाव में कूट-कूट कर भरा हुआ है। आप अपनी तरफ देखिये तो सही, अपने को जानिये तो सही, पहिचानिये तो सही।" जब हँसते-मुस्कराते हुए गुलाब ने जवाब दिया तो भौंरा और तितली आत्मस्वरूप को समझने की प्रेरणा प्राप्त करते हुए प्रसन्न होकर वहाँ से उड़ते हुए चले गये।

(इसके लेखक श्री जयन्ती लाल जैन हैं – आभार)

उपसर्गजयी सुकुमाल

(मंगलाचरण)

वर्धमान हो ज्ञानमय केवलभानु प्रकाश।
वचनामृत का पान कर बुझे भव्य की प्यास॥
देव-शास्त्र-गुरु प्रणम कर शुद्धातम को ध्याय।
शुद्धस्वरूप चिदात्ममय जग जन को सुखदाय॥
मंगलमय सुखमाल के, आराधक सुकुमाल।
सुगुरु सुगुण को पाय के हो गये मालामाल॥

मंगलाचरण में जिन वर्धमान स्वामी को नमस्कार किया गया है, वे कैसे हैं ? वे तीन लोक के स्वामी हैं अथवा स्थावर, जंगम सकल जीवों के ईश्वर हैं, जिनके पंचकल्याणक इन्द्रादि देवों के द्वारा मनाये जाते हैं। जो सकल जगत के पूज्य हैं, चतुर्विध संघ में महान श्रेष्ठ हैं। शाश्वत आनन्दरूप हैं, जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि गुणों के समुद्र हैं और सत्य धर्म के प्रकाशक हैं।

हे पूज्यवर ! वह सत्य धर्म कैसा है ?

हे भव्योत्तम ! तुमने बहुत ही उत्तम प्रश्न पूछा। सत्य धर्म की जिज्ञासा से ही तुम्हारे अन्तर की भावना का परिचय हो जाता है। वह सत्यधर्म तीन लोक की लक्ष्मी और सुखों के निधानस्वरूप है। संसार सुखों को प्राप्त कराने वाला भी धर्म ही है और मुक्ति के सुखों का प्रदाता भी धर्म ही है। ऐसा धर्म इस पंचमकाल में मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओं के आचरण से प्रवर्त रहा है और पंचमकाल के अन्त तक प्रवर्तता रहेगा।

जिनके वचनरूपी किरणों से एकान्तमतरूपी अज्ञान-अंधकार का विलय होकर भव्यजनों को मुक्तिहेतु रत्नत्रयरूप धर्म प्रशस्त होता है। सम्यग्ज्ञान की वृद्धि से जिनका देवों द्वारा वर्धमान नाम प्रसिद्ध हुआ है। स्वयंबुद्ध होने से जो सन्मति कहलाते हैं। आत्मलीनता द्वारा अंतरंग क्रोधादि विषधरों को जीतने के कारण जो वीर कहलाये। मोहरूपी मदोन्मत्त हाथी के मद का मर्दन करने के कारण जो अतिवीरपने को प्राप्त हुए हैं और अनन्तचतुष्टय के बल से समस्त कर्मशत्रुओं पर शाश्वत

विजय प्राप्त करने के कारण जो महावीर हुए हैं। तथा जो धर्मरूपी चक्रवर्ती पद के नायक हैं। ऐसे त्रि-जगत पूज्य उन अन्तिम तीर्थंकरदेव को मैं नमस्कार करता हूँ।

तथा धर्म के स्तम्भ ऐसे ऋषभादि-पार्श्वनाथ पर्यंत तेईस तीर्थंकरों को, वर्तमान में विद्यमान विदेहक्षेत्र स्थित श्री सीमंधरादि बीस तीर्थंकरों को, पंचम परम पारिणामिक भाव की भावना में लीन पंचपरमेष्ठियों को गुणों के धरनार गणधरों को आदि, मध्य और अन्त रहित जिसका निर्मल शरीर है, अंग और अंगबाह्यरूप से जो निर्मित है, और जो चक्षुष्मति अर्थात् जाग्रतचक्षु है -- ऐसी श्रुतदेवी जिनवाणी माता को नमस्कार करता हूँ।

इसप्रकार प्रत्येक को पृथक्-पृथक् नमस्कार करके प्रार्थना करता हूँ कि आप जैसी निर्मलबुद्धि मुझे भी प्राप्त हो, जिससे प्रारम्भ किया हुआ यह ग्रन्थ निर्विघ्न पूर्णता को प्राप्त हो।

उत्तम वैश्य कुल में उत्पन्न धन-धान्य आदि महान लक्ष्मी से विभूषित, महान चतुर बुद्धि के धारक, महारूपवान, महान शूरवीर, महान, धीर एवं गुणगंभीर, महान उपसर्गों के विजेता महामुनिराज श्री सुकुमाल स्वामी आप जैसी शक्ति की प्राप्ति हेतु मैं स्तुति करता हूँ।

हे गुरुवर्य ! जिनके आपने इतने विशेषण कहे, वे श्री सुकुमालस्वामी कौन थे ? कैसे थे ?

हे भव्य ! स्व-पर भव्यों को शान्तिदायक, इष्ट का प्रदाता ऐसा कल्याणकारक उन सुकुमाल स्वामी का चरित्र मैं कहता हूँ, तू सावधान होकर अपने हितार्थ इस पवित्र चरित्र को सुन। वैश्यकुल रूपी आकाश में सूर्य समान प्रकाश करनेवाले, पुष्प के समान कोमल शरीर वाले सुकुमाल नाम होने पर भी घोरातिघोर उपसर्गों में वज्रसमान अभेद्य और कठोर रहनेवाले, इन्द्रसम दिव्य भोगों को भोगनेवाले होने पर भी उन्हें त्याग कर सुख सागर में मग्नता रूप मुनिदशा में क्षुधा-तृषा आदि परिषहों के विजेता परम तपस्वी, ज्ञान-वैराग्य से परिपूर्ण, अतीन्द्रिय आनन्द के रसिया, अशरीरीदशा के साधक, सिद्धों के साथ बातें करनेवाले, शान्त-प्रशान्त रस में निमग्न, जिनके रोम-रोम से वीतरागता टपक रही थी, जो अस्ति की मस्ती में केली करते थे -- ऐसे थे श्री सुकुमाल स्वामी।

वे सिद्धप्रभु के ज्येष्ठ पुत्र थे, वे सिद्धगुण संपत्ति के शीघ्र अधिकारी होने वाले थे। लायक में लायक ज्ञायक के उपासक थे। मंगल में मंगल ज्ञायक के साधक थे।

(कुछ समय के बाद आगे इसी भव में मोक्षलक्ष्मी के कंठहार ऐसे गुरु नाम गुरु श्री सुधर्माचार्यजी का, सिद्धान्तवेत्ता श्री सूर्यमित्र स्वामी गुरुवर का, अग्निभूति आदि मोक्षपथिकों का सुन्दर एवं आदर्श जीवन चरित्र भी आपको इस चरित्र में पढ़ने को मिलेगा। यह चरित्र महापुरुषों के सद्चारित्रों का भंडार है। प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था, उपशम, वैराग्य, भक्ति, निंदा और गर्हा

का तल प्रवाह भी आपको इसमें देखने को मिलेगा। मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि का नाशक एवं सरलता, विचक्षणता और श्रुताभ्यास की भावनाओं का अजोड़ संगम भी इसमें प्राप्त होगा। इसलिये अपने हित के इच्छुक भव्यों का यह कर्तव्य है कि इस चरित्र का श्रवण, पठन एवं मनन अवश्य करें।)

धर्म देशना का अनुपम अवसर

अब गुरुवर्य हमको श्री वासूपूज्य तीर्थंकर के पंचकल्याणकमयी साधना भूमि चम्पापुर नाम की नगरी में ले चल रहे हैं। अपने कथानायक श्री सुकुमालजी का जीव दो भव पहले नागश्री नाम की कन्या के रूप में वहाँ था। वहाँ से प्रारम्भ करते हैं। आईये ! हम सभी गुरुवर्य के मुखारविन्द से वहाँ का वर्णन भी सुनें।

हे गुणनिधि ! वह चम्पापुर नगरी कहाँ है ? वह इतनी महान क्यों कहलाती है ? क्या वह साधकों की साधना भूमि है ? वहाँ के नगरवासी कैसे हैं ? वहाँ के वन-उपवन एव महल अटारियों की रचना किस प्रकार की है ? वहाँ का राजा कौन है ?

हे भव्य ! मैं इस चम्पापुर नगरी का वर्णन करता हूँ, इसे ध्यानपूर्वक सुनना, सुकुमाल के जीव को दो भव पूर्व यहाँ से ही धर्मदेशना प्राप्त हुई थी। 'काँच के इच्छुक को भाग्योदय से अनमोल रत्न मिल गया' यह कहावत यहाँ से ही चरितार्थ हुई है।

देवों तथा उत्तमोत्तम मनुष्यों से परिपूर्ण, एक लाख योजन विस्तार वाले, लवण समुद्र से घिरे हुए असंख्यात द्वीप और समुद्रों के मध्य जम्बूवृक्ष के चिह्नवाले नदी, पर्वत, देश, नगर, ग्राम आदि से शोभायमान, राजाओं के समूह में चक्रवर्ती समान यह जम्बूद्वीप है।

इसमें एक लाख योजन ऊँचा, सर्व मेरुओं में सुंदर, अनेक जिनमन्दिरों से शोभित सुदर्शनमेरु है। यह देव, अप्सरायें, विद्याधर और ध्यानस्थ चारणऋद्धिधारी मुनियों से शोभायमान है। जैसे देवों में इन्द्र होता है, वैसा ही सब मेरुओं में यह मेरु शोभता है।

यह सुदर्शनमेरु के दक्षिण भाग में पाँच सौ छब्बीस योजन और छह अंश विस्तार में देवों, विद्याधरों, भूमिगोचरी राजाओं से युक्त, धर्म एवं चारित्र की खान, धर्मात्मा एवं धर्मस्थान से पूर्ण भरतक्षेत्र के मध्य भाग में आर्यखण्ड है, जो अरहंत भगवान एवं चक्रवर्ती आदि सुशोभित है, स्वर्ग-मोक्ष के साधकों को निमित्त कारणस्वरूप एक असाधारण धर्म की खान समान है।

हे गुरुवर्य ! और क्या-क्या है इस चम्पानगरी में ? – इसका वर्णन तो बड़ा अथाह-सा लगता है।

हे भव्य ! धर्मप्रवृत्ति ही वहाँ के आर्य लोगों का आभूषण है। जिसके चारों ओर नगर, पट्टन, खेत, पर्वत, ग्राम और वन-उपवन शोभ रहे हैं। दानी, धर्मात्मा आदि चतुर विद्वानों से, श्रावक और मुनिराज आदि सज्जनों से परिपूर्ण अंग नाम का देश शोभायमान हो रहा है। उसमें ऊँचे-ऊँचे कोट, कंगूरे, खाई वगैरह से युक्त अयोध्या समान, दानवीरों और भक्तजनों द्वारा जहाँ बड़े-बड़े महान महोत्सव हो सकें – ऐसे जिनमन्दिरों से सुसज्जित चम्पा नाम की नगरी है।

उस चम्पानगरी की जनता के पुण्य-प्रताप से वहाँ विवेकी, धर्मात्मा, चतुर और चारित्रवान चन्द्रवाहन नाम का राजा राज्य करता था। सुलक्षणों से युक्त, लक्ष्मी समान श्रेष्ठ प्राणप्रिय लक्ष्मीपति नाम की उसकी एक रानी थी। इस राजा का एक नागशर्मा नाम का पुरोहित था, जो कुशास्त्रों का जानकार, क्रूरहृदयी, जैनधर्म का द्रोही, महा-मिथ्यादृष्टि था। उसकी रूपवान त्रिवेदी नाम की स्त्री और लक्ष्मी समान सुन्दर नागश्री नाम की पुत्री थी, जो रूप और विवेक में अग्रणी थी तथा ज्ञान और विज्ञान आदि गुणों से युक्त देवकन्या समान सुशोभित थी।

हे स्वामी ! मनुष्यों की सन्तान भी नागश्री कहलाती है क्या ?

हे वत्स ! थोड़ा धैर्य रखो, इसका नागश्री नाम क्यों पड़ा ? यह रहस्य भी आपको ज्ञात हो जायेगा। वह नागश्री कन्या अपनी सहेलियों (ब्राह्मण कन्याओं) के साथ क्रीड़ा करती हुई नगर के बाहर बगीचे में बने हुए नाग-मन्दिर में मूढ़बुद्धि से पुण्य लाभ की भावना से नाग पूजने चली गई। लेकिन अपूर्व पुण्योदय से उसने उस बगीचे में अनेक प्रकार की ऋद्धियों के धारक, विद्वान, महानज्ञान रत्नाकर के पारगामी, संसारी जीवों के कल्याण में तत्पर, रत्नत्रय के धारी, तपोधन, ध्यान-अध्ययन में लवलीन, निर्जन्तु स्थान में विराजमान – ऐसे श्री सूर्यमित्र और श्री अग्निभूति नाम के दो मुनिराजों को देखा। नागश्री नाग पूजने के बाद, सरलभाव से उन उभय मुनिराजों को प्रणाम करके उनके सामने बैठ गई।

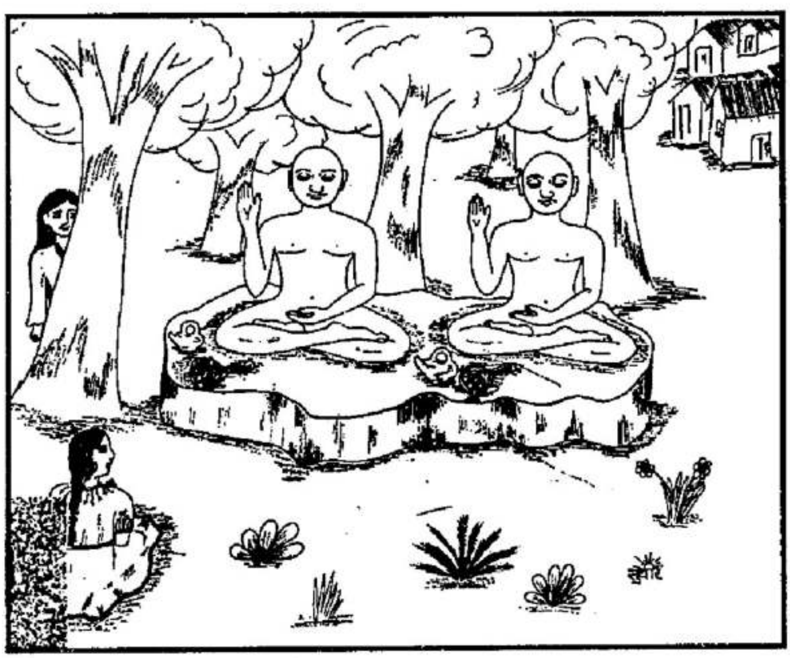

हे महाराज ! नागश्री तो ब्राह्मण थी, वह जैन मुनियों को क्या जाने ?

वह तो छोटी बालिका थी, वह यह कुछ नहीं जानती थी कि ये जैन साधु हैं, वह तो भोलेपन से ही, 'ये साधु हैं' – ऐसा जानकर प्रणाम करके बैठ गई। वह कोई धर्मबुद्धि से या कुछ लाभ हेतु नहीं बैठी थी। वह कुछ धर्म-अधर्म समझती भी नहीं थी। परन्तु महाज्ञानी मुनिराज श्री सूर्यमित्र ने अपने निर्मल अवधिज्ञान से नागश्री के पूर्वभव एवं भविष्य में होने वाली सद्गति को जान लिया।

अत: मुनिराज नागश्री को सम्बोधते हुए बोले – "हे पुत्री ! स्वर्ग के कारणभूत अणुव्रत रूपी धर्म को तू धारण कर, जिससे तुझे इस भव में तो सुख मिलेगा ही और भविष्य में भी महान अभ्युदय प्राप्त होगा, क्योंकि तीनलोक में सर्व सुखों की प्राप्ति और सर्व मनोरथों की सिद्धि एकमात्र धर्म से ही होती है।

जो मनुष्य धर्म से विमुख रहता है, वह मनुष्य होकर भी पशु के समान है, जैसे पशुओं को अपने हित-अहित का विवेक नहीं, वैसे ही विवेकहीन मनुष्य भी हित-अहित को नहीं जानता। खान-पान, विषय-कषाय तो पशु और मनुष्यों में समान ही होते हैं। मात्र धर्माचरण ही मनुष्य की विशेषता है। इसलिये तू भी मद्य, माँस, मधु इन तीन मकारों का तथा बड़ का फल, पीपल का फल, कठूमर, ऊमर और पाकर इन पाँच उदुम्बर फलों का त्याग कर और जुआ खेलना, चोरी करना आदि जो बुरी आदतें हैं, वे व्यसन हैं। उन्हें छोड़कर अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह-परिमाणव्रत नामक इन पाँच अणुव्रतों को धारण कर। ये गृहस्थ धर्म कहलाता है और व्रतधारी धर्मात्मा अगले भव में स्वर्ग ही जाते हैं। हिंसा वगैरह पापों में लगे रहने वाले जीव मरकर नरक और पशुगति में जाते हैं। इसलिये अपना हित चाहने वालों को धर्म धारण करना चाहिए, क्योंकि धर्म से हीन मनुष्य पशु के समान कहा गया है। कहा भी है –

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभि नराणां।
धर्मोहि तेषामधिको विशेष: धर्मेण हीन: पशुभि: समान: ॥

श्री सूर्यमित्र मुनिवर से धर्मोपदेश सुनकर नागश्री बोलीं – "हे स्वामिन् ! वे कौन से व्रत हैं, उनका क्या स्वरूप है ? जिन्हें आप सुख प्राप्ति हेतु मुझे देना चाहते हैं।"

आठ वर्षीय बालिका नागश्री की पात्रता देखते हुए श्री सूर्यमित्र मुनिराज ने उसे पाँच अणुव्रतों का स्वरूप समझाते हुए कहा कि समस्त दु:खों के कारण पाँच पापों के आंशिक त्याग का नाम पंचाणुव्रत है, जिनका पृथक्-पृथक् वर्णन मैं संक्षेप में करता हूँ, उसे ध्यान से सुनो।

(१) **अहिंसाणुव्रत** – जितने भी त्रस जीव हैं, उन्हें अपने समान जानकर उनकी मन-

वचन-काय से रक्षा करना। यह ज़गत का हितकारी, निज कल्याण का साधन, कीर्तिकारी एवं सभी व्रतों का मूल, सभी श्रेष्ठ क्रियाओं का आचरण करानेवाला और प्राणीमात्र को अभयदान देनेवाला है, इसे तू ग्रहण कर। इस व्रत की रक्षा के लिये मद्य, माँस, मधु तथा पाँच उदुम्बर फलों को जहर के समान जानकर बुद्धिमान पुरुषों को छोड़ देना चाहिये।

जो मनुष्य शराब वगैरह के लंपटी हैं, वे व्यसनी भी हो जाते हैं। जुआ खेलना, चोरी करना, शिकार करना, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, माँसभक्षण और मदिरापान – ये सात व्यसन पापों की खान हैं, इनके सेवन करने वालों की बुद्धि नाश को प्राप्त होती है और बुद्धिनाश होने से जीवों की रक्षा का विचार भी नहीं रहता, ये सात व्यसन नरक के द्वार खोलने वाले हैं। इसलिए इनका भी सज्जन पुरुषों को त्याग करना चाहिए; क्योंकि जो इनके व्यसनी होते हैं, उनकी बुद्धि पापग्रसित होने से उनमें दया, दान, सत्य, वगैरह कहाँ से अंकुरित होंगे ? और दया, दान, सत्य आदि के बिना व्रत और धर्मरूपी गुण कहाँ से होंगे ?

इसीप्रकार अहिंसा व्रत की रक्षा हेतु भले ही प्राण चले जावें, मगर धर्मात्मा जीवों को कभी भी रात्रिभोजन नहीं करना चाहिये। जो रात्रिभोजन करते हैं वे नियम से त्रस जीवों का भक्षण करते हैं, उससे माँस भक्षण का पाप अवश्य लगता है, क्योंकि त्रस जीवों की हिंसा के बिना माँस बनता ही नहीं।"

हे प्रभु ! आपने त्रस जीवों की रक्षा करने का उपाय तो बतलाया, परन्तु जो स्थावर (एकेन्द्रिय) जीव हैं, उनकी हिंसा तो गृहस्थ जीवन में होती ही है, उनकी रक्षा का भी कोई उपाय है क्या ?

हे दयालु हृदयी ! उनकी रक्षा का उपाय भी है। यह जैनधर्म प्राणी मात्र का रक्षक है, इसलिये स्थावर जीवों की रक्षा का उपाय भी है। जो पंचेन्द्रिय मनुष्य हैं उन्हें उन स्थावर जीवों का स्वरूप एवं उनके उत्पत्ति स्थानों का बोध कराकर उनकी रक्षा करने का उपदेश देते हैं। उनकी हिंसा गृहस्थ के भोजन आदि प्रत्येक कार्यों में होती ही है। अत: प्रत्येक काम सावधानीपूर्वक जीवों को देखभाल कर करना चाहिये और शृंगबेल आदि में, फूलों में, जमीन के अन्दर होने वाले आलू, मूली, गाजर, अदरक आदि कंदमूलों में अनन्त जीव राशि होती है, इसलिये दयालु प्राणियों को इन पदार्थों का सेवन दवा के रूप में भी नहीं करना चाहिये। तथा अचार, मुरब्बा, मक्खन, बेर आदि में अनेक त्रस जीव होते हैं, उन्हें भी दया धर्म की प्राप्ति के लिये नहीं खाना चाहिये। इसीप्रकार अन्य भक्ष्याभक्ष्य का विचार करना चाहिये।

बिना छने पानी का उपयोग भी नहीं करना चाहिये। बिना छने पानी में अनेक स्थूल और

सूक्ष्म जीव रहते हैं। बिना छने पानी का उपयोग करने में त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा तो होती ही है, परिणाम भी कठोर होते हैं और पानी के माध्यम से वे जीव अपने पेट में चले जाते हैं, जिससे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं और रोगग्रस्त व्यक्ति धर्म-कर्म सबसे वंचित रह जाता है, इसलिये अहिंसाव्रत पालने वालों को इसका भी विशेष ध्यान रखना चाहिये।

(२) सत्याणुव्रत – सदा सत्य, हितकारी, मधुर, प्रामाणिक और धर्मवर्धक वचन बोलना चाहिये। भले ही कोई मनुष्य उसकी हँसी या निंदा करे। 'बड़े सत्यवादी हरिश्चन्द्र हो गये' या 'बहुत देखे तुम जैसे सत्यवादी' इत्यादि रूप से निंदा करे, तो भी स्थूल असत्य कभी नहीं बोलना चाहिये।

असत्यवादी अपने वचन को सत्य बनाने के लिये अनेक असत्यों की श्रृंखला तैयार करने में ही लगा रहता है और इस प्रकार पाप का बन्ध करता है, विश्वासघाती अनेक दुःख-संकटों का निकट में भाजन बनता है और दूसरे व्यक्तियों को भी विपत्तियों में डाल देता है, तथा स्वयं का अपयश होता है, सो अलग। सत्यवादी सदा सुखी, यश का भंडार होता है, धर्म को धारण करने वाला होता है। लौकिक लक्ष्मी उसके चरणों में लोटती है। वह विश्व का विश्वासपात्र होता है। इसलिये सदा सत्यभाषी होना चाहिये।

(३) अचौर्याणुव्रत – चोरी कभी नहीं करना चाहिये। किसी के द्वारा बिना दी गई, गिरी हुई, खोई हुई, अथवा कोई कुछ वस्तु भूल गया हो तो उस वस्तु को या धनादि को सर्प के समान भयंकर अनिष्टकारी जानकर नहीं लेना चाहिये। जैसे रास्ते में पड़े हुए रुपये-पैसों को लोग उठाकर मंदिर के गोलक में डाल देते हैं तो वह भी चोरी है, क्योंकि वह किसी की गिरी हुई वस्तु है।

किसी के धन या स्त्री का अपहरण करना, बलात् उससे छीन लेना भी चोरी है। ऐसे कार्यों से मारण, ताड़न, वध-बंधन आदि के दुःख इस लोक में भी मिलते हैं और परलोक में भी दुर्गति आदि प्राप्त होती है, इसलिये चोरी करना तो दूर रहो, परन्तु चोरी के भाव भी नहीं करना चाहिये और चुराई गई वस्तु को खरीदना भी नहीं चाहिये। इसप्रकार स्थूल चोरी का त्याग करना चाहिये।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रत – अपनी स्त्री (अथवा पति) के अलावा अन्य महिलाओं को माता, बहन और पुत्रीवत् मानना चाहिये। इसीप्रकार महिलाओं को भी अन्य पुरुषों को पिता, भाई एवं पुत्रवत् मानना चाहिये। अब्रह्म का सेवन लोक-निन्दनीय तो है ही, अनेक अनिष्टों का घर और अपयश का गर्त है। उसका वर्तमान जीवन भी संदेह युक्त हो जाता है और भावी दुर्गति का कारण तो है। ब्रह्मचर्यव्रत लोक-प्रख्यात, समस्त इष्ट पदों का वरदान, धर्माचरणमय होने से जग में

शोभता है और भावी सुगति का कारण होने से सभी को इसका पालन करना चाहिये।

(५) परिग्रह-परिमाण व्रत – क्षेत्र-वास्तु आदि दस प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं, उनका परिमाण करना चाहिये। परिग्रह-परिमाण से लोभ रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त होती है और बिना विवेक के पाप कार्यों से धन-उपार्जन के परिणामों से भी बचते हैं। अति धन-संग्रह के अभाव में उसकी रक्षा संबंधी राग-द्वेषादि भावों से भी बचते हैं।

इसलिये हे पुत्री ! ये पंच अणुव्रत दोनों लोकों में कल्याणकारी हैं। दोनों लोकों में सुखकारक इन पंचाणुव्रतों को तू प्रसन्नतापूर्वक अंगीकार कर। सुख एवं गुणों के निधान इन पंचाणुव्रतों को जो उत्तम प्रकार से पालता है, वह अच्युत स्वर्ग पर्यन्त सुखों का भागी होता है। वहाँ से च्युत हो मनुष्यगति में आकर रत्नत्रय धर्म को आराधकर मोक्ष को प्राप्त होता है। इसलिये श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये इन व्रतों के स्वरूप को अच्छी तरह जानकर, मोक्ष सुखदायक समझकर इन्हें सम्यग्दर्शन पूर्वक पालना चाहिये। यह तीन लोक के सुख रूपी वट वृक्ष का मूल है। निज सुख के वांछक जीवों का कर्त्तव्य है कि चंचल और प्रतिक्षण काल के गाल में जाने वाली आयु का एक क्षण भी इन व्रतों के बिना न जाने दें।

मुक्ति का प्रथम सोपान

मुक्तिदूत, जगतबंधु, चलते-फिरते सिद्ध मुनिश्री की धर्मामृत वर्षा के सिंचन से जिसका हृदय आकंठ पूरित हो उठा है – ऐसी नागश्री पूज्यवर आचार्य के चरण-कमलों को वंदन करके, सविनय अंजुली जोड़कर अति श्रद्धापूर्वक श्रीगुरु से प्रार्थना करती है – ''हे गुरुवर ! मेरे व्रतों को सम्यग्दर्शन से उत्तम करो।''

इसप्रकार उसने पंच अणुव्रतों को धारण किया।

भावी घटनाओं के ज्ञाता मुनिराज ने अपने अवधिज्ञान से यह जान लिया कि इसका पिता इससे इन व्रतों को छुड़ाने का अत्यन्त आग्रह करेगा। इसलिये व्रत-ग्रहण कर जब नागश्री जाने लगी तो मुनिराज ने उसे एक हितकारी शिक्षा दी – ''बेटी ! तेरे पिता जैनधर्म से अनभिज्ञ होने के कारण तुझे इन व्रतों को छोड़ देने का आग्रह करेंगे, परन्तु देवों को भी दुर्लभ ऐसे व्रतों को तू नहीं छोड़ना, क्योंकि व्रतों के आचरण से स्वर्ग एवं मोक्ष की सम्पदा मिलती है, ख्याति, पूजा, लाभादि स्वेच्छा के अनुकूल मिलते हैं और व्रत लेकर उनको जो भंग करता है, वह मूर्ख नादान भयंकर दुःखों को भोगता है और दुर्गति में भ्रमता है। इसलिये अपने पिता के आग्रह से तू इन व्रतों का

पालन करने में असमर्थ हो तो मेरे दिये व्रत मुझे वापस कर जाना, लेकिन वापस करने से पहले उन्हें भंग नहीं करना।"

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब मुनिराज को यह ज्ञात ही था कि नागश्री का पिता जैनधर्म का द्रोही है, वह नागश्री को व्रत छोड़ने के लिए विवश करेगा, तो फिर उन्होंने उसके पिता की आज्ञा बिना उसे व्रत दिये ही क्यों ?

समाधान – श्री मुनिराज ने उस बालिका का निकट भव्यपना, उसका दृढ़व्रतीपना एवं अपने पिता को सच्चे धर्ममार्ग में लगाने की कुशलबुद्धि को भी तो अपने अवधिज्ञान से जाना था। "भवि भागन वच जोगे वशाय" – ऐसा बनाव बनना ही था अर्थात् उसकी पात्रता का उदित होना और श्रीगुरु को उसे धर्ममार्ग में लगाने का भाव आने का बनाव तो बनना ही था, जो कि उत्तम ही हुआ। मुनिराज की शिक्षा ग्रहण कर नागश्री बोली – "हे जगतकल्याणक तात ! आपकी आज्ञानुसार ही सब कुछ होगा।" – इतना कहकर मुनिराज को नमस्कार करके वह अपने घर की ओर चल पड़ी। उसके घर पहुँचने से पहले ही उसके साथ आईं सखियों ने नागश्री के पिता को यह सन्देश दे दिया कि नागश्री ने जैनसाधु को नमस्कार करके कुछ व्रत लिये हैं। बस, फिर क्या था ? नागश्री का पिता तो ज्वालाप्रसाद बन गया, नागश्री के घर पहुँचते ही उसने नागश्री को कठोर वचनों से डांटना प्रारम्भ कर दिया।

अरी बावली ! तूने यह क्या किया ? अरे यह तो तूने बहुत ही खोटा काम किया है, जो नग्न मुनि को नमस्कार किया और उससे व्रत लिये। तुझे यदि धर्म ही करना था तो अपने कुल में चले आये यज्ञकर्म आदि धर्म ही करना चाहिये, जो अपने कुल को उचित हैं। जिनेन्द्र द्वारा कहा गया जीवदयामयी धर्म उनके लिए स्वर्ग-मोक्ष दाता होगा, अपने लिये श्रेष्ठ भी नहीं और योग्य भी नहीं। इसलिये मेरा कहना मान और इन व्रतों को छोड़ दे, अन्यथा मेरे घर से बाहर निकल जा।

पिता के वचन सुनकर नागश्री मृदुवचनों द्वारा व्रतों के ग्रहण से क्या गुण और त्याग से क्या दोष प्राप्त होते हैं यह बतलाती हुई बोली – पिताजी ! लिये हुए व्रतों को तो दुर्बुद्धि छोड़ते हैं, क्योंकि ग्रहण किये हुये व्रतों के छोड़ने से जगत में अपयश और निंदा प्राप्त होती है, वह व्यक्ति सबसे अधम समझा जाता है और उसे परलोक में सदा दुर्गति में भ्रमण करना पड़ता है। इसलिये परम कल्याणकारी एवं सारभूत व्रतों को मैं तो नहीं छोडूंगी।

पुत्री के वचन सुन पिता नागशर्मा ने नाग के समान कुपित होकर फुंकारते हुए नागश्री को घर से बाहर निकल जाने को कहा।

नागश्री ने क्रोध से कुपित अपने पिता पर शीतल जल के समान शीतलता प्रदान करने वाले वचन अत्यन्त शान्तिपूर्वक कहे। पिताजी ! उन मुनिराज ने अन्तिम एक शिक्षा और भी दी थी कि यदि मेरे दिये हुए व्रतों को तेरे पिता छुड़ाने का दुराग्रह करें तो मेरे व्रत मुझे वापस कर जाना, परन्तु वापस करने से पहले उन्हें भंग नहीं करना। इसलिये यदि आप मेरे इन व्रतों को छुड़ाना ही चाहते हो तो मुनिराज के पास चलिये, मैं आपके सामने ही उनके दिये इन व्रतों को उन्हें वापस कर दूंगी।''

पुत्री के वचन पिता की भावना के अनुकूल होने से पिता ने कहा – ''ठीक है, यह मुझे मंजूर है।'' इसप्रकार कहकर वह मुनिराज की निंदा करता हुआ पुत्री नागश्री को साथ लेकर उसके व्रत वापस कराने के लिये घर से वन की ओर चल दिया। दोनों रास्ते में चल ही रहे थे कि उन्होंने देखा राज्य के सिपाही एक युवा पुरुष को बांध कर ले जा रहे हैं। उस पुरुष के दोनों हाथों में हथकड़ियाँ थीं। उसे देखकर नागश्री ने पिता से पूछा –

पिताजी ! इस व्यक्ति ने ऐसा कौनसा अपराध किया है, जिससे इसे इसप्रकार बांध कर ले जाया जा रहा है ?

पिता ने कहा – बेटी ! मुझे पता नहीं क्या कारण है, पुत्री के कहने पर उसने कोतवाल से पूछा – कोतवालजी ! किस अपराध के कारण इसे बाँध कर ले जा रहे हैं ?

कोतवाल बोला – ''इस चम्पानगरी में अठारह करोड द्रव्य का मालिक देवदत्त नाम का साहुकार था, उसका पुत्र वसुदत्त बहुत ही जुआ खेलता था। वसुदत्त जुआ व्यसन में अक्षधूर्त नाम के जुआरी के साथ जुआ खेलते हुए एक लाख दीनार हार गया। अक्षधूर्त ने उससे जीता हुआ धन मांगा और जल्दी चुकाने को कहा, तो इस मूर्ख, पापी, निर्दयी वसुदत्त ने उसे छुरा मार दिया, जिससे वह मर गया। इसलिये इस अपराध के कारण दुर्बुद्धि वसुदत्त को राजा ने फांसी पर चढ़ाने के लिए और उसकी सारी सम्पत्ति छीन लेने का दंड दिया है। इसलिये इसे फांसी पर चढ़ाने ले जाया जा रहा है।''

यह सुनते ही नागश्री ने पिता से कहा – "जिस हिंसा आदि कुकर्मों से यहीं मृत्यु तक का दंड मिलता है, उस हिंसा के त्याग रूप संसार में सर्वोच्च पद वाला अहिंसा अणुव्रत ही तो मैंने मुनिराज से लिया है, उसमें क्या दोष है ? उसे मैं क्यों छोड़ूँ ? ऐसा सारभूत एवं उत्तम यह व्रत तीन लोक में किसे सुखदायी नहीं होगा ?

तब नागश्री के वचन सुनकर पिता ने उसे अहिंसाणुव्रत को रखने की स्वीकृति दे दी और शेष व्रतों को वापस कर देने को कहा।

इसके बाद जब वे आगे बढ़े तो उन्होंने एक मनुष्य को उल्टा लटका हुआ देखा, जिसके मुँह में काँटे लगाये हुए थे और जिसे पीटा भी जा रहा था। उसे देखते ही नागश्री को नारकियों का ध्यान आ गया, नारकियों के समान उस मनुष्य की दुर्दशा देखकर वह मन में दुःखी हुई और उसने अपने पिता से पूछा – "पिताजी ! इस मनुष्य को इतना दुःख क्यों दिया जा रहा है ?"

पिता ने जवाब दिया – "बेटी ! पड़ौसी देश के राजा वज्रवीर्य ने अपनी सेना सहित इस देश की सीमा पर खड़े होकर यहाँ के राजा चन्द्रवाहन पर चढ़ाई करने के इरादे से अपना एक चतुर दूत राजा चन्द्रवाहन को यह संदेश देने के लिए भेजा कि राजा वज्रवीर्य की आज्ञा है कि आप उनकी सेवा में रहना स्वीकार करें, अथवा चम्पानगरी उन्हें समर्पित कर दें, इसी में आपका भला है। यदि आप ऐसा नहीं करते तो युद्ध के लिए तैयार रहिये।

दूत का यह संदेश सुनकर चम्पापुर नरेश चन्द्रवाहन ने दूत को कहा कि यदि तुम्हारे स्वामी में ताकत है तो युद्ध के लिये सामने आवें, हम आज ही आपके राजा की पूरी शक्ति देखने के लिये तैयार हैं। इसप्रकार कहकर राजा चन्द्रवाहन ने दूत को विदा किया और एक विशाल सेना सहित बल नाम के सेनापति को राजा वज्रवीर्य से युद्ध करने के लिये भेजा। अपने राजा की आज्ञा से सेनापति बल ने बड़ी भारी सेना सहित जाकर वज्रवीर्य के साथ प्रचंड भय उत्पादक महायुद्ध शुरू किया। जब दोनों के बीच महायुद्ध हुआ तो एक अन्य राजा तक्षक का अंगरक्षक मृत्यु के भय से भागकर राजा चन्द्रवाहन के पास पहुँचा और उन्हें यह झूठा समाचार दिया कि हे राजन् ! वज्रवीर्य राजा ने आपकी सम्पूर्ण सेना एवं हाथी, घोड़े आदि सभी जीत लिये हैं और आपका सेनापति बल भी पकड़ा गया है। उसके ऐसे वचन सुनकर राजा चन्द्रवाहन बहुत दुःखी और उदास हो गया, परन्तु वास्तव में बात बिलकुल उल्टी थी। वास्तव में सेनापति बल अपने शत्रु राजा वज्रवीर्य को कैद करके अपने साथ लेकर चम्पापुर की ओर चल पड़ा था। उसके चम्पापुरी में प्रवेश के ठाठ-बाट और सैन्य आदि देखकर राजा चन्द्रवाहन ने समझा कि वज्रवीर्य ही आ रहा है। अतः रक्षा हेतु

किले व नगर के दरवाजे बन्द कराकर बड़े-बड़े शूरवीर योद्धाओं के साथ स्वयं युद्ध के लिये तैयार हो गया।

जब यह बात सेनापति बल को ज्ञात हुई तो उसने अपने स्वामी को चिंतित जान उनकी चिन्ता निवारण के लिये स्वयं आगे आकर, सभी दरवाजे खोले और राजा चन्द्रवाहन के समीप जाकर उन्हें नमस्कार किया और बंदी राजा वज्रवीर्य को राजा चन्द्रवाहन के सामने पेश किया। यह देख राजा चन्द्रवाहन बहुत प्रसन्न हुए और सेनापति बल की बहुत-बहुत प्रशंसा करते हुए विजय के फलस्वरूप उसका सम्मान किया। तथा राजा वज्रवीर्य को मुक्त कर देने की आज्ञा दी एवं उसे न्याय-नीतियुक्त वचनों से तृप्त कर उसे उसके नगर भेज दिया।

यद्यपि वज्रवीर्य राजा अपने देश जाकर पूर्ववत् ही सभी-सामग्री पूर्वक सुख से जीवन बिताने लगा, परन्तु पराजय का खेद उसके मन में बना ही रहा। उधर चन्द्रवाहन राजा ने तक्षक के अंगरक्षक द्वारा कही गई झूंठ बात के कारण कोतवाल को उसे दंडित करने की आज्ञा दी। पिता ने नागश्री को बताया कि इस झूंठ बोलने के अपराध के कारण ही इसे दंड दिया जा रहा है और अभी तो इससे भी कठोर दंड दिया जाना शेष है।

उसे इतना कठोर दंड दिया जाता देख नागश्री पहले ही उसके किसी भयंकर अपराध की कल्पना कर रही थी और जब उसने अपने पिता के मुख से असत्य भाषण का यह फल सुना तो उसने सोचा सत्य बोलना कितना हितकर है –ऐसा विचारकर वह बोली –

पिताजी ! श्रीगुरु ने मुझे भी तो झूंठ न बोलने का ही व्रत दिया है, इसमें तो अपना हित ही है, फिर आप इसे क्यों छुड़ा रहे हैं ? जिससे राजदण्ड, प्रजादण्ड और समाजदण्ड मिलता हो – ऐसा झूंठ तो किसी को भी नहीं बोलना चाहिये।

पुत्री की बात पर गंभीरतापूर्वक विचार करता हुआ नागशर्मा बोला – "बेटी ! यह व्रत भी तू रख ले, पर इनके अलावा जो व्रत हैं, उन्हें तो वापस करना ही है ?"

इतना कहकर पिता-पुत्री पुनः आगे बढ़े और पुनः एक घटना देखी। एक मनुष्य को शूली पर चढ़ाने के लिये ले जाया जा रहा था। कोमलहृदयी नागश्री का मन यह देखकर करुणा से भर आया। उसके पिता ने भी यह भाप लिया कि नागश्री इसका दुःख नहीं देख सकती। यह फिर से इसका कारण पूछेगी। इतने में नागश्री ने पूछ ही लिया – "पिताजी ! इस व्यक्ति को शूली पर क्यों चढ़ाया जा रहा है ?"

पिता ने मन में सोचा कि इसप्रकार तो एक-एक घटना के बहाने यह अपने सभी व्रत सुरक्षित कर लेगी, पर करूँ भी क्या, उत्तर तो देना ही पड़ेगा। फिर भी उसने टालने के लिये कहा – "मुझे नहीं पता।"

पुत्री ने इसका कारण कोतवाल से जानने को कहा।

कोतवाल से पूँछने पर कोतवाल ने जवाब दिया – "इस नगरी में वसुदत्त नाम का एक धनाढ्य सेठ रहता है, उसकी पत्नी का नाम वसुमति है और उनके वसुकान्ता नाम की एक रूपवती पुत्री थी।

वसुकान्ता को एक दिन सर्प ने डस लिया, जिसके जहर से वह मूर्छित हो गयी। उसे मूर्छित जानकर परिवारजनों ने अनेक उपाय किये, पर उसकी मूर्छा नहीं टूटी, अत: परिवारजनों ने उसे मृतक जान श्मशान में ले जाकर जलाने हेतु उसे चिता पर रख दिया। उसी समय पुण्योदय से अनेक देशों में घूमता हुआ गरुडनाभि नाम का गारुडी वहाँ आ पहुँचा। चिता पर रखी रूपवती कन्या को देखकर उसने कहा कि यदि आप इस कन्या का विवाह मेरे साथ कर देने का वचन दो तो मैं इस कन्या को जीवित कर सकता हूँ।

वसुदत्त व उसके परिवारजनों ने विचार किया कि – "यह भी वणिक है और हम भी वणिक हैं। अत: विवाह करने के अयोग्य तो नहीं है, वय आदि में भी वसुकान्ता के योग्य ही है। अत: यदि यह वसुकान्ता को जीवित कर देता है तो वसुकान्ता का विवाह इससे कर देना कोई अनुचित नहीं होगा।" यह विचार कर वसुकान्ता का विवाह उससे कर देना स्वीकार करते हुए वसुदत्त ने गरुडनाभि से वसुकान्ता को शीघ्र ही जीवित करने को कहा।

इस पर गारुडी गरुडनाभि बोला कि अभी रात्रि हो चुकी है, अत: यह काम अभी नहीं हो सकता, कल प्रात: मैं इसे अवश्य ही जीवित कर दूँगा, रात भर आप इसके रक्षण की व्यवस्था

करें। उसकी रक्षा हेतु वसुदत्त ने चिता पर चारों कोने में एक-एक हजार दीनारों की पोटलियाँ बाँध कर रख दीं और चार शूरवीर पुरुषों से चिता का रात्रि भर रक्षण करने को कहा और बोला "इस निर्जन श्मशान में रात्रि भर चिता का रक्षण करने के पारितोषिक स्वरूप प्रत्येक को एक-एक थैली दी जावेगी।" ऐसा कहकर वसुदत्त अपने परिवारजनों सहित घर लौट आया और धन के लोभ में चार शूरवीर चिता का पहरा देने लगे। रात्रि बीतते ही प्रात:काल वह गारुडी गरुडनाभि आया और उसने अपनी मंत्रशक्ति से वसुकान्ता का जहर उतार दिया। वसुकान्ता सचेत हो गई और सेठ वसुदत्त अपनी पुत्री को जीवित जान कर अतिहर्षित हुआ और अपने वचन के अनुसार वसुकान्ता का विवाह गरुडनाभि के साथ कर दिया।

पर देखा यह गया कि जो चार पोटलियाँ चिता के चारों ओर रखी गईं थीं, उनमें से एक कम हो गई। वसुदत्त ने समझा कि एक पोटली तो एक ने ले ही ली है, अत: उसने शेष तीन पोटलियाँ पहरा दे रहे शूरवीरों में से जिनने नहीं ली है, उन्हें एक-एक पोटली ले लेने को कहा। पर चारों शूरवीरों में से किसी ने भी पहले से पोटली ली है – ऐसा स्वीकार ही नहीं किया। अत: वसुदत्त सेठ ने नगर के राजा से एक हजार दीनारें चुराई जाने की शिकायत की और चोर की खोज कराई जाने के लिये प्रार्थना की।

राजा ने उसी समय चंडकीर्ति नामक कोतवाल को चोर का पता लगाने का आदेश दिया और कहा कि "यदि तुम चोर का पता लगाने में असफल रहे तो तुम्हारा मस्तक कटवा दिया जावेगा।"

चंडकीर्ति कोतवाल ने चोर को माल सहित पकड़ लाने के लिये पाँच दिन का समय माँगा और कहा यदि मैं पाँच दिन में चोर को पकड़ने में असफल रहूँ तो महाराज जो उचित समझे, मुझे दण्ड दें।

राजा ने कोतवाल को पाँच दिन का समय दे दिया। चंडकीर्ति कोतवाल चोर को खोज निकालने के लिए बहुत चिन्तित था, अत: वह चारों चौकीदारों को साथ लेकर घर पहुँचा। कोतवाल की सुमति नाम की सुन्दर एवं बुद्धिमान कन्या ने जब पिता को चिन्तित देख उसकी चिन्ता का कारण पूछा, तब कोतवाल ने पुत्री को बताया कि 'इन चारों में से किसी एक ने एक हजार दीनारें चुराई हैं, पर कोई भी चोरी कबूल नहीं करता और यदि मैं पाँच दिन में चोर का पता लगा कर उसे राजा के सामने प्रस्तुत करने में असफल रहा तो राजा मेरा शिरच्छेद करा देगा, यही मेरी चिन्ता का कारण है।'

शीघ्र ही लौकिक कार्य सिद्ध करने में चतुर उस कन्या ने चोर का पता लगाने के लिये मन में कुछ युक्ति सोचकर, पिता से कहा – 'आप चिन्ता छोड़ दीजिए, मैं आज ही चोर का पता लगा लेती हूँ।'

चंडकीर्ति ने चारों व्यक्तियों को भोजन कराया व उनके रहने की व्यवस्था कर, उनसे कहा – आप लोगों को पाँच दिन यहीं रहना पड़ेगा।

चंडकीर्ति भेद जानने के लिये उनसे बातचीत करता रहा, परंतु कोई फल नहीं निकला। तब चंडकीर्ति की पुत्री सुमति ने उनमें से एक को अपने कमरे में बुलाकर बिठाया और अनेक प्रकार के कटाक्षों एवं अन्य साधनों से उसके मन में काम-विकार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया और कहा – ''मैं तुम पर आसक्त हूँ, पर मेरे मन में एक बड़ा विकल्प है – तुम चारों शूरवीरों के वहाँ पहरा देते रहने पर भी चोर एक हजार दीनारें कैसे चुरा ले गया ? उस समय आप लोग क्या कर रहे थे ? यह जानने की मुझे बहुत जिज्ञासा है।

इस पर उस चौकीदार ने जवाब दिया – ''सुमते ! मैं तो रात्रि के प्रथम पहर में ही वेश्या के यहाँ चला गया था और अंतिम पहर में लौटकर आया था, अत: मैं कुछ नहीं बता सकता।'' इसके बाद दूसरे को बुलाकर उसके साथ भी पूर्ववत् व्यवहार किया और फिर वही प्रश्न पूछा।

दूसरे ने भी कहा – ''मैं तो पहले व्यक्ति के जाने के तत्काल बाद ही बकरा चुराने जंगल की ओर चला गया था और एक बकरा चुराकर लाया, बाद में क्या हुआ मुझे पता नहीं।''

सुमति ने तीसरे व्यक्ति को बुलाकर उसी प्रकार उससे भी हाव-भाव भरी चेष्टा के साथ प्रश्न पूछा।

उसने भी कहा – ''मैं तो माँस खाने के लिये बकरा राँध रहा था, मुझे भी कुछ पता नहीं। चौथे से भी उसी प्रकार प्रश्न करने पर उसने उत्तर दिया – ''मैं तो सारी रात चिता पर रखी अत्यन्त रूपवती लाश को ही देखता रहा, मेरी नजर पोटलियों पर तो गई ही नहीं।''

चारों की बातें सुनकर सुमति के मन में यह तो निश्चय हो गया कि बकरा चुराने वाला चौकीदार ही चौर्यवृत्ति वाला है, परंतु स्पष्ट कैसे कहा जाय। उसने सोचा कुछ धैर्य से काम लेना ही उचित होगा। ऐसा विचार कर उन चारों चौकीदारों से कहा – आप में से किसी का कोई दोष नहीं लगता। सुमति उनकी बातें सुनकर यह तो समझ रही है कि ये कैसे चौकीदार हैं, जो अपने कार्य के प्रति थोड़े भी सावधान या प्रामाणिक नहीं है। वास्तव में इन तीनों को दीनारों की पोटलियाँ देना ही

नहीं चाहिये, क्योंकि इन तीनों ने तो चौकीदारी की ही नहीं, लेकिन यह मुद्दा सुमति का नहीं था, इसलिए उसने उन तीनों की बातों की उपेक्षा कर दी और उन सभी से कहने लगी अभी समय अधिक हो गया है, नींद भी आने लगी है, अत: नींद भगाने के लिये आप सभी क्रम से एक-एक कहानी सुनाइए। इस पर चारों ने ही उत्तर दिया कि हम लोगों को कोई कहानी नहीं आती, अत: आप ही कहानी सुनाइए।

सुमति ने कहानी सुनाना स्वीकार किया और ध्यान से कहानी सुनने के लिये कहा – सुमति ने कहानी प्रारंभ की –

पटना शहर में धनदत्त नाम का एक वणिक रहता था। उसकी सुदामा नाम की एक पुत्री थी। एक दिन वह अपने महल के पीछे के तालाब में पैर धोने के लिये गई। वह तालाब में पैर डालकर धो ही रही थी कि तालाब में रहने वाले एक मगरमच्छ ने उसका पैर पकड़ लिया। उसने अपना पैर छुड़ाने के लिये बहुत प्रयत्न किया, मगर वह छुड़ा न सकी, तो दु:खित हो जोर-जोर से चिल्लाने लगी – मुझे छुड़ाओ, मुझे छुड़ाओ, मेरा पैर मगर ने पकड़ लिया है। उसकी पुकार सुनकर समीप में रहने वाले कुछ व्यक्ति दौड़कर आये और सुदामा का हाथ पकड़कर जोर से खींचकर मगरमच्छ से उसे छुड़ा लिया और वह इस विपत्ति से छूट गई।

कुछ माह बाद सुदामा का विवाह हो गया। उसके मामा भी उसी पटना शहर में रहते थे। एक दिन उसे मामा के यहाँ जाने का विचार आया, उसने यह विचार अपने पतिदेव से कहा। उसकी बात सुनकर उसके पति ने कहा, आज शाम को घूमते हुए अपन वहाँ चलेंगे।

जब वे दोनों शाम के समय घूमते हुए मामा के यहाँ जा रहे थे, तब रास्ते में उन्हें चोरों का समूह मिला, उनने उससे सब आभूषण उतार कर देने को कहा।

चोरों की बात सुनकर सुदामा ने अपनी, अपने पति की एवं अपने आभूषणों की रक्षा हेतु एक झूठ बात बनाई और उन्हें उत्तर दिया कि मुझे इसी हालत में एक स्थान पर जाना है, ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है, इसलिए मैं आपको वचन देती हूँ कि मैं इसी रास्ते वापस आते समय ये सभी आभूषण उतार कर आपको दे दूँगी। अभी मुझे जाने दीजिए।

चोरों ने उसकी प्रतिज्ञा सुनकर उसे आगे जाने दिया। वह कुछ ही दूर आगे पहुँची कि उसे एक राक्षस मिला। राक्षस ने उनसे कहा कि तुम प्रभू का स्मरण कर लो, क्योंकि अब मैं तुम्हें मार कर खा जाऊँगा।

वे दोनों विचारने लगे – अभी एक संकट से जैसे-तैसे छूटे कि यह उससे भी खतरनाक

संकट खड़ा हो गया, अब इस राक्षस से निपटना आसान नहीं, इस विचार से सुदामा अपने पति की ओर देखने लगी। तब उसके पति ने भी सुदामा को इशारे से वही बात इसे भी कहने को कहा।

सुदामा ने राक्षस को भी वही बात कही, जो चोरों को कही थी। उसकी प्रतिज्ञा जानकर राक्षस ने भी उसे आगे जाने दिया। वे दोनों कुछ ही आगे बढ़े ही थे कि वहाँ नगर कोतवाल मिला और उन्हें रोका।

सुदामा ने उस कोतवाल को भी अपनी प्रतिज्ञा की बात कही, कोतवाल ने समझा यह किसी देवी-देवता को पूजने जा रही है, इसलिए धर्म कार्य में विघ्न करना अच्छा नहीं। ऐसा सोचकर उसने भी उन्हें आगे जाने दिया।

वे दोनों कुछ आगे बढ़े ही थे कि उन्हें कुछ स्त्री-लंपटी लोग मिले। उनने भी उसे अपने फंदे में फँसाना चाहा। वे लोग सोचने लगे हम लोग तो बहुत हैं, हमारे सामने इसका अकेला पति क्या कर सकता है। ज्यादा करेगा तो इसे भी बाँधकर जंगल में डाल देंगे, परंतु इतनी सुन्दर युवती फिर कहाँ मिल सकेगी। ऐसा विचार कर उनने उससे काम-विषय की इच्छा व्यक्त की।

सुदामा ने जो बात पूर्व में तीन संकटों से बचने के लिए कही थी, वही बात इन लोगों को भी सुना दी। इन्होंने भी उन्हें छोड़ दिया। इस प्रकार अनेक संकटों से पार होते हुए वे दोनों अपने इष्ट स्थान मामा के घर पहुँचे।

कहानी सुनाने के बाद सुमति ने उन चारों चौकीदारों से एक प्रश्न पूछा कि बताओ इन चारों में सबसे बड़ा मूर्ख कौन था ?

मांस पकानेवाला चौकीदार बोला – अरे ! वह राक्षस सबसे बड़ा मूर्ख लगता है, क्योंकि वह राक्षस ही क्या जो दूसरे की प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए अपने प्रिय भोजन जैसे पदार्थ को छोड़ दे। अरे, उसे तो मांस खाने का काम है चाहे कोई भी हो। जब उसे दो-दो व्यक्तियों के मांस खाने का अवसर सहज मिल ही गया था तो उसने उन्हें छोड़कर सबसे बड़ी मूर्खता की। यदि उसके स्थान पर मैं होता तो उस जैसी मूर्खता कभी नहीं करता।

चिता पर दृष्टि रखनेवाला चौकीदार बोला– मुझे तो कोतवाल की बुद्धि पर तरस आता है। कोतवाल तो राज्य नियमों को पालने में वज्र जैसे कठोर होते हैं। उसके सामने बड़े बड़ों की भी नहीं चलती तब फिर वे दोनों किस खेत की मूली थे ? लगता है वह कोतवाल के रूप में कोई खुशामदिया खड़ा होगा। अरे, कोतवाल का क्रोधयुक्त चेहरा, कंधे पर भरी बंदूक और हाथ में डण्डा देखते ही जनता काँप जाती है। और फिर कोतवाल को अपने कर्त्तव्य से पीछे नहीं हटना चाहिए था। अतः

उसकी इजाजत बिना आगे पैर नहीं उठा सकते, तब फिर आगे बढ़ने की बात तो बहुत दूर रही। यदि मैं उसके स्थान पर होता तो पूरी खाना तलाशी लिये बिना उन्हें एक कदम भी आगे नहीं जाने देता, लगता है वह कोतवाल अपने कर्त्तव्य के प्रति सावधान नहीं था और जो अपने कर्त्तव्य के प्रति सावधान नहीं हो वह मूर्ख क्या, वह तो मूर्खों का सरदार होगा।

स्त्री-लम्पट चौकीदार उन लम्पटियों की बात सुनकर बोला – अरे ! सबसे बड़े मूर्ख तो वे लोग हैं, जो स्त्री की बातों में आकर इतनी सुन्दर जवान स्त्री को ही छोड़ बैठे। उन मूर्खों को तो इतनी अक्ल नहीं थी कि यह जाने के बाद फिर क्यों आयेगी ? हम अपना काम तो साध लें, उसका जो होना होगा सो हो जायेगा, उसकी प्रतिज्ञा की हमें क्या चिंता ? ऐसी दया करके यदि छोड़ने लगे तो फिर दया ही करते रह जायेंगे। मुझे यदि मौका मिलता तो मैं कभी नहीं छोड़ता।

बकरा चुराने वाले चौकीदार से पूछने पर वह बोला – मुझे तो इन सबमें सबसे बड़े मूर्ख तो चोर लगते हैं, क्योंकि उन्होंने अनायास प्राप्त हुए बहुमूल्य जेवरों को छोड़ दिया, उनके स्थान पर मैं होता तो कदापि उसे लूटे बिना नहीं रहता।

चारों चौकीदारों की बातें सुनकर सुमति सोचने लगी – जिसका जैसा स्वभाव होता है, उसकी विचारधारा भी सतत् उसके अनुरूप ही चलती है। उसे वैसे ही कार्य करने में रस आता है। वैसे ही कार्य करने वालों की वह संगति करता है। उसके ही उपाय सीखता है और वैसे ही कार्य करके अपने को बहुत अच्छा समझता है। इनकी बातों से यह तो समझ में आ गया कि मांस भक्षण करने वाला चोर तो नहीं है, क्योंकि उसके वचन ही उसके अन्दर का कच्चा चिट्ठा बता रहे हैं। इसी प्रकार चिता पर ही दृष्टि रखने वाला व्यक्ति कर्त्तव्यपरायण तो लगता है, परन्तु चोर तो यह भी नहीं लगता तथा स्त्री लम्पटी के वचन इसके लम्पटपने को तो बता रहे हैं, मगर उस स्त्री के आभूषणों पर उसकी भी दृष्टि नहीं गई, अत: चोर तो यह भी नहीं हो सकता; लेकिन बकरा चुराने वाले के अन्दर के भाव तथा वचन दोनों ही चौर्य कर्म के पोषक ही निकल रहे थे। कितने रसपूर्वक वह चोरी की बात कर रहा था। जैसे वह बहुत ही बहादुरी का कार्य कर रहा हो, परंतु ऐसा कहकर वह अपनी मूर्खता ही प्रदर्शित कर रहा था। इसलिए निश्चित ही यह चोर है, क्योंकि यह मौका मिलने पर चोरी करने से नहीं चूकता।

अत: चोर का निर्णय तो सुमति को हो गया, परंतु माल कैसे निकलवाया जाय – इसका उपाय सोचने के लिये उसे कुछ समय चाहिए, इसलिए सुमति ने चारों चौकीदारों से कहा कि आप सभी अपने-अपने कमरे में जाकर आराम कीजिये। रात्रि अधिक हो गई है, मैं भी अब आराम करूँगी। सुबह पुन: मिलेंगे। चारों चौकीदार अपने-अपने कमरे में जाकर आराम करने लगे और

यहाँ सुमति अपने पलंग पर लेटी-लेटी यह सोचने लगी कि चोर से माल (एक हजार दीनारें) कैसे निकलवाया जावे ? अपराध करते प्रत्यक्ष देखे बिना अथवा समुचित प्रमाण के बिना सीधे तो किसी को अपराधी घोषित नहीं किया जा सकता। अत: उसने अपना कार्यसिद्ध करने के लिए एक चाल और चली।

दूसरे दिन सुमति ने बकरा चुराने व चोर को मूर्ख बतलाने वाले को बुलाकर अपने पास बिठाया और कहा कि मैं तुम पर बहुत आसक्त हूँ और तुम्हारे ही साथ रहना चाहती हूँ, पर मेरे पिता ऐसा करना पसन्द नहीं करते। अत: मैंने यह सोचा है हम दोनों किसी अन्य गाँव में भाग चलें, वहाँ सुखपूर्वक रह सकेंगे। वह चोर तो था ही, यह सुनकर उसे विषयों का नशा भी चढ़ गया। वह सोचने लगा कि इन दीनारों के प्राप्त होने पर अब धन सम्पदा की तो कोई कमी है नहीं और फिर इतनी सुन्दर स्त्री भी अनायास ही मुझे प्राप्त हो रही है, इसे छोड़ना भी योग्य नहीं। ऐसी विषय की चाह ने उसे विवेकहीन बना दिया। आखिर चोर था, कुछ भी चुराने के लिए तैयार होने में उसे क्या दिक्क़त थी, सो सुमति को ही चुराने के इरादे से उसने दूसरे गाँव भाग चलने की स्वीकृति दे दी। इस पर सुमति ने कहा कि यह तो ठीक है आपने मेरी बात स्वीकार कर ली। दूसरे गाँव में रहकर ही दोनों आनन्द से जीवन बिता सकेंगे, पर अपने निर्वाह तथा राह खर्च के लिए धन तो चाहिये और मेरे पास तो मात्र एक छोटी-सी पोटली दिखाते हुए कहा इतना-सा धन है, कुछ आपके पास भी है या नहीं ?

"करेला और नीम चढ़ा" की कहावत चरितार्थ करता हुआ वह काम के वशीभूत हो, सुमति में आसक्त हो जाने से अपनी सुधबुध ही खो वैठा और अपने पास भी धन होने की बात स्वीकार करते हुए उसने अपने पास की एक हजार दीनारों की थैली उसके सामने रख दी। सुमति ने पोटली ले ली और मधुर शब्दों में बोली अभी तो रात्रि का प्रथम प्रहर है, लोग जाग रहे हैं, मेरे पिता आदि भी जाग रहे हैं, अत: अभी चलना खतरे से खाली नहीं है। अभी थोड़ी देर अपनी-अपनी जगह जाकर हम विश्राम कर लें। रात कुछ गहरा जाने के बाद तथा लोगों के भी नींद में डूब जाने के बाद, मैं आपके पास आऊँगी और तब अपन दोनों चुपचाप भाग चलेंगे।

लौकिक कार्यों में चतुर सुमति ने उस चोर को तो अपने पास से विदा किया और दीनारों की पोटली अपने पिता चंडकीर्ति कोतवाल को सौंपते हुए कौन चोर है यह भी बता दिया। सुबह होते ही कोतवाल चंडकीर्ति ने चोर को माल सहित ले जाकर राजा के सामने पेश किया – इसप्रकार यह सम्पूर्ण कहानी उस कोतवाल ने नागश्री व उसके पिता को सुनाई।

पापों से भयभीत और अपने व्रतों की रक्षा करने में तत्पर नागश्री ने पिता से कहा – "जिस

चोरी के पाप के कारण यहाँ ही इसप्रकार के महादु:ख, दंड, धननाश, अपयश आदि सहने पड़ते हैं, किसी दूसरे की वस्तु को उसके दिए बिना लेने का त्याग करना तो श्रेष्ठ ही है। अत: यह सभी को परम हितकारी है और इसी का नाम तो अचौर्याणुव्रत है, जो मुनिराज ने मुझे दिया है। इसे कैसे छोड़ा जाय और छोड़ने से लाभ भी क्या है ? चोरी का भाव तो पाप ही है, उससे तो सभी व्यक्तियों को बचना चाहिये।''

परमहितकारी जैनधर्म और व्रतों के स्वरूप से अनभिज्ञ तथा जैनधर्म के प्रति द्वेषभाव होने पर भी नागशर्मा का हृदय यह सब देखकर नागश्री के व्रत छुड़वाने का हठ ढीला पड़ चुका था और उसका मन भी कुछ शान्त-सा हो गया था। उसे नागश्री के वचन और व्रत भी सारभूत प्रतीत होने लगे थे, अत: उसने नागश्री को यह व्रत भी रख लेने की स्वीकृति दे दी; क्योंकिं अन्दर ही अन्दर वह पुत्री नागश्री की भावना को उचित मानने लगा था।

लोक में कहावत है कि ''भावना से भवन बनता है'' नागश्री की भावना तो व्रतों को उत्तम प्रकार से पालने की थी। उसे प्राणों को छोड़ना तो मंजूर था मगर व्रतों को छोड़ना तो दूर, परन्तु उनमें अतिचार लगाना भी बरदाश्त नहीं था। जब तीसरा व्रत रखने की भी स्वीकृति मिल गई तो उसका मन आनन्द विभोर हो उठा।

यह प्रत्यक्ष ही देखने में आता है कि जीवों की हिंसा, असत्य भाषण और चोरी के पाप से व्यक्तियों का अपयश होता है। मार, पीट, वध, बंधन, सर्वस्व हरण यहाँ तक कि प्राणों का हनन इत्यादि अनेक दु:ख इसी भव में मिलते हैं और भविष्य में पशुगति के, नरकगति के अकथनीय अगणित दु:ख प्राप्त होते हैं, जिनकी कल्पना मात्र रोमांच करा देती है। इन पापों से प्राप्त इस भव के दु:खदायी प्रसंगों को देख नागश्री पापों से अति भयभीत हो अपने व्रतों की रक्षा में तत्पर हो गई। इसलिये बुद्धिमान जीवों को चाहिये कि वे अव्रतों के दोषों का और व्रतों के गुणों का विचार करें।

''प्रचुर स्वसंवेदन जिनकी मोहरछाप है, स्वरूपानन्द विहारी, जगतवंद्य, मोक्ष के साधक – ऐसे मुनिवर धन्य हैं।'' जो स्वयं संसार के पार को प्राप्त हुए हैं और तीन जगत के संसारी प्राणियों को संसार से पार उतारने में चतुर हैं, दर्शन-ज्ञान प्रधान जिनका आश्रम है, जिनका चित्त निर्मल है, ऐसे मुनिराज धन्य हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक् तप और धर्मरत्नों के धारक एवं दाता ऐसे परम तपस्वी उन तपोधनों को परम सुख की प्राप्ति के लिये मैं नमस्कार करता हूँ।

व्रतों की स्वीकृति पाने से आनन्दित और अपराधियों के अपराध देख पापों से भयभीत है मन जिसका, ऐसी नागश्री अपने पिता के साथ आगे बढ़ी। रास्ते में चलते हुए हृदय को कंपा देने

वाला दृश्य देख वह स्तब्ध हो गई। वह दृश्य ऐसा था कि नाक-कान जिसके कटे हुए हैं और पुरुष के मस्तक के साथ बंधा है कंठ जिसका, महादुखित ऐसी एक नारी को एक स्थान पर देखा। दुर्दशायुक्त नारी के द्वारा किये गये अपराध को उसने अपने पिता से जानना चाहा।

पिता ने उत्तर दिया कि इस चम्पापुरी में एक मनस्क नाम का वणिक है। उनकी जैनी नाम की स्त्री और नंद-सुनंद नाम के दो पुत्र हैं। वणिक सेठ की जैनी नाम की स्त्री का सूरसेन नाम का भाई है, जिसके 'मदाली' नाम की कुंवारी कन्या है। एक बार मनस्क का पुत्र नन्द द्वीपान्तर जाने को तैयार हुआ तो उसने विचार किया कि मामा की लड़की मदाली से शादी करके दोनों का जाना उचित होगा। यह विचार उसने अपने मामा सूरसेन को बताया और कहा कि मैं बहुत दूर द्वीपान्तर को जा रहा हूँ, आप अपनी रूपवती कन्या मदाली का मुझसे ब्याह कर दो। यदि आपने यह कन्या अन्य को दी तो आपको राजा की सौगंध हैं।

मामा सूरसेन ने कहा – "तुम कितने समय बाद परदेश से वापस आओगे यह बताकर जाओ।"

नन्द ने बारह वर्ष बाद वापस आने को कहा और द्वीपान्तर के लिए प्रस्थान किया। पर बारह वर्ष की अवधि व्यतीत हो जाने पर भी लौटकर जब नन्द नहीं आया तब सूरसेन कुछ चिंतित हुआ और विचारने लगा कि यदि नन्द नहीं आया तो कन्या का जीवन व्यर्थ बर्बाद हो जायेगा; परन्तु मैंने तो नन्द को वचन दिया हुआ है, यदि अन्य को कन्या देकर वचन भंग करता हूँ तो उचित प्रतीत नहीं होता, पर कन्या की उम्र ब्याह के योग्य हो चुकी है अत: अधिक विलम्ब करना भी ठीक नहीं लगता। नन्द अपना वादा भूल गया है या फिर कुछ और ही बात है, कुछ समझ में नहीं आता। अत: कुछ दिनों राह देखने व विचार करने के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि नन्द हो या सुनन्द आखिर हैं तो दोनों भाई ही। इसलिये मुझे मदाली का विवाह सुनन्द के साथ कर देना चाहिए।

– इसप्रकार मन में निर्णय कर सूरसेन ने अपना यह विचार सुनन्द व उसके पिता के सामने रखा।

पिता-पुत्र आदि ने भी विचार कर अपनी स्वीकृति दे दी। फिर क्या था दोनों जगह शादी की तैयारियाँ होने लगीं, मण्डप सजाये जाने लगे, मंगलाचार के गीतों की ध्वनियाँ गूँजने लगी। अब शादी होने में कुल पाँच दिन ही शेष रह गये थे।

इतने में नन्द भी द्वीपान्तर से वापस आ गया और उसे यह समाचार भी मिल गया। तब सूरसेन ने अपना विचार बदल मदाली की शादी नन्द के साथ ही करने को कहा। यह सुनकर बुद्धिमान नन्द ने अपने मामा से कहा मेरे विलम्ब से आने के कारण आपने अपनी पुत्री मेरे छोटे भाई को देना निश्चित कर ही लिया है, इसलिए मदाली छोटे भाई की पत्नी होने के कारण मेरी तो पुत्री समान हो गई। अत: मैं उससे शादी कैसे कर सकता हूँ ?

उधर सुनन्द इस बात से अपरिचित था कि मामा ने अपनी कन्या मदाली मेरे बड़े भाई नन्द को देने का वचन दे रखा था। जब सुनन्द को अपने बड़े भाई के कहने पर यह ज्ञात हुआ तो उसने भी विचार किया और विचार करने के बाद अपने मामा से कहा जब आप अपनी कन्या मेरे बड़े भाई को देने का वचन दे चुके थे तो वह कन्या मेरी भाभी होने से मेरी माता के समान है, इसलिए मैं उससे शादी नहीं कर सकता।

इसप्रकार दोनों ने ही शादी से इन्कार कर दिया और वह कन्या अपने पिता के घर ही पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त हो गई।

आगे क्या हुआ ? हुआ यह कि धनवानों की दो ही गति होती है। या तो ''धन-कन-कंचन त्याग शिवपंथ को चलें या फिर धनमद से मतिभ्रष्ट हो पापाचरण करें।''

दूसरी ही गति उस मदाली की हुई। उसके पिता के घर के पास ही दूसरे मकान में एक दुष्ट दुर्बुद्धि नागचन्द्र नाम का वैश्य रहता था, उसकी बारह पत्नियाँ थी और पूर्व पुण्य योग से वह बारह करोड़ दीनारों का स्वामी भी था। परन्तु पापी एवं व्यभिचारी होने से वह सूरसेन की कन्या मदाली पर आसक्त हो गया और कुकर्म करने लगा। पापोदय से उनका पाप थोड़े ही समय में प्रगट हो गया, जो कि सत्य ही है, पाप कभी छुपा नहीं रहता। पाप का घड़ा फूटता ही है। अत्यन्त पाप कर्म के उदय से उनका व्यभिचार नगर में हवा की तरह फैल गया, परन्तु पापी दुराचारी नागचन्द्र मदाली के साथ निरन्तर व्यभिचार में तत्पर ही रहा। ऐसा सुनकर चंडकर्मा कोतवाल ने दोनों अनाचारियों को पकड़ कर राजा के सन्मुख पेश किया। उसका राजा ने यह दंड दिया है।

पिता के मुँह से ऐसे वचन सुनकर नागश्री बोली – ''पिताजी ! शीलव्रत के बिना अनाचारियों

को इतने दु:ख भोगने पड़ते हैं तो मैंने कलंक रहित और जगतपूज्य ऐसा जो शीलव्रत लिया है, वह कितना हितकारी है, उसे आप क्यों छुड़ाना चाहते हैं ?''

दुराचारियों की प्रत्यक्ष दुर्दशा देखकर नागशर्मा निरुत्तर सा रह गया। और मन में सोचने लगा कोई बात नहीं एकदेश शीलव्रत ही तो लिया है। यह व्रत विवाह आदि का प्रतिबंधक नहीं है, इसलिये उसने इस व्रत को भी रख लेने की नागश्री को स्वीकृति दे दी। परन्तु इनके अलावा जो व्रत बचे गये हैं, उन्हें छोड़ देने के लिए कहा।

नागश्री मन में आनन्द के साथ आगे बढ़ती जा रही थी और सोचती जा रही थी कि पिताजी को भी सद्बुद्धि आती जा रही है और मेरे पुण्योदय से एक के बाद एक ऐसे प्रसंग उपस्थित होते ही जा रहे हैं, जो मेरे व्रतों की रक्षा में वा पिताजी को सद्बुद्धि में निमित्त बनते जाते हैं। चार व्रतों की स्वीकृति तो मिल ही गई।

अब सत्य के प्रताप से शेष एक की भी स्वीकृति मिल ही जावेगी। कुछ दूर चले कि पाँचवाँ प्रसंग भी सामने आ गया।

क्या था वह प्रसंग ? वह यह था कि सिपाही लोग एक मनुष्य को मारते-मारते ले जा रहे थे। तब नागश्री ने अपने पिता से उसे बांधकर ले जाने व मारने का कारण पूछा।

पिता ने जवाब दिया – ''इस मनुष्य का नाम वीरपूर्ण है, यह सदा दूध का ही भोजन करता है और महान लोभी है। यह राजा की अश्वशाला का रखवाला है उस अश्वशाला में बहुत घास होने के कारण घास चरने हेतु गाय, भैंस आदि का एक समूह घुस गया। यह उस घण को पकड़ कर राजा के पास ले गया, तो राजा ने पूरा घण उसे ही दे दिया। वह लोभी तो पहले से ही था। अब और लोभ बढ़ जाने से वह कहने लगा इस गाँव में जितनी अच्छी गायें हैं, वे सभी राजा ने मुझे दे दी हैं। इसप्रकार कहता हुआ वह गाँव की सभी अच्छे गाय-बैल आदि ले गया, इतना ही नहीं रानी साहब के पास में भी जो अच्छी-अच्छी गायें-भैंसे थीं, वे भी उसने ले लीं। इस पर रानी बहुत क्रोधित हुई और राजा से सारी हकीकत कह सुनाई। इस पर चन्द्रवाहन राजा ने अत्यन्त क्रोधित होकर उस महालोभी पापी को शीघ्र मार डालने की आज्ञा दे दी। इसीलिये सिपाही लोग इसे बांधकर मारते हुए ले जा रहे हैं।''

पिताजी के मुँह से यह बात सुनकर पुत्री नागश्री बोली –

''पिताजी ! जब अति परिग्रह के लोभ से ऐसे बंधन, मारण, ताड़न और प्राणों का हरण जैसे महादु:ख सहने पड़ते हैं तो मैंने श्री मुनिराज से जो परिग्रह- परिमाणव्रत लिया है, उसको पालना तो

हितकर ही है, मैं तो उसे मरणपर्यंत भी नहीं छोड़ूँगी।'' पुत्री की दृढ़ता और जैनव्रतों की सत्यता तथा हितकारपने को देखते हुए नागशर्मा ने नागश्री को यह व्रत भी रख लेने की स्वीकृति दे दी। पर जैनधर्म के प्रति द्रोहपना उसका अभी भी शमन नहीं हुआ। इसलिये वह विचारने लगा कि व्रत भले ही वापस न कराऊँ, परन्तु माता-पिता की आज्ञा बिना किसी के बच्चे को उसने व्रत क्यों दिये ? इसलिये वहाँ जाकर उनको डाँट-फटकार कर उसका अपमान तो अवश्य करना ही है। ऐसा विचार कर वह चलते-चलते थक गया था, इसलिए अपनी पुत्री के साथ वहीं एक वृक्ष की छाया में बैठकर विश्राम करने लगा।

वह वृक्ष की छाया में बैठा-बैठा सोच रहा था कि जैन साधुओं की बात सत्य तो लगती है, मगर हमारे गीता आदि से तो मेल नहीं खाती है।

कुछ विचार करने के बाद उसके अन्दर एक प्रश्न उत्पन्न हुआ कि संसार में प्राय: सभी प्राणी दु:खी हैं और वे दु:ख के नाश हेतु ही अथवा सुख और शान्ति को प्राप्त करने के लिए ही धर्म अंगीकार करते हैं, क्योंकि धर्म से ही सुख और शान्ति मिलती है और उसी धर्म में पर प्राणियों को दु:ख देना बताया जाय, उनके प्राणहरण कर बलि आदि चढ़ाये जावें, वह धर्म कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न ने उसके हृदय को झकझोर डाला। सच्चा धर्म तो जैनधर्म ही लगता है, परंतु मैं तो ब्राह्मण हूँ, मैं अपने धर्म को झूठा भी कैसे कहूँ ?

नागशर्मा को जैनधर्म की सत्यता तो प्रत्यक्ष दिख ही गई थी और उसका मन भी यह कबूल कर रहा था कि –''जैनधर्म ही सत्य है' लेकिन यदि मैं जैनधर्म को सत्य मानने लगूं तो लोग मुझसे कहेंगे कि ''जिस नागदेवता की पूजा से तेरे को यह कन्या प्राप्त हुई, तू उसका ही द्रोही हो गया? इतने महान देवता को छोड़कर इन नंगों की बातों में आ गया ? इत्यादि।''

पुन: उसका हृदय बोलता है – सत्य को जाति, कुल, मान-प्रतिष्ठा या बहुमत की जरूरत नहीं। वह अपनी पुत्री सहित उठकर चलने लगा।

पुन: उसके मन ने गुलांट खाई, अरे ! क्या खबर, कहीं इन नंगों ने अपना चमत्कार दिखाने के लिये यह सब कुछ षड़यंत्र तो नहीं रचा ? उसे संशय रूपी नाग ने फिर डस लिया, इसलिए वह चलते-चलते कुछ रुका। फिर सोचा – कुछ भी हो साधुओं के पास तो पहुँचना है ही, जो भी होगा प्रत्यक्ष में देखेंगे। इसप्रकार के विचारों से युक्त नागशर्मा अपनी पुत्री नागश्री सहित जहाँ मुनिराज विराजमान थे, वहाँ पहुँचा। तब नागश्री तो मुनिराज को नमस्कार कर गुरुचरणों के समीप बैठ गई, परंतु नागशर्मा ने तो दूर खड़े रहकर ही मुनिराज को कठोर एवं निन्दनीय वचन कहना शुरू कर दिये।

अरे दिगम्बर ! तूने मेरी पुत्री को जो पाँच व्रत दिये हैं, वे हमारे ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के द्वारा कहे गये वचनों के विरुद्ध हैं, अत: तुमने ब्राह्मण कन्या को उसके धर्म के विपरीत व्रत देकर अत्यन्त अयोग्य कार्य किया है। तुम्हें वेदशास्त्रों का भी तो विचार करना चाहिए।

श्री मुनिराज असभ्यजनों के साथ वार्तालाप कभी नहीं करते, वे तो ऐसे अवसरों पर सदा मौन रह आत्मसाधना ही करते हैं। परंतु मुनिराज ने नागशर्मा को अवधिज्ञान से निकट पात्र जान मधुर शब्दों में उत्तर दिया –

हे विप्र ! मैंने अपना जानकर ही पुत्री को ये पंचाणुव्रत दिये हैं, जो कि धर्म के बीज और दया के मूल हैं, इनसे क्या आपका कुछ बिगाड़ हुआ है ?

मुनिराज के ऐसे वचन सुनकर नागशर्मा आग-बबूला होता हुआ बोला – "नागश्री तुम्हारी कन्या कैसे हो गई ? अरे यह तो और भी गजब हो गया, यह तो मेरी पुत्री ही छीन लेना चाहता है। ठहर जा, इस बात का निर्णय अभी राजा से ही करा देता हूँ। इसप्रकार बड़-बड़ाता हुआ दौड़ा-दौड़ा राजा के पास पहुँचा और हाँफता हुआ राजा से अपनी बात कहने लगा।

प्रथम तो राजा ने कहा – जरा शान्त हो जाओ, फिर अपनी बात कहना।

कुछ समय रुकने के बाद नागशर्मा ने हाथ जोड़कर राजा को प्रणाम करते हुए कहा – हे राजन् ! आप सभी यह अच्छी तरह जानते हैं कि नागश्री मेरी ही कन्या है और इसी नगर के वन में दो नंगे साधु आये हुए हैं और वे मेरी नागश्री को अपना कह रहे हैं। वे असत्य बोलकर जबरदस्ती मेरी कन्या छीन लेना चाहते हैं। अत: आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप वहाँ पधारकर निर्णय करने की कृपा कीजिये।

नागशर्मा की बात सुनकर राजा ने मंत्री की ओर देखते हुए कहा – "मंत्रीजी ! ऐसा तो नहीं हो सकता, कुछ असंभव-सी बात लगती है। वे तो साधु हैं, उन्हें झूठ बोलने का क्या प्रयोजन ? लगता है नागशर्मा के समझने में ही कुछ गड़बड़ है।

मंत्री बोला – हे राजन् ! इस जगत में कुछ भी अनहोनी नहीं है। सब कुछ हो सकता है, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है।

नागशर्मा के अन्दर एक क्रोध की ज्वाला भभक रही थी, दूसरी ओर जैनधर्म की सत्यता उसे विवश कर रही थी। फिर भी वह अधीर होकर बोला – हे राजन् ! मैं सत्य कहता हूँ, वे मेरी कन्या को छीन लेना चाहते हैं, आप शीघ्रता कीजिए।

राजा एवं मंत्री दोनों ही वन की ओर चल दिये, साथ में नागशर्मा, नागश्री की माँ, उसके परिवार वाले एवं अनेक नगरवासी भी चल रहे हैं, लेकिन राजा को तो जैन साधु पर पक्का विश्वास था कि भले ही सुमेरुपर्वत चलायमान हो जावे, चाहे अग्नि ठण्डी हो जावे, परंतु दिगम्बर साधु कभी भी किसी कारण झूठ नहीं बोलते। वे सत्य महाव्रत के धारी होते हैं, सम्पूर्ण परिग्रह के त्यागी होते हैं।

मंत्री बोला – राजन् ! फिर भी नागशर्मा कह रहा है, अत: विचारणीय बात तो है ही।

राजा ने कहा – ठीक है, अभी सभी लोग साधुजी के पास चल ही रहे हैं, वहीं पुरोहितजी की बात का समाधान हो जायेगा।

राजा के वचन को मंत्री झूंठ तो नहीं कह सकता था, परन्तु साधु के प्रति शंकाशील अवश्य था।

राजा सोचते जा रहे हैं, अरे ! जब जैन साधु अपने शरीर को ढकने के लिए वस्त्र का जरा सा टुकड़ा भी नहीं रखते, प्रतिदिन भोजन भी नहीं करते, और जब कभी जाते हैं तो प्रतिज्ञा भी कितनी कठोर रखते हैं। इतने अपने शरीर से निर्मोही रहते हैं। उन्हें किसी की पुत्री को अपना बनाने का क्या प्रयोजन ? ऐसे तपस्वियों को झूठ बोलने का कुछ प्रयोजन भी तो नहीं दिखता, इत: इसमें अवश्य कोई न कोई गम्भीर रहस्य होना चाहिये। ऐसा विचार करते हुए उन्हें पता भी नहीं चला कि अनेक सभासदों सहित राजा मुनिराज के पास कब पहुँच गये।

सभी व्यक्ति एक से विचार वाले नहीं होते। कितने तो मुनिराज को वंदन कर धर्मश्रवण की भावना लेकर गये थे, कितने ही आश्चर्य से विवाद सुनने और कितने ही तमाशा देखने को वन में पहुँचे थे।

"वहाँ चन्द्रसमान निर्मल ज्ञान, वैराग्य से सम्पन्न, अगणित लोगों से पूज्य, प्रासुक (निर्जन्तु) शिला पर ध्यानस्थ विराजमान श्री सूर्यमित्र मुनिराज को देख, उन महाव्रतधारी, धीर-वीर गुरु महाराज को नमस्कार कर सभी जन शान्ति से बैठ गये।"

जब मुनिराज का ध्यान भंग हुआ, तब राजा ने अति ही विनयपूर्वक नतमस्तक हो श्रीगुरु से प्रश्न किया – "हे स्वामिन् ! भले ही समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर जाय, भले ही कुलाचल पर्वतों सहित सम्पूर्ण पृथ्वी उथल-पुथल हो जाय अथवा अन्य कुछ भी अनहोनी हो जाये, परन्तु सत्य महाव्रतधारी मुनिराजों के मुख से निकले हुए वचन कदापि असत्य नहीं होते।" – यह मैं अपने हृदय में अच्छी तरह जानता हूँ। फिर भी हे प्रभु ! मैं आपसे अपने मन में उत्पन्न हुई शंका का समाधान अवश्य चाहता हूँ और वह यह कि जो आपके चरण कमलों के समीप बैठी हुई है वह नागश्री किसकी पुत्री है ?

मुनिराज ने कहा – हे राजन् ! थोड़ा धैर्य रखिये, सबकुछ अभी स्पष्ट हो जायेगा। राजा की शंका के समाधान हेतु मुनिराज नागशर्मा से बोले – नागश्री आपकी पुत्री है – यह तो ठीक है, परन्तु जरा यह भी तो बतलाईये कि क्या आपने इसे कुछ पढ़ाया है ? कुछ धार्मिक शिक्षा दी है ? कुछ सदाचरण सिखाया है ? क्योंकि पढ़ने-पढ़ाने से ही अज्ञान का नाश होता है।

यह सुनकर नागशर्मा कुछ सोच में पड़ गया, वह सोचने लगा और बहुत सोचने के बाद भी वह निरुत्तर ही रहा। तब राजा ने नागशर्मा से कहा – पुरोहितजी ! कुछ जवाब दीजिये, मौन क्यों हो गये ? नागशर्मा ने कहा प्रभु ! मैंने तो इसे एक अक्षर भी नहीं पढ़ाया, तब धार्मिक शिक्षा या सदाचरण की बात ही क्या करना।

तब मुनिराज ने कहा तो फिर यह आपकी पुत्री कैसे हो सकती है ? इस पर नागशर्मा पुनः बोला, यदि आपने पढ़ाया है, तो बतलाइये आपने क्या पढ़ाया है ?

पुनः मुनिराज ने कहा – "मैंने तो इसे अनेक शास्त्र पढ़ाये हैं, मेरे कथन में रंचमात्र भी झूठ नहीं।"

मुनिराज के वचनों पर सभी को विश्वास होने पर भी अन्तर्गर्भित रहस्य से अज्ञात होने के कारण सभी आश्चर्य में पड़ गये। राजा चन्द्रवाहन ने पुनः हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक नमस्कार करते हुए कहा –

'हे स्वामिन् ! हे गुरुवर ! आपने इसे जो धार्मिक शिक्षा दी है, शास्त्र पढ़ाये हैं तो उसकी परीक्षा लीजिये, जिससे सभी को विदित हो जाये।'

राजा की भावना को प्रत्यक्ष दिखाने हेतु मुनिराज ने कहा – राजन् ! यह सभी शास्त्रों की परीक्षा सभी के समक्ष अभी देगी। धैर्यपूर्वक ध्यान से सुनिये।

सत्शास्त्रों के पठन का भवान्तरों में सद्भाव

श्री मुनिराज ने भरी सभा में जहाँ बड़े-बड़े विद्वान उपस्थित थे, उस कन्या को आशीर्वाद स्वरूप हाथ ऊँचा करते हुए कहा –

"हे वायुभूति ! मुझ सूर्यमित्र ने तुझे राजगृह नगर में जो बहुत से शास्त्र पढ़ाये थे, उन सभी की परीक्षा इन सभी विद्वानों के समक्ष दो, जिससे सभी का संदेह दूर हो।"

इतना कहते ही नागश्री अपनी मधुरवाणी द्वारा सरस्वती के समान अनेक शास्त्रों का पाठ करने लगी। उस समय उपस्थित विद्वानों ने उससे चार अनुयोगों का स्वरूप पूछा और भी अनेक प्रश्न पूछे, जिनके नागश्री ने सयुक्ति, प्रमाण सहित यथायोग्य उत्तर दिये और इसप्रकार राजा आदि हजारों जन समुदाय के सामने शास्त्र परीक्षा दी। जिससे सभी के मन में बड़ा हर्ष व आश्चर्य हुआ।

यह देखकर चन्द्रमोहन राजा ने मुनिराज को नमस्कार करते हुए कहा – "प्रभु ! यह आपकी ही पुत्री है, ब्राह्मण की नहीं। हे प्रभु ! आपने इसे वायुभूति कह कर सम्बोधा, इसका रहस्य हमारी समझ में नहीं आया, कृपया इसे भी बताइये।"

प्रश्न होना स्वाभाविक था, क्योंकि प्रत्यक्ष में नागश्री बैठी है, परीक्षा भी वही दे रही है, फिर भी वायुभूति कहने का क्या कारण है ? अथवा इसी का नाम मुनिराज ने वायुभूति रखा है, अथवा यह कभी मुनिराज के संबंध एवं संपर्क में रही है ? आखिर क्या है रहस्य ?

राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीगुरु ने कहा यह जो नागश्री का जीव है यह पूर्वभव में वायुभूति ही था। यह सुनकर राजा को और जिज्ञासा जागी और उसने मुनिराज को नमस्कार कर उनसे वायुभूति के पूर्वभवों का विस्तार से वर्णन करने के लिए प्रार्थना की।

पूर्वभवों की लम्बी कथा दुःखों से भरपूर थी। इस संसार दुःख से थके चित्तवाले निकट भव्य भी बहुत थे। ऐसा जानकर श्री मुनिराज ने कहा – हे राजन् ! आप सभी अपने मन को स्थिर करके वैराग्यभाव जागृत करने वाली वायुभूति की कथा सुनो।

वायुभूति और मेरे पूर्व के सम्बन्ध, भवान्तर तथा उन भवों में जो पुण्य-पाप किये उनका व उनके फल आदि का मैं वर्णन करता हूँ। नागश्री के जीव ने पूर्वभवों में बहुत पाप किये थे, उससे दु:खदायक जो दुर्गतियाँ प्राप्त हुई थीं उनका और अब अल्प पुण्योदय से यह ब्राह्मणपुत्री हुई है, उन सबका मैं वर्णन करता हूँ।

नागश्री के पूर्वभवों का वर्णन

इस भरतखण्ड के वत्सदेश में कौशांबी नगर है। वहाँ अतिबल नाम का राजा राज्य करता था, उसकी मनोहारी नाम की पटरानी थी। उस राजा के सोमशर्मा नाम का पुरोहित था, जो अनेक शास्त्रों का जानकार था, उसकी काश्यपी नाम की स्त्री एवं अग्निभूति और वायुभूति नाम के दो पुत्र थे। उसे पुरोहित ब्राह्मण ने उन पुत्रों को बचपन से ही बहुत लाड़-प्यार से पाला था। उसकी भावना थी कि ये पढ़-लिख कर अच्छे सुयोग्य बन जायें, इसलिये उसने उन्हें पढ़ाने का बहुत प्रयत्न किया, उचित व्यवस्था भी की, परन्तु वे खेलकूद में मस्त रहने से पढ़-लिख नहीं सके अर्थात् मूर्ख ही रहे। पापोदय से थोड़े ही समय बाद उनके पिता सोमशर्मा की मृत्यु हो गई और पुण्योदय से राजा ने उन दोनों पुत्रों को उनकी मूर्खता से अपरिचित होने के कारण पुरोहित का पद दे दिया, जिससे ये दोनों सुखपूर्वक समय बिताने लगे, परन्तु शास्त्रज्ञान तो उन्हें था नहीं, अत: वे विद्या के महत्त्व को भी नहीं जानते थे। विद्या के महत्त्व को बताते हुए किसी ने लिखा है –

विद्या जग में सुख की खान, विद्या से मिलता है ज्ञान।
सम्यग्ज्ञान सदैव प्रधान, जिससे मिलता मोक्ष निधान॥

सत्य ही है कि मूर्खता दु:खदाई होती है। लोक में भी विद्या अर्जन करने वाला साधारण-सा व्यक्ति भी उच्च पद पा लेता है और लौकिक सुख सामग्री या भौतिक सुख का वेदन कर लेता है, फिर लोकोत्तर विद्या के अर्जन का तो कहना ही क्या। वह तो स्व-पर की सच्ची कल्याणकारिणी होती है।

एक बार अनेक देशों में घूमते हुए एक विजयजिह्वा नाम का विद्वान जो कि न्याय शास्त्रों में निपुण, वाद-विवाद में अनेकों को पराजित कर उनका अभिमान चूर करने वाला, राजमहल में आया और महल के दरवाजे पर एक पत्रिका लगा दी।

उसमें यह लिखा हुआ था – "जो राजपुरोहित हो, वह मेरे से वाद-विवाद करे, अन्य को अधिकार नहीं।" इसलिये राजा अतिबल ने उन दोनों को वह पत्रिका दिखाकर उन्हें उस विद्वान से वाद-विवाद (शास्त्रार्थ) करने की आज्ञा दी।

उन मूर्खों ने वह पत्रिका फाड़कर फैंक दी। इससे राजा अतिबल को उनकी मूर्खता का ज्ञान हुआ और उसने उनसे राजपुरोहित पद छीनकर सोमिल नाम के ब्राह्मण को राजपुरोहित बना दिया। इस मानभंग के कारण वे दोनों बड़े दुःखी हुये और उनकी आजीविका का साधन भी जाता रहा। जब कुछ भी साधन नहीं रहा तो उनकी आँखें खुली, अरेरे ! पिताजी ने हमें पढ़ाने के बहुत प्रयत्न किये, परन्तु हम लोगों ने पढ़ा नहीं और अज्ञानी ही बने रहे। इसी से आज हमें यह दिन देखना पड़ा।

''ज्ञानरूपी नेत्र के बिना धर्म-अधर्म की भी परीक्षा नहीं हो सकती। जब यहाँ ही प्रतिष्ठा नहीं मिलती तो परलोक में कल्याण कहाँ से होगा। ''जिनने संसार का एवं संसार से पार उतारने वाले तत्त्वों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाली शिक्षा गुरु से प्राप्त नहीं की, ज्ञान-नेत्र प्राप्त नहीं किये वे दुर्बुद्धि सच्ची शिक्षा या हितोपदेश आदि कुछ भी नहीं जानते।'' उनके तो दोनों भव बिगड़ गये। ज्ञान से ही निर्मल कीर्ति होती है, ज्ञान द्वारा ही भव्य जीवों को समस्त ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ऐसा विचार करते हुए वे दोनों श्रुताभ्यास के लिये अत्यन्त उत्सुक हो उठे। अत: उन्होंने शीघ्र परदेश जाकर ज्ञानाभ्यास करने का दृढ़निश्चय कर लिया।

स्व-पर का कर तू ज्ञान, इसे ही कहते भेद-विज्ञान।
भेदज्ञान मुक्ति सोपान, पाते जिससे केवलज्ञान॥
केवल से पा सिद्धि दान, जो है अक्षय निधि महान।
अक्षय अमेय तत्त्व का ध्यान, रहता सादिनंत महान॥

जब उनकी माता काश्यपी को ज्ञात हुआ कि उसके दोनों पुत्र श्रुताभ्यास के लिये अत्यन्त उत्सुक एवं दृढ़-निश्चयी हैं, तो उसने अपने पुत्रों को राजगृही नगरी, जहाँ के राजा सुबल हैं एवं जिनकी सुप्रभा रानी है, ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न विद्वानों में शिरोमणि पुरोहित अपने भाई सूर्यमित्र (जो कि अग्निभूति एवं वायुभूति के मामा थे) के पास जाने की शिक्षा दी।

काश्यपी ने अपने पुत्रों से कहा कि वे तुम्हारे मामा हैं, अत: तुम्हारे हितेच्छु हैं, तुम्हें भली प्रकार से विद्या अभ्यास करवायेंगे।

माता की बात सुनकर दोनों ही राजगृही नगर को पहुँचे और ब्राह्मणों में श्रेष्ठ अपने मामा सूर्यमित्र को नमस्कार कर कहने लगे – ''हे मामा ! हमारे पिताजी ने हमें पढ़ाने के लिये बहुत प्रयत्न किये, परन्तु हम लोग खेलकूद में ही मस्त रहे और लाड़-प्यार में बिगड़ कर कुछ पढ़े-लिखे ही नहीं। अत: मूर्ख ही रहे और पिताजी की मृत्यु के बाद हमें मिला राजपुरोहित पद भी राजा ने

हमारी मूर्खता के कारण हमसे छीन लिया। अब हमें हमारी माताजी ने अभ्यास हेतु आपके पास भेजा है, "इसलिये आप ही अब हमारे पिता एवं गुरु हैं, आप ही हमारे हितकारक हैं, हम लोग विद्या-अभ्यास हेतु आपके पास आये हैं, कृपा कर आप हमें शिक्षा दीजिये।"

पुरोहित सूर्यमित्र कुशाग्रबुद्धि वाला एवं शास्त्रज्ञ तो था ही। उसने सोचा कि यदि इन्हें लाड़-प्यार किया जायेगा और अच्छा भोजन व अन्य सुविधायें दी जावेंगी तो ये बचपन से आलसी एवं खेल-कूद में मस्त रहने वाले तो हैं ही, अब भी पढ़ नहीं पावेंगे और अपने कार्य से वंचित रह जायेंगे। इसलिये उसने ऐसा विचार किया कि इनको कुछ भी नाता-रिश्ता न बताया जाय एवं इन्हें भिक्षा भोजन कराया जाय तो यह इनके हित में अधिक उचित रहेगा।

ऐसा विचार कर सूर्यमित्र ने कहा कि न तो हमारी कोई बहन है और न ही हम तुम्हारे मामा हैं। अत: मेरा तुम्हारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी यदि तुम विद्याभ्यास करना चाहते हो तो भिक्षावृत्ति से भोजन करना होगा। यदि तुम्हें इसप्रकार विद्याभ्यास करना स्वीकार हो तो मैं तुम्हें विद्याभ्यास करा सकता हूँ।

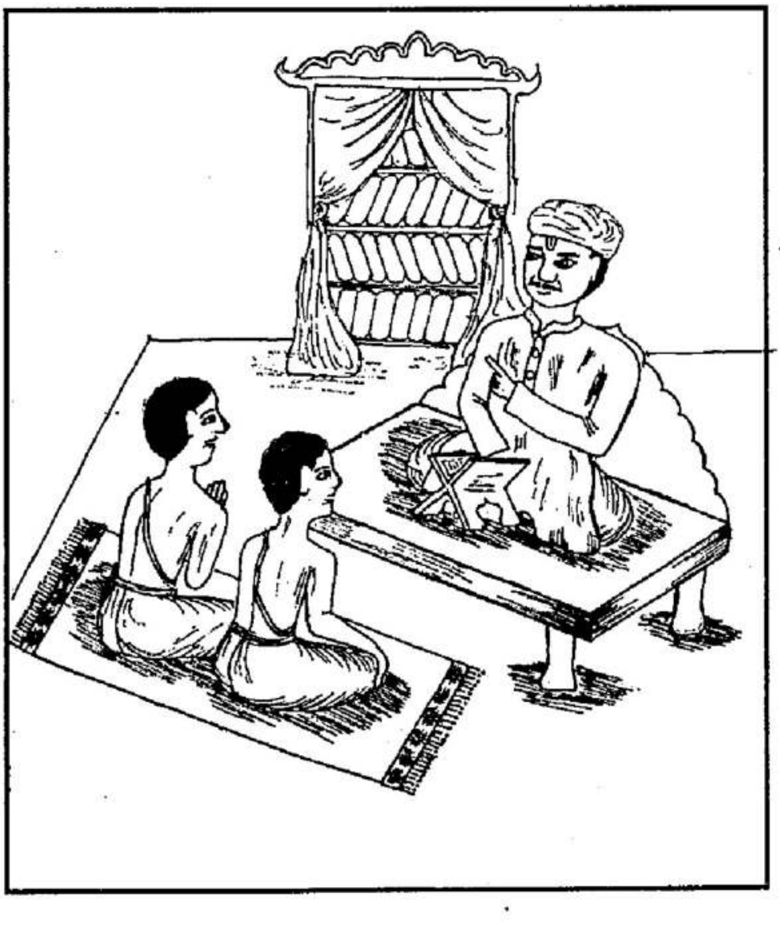

उन दोनों ने सूर्यमित्र की बात सहर्ष स्वीकार करली और विद्याभ्यास करना प्रारम्भ कर दिया। प्रमाद रहित एवं उपयोग लगाकर अभ्यास करने से थोड़े ही समय में उनने अनेक शास्त्रों का अभ्यास कर लिया एवं महान विद्वान बन गये।

देखो, बुद्धि तो उन ब्राह्मण-पुत्रों में थी, मात्र उसका सदुपयोग ही करना था। दु:खों ने उन्हें बुद्धि का सदुपयोग करने के लिये बाध्य कर दिया तो कुशल गुरु एवं शिक्षा का अमूल्य निमित्त

पाकर उन दोनों में भी ज्ञान की सुवास महक उठी और उस ज्ञान की शीतल छाया में सुखों को भी पनपने का स्वर्ण अवसर मिल गया।

जब वे दोनों श्रुताभ्यास पूर्ण कर अपने घर वापस आने की तैयारी करने लगे तो विद्वान सूर्यमित्र ने उन्हें अनेक प्रकार के वस्त्रादि एवं उपकरण देकर विदाई देते हुए कहा – "मैं तुम्हारा हितेच्छु मामा ही हूँ, परन्तु यदि मैं भी तुम्हारे पिता के समान लाड़-प्यार कर तुम्हें सुख-सुविधा से रखता तो तुम लोग अब भी विद्याभ्यास से वंचित ही रहते, ऐसा विचार कर ही मैंने तुम्हे गरीबी की स्थिति में रख कर भिक्षा भोजन कराके विद्याभ्यास कराया है।

"जिनकी भली होनहार होती है, वे पात्र जीव गुणों का ही ग्रहण करते हैं।" अपने मामा के वचन सुनकर अग्निभूति तो मामा की महिमा एवं उपकार से आर्विभूत हो उठा और विनम्र भाव से मामा का गुणगान करने लगा। "आप ही हमारे पिता हो, आपने जो कुछ किया वह सर्वप्रकार से हितरूप पथ्य ही है। आपने हमारा जन्म ज्ञानदान से सफल कर मोक्षमार्ग प्रशस्त किया और आजीविका का उपाय भी बता दिया। विद्या और धर्मदान से महान और कोई दान नहीं है तथा ज्ञान और धर्म के दानी से महान कोई दानी नहीं है।" जो विद्या और धर्म के दाता का उपकार नहीं मानते, वे मूर्ख एवं कृतघ्नी हैं – ऐसे व्यक्तियों की विद्या शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाती है। वे परलोक में भी

दुर्गति को पाते हैं। इसप्रकार अग्निभूति ने तो अपने विद्वान मामा का बहुत उपकार माना एवं गुणानुवाद किया; परन्तु....... वायुभूति ने ठीक इससे उल्टी प्रतिक्रिया दिखाई। वह अपने शिक्षा दाता उपाध्याय सूर्यमित्र मामा को निन्दाजनक इसप्रकार कठोर वचन कहने लगा – तू हमारा काहे का मामा, तू तो निर्दयी, नीच, चंडाल, दुश्मन के समान है, इसलिये तो तूने हमें भिक्षा भोजन कराया।

दोनों के परिणामों में धरती-आसमान का अन्तर बता आचार्यदेव कहने लगे – "देखो दोनों सहोदर, दोनों ही को एक समान विद्यादाता, सूर्यमित्र के दोनों ही भानजे। पर दोनों के कर्म भिन्न-भिन्न, पात्रता भिन्न-भिन्न, होनहार भिन्न-भिन्न, यह वस्तु व्यवस्था की स्वतंत्रता का प्रत्यक्ष उदाहरण

है।'' लोक में ही कहावत है – ''**विनाशकाले विपरीतबुद्धि।**'' अरे, जिनकी होनहार खराब है उनकी बुद्धि गुणग्राही नहीं होती, वे तो ऐसे होते हैं जैसे गोंच (जोंक) को स्तन पर लगाने पर भी वह दूध तो ग्रहण नहीं करती, खून भी शुद्ध नहीं दूषित ही ग्रहण करती है।

उसके बाद वे दोनों कौशाम्बी लौट आये और वहाँ पहुँचकर राजा के पास गये। राजा ने उन्हें आशीर्वाद दिया। वहाँ उन दोनों ने अपनी बुद्धि के अनुसार शास्त्र प्रवीणता का परिचय दिया और इसलिए राजा ने भी सम्मानपूर्वक उनका राजपुरोहित पद उन्हें वापस दे दिया। इससे वे संपत्तिवान होकर सुखपूर्वक रहने लगे। इस बात को अब यहीं विराम देते हुए जो नई घटना घटी उसे भी जरा देख लें।

क्या कहा गुरुवर ? घटना घटी.....

हे भव्य ! तुम इतने चिंतातुर क्यों हो उठे हो ?अच्छी या बुरी, घटनायें तो सभी के जीवन में घटती ही रहती हैं। घटना शब्द सुनकर आप तो दुर्घटना समझ कर आकुल-व्याकुल हो उठे ! थोड़ा धैर्य रखो, सभी बात स्पष्ट हो जावेगी। सुनिये – राजगृह नगर का राजा सुबल अपनी उंगली में रत्नजड़ित स्वर्ण की बहुमूल्य मुद्रिका पहने हुए था। स्नान करने से पूर्व जब वह अपने शरीर पर तैलमर्दन कराने को तैयार हुआ तो उसने नग खराब हो जाने के भय से अपनी मुद्रिका उतार कर अपने राजपुरोहित सूर्यमित्र को सम्हला दी।

सूर्यमित्र अपनी अंगुली में मुद्रिका पहन कर अपने घर चला गया। वह स्नान आदि कार्य करके वापस राजसभा में आने को तैयार हुआ तो अपनी अंगुली में मुद्रिका न देख बहुत चिंतित हुआ। अत: परमबोध नामक निमित्तज्ञानी से मुद्रिका कहाँ मिलेगी अथवा नहीं मिलेगी ऐसा पूछा।

निमित्तज्ञानी ने कहा – 'अवश्य लाभ होगा' इतना मात्र कहकर वापस अपने घर चला गया।

पर सूर्यमित्र तो खेद-खिन्न अवस्था में महल में ही बैठा रहा।

उस समय उस नगर के बाहर उद्यान में पूज्यश्री सुधर्माचार्य महाराज चतुर्विध संघ सहित पधारे हुए थे। यह जानकर सूर्यमित्र को विचार आया कि ये जैन साधु भव्यजीवों के हितकारक, तीनलोक से पूज्य हैं चरण जिनके और बहुत ज्ञानी होने से अपने ज्ञाननेत्र से मुद्रिका को प्रत्यक्ष बता देंगे। इसलिये इनके पास गुप्त रूप से जाकर उनसे मुद्रिका के बारे में जानकारी प्राप्त की जाय।

जिसकी भली होनहार है और काललब्धि पक गई है – वह सूर्यमित्र पुरोहित सूर्यास्त से पहले ही मुद्रिका के सम्बन्ध में पूछने हेतु शीघ्र ही वन में श्री सुधर्माचार्य मुनिराज के समीप जा पहुँचा। वे ज्ञान-वैराग्य, ऋद्धि आदि अनेक गुणों के आगार (घर) हैं, शरीरादिक से निर्मोही, मोक्ष

साधन में लवलीन ऐसे योगीश्वर को देख कर वह राजपुरोहित प्रश्न पूछने में कुछ सकुचाया, लेकिन अपनी कार्यसिद्धि के लिए आतुर हो वह उनके चारों ओर घूमने लगा। कुछ समय घूमने के बाद उसे ऐसा भाव आया – ये तो दिगम्बर साधु हैं अत: सूर्यास्त होने के बाद तो बोलेंगे नहीं, इसलिये अब मुझे अपना संकोच छोड़कर पूछ लेना चाहिए। – ऐसा विचार कर पूछने के विचार से सूर्यमित्र पुरोहित हाथ जोड़कर मुनिराज के समीप ही बैठ गया।

अवधिज्ञान के धारी परमोपकारी योगीश्वर उसे अत्यन्त निकट भव्य जान उस पर अपने अमृतमयी वचनों की वर्षा करने लगे – "हे सूर्यमित्र ! राजा की रमणीक मुद्रिका तुम्हारे हाथ से गिर जाने के कारण तुम चिन्ताग्रस्त हो और अपनी चिन्ता निवारण हेतु मेरे पास आये हो।"

सूर्यमित्र पुरोहित अपने द्वारा कुछ भी बताये बिना ही मुनिराज के मुख से अपने मन की बात सुनकर आश्चर्यचकित हुआ और श्रद्धावंत हो मुनिराज को नमस्कार कर पूछने लगा –

"हे प्रभु ! वह मुद्रिका कहाँ पड़ी है वह स्थान बताने की कृपा कीजिये।"

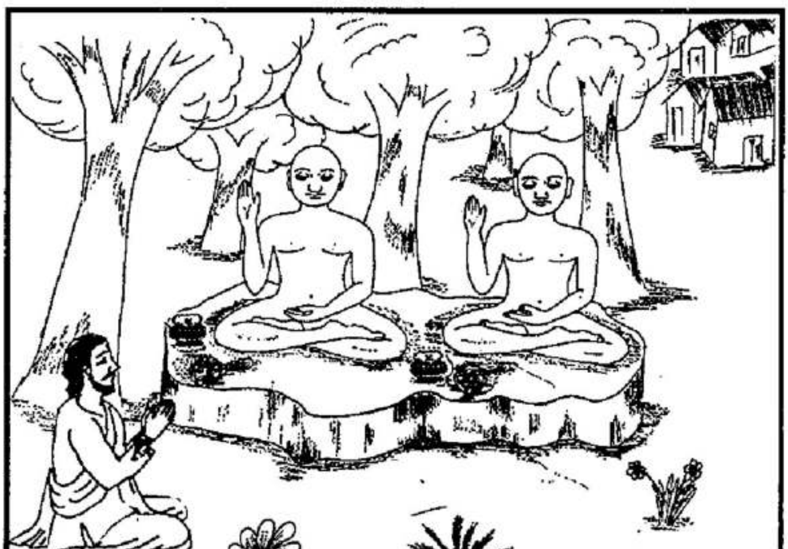

देखो उपादान की योग्यता के अनुकूल स्वत: निमित्त का मिलना। तीन ज्ञानरूपी नेत्रधारी योगीश्वर ने जवाब दिया कि हे विप्रवर ! तुम्हारे महल के पीछे बगीचेवाले तालाब पर जाकर जब तुम सूर्य को जल चढ़ा रहे थे, तब तुम्हारी अंगुली से मुद्रिका निकल कर सरोवर के कमल की एक पंखुडी पर गिर गई है। वह अदृश्य होने से अभी भी वहाँ पड़ी हुई है, इसलिये तुम मुद्रिका की चिन्ता छोड़ो और मेरे वचनों पर विश्वास रखो।"

पुरोहित यह सुनते ही तालाब के पास जाकर देखता है तो वास्तव में मुद्रिका वहाँ ही पड़ी थी। उसने साधु महाराज के उपकार की कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहा – हे गुरुवर ! आप ही इस

लोक में महान हैं, आप ही धन्य हो, आपको बारम्बार नमन हो। वहाँ से उठकर वह शीघ्र ही राजा के पास गया और मुद्रिका राजा को सौंपकर बड़ा ही विस्मय को प्राप्त हुआ।

अब पुरोहित को वह विद्या प्राप्त करने का भाव जागा, जिससे मुनिराज कुछ भी कहे और देखे बिना ही सर्व वृतान्त जान गये थे। उसने विचारा कि ये मुनिराज तो सर्व के प्रत्यक्ष ज्ञाता और ज्ञानियों में भी श्रेष्ठ महाज्ञानी हैं। मुझे भी उनकी सेवा-आराधना करके उनसे यह विद्या प्राप्त कर लेनी चाहिये, जिससे सत्पुरुषों में, विद्वानों में मेरी महान प्रसिद्धि होगी, प्रतिष्ठा बढ़ेगी और महान ऐश्वर्य और उत्तम पद प्राप्त होगा। इसप्रकार विचार कर महालोभी सूर्यमित्र गुप्त रूप से निमित्त ज्ञान सीखने हेतु श्री सुधर्माचार्य गुरुवर के पास गया।

उसने योगीजन व अन्य मुनिराजों को हाथ जोड़कर नमस्कार किया है और प्रार्थना की – "हे भगवन् ! हे कृपानाथ ! प्रत्यक्ष अर्थप्रकाशिनी अतिदुर्लभ उस विद्या का दान मुझे दीजिये।"

तब हितेच्छु अवधिज्ञानी श्री सुधर्माचार्य गुरुवर ने कहा – "हे भद्र ! यह प्रत्यक्ष अर्थप्रकाशिनी परम विद्या निर्ग्रन्थ ज्ञानी मुनियों के अलावा अन्य किसी को भी प्रगट नहीं होती, यदि तुम भी वास्तव में इस विद्या के अर्थी हो, तो तुम्हें भी मेरे समान निर्ग्रंथ बनना होगा।"

विद्वान सूर्यमित्र ने आचार्यदेव के वचन सुनकर अपने घर जाकर परिवारजनों को एकत्रित कर उनके सामने अपना भाव रखा और कहा – "हे बन्धुगण ! श्री सुधर्माचार्य योगीराज के पास प्रत्यक्ष अर्थप्रकाशिनी, चमत्कारी महाविद्या है। वह निर्ग्रंथ वेश बिना सिद्ध नहीं होती, इसलिये उसकी प्राप्ति हेतु मैं निर्गंथ भेष धारण कर उस विद्या को लेकर शीघ्र ही वापस आ जाऊँगा, आप लोग मेरे वियोग में शोक नहीं करना।"

तब उसके बान्धव जनों ने कहा हे सूर्यमित्र ! विद्या के लोभ से जो तुमने यह विचार किया है वह तो ठीक है, परन्तु कार्यसिद्धि होते ही तुरन्त वापस आ जाना, वहाँ अटकना मत।

आचार्यश्री तो यह सब जानते ही थे, इसलिये ही उन्होंने पहले से यह नहीं कहा – "पवित्र रत्नत्रय की विशेषता से ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं। गृहीत मिथ्यात्व को छुड़ाकर शनैः शनैः मार्ग पर लाने के उद्देश्य से उन्होंने मात्र इतना ही कहा कि निर्ग्रंथ दीक्षा ले लो।"

भावी घटनाओं के ज्ञाता उन मुनिराज ने पहले तो उस ब्राह्मण से बाह्य परिग्रह के त्यागपूर्वक स्वर्ग-मोक्ष की दाता २८ मूलगुण स्वरूप जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान की। दीक्षा तो ब्राह्मण ने उस विद्या के लोभ से ली थी, आत्म-कल्याण के लिये नहीं; अतः नवदीक्षित ब्राह्मण दीक्षा लेते ही गुरुवर से प्रार्थना करने लगा – "हे गुरुवर ! अब मुझे शीघ्र वह विद्या दे दीजिये।"

तब मुनिवर ने कहा – "हे विद्वान् ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के बिना मात्र क्रियाकलाप के पाठ से वह विद्या सिद्ध नहीं होती।"

तब नवदीक्षित मुनि ने अपनी बुद्धि से सर्वउद्यम पूर्वक चारों अनुयोगों के अभ्यास-अध्ययन में लगाना प्रारम्भ किया। त्रेसठ शलाका पुरुषों के पूर्वभव आदिक, सुखसामग्री, आयु, वैभव आदि सूचक एवं पुण्य-पाप का फल दिखाने वाले सिद्धान्तों के कारणभूत ऐसे प्रथमानुयोग को सीखा। लोक-अलोक का विभाग उसका संस्थान, नरकों के दु:ख, स्वर्गों के सुख, संसार स्थिति का दीपक – ऐसे करुणानुयोग को भी श्रीगुरु के श्रीमुख से सीखा।

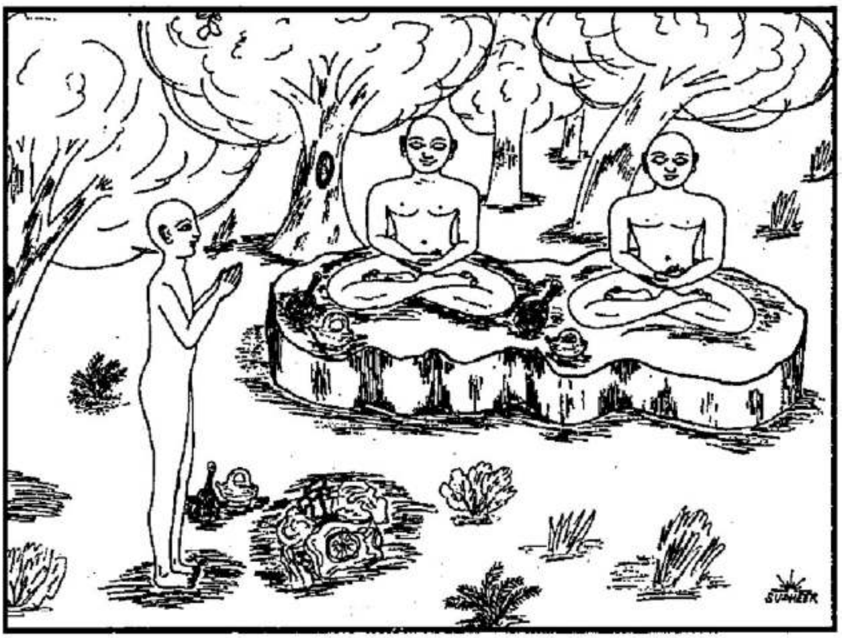

मुनियों एवं गृहस्थों का आचरण– महाव्रत, अणुव्रत तथा शीलव्रतों का स्वरूप एवं उनका फल दर्शाने वाले चरणानुयोग का ज्ञान किया।

इसीप्रकार सच्चे-झूठे देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप बतानेवाले तथा वस्तु के स्वरूप को बताने वाले शास्त्रों के माध्यम से छह द्रव्य, सात तत्त्व, पांच अस्तिकाय, नव पदार्थ, पांच मिथ्यात्व, सत्य-असत्य मतों की परीक्षा, प्रमाण-नय आदि का सम्यग्ज्ञान किया। समस्त पदार्थों के संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित सत्य लक्षण जाने और जैनदर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का स्वरूप जाना। ये सब ज्ञान द्रव्यानुयोग से जाना।

इस तरह सूर्यमित्र मुनिराज द्रव्यानुयोग के यथार्थ अभ्यास द्वारा उत्तम सम्यक्त्व प्राप्त कर सम्यग्दृष्टि बन गये। हेय-उपादेय का सत्य ज्ञान हो जाने के कारण धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ, जैनधर्म-अन्यधर्म का भी यथार्थ भेद अपने निर्मल ज्ञान से अच्छी तरह जान गये।

अहो ! दृष्टि का कमाल, जहाँ श्रद्धा ने पलटा खाया, वहाँ उसके अविनाभावी सभी गुणों की

दिशा बदल गई। सम्यक् श्रद्धा के साथ जागृत होनेवाला विवेक भी स्व-पर का यथार्थ ज्ञाता हो गया और चारित्र में भी स्वरूप-रमणता का अंकुर फूट पड़ा। काँच के लोभी को रत्नों का निधान मिल गया।

श्री सूर्यमित्र मुनिराज को जिनेन्द्र देव एवं उनके द्वारा प्ररूपित जैनधर्म की सत्यता का बोध हो गया। अब उन्हें जैनधर्म की कोई अपूर्व महिमा आने लगी। वे विचार करते हैं– "सच्चे सुख का कारण होने से यही धर्म महान है, स्वर्ग-मोक्ष का कारण है। अन्य स्वार्थी लोगों द्वारा कथित सभी धर्म झूँठें हैं, अतः वे सभी मुझे अब विषतुल्य भासित होते हैं। वे मतान्तर नरकादि गतियों के दाता हैं। जैनधर्म में जीवादि समस्त पदार्थ सारगर्भित होने से वे ही सत्य एवं महान हैं। धर्म की उत्पत्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन के लिये सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्र ही निमित्तभूत होते हैं। मैंने कुमार्ग-गामियों द्वारा कहे गये खोटे और अशुभ कुतत्त्वों को सीखकर अपने जीवन का इतना समय व्यर्थ ही गमाया।"

"मति-श्रुत ये दो ही ऐसे परोक्ष ज्ञान हैं, जिनके द्वारा केवलज्ञान समान सम्पूर्ण चराचर पदार्थों का ज्ञान हो सकता है।" अवधिज्ञान तो जगत के रूपी पदार्थों को उनके सम्बन्ध से भवान्तरों को प्रत्यक्ष देखता है। उसके देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ऐसे तीन भेद हैं। यह अवधिज्ञान चारों गतियों में हो सकता है। रूपी एवं सूक्ष्म पदार्थों को प्रत्यक्ष देखनेवाला मनःपर्ययज्ञान है, जो तप की विशिष्टता से किन्हीं-किन्हीं योगियों को ही प्रगट होता है। और केवलज्ञान, घातिकर्मों के नाश से आत्मा में उत्पन्न होनेवाला, तीन जगत को देखने-जाननेवाला प्रत्यक्षज्ञान है। ये पांच प्रकार के ज्ञान जिनमें जगत के समस्त पदार्थ यथायोग्य स्पष्ट झलकते हैं, इनको कोई भी विद्वान किसी को दे नहीं सकता। ये ज्ञान तो आत्मसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा तथा ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम-क्षय द्वारा योगियों को स्वतः उत्पन्न होते हैं।

मैंने यह बहुत ही उत्तम कार्य किया, जो अवधिज्ञान के लोभ से ही सही, संयम धारण कर लिया। जैसे कन्दमूल को खोजते-खोजते निधि का लाभ हो जाय, वैसे ख्याति, लाभ, पूजा के लोभ से मुझे यह जैनेश्वरी दीक्षा का लाभ मिल गया। "परमोपकारी, जीवमात्र के हितवांछक, ज्ञान की आराधनारूप भला उपाय जानकर श्री सुधर्माचार्य गुरुदेव ने मुझे भगवती जिनदीक्षा दी, जो समस्त जगत की हितकारिणी है। इस दीक्षा से मैं कृतकृत्य हो मोक्षमार्गी बन गया।"

"सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप जो बोध, उसे मैंने महान भाग्य से जिनशासन में पाया। अनन्तगुणों के सिंधु, भुक्ति, मुक्तिदायक निर्दोष अरहन्तदेव, अपार एवं दुस्तर संसार समुद्र से भव्यजीवों को तारने वाले ऐसे निर्ग्रंथ गुरु मैंने महान पुण्योदय से पाये हैं। ये निर्ग्रंथ गुरु धर्मबुद्धि के धारक हैं।" मैं इस संसार में कुमार्गदाता , संक्लेशमय, मिथ्यामार्ग–संध्या

तर्पणादि कार्य करके व्यर्थ ही खेदखिन्न हुआ। मैं मिथ्यादृष्टि जीवों एवं जिनधर्म से पराङ्मुख देवों द्वारा ठगा गया। महापुण्योदय से अतिदुर्लभ जिनशासन को पाकर आज मैं धन्य हो गया। आज ही मैंने मोक्षमार्ग में गमन किया। जैसे– ज्योतिषी देवों में सूर्य श्रेष्ठ है, धातुओं में पारा, पाषाण में सुवर्ण पाषाण, मणियों में चिन्तामणि, वृक्षों में कल्पवृक्ष, स्त्री-पुरुषों में शीलवान स्त्री-पुरुष, धनवानों में दातार, तपस्वियों में जितेन्द्रिय पुरुष और पण्डितों में ज्ञानी श्रेष्ठ हैं। वैसे ही समस्त धर्मों में जिनेन्द्र देव द्वारा भाषित दया एवं वीतरागमयी धर्म ही श्रेष्ठ है। समस्त मार्गों में जिनेन्द्रदेव का निर्ग्रंथ भेषरूप मोक्षमार्ग ही श्रेष्ठ है। जैसे गाय के सींग से दूध, सर्प के मुख से अमृत, कुकर्म से यश, मान से महन्तपना कभी भी प्राप्त नहीं होते, वैसे ही कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, कुधर्म और कुमार्ग सेवन से श्रेय अर्थात कल्याण, शुभ अर्थात् पुण्यकर्म और शिव अर्थात् मोक्ष कदापि प्राप्त नहीं होता।''

शाश्वत सुखदाता, जिनधर्म, जिनगुरु, सुशास्त्र का समागम होने से आसन्न भव्य सूर्यमित्र मुनिराज का हृदय आनन्द की हिलोरें लेने लगता है। वे सच्चे धर्म की प्राप्ति से आर्विभूत हो पुन: पुन: उसकी महिमा करते हुए कहते हैं– इनकी जितनी महिमा अन्दर में आती है, उसे व्यक्त करने के लिए शब्द भी कम पड़ते हैं। तीन लोक की सम्पदा भी जिसके सामने सड़े हुए तृण के समान भासित होती है। ''ऐसा महा महिमावंत अपना चैतन्य प्रभु है। सादि-अनन्त पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द में केली करने वाले सिद्धप्रभु, नित्यबोधिनी जिनवाणी माँ और चैतन्यामृत में सराबोर, सिद्ध सादृश्य, झपट के (शीघ्र ही) केवलज्ञान लेने की तैयारी वाले गुरुवर धन्य हैं, धन्य हैं। धन्य हैं वह धन्य हैं, वह साध्य और वे साधक धन्य हैं। इनकी जितनी महिमा की जावे वह कम ही है। ऐसे ज्ञान-वैराग्य वर्धक विचारों से पूज्य सूर्यमित्र मुनिराज का ज्ञान-वैराग्य और अधिक पुष्ट हो गया।

हस्तरेखा समान हेय, ज्ञेय एवं उपादेय वस्तुओं के सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से, तथा द्वादश प्रकार के संयम को पालने में तत्पर एवं जिनशासन में कहे गये व्रतों को निर्दोष पालने में और तपों को तपने में सतत प्रयत्न परायण ऐसे श्री सूर्यमित्र मुनिराज, इन्द्र, नरेन्द्र और नागेन्द्रों से वंदनीय हो गये। ''सम्यग्ज्ञानादि अनेक गुणों की वृद्धि से तीन लोक में जिनकी कीर्ति विस्तीर्ण हो गई है, और जो रत्नत्रय में परमोत्कृष्ट हो गये हैं ऐसे श्री सूर्यमित्र तपोधन स्वरूप विश्रांतिरूप तप में संलग्न हो गये।

इसलिए हे भव्यजीवो ! अपने हित के लिये आदरपूर्वक सकल शास्त्रों का अध्ययन कर सम्यग्ज्ञान का लाभ लेना चाहिए और शिवसुख दायक सम्यक्चारित्र से अपने जीवन को सजा लेना चाहिए; क्योंकि ज्ञानी पुरुष ही ज्ञान का आश्रय लेते हैं और ज्ञान में ही (आत्मा में ही) ज्ञान

के प्रतिष्ठित होने से शिवरमणी के मुखारविंद (सिद्धदशा) का अवलोकन करते हैं। तीनलोक में ज्ञाननेत्र के समान और कोई मार्गदृष्टा नहीं है।

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म, जरा मृत रोग निवारण।।

ज्ञान ही समस्त पदार्थों का ज्ञायक, और कर्मों का नाशक है एवं मोक्ष प्रदाता भी ज्ञान ही है। अत: मैंने भी निरन्तर ज्ञान में मन लगाया है, क्योंकि इस ज्ञानस्वरूप निज आत्मा के आश्रय से ही ज्ञानी/सुखी हुआ जा सकता है।

संत भव अंत दाता

बहिरभ्यन्तर परिग्रह छांड़, गुणसंयुक्त धारी अविकार।
सकल शिरोमणि तिहुंजग वंद्य, प्रणमूं अध्यापक गुणवृन्द।।

सदा चैतन्य विहारी श्री सुधर्माचार्य गुरुवर के साथ श्री सूर्यमित्र मुनिवर भी ग्राम, पुर, वन, अटवी आदि अनेक देश-देशान्तरों को पवित्र कर "पाद पड़े जहाँ तीरथ उत्तम, दृष्टि पड़े भव पारा" धर्मामृत का सिंचन कर, संतप्त जीवों को शान्ति प्रदान करते हुए चम्पापुर नगरी में पधारे जो कि देवाधिदेव श्री वासुपूज्य भगवान की निर्वाणभूमि है, पूज्य गुरुवर के साथ उसकी तीन प्रदक्षिणा दीं, स्तुति की, उन्हें नमस्कार करते हुए निर्वाणभक्ति आदि की। जिससे अन्तर के परिणामों की विशुद्धता का निमित्त पा अज्ञान अंधकारनाशक और लोक के मूर्तिक द्रव्यों का प्रकाशक ऐसा अवधिज्ञान श्री सूर्यमित्र मुनिवर को स्वयमेव ही उदित हो उठा।

मुक्ति को पुरस्कृत करने वाले, निर्वांछक, शांत परिणामी वीतरागी मुनिवरों को तप के प्रभाव से अवधिज्ञान आदि अनेक ऋद्धियाँ स्वयमेव ही प्रगट हो जाती हैं। इसमें संशय का स्थान ही नहीं। "जैसे तीर्थंकर प्रभु का जन्म तीनलोक को आनन्ददायक होता है, वैसे ही स्वरूप विश्रांति रूप तप समस्त ऋद्धियों का दायक हो तो इसमें आश्चर्य भी क्या ? कुछ भी नहीं, होता ही है।"

'ज्ञान-विज्ञान में परिपूर्ण, अनेक गुण रत्नाकर सम्पन्न, रत्नत्रय की पवित्र विशुद्धता से युक्त है आत्मा जिनका, जो सकलसंघ के भार को वहन करने में समर्थ हैं, महातपस्वी, महाध्यानी, निरतिचार पंचाचार के पालक, महाव्रती हैं, पंचेन्द्रिय रूपी हाथी के मद को मर्दन करने में दक्ष है, योगियों में प्रधान हैं, शान्त-प्रशान्त रस के रसिया, जीवमात्र के हितवांछक, भवभोगों से परांगमुख हैं। यतिवर श्री सूर्यमित्रजी को शिष्य मण्डली में प्रधान जानकर, आचार्यवर श्री सुधर्मास्वामी ने सम्पूर्ण संघ की साक्षीपूर्वक आचार्यपद प्रदान किया।"

स्वयं शिवसुख की सिद्धि के अर्थ एकलविहारी हो घोरातिघोर उग्र तप करते हुए, ईर्यापथ (चार हाथ भूमि निरख कर) पूर्वक अनेक वन-उपवन, देश, पुर, ग्रामादि में विहार करते हुए, ध्यानाध्ययन में लवलीन, निष्प्रमादी हो, जितेन्द्रिय, मौनव्रतधारक, उपसर्ग-परिषहों में धीर, सागर के समान गंभीर, कर्मरिपु को चूरने में वीर — ऐसे श्री सुधर्माचार्य गुरुवर एकबार वाराणसी में पधारे।

श्री सुधर्माचार्य मुनिराज वाराणसी के समीप सिंगपुरी-चंद्रपुरी क्षेत्र में जाकर प्रासुक निर्जंतु भूमि पर आत्मध्यानपूर्वक योगधारण कर बैठ गये। ''आत्मध्यान में वृद्धिंगत होते हुए क्षपकश्रेणी में आरूढ़ हो, स्वरूप मंथर योगीराज ने आत्मगुणों के घातक चार घातिया कर्मों को निर्मूल कर नव केवललब्धियों सहित जलहल दैदीप्यमान केवलज्ञानभानु प्रगट किया। वह केवलज्ञान शिवरमणी के मुख अवलोकन के लिए दर्पणसमान है। सम्पूर्ण आत्मगुणों की पूर्ण प्राप्ति स्वरूप केवलज्ञान लक्ष्मी की इन्द्रादिक देवों ने आकर पूजा की। प्रभु तो सादि अनन्त काल के लिये आत्मस्थ हो गय, सो हो ही गये, वहाँ ही अंतिम शुक्लध्यान के द्वारा चार अघातिया कर्मों का निपात कर देहरहित हो समयमात्र में ऊर्ध्वगमन स्वभाव द्वारा निर्वाण को प्राप्त हुए।''

अविनाशी अविकार, परम रस धाम हो।
समाधान सर्वंग सहज अभिराम हो॥
शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनन्त हो।
जगत शिरोमणि सिद्ध सदा जयवन्त हो॥

बिन कर्म, परम विशुद्ध, जन्म, ज़रा, मरण से हीन हो।
ज्ञानादि चार स्वभावमय अक्षय अछेद अछीन हो॥
निर्बाध अनुपम अरु अतीन्द्रिय, पुण्य-पाप विहीन हो।
निश्चल निरालम्बन, अमर पुनरागमन से हीन है॥
दुख सुख नहीं पीड़ा जहाँ, नहिं और बाधा है नहीं।

नहीं जन्म है नहीं मरण है,
निर्वाण जानो रे वहीं॥
इन्द्रिय जहाँ नहिं, मोह नहिं,
उपसर्ग, विस्मय भी नहीं।
निद्रा, क्षुधा, तृषा नहीं,
निर्वाण जानो रे वहीं॥

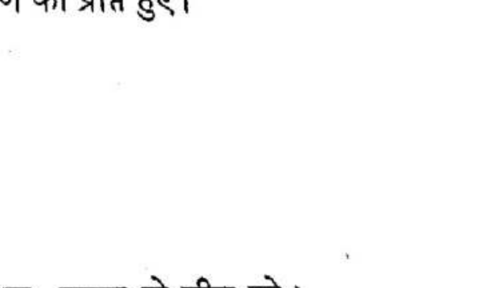

रे कर्म नहिं, नोकर्म, चिंता आर्त-रौद्र जहाँ नहीं।
जहाँ धर्म-शुक्ल ध्यान नहीं, निर्वाण जानो रे वहीं।।
दृग, ज्ञान केवल, सौख्य केवल और केवल वीर्यता।
होते उन्हें सप्रदेशता, अस्तित्व, मूर्ति विहीनता।।
निर्वाण ही तो सिद्ध है, है सिद्ध ही निर्वाण रे।
हो कर्म से प्रविमुक्त आत्मा पहुँचता लोकान्त रे।।

अशरीरी दशा के साधक, संघ के नायक श्री सूर्यमित्र आचार्य धर्म की प्रभावना करते हुए, भव्य जीवों को स्वाधीन, अविनाशी अतीन्द्रिय आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिये धर्मामृत पिलाते हुए, ईर्यासमिति पूर्वक एक दिन आहार चर्या के लिए कौशाम्बीपुर पधारे। (गृहस्थाश्रम का भानजा अग्निभूति, जो वायुभूति का बड़ा भाई और सोमशर्मा ब्राह्मण का धर्मात्मा पुत्र था) नगर में पधारे हुए अपने गुरुवर श्री सूर्यमित्राचार्य को देखते ही अग्निभूति का मन आनन्द विभोर हो गया। उसका मन-मयूर आनन्द से नाच उठा। अहो ! धन्य गुरुवर, धन्य प्रभुवर !

अहाहा ! मानो रंक को निधि मिल गई हो, उसके हर्ष का पार न रहा। जैसे लक्ष्मण को राम प्रिय थे, वैसे ही धर्मात्मा को साधक संत प्रिय लगते हैं। पुलकित वदन, हर्षित मन – हे स्वामिन् ! नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु, अत्र, अत्र, अत्र, तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहार-जल शुद्ध है, कहकर मुनि भगवंत का पड़गाहन किया और दाता के सात गुणों से युक्त नवधाभक्ति सहित शुद्ध एवं प्रासुक आहार जो मुनिराज के ध्यान-ज्ञानादि का हेतु हो, ऐसा आहार दान दिया।

आहार लेकर मुनीश्वर ने जब आत्मध्यान हेतु वापस वन की ओर विहार किया तो उनके साथ अग्निभूति एवं नगरवासी भी चल पड़े। अग्निभूति के पैर चल तो रहें हैं गुरुवर के साथ लेकिन मन मयूर तो साक्षात् कल्पवृक्ष और चिंतामणि स्वरूप गुरुवर का लाभ प्राप्त कर कोई अलौकिक दुनियाँ में विचर रहा था। 'जाने साक्षात् सिद्ध भगवान ही उसके आंगन में पधारे हों।' एक ओर इतना हर्ष, दूसरी ओर वायुभूति के पापभावों का खेद।

वायुभूति को धर्ममार्ग में लगाने हेतु वह रास्ते में ही आचार्यदेव के चरणों में नतमस्तक हो प्रार्थना करने लगा – हे प्रभो ! आप तो तीनलोक के हितकारी हो, अपराधियों को क्षमादान देने वाले हो। प्रभु ! आप वायुभूति के निवास रास्ते से वन के लिए पधारें तो महान उपकार होगा। उसे भी सम्बोधकर पापों से छुड़ाइए प्रभुवर !

आचार्यदेव वायुभूति के भावों के पहले से ही ज्ञाता थे तथा उन्हें आत्मसाधना के अलावा समय ही नहीं है। इसलिए आचार्यदेव ने कहा– हे अग्निभूति ! वायुभूति के पास जाना योग्य नहीं है, क्योंकि वह स्वभाव से रौद्रपरिणामी है और मुझे देखते ही वह महा-निंदनीय कर्मों का संचय करेगा, वह जीव उस पाप का फल चिरकाल तक दुर्गतियों में भ्रमते हुए महादु:ख भोगेगा।

मुनिराज तो स्वयं अकषायस्वरूप हैं और वे किसी की कषाय में निमित्त भी नहीं बनना चाहते।

श्रीगुरु के वचन सुन अग्निभूति ने भाई के रागवश पुन: अनुनय-विनयपूर्वक निवेदन किया कि – हे प्रभु ! यदि उसकी होनहार अच्छी होगी तो वह भी पलट जावेगा। परन्तु मुनिराज गृहस्थ के घर तो मात्र आहार लेने हेतु ही पधारते हैं, अन्य कारण तो वे गृहस्थों से वचनालाप भी नहीं करते, तो फिर घर जाना तो असंभव ही था, अत: वे अपने मार्ग पर ही आगे बढ़ते चले गये।

योगानुयोग की बात कि आचार्य महाराज जिस रास्ते वन की ओर जा रहे थे, अचानक वायुभूति भी वहीं मिल गया और वायुभूति की नजर भी मुनिराज पर पड़ गई, उन्हें देखते ही पापी वायुभूति के कोप का ठिकाना न रहा। मुनिराज को सूर्यमित्र जानकर क्रोधोदय से कटुक, दुर्वचनों द्वारा मुनिनिंदा करते हुए बोला – अरे, सूर्यमित्र ! पहले से ही तू कृपण, दुष्ट, महान कुटिल परिणामी था, तूने हम दोनों भाईयों को घर-घर भीख मंगवाई थी, अब तू भी उसी पापोदयवश नग्न हो गया, सो योग्य ही हुआ है। जो दूसरों के प्रति जैसे भाव करता है, उसे भी वही दशा भोगनी पड़ती है। इस तरह निंदा के भावों से वायुभूति ने तिर्यंचगति का कारण अशुभ पापकर्म का बंध कर लिया।

इससे स्पष्ट पता चलता है कि जिसकी जैसी शुभाशुभ होनहार होती है, उसे वैसे ही निमित्त मिल जाते हैं, उसके भाव भी वैसे ही होते हैं, उन्हें कोई पलट नहीं सकता। "जो होना है सो निश्चित है, केवलज्ञानी ने गाया है।" समताभाव से मंथर, उत्तम क्षमादि गुणों के धारक, साम्यभाव की वृद्धि हेतु वायूभूतिकृत आक्रोश परिषह पर जय प्राप्त करते हुए मुनिराज वन की ओर गमन कर गये।

परन्तु अग्निभूति अफसोस कर रहा है – मुनि की निंदा, अरे गुरुवर तो शांत थे, उनने तो कुछ कहा नहीं था फिर भी वायुभूति ने निंदा क्यों की ? किसी को कुछ नहीं कहने पर भी जो निंदवचन कहता है वह तो लोक में भी महा अपराधी कहलाता है। मुझे तो बड़ा.......

सूर्यमित्र आचार्य ने अग्निभूति को सम्बोधित करते हुए कहा – हे सत्पुरुष ! दुर्जनों का स्वभाव ही ऐसा होता है। वे दीर्घ संसारी होते हैं, इसलिए उन्हें सद्‌बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती। परन्तु

"वे भी भूले हुए भगवान हैं। वे भी स्वभाव से तो अभी भगवान हैं, उनकी एक समय की भूल को मत देखो।"

फिर भी धर्मात्मा अग्निभूति, मुनिनिंदा मेरे ही कारण हुई है, इस तरह अपराधबोध महसूस करने लगा। तथा श्रीगुरु के तत्त्वोपदेश से उसने विचार किया कि जगत में अनेक प्रकार के जीव हैं, उनकी अनेक प्रकार की लब्धियाँ और अनेक प्रकार के कर्मों के उदय हैं, इसप्रकार विचार करते हुए अग्निभूति को संसार के प्रति वैराग्य भाव जाग्रत होने लगा।

इस वायुभूति ने वृथा ही मुनि निंदा कर दुर्गतियों को निमंत्रण दिया। अग्निभूति बारम्बार अपने को संबोधता था फिर गृहस्थ भूमिका होने से धर्म और धर्मात्मा की निंदा सहन करने में असमर्थ हो पुनः सोचने लगा कि कृत, कारित, अनुमोदना समान ही हैं। मैंने ही मुनिराज से आग्रह किया था, इसलिये मैं ही निंदा का भागी हुआ। अतः इस पाप की शुद्धि के लिये मैं भी बंदीगृह समान इस घर को और शत्रु समान भाई को त्याग कर संयम ग्रहण करता हूँ। ऐसे भाई से मुझे क्या प्रयोजन , जो वीतरागी गुरुओं की निंदा करे ? तथा इस घर और कुटुम्बीजनों से भी क्या कार्य सिद्ध होने वाला है। ये सब मेरे लिये पाप संचय में निमित्त हैं। "श्री अरहंत देव, साम्यभाव धारक निर्ग्रंथ गुरु और अरहंत देव द्वारा प्ररूपित धर्म – इन तीन की भक्ति समान अन्य कोई इस जीवन में शरण नहीं है और इनकी निंदा के समान अन्य कोई नरक, निगोद दायक पाप नहीं है।"

अहो ! वायुभूति कृत मुनिनिंदा, अग्निभूति के लिये मोक्षमार्ग का वरदान बन गई। भवभय से डरा हुआ अग्निभूति विचारने लगा –

भवभोग पराङ्मुख हे यते, पदमिदं भवहेतु विनाशनम्।
भज निजात्म निमग्नते पुनस्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया॥

निज आत्मा में लीन बुद्धि वाले तथा भव से और भोगों से पराङ्मुख हुए हे यति ! तू भवहेतु का विनाश करने वाले ऐसे इस (ध्रुव) पद को भज, अध्रुव वस्तु की चिन्ता से तुझे क्या प्रयोजन है? इसप्रकार के भावों से युक्त अग्निभूति पूज्य गुरुवर से प्रार्थना करने लगा। प्रभो ! मेरा चित्त इस संसार की विचित्रता देख अब एक क्षण भी संसार में नहीं रहना चाहता है, आपका परमसुखदाई मार्ग लख उसे प्राप्त करने के लिए ललचा रहा है, इसलिए हे गुरुवर ! आप अपने चरणों की शरण देकर अनुगृहीत कीजिये।

इसप्रकार दीक्षा के इच्छुक अग्निभूति को पूज्य गुरुवर ने जिनदीक्षा का पात्र जान आगमानुसार विधिपूर्वक पारमेश्वरी दीक्षा प्रदान की।

अग्निभूति ने भी गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर मन, वचन, काय से चौबीस प्रकार के परिग्रहों को छोड़कर, देवों को भी दुर्लभ, महा आनन्ददायक, कर्मनाशक ऐसा संयम अंगीकार कर लिया। ''अहो ! वह पाप भी भला है जिससे ज्ञानवान पुरुष संवेग धारण कर मोहशत्रु के घातक ऐसे महान तप को प्राप्त होते हैं।''

अग्निभूति के दीक्षित हो जाने से उसकी पत्नी सोमदत्ता अपने पति के वियोग से शोकमग्न दुःखभरी मुद्रा में वायुभूति के पास जाकर शोक की शान्ति के लिए वायुभूति से कहने लगी -- हे वायुभूति ! आपने अपने दुष्ट परिणामों से मुनिराज की निंदा की, यह कारण पा आपके भाई को वैराग्य हो जाने से वे मुनि हो गये हैं, यह किसी को पता चलने से पहले ही अपन दोनों चलकर उन्हें समझा-बुझाकर वापस घर ले आवें, इसलिये आप मेरे साथ चलिये। यदि देर करेंगे तो फिर आपके भाई को वापस लाना मुश्किल होगा।

सोमदत्ता के वचन सुनते ही वायुभूति क्रोधायमान हो उठा। क्रोधान्ध वायुभूति ने कुपित हो अपनी भाभी, जो कि मातातुल्य होती है, के मुख पर लात मार दी।

वायुभूति द्वारा लात की मार से स्व-पर घातक ऐसे क्रोध में सोमदत्ता ने पापकर्म का कारण जगत निंद्य ऐसा निदान किया, अरे दुराचारी ! अभी तो मैं अबला हूँ, निर्बल हूँ, अवसर मिलने पर मैं तेरे पैरों के टुकडे-टुकडे करके खा जाऊंगी।

बड़े खेद की बात है कि अज्ञानी पापी जीव क्रोधांध हो अपना और पराया किसी का हित-अहित नहीं देखता। दूसरों का अहित तो उसके पाप के उदय में होगा तो होगा, यदि उसका पुण्य का उदय हुआ तो कुछ भी करते रहो उसका बाल भी बांका नहीं होता, परंतु अहित करने के भावों से स्वयं तो वर्तमान में भी दुःख भोगता है और भविष्य में भी दुःख ही भोगेगा। इसलिये धर्मबुद्धि धारक ज्ञानी पुरुषों को दोनों लोकों का बिगाड़ने वाला, धर्म का नाशक, ऐसे शत्रु समान क्रोध को क्षमादि भावों के द्वारा जीत लेना ही श्रेष्ठ है।

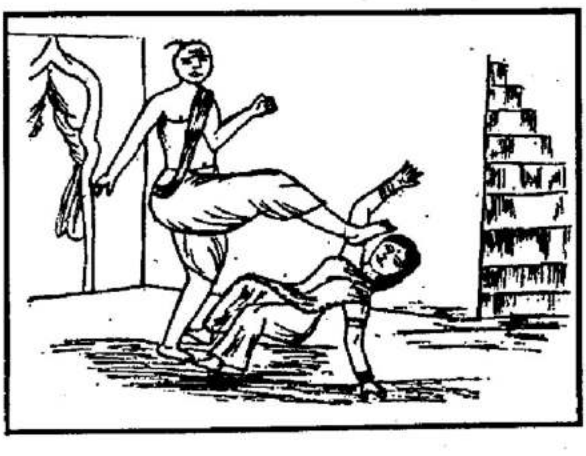

मुनिनिंदा के परिणाम हैं प्रधान जिसमें ऐसे अनेक प्रकार के पाप के उदय से वायुभूति को सातवें ही दिन शरीर में महाघोर दुःखों से भरपूर उदम्बर जाति का कुष्ठरोग हो गया,

जिसकी व्याधिजनक पीड़ा असहनीय थी। इस कारण आर्तध्यान से मरकर वह दुर्गति में गया।

अरे जीवो ! महापाप के भावों से पापकर्म बंधते हैं, जिनमें से कितने ही तो इसी भव में पककर नाना रूप दु:खों में निमित्त होते हैं। उन दु:खों को कोई भी कहने में समर्थ नहीं है।

उस वायुभूति के जीव ने आर्तध्यान से प्राण तजे और इस कारण वह उसी कौशांबी में गधी हुई। अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामय धर्म की निंदा से जीव, भूत, वर्तमान और भावी तीनों कालों के पुण्य कर्म और सुखों का नाश करता है। इसलिये यह जानकर भव्यजीवों को सदा अपने परिणाम पवित्र रखने चाहिये। मन, वचन और काय से देव, शास्त्र और गुरु की आराधना और निजात्मा की आराधना पूर्वक ही प्राणों का विसर्जन हो, यही श्रेष्ठ है।

वह गधी पापोदय से सैकड़ों क्लेशों का दु:ख, भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि की तीव्र वेदना, लोगों द्वारा पद-पद पर लकड़ी एवं पत्थरों की मार के दु:ख, नासिका छेदन, अतिभार वहन आदि दु:ख भोगती हुई अल्प आयु में ही मर कर उसी कौशांबी नगरी में ही गधी से भी हीन पर्याय सुअरनी को प्राप्त हुई। वहाँ भी उसने तिर्यंचगति जन्य अगणित दु:ख सहे।

स्वामी रहित पशुओं का कोई रक्षक न होने से उनके दु:खों का तो कोई ठिकाना ही नहीं रहता। बेचारे मूक प्राणी भोगते हैं और केवली परमात्मा जानते हैं।

मारन, ताड़न आदि दु:खों से पीड़ित हो महाकष्टों सहित प्राण छोड़कर वह सुअरनी चम्पापुरी में चांडाल के बाड़े में कुत्ती हुई। जो महाघोर दु:खों से व्याकुल है और विकराल अर्थात् महा भयंकर मुख से सदा ही जिह्वा बाहर निकली रहती है —ऐसी अत्यन्त क्रूर परिणामी है, उसी चांडाल के बाड़े में ही भूख, प्यास, ठंडी, गर्मी के दु:ख और लोगों द्वारा सताये जाने के दु:खों से अति कष्टों से प्राण छोड़कर उस ही कौशांबी में एक चांडालनी से जन्मांध चुहड़ी नाम की पुत्री उत्पन्न हुई।

जब वह कुछ बड़ी हुई तो उसके माता-पिता ने उसे जंगल में छोड़ दिया। अब वह महा कष्टों के साथ जीवन बिता रही थी। कैसा पाप का उदय ! जिसे सुनते ही हृदय भय से कांप उठता है। उसका शरीर भी अत्यन्त दुर्गंधयुक्त, दु:खों से भरा, महाविकराल था।

किसी विशेष पुण्य कर्म के उदय से एक दिन विहार करते हुए श्री सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनिवर उसी नगर के जंगल में पधारे, जिस नगर में वायुभूति का जीव, चांडालनी की जन्मांध पुत्री चुहड़ी के रूप में जन्मा था। श्री सूर्यमित्र मुनिवर का उपवास होने से वे आत्मस्थ हो वन में ही ठहर गये और श्री अग्निभूति मुनिवर आहारचर्या के निमित्त नगर की ओर आ रहे थे, मार्ग में जंगल के एक वृक्ष के नीचे दु:ख से पीड़ित वह जन्मांध चुहड़ी बैठी थी। भवान्तर के स्नेहवश तथा वर्तमान

में दु:खी उस चुहड़ी को देखकर मुनिराज का हृदय कुछ करुणार्द्र हो गया, इस बात से अपरिचित वे विचारने लगे कि "मुझे इस जन्मांध के प्रति ऐसी अकारण करुणा क्यों आ रही है ?" अत: वे अग्निभूति मुनिराज आहार के लिये नगर में न जाकर वापस अपने गुरु श्री सूर्यमित्र के समीप गये और उनसे उस बालिका का स्वरूप एवं अपने मन में उत्पन्न हुए खेद व करुणा के कारण को विनय सहित पूछने लगे।

तीन ज्ञान के धारी पूज्य आचार्य श्री सूर्यमित्र मुनिराज ने कहा– हे धीमान् ! यह और कोई नहीं तेरे ही भाई वायुभूति का जीव है, इसने क्रोधान्ध हो अनेकों पाप किए थे और अकारण अपने द्वेषवश मुनिधर्म की निंदा की थी, उसी के फलस्वरूप यह लोकनिंद्य ऐसी तिर्यंच पर्यायों में निरन्तर महादु:ख भोगता हुआ अब यहाँ जन्मांध चांडाली के रूप में जन्मा है। इसलिये पूर्वभव के सम्बन्ध व स्नेह के कारण आपको खेद आदि हुआ है। प्राणियों को पूर्वभव के साथियों से स्नेह व बैर पूर्व सम्बन्ध के कारण सहज ही होता है।

हे अग्निभूति ! उस बालिका के कल्याण का काल अति ही निकट है, उसकी आज ही मृत्यु होने वाली है, इसलिए आप शीघ्र जाकर धर्मपूर्ण वचनों से सम्बोधन कर, उसे श्रावक के व्रतपूर्वक संन्यास धारण कराओ।

गुरुवर के वचन सुनकर परोपकारी अग्निभूति मुनिराज शीघ्र ही वापस उस बालिका के समीप पहुँचे और उसे इसप्रकार सम्बोधन करने लगे –

"हे पुत्री ! तू पापकर्म के उदय में अनेकों दु:खों को भोगती हुई इस चांडाली पर्याय में उत्पन्न हुई है। अब पाप कर्म की शान्ति के लिए और सुख प्राप्ति के लिये श्रावक धर्म को अंगीकार कर ! तथा मेरे कहे अनुसार मद्य, मांस, मधु और पंच उदुम्बर फलों का त्याग कर ! खाद्य, स्वाद्य, लेय और पेय इन चार प्रकार के आहार का त्याग कर ! और किसी प्राणी की हिंसा नहीं करना, झूठ नहीं बोलना, किसी की वस्तु नहीं चुराना, किसी पर बुरी निगाह नहीं डालना और बहुत परिग्रह नहीं जोड़ना – इन पाँच अणुव्रतों को धारण कर तथा तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत पूर्वक समाधिमरण अंगीकार कर; क्योंकि तेरी आयु आज ही पूरी होने वाली है। इन व्रतों से तुझे सुख प्राप्त होगा।"

लोक में कहावत है "भाग्यवान के भाग्य से भूत कमाते हैं" उस चांडाली की बालिका की भली होनहार तो थी ही, अत: उसके अनुकूल उत्कृष्ट निमित्त मुनिराज भी मिल गये और उसकी योग्य मति हो जाने से उसने मुनिराज के वचनों पर विश्वास कर उन व्रतों को भी ग्रहण कर लिया। उस बालिका ने मुनिराज द्वारा ग्रहण कराये गये व्रतों को ग्रहण कर, चार प्रकार के आहार का त्याग किया और अनशन पूर्वक श्रावक धर्म अंगीकार करके संन्यास ग्रहण कर लिया।

सूर्यमित्र मुनिराज ने राजा चन्द्रवाहन को यह कथा सुनाते हुए कहा–

"हे राजन्! जब उस बालिका ने संन्यास धारण किया था, तब इस नागशर्मा ब्राह्मण की पत्नी त्रिदेवी, पुत्री की प्राप्ति की भावना से नाग देवता को पूजने के लिये उसी रास्ते से जा रही थी, जब उस बालिका ने पास से ही निकलने वाली त्रिदेवी और उसके साथ बजने वाले बाजों की आवाज सुनकर तथा कुछ महिलाओं द्वारा कही जाने वाली इसप्रकार की बातें "भगवान इसे पुत्री दे देना, भावना सफल कर देना" यह सुनकर उसने निदान किया कि मैं व्रत और संन्यास के फल में इस त्रिदेवी की ही उत्तम पुत्री होऊँ। मैं इसके सिवा और कुछ नहीं चाहती।

जैसे कोई दुर्बुद्धि अज्ञानी मूर्ख रत्न के बदले कांच, हाथी के बदले गधा और स्वर्ण देकर लोहा ले। वैसे ही इस ज्ञानहीन, जन्मांध बालिका ने स्वर्ग सम्पदा के कारणभूत जो व्रत और संन्यास था, उसके फलरूप में सामान्य पुण्यकर्म रूपी स्त्री पर्याय की याचना हर्षपूर्वक की। जैसे कोई दरिद्र को चिन्तामणि हाथ लग जावे और वह उसे सुई पिरोना समझे तो उसकी मूर्खता का क्या कहना ?

निदान के फल में वह चांडाली यहाँ नागश्री के रूप में उत्पन्न हुई। पूर्व संस्कारों के कारण वह आज ब्राह्मण कन्याओं के साथ नाग पूजने आई थी, नागपूजा से निवृत्त हो हमारे पास आकर नमस्कार कर यहाँ बैठ गई। तब हम दोनों (सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनिराज) ने उसकी भली होनहार जानकर उसे सम्यक्त्व सहित श्रावक के व्रत ग्रहण कराये।

हे राजन्! वायुभूति का जीव अपने पाप कर्म के उदय से तिर्यंचगति के दु:ख भोगता हुआ इस चांडाली की पर्याय के दु:खों को भोगकर यहाँ नागश्री हुआ है। अत्यन्त क्रूर पापकर्म से जीव नरकादि दुर्गति में भ्रमण करता है और विशिष्ट पुण्यकर्म से देवादि शुभगति पाता है और मध्यस्थ परिणामों से मनुष्यगति पाता है। धर्मात्मा जीव धर्म के फल में इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदों को पाकर, सुख भोगकर, मोक्ष को प्राप्त करता है।

तीन लोक में सारभूत-पारमार्थिक अतींद्रिय सुख मात्र धर्मात्मा ही पाते हैं। पापी जीव

अनेक प्रकार के दु:खसमूहों को प्राप्त करते हैं। वे दूसरों के दास होते हैं, घर-घर भीख मांगते हैं और अनेक प्रकार की आधि, व्याधि आदि सहते हैं। तीन लोक में दुर्लभ अथवा ऐसी वस्तुयें जो दूर देशों में होती हैं, धर्मात्मा को धर्म के फल में स्वयं ही आकर मिलती हैं। पापी के पापोदय में हाथ की वस्तु भी चली जाती है। यही मूर्खता वायुभूति के जीव ने भी की थी। "दरवाजे पर पधारे सिद्धसमान गुरु की अहवेलना, मणिरत्न जैसा धर्म व हीरे जैसा यह मनुष्य भव यों ही खो दिया। बहती गंगा में हाथ न धोये तो पीछे पछताना ही पड़ता है।"

अत: हे भव्य ! मन, वचन, काय की शुद्धतापूर्वक अपने हित का इच्छुक बन ! समस्त पापों को छोड़कर स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति के लिये जिनेन्द्रदेव कथित परमधर्म का सदा सेवन कर ! मैं भी अपुनर्भव के लिये सदा धर्म का सेवन करता हूँ और धर्म से ही अनुपम आत्मीक धर्म का आचरण होता है। इसलिये हे भव्य ! सम्पूर्ण दु:खों को हरने वाले इस धर्म का सेवन कर !

वैराग्य का मौसम

श्रीमत् तीन भुवन के ईश, गुणसागर प्रणमूं नत शीश।
पंच परमगुरु शिवसुख देत, जिनमंदिर जिनबिंब समेत॥

सूर्य के समान है ज्ञान का प्रकाश जिनके और जगत के जीवों के हितकर, सुखकर और प्रिय होने से जो अकारण मित्र हैं, ऐसे श्री सूर्यमित्र मुनिराज के मुखारविंद से घोर दु:खों के उपशमन का उपाय जानकर और कुछ पूर्व पुण्य उदयवश पाई है मनुष्यपर्याय जिसने – ऐसी नागश्री के भवान्तर सुनकर राजा चन्द्रवाहन सहित समस्त ब्राह्मण समाज, पुरजन-परिजन एवं नागश्री आदि का मन संसार, देह, भोगों से उदास हो वैराग्य रस में सराबोर हो गया। वे सभी धर्म का अद्‌भुत महात्म्य जान चिंतवन करने लगे।

अहो ! इस लोक में जिनेन्द्र देव का कहा हुआ यह वीतरागी दयामयी जैनधर्म ही महान है, आराधने योग्य है, सुख का कारण है। मूर्ख मिथ्यादृष्टियों द्वारा कल्पित, जीवों का घातक, यज्ञादि कर्म संसार भ्रमण का कारण है, अत: छोड़ने योग्य ही है।

'भुक्ति मुक्ति दातार' भुक्ति अर्थात् इन्द्रिय भोगों के त्यागरूप जो वैराग्य भाव का अनुभव और मुक्ति अर्थात् समस्त कर्मों का क्षय है निमित्त जिसमें ऐसा शुद्धात्मा का पूर्ण लाभ रूप परम निर्वाण और अठारह दोषों से रहित, छयालीस गुणों से सहित वीतराग सर्वज्ञ देव ही महान देव हैं, अन्य नहीं। ये ही मुक्ति के दाता अर्थात् असाधारण निमित्त हैं। वीतराग-सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्ररूपित द्वादशांग वाणी ही धर्म का मूल एवं सच्चा आगम (शास्त्र) है, जो सर्वज्ञता से शून्य हैं, वे

आप्त के अभिमान से दग्ध हैं। एकान्त के पक्षग्राही अज्ञानी पुरुषों द्वारा कल्पित वेदादि महापाप के मूल हैं और असत्य हैं।

पूज्य गुरुवर कृत उपकार से नम्रीभूत हो पुन: पुन: सभी उनके अनेक प्रकार से गुणानुवाद कर रहे हैं।

विषयसुखविरक्ता: शुद्धतत्त्वानुरक्ता:
तपसि निरतचित्ता: शास्त्र संघातमत्ता:।
गुणमणिगणयुक्ता: सर्वसंकल्पमुक्ता:
कथममृतवधूटीवल्लभा न स्युरेते ।।

जो विषय सुख से विरक्त हैं, शुद्ध आत्म तत्त्व में अनुरक्त हैं, तप में लीन जिनका चित्त है, शास्त्रसमूह में जो मत्त (मस्त) हैं, गुणरूपी मणियों के समुदाय से युक्त हैं और सर्व संकल्पों से मुक्त हैं, वे मुक्ति सुन्दरी के वल्लभ क्यों न होंगे ? अवश्य ही होंगे।

लोकालोक के परोक्ष ज्ञायक, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, बिना कारण जगत के बांधव श्री निर्ग्रंथ जैन यति ही परम पूज्य गुरु हैं। पंचेन्द्रिय के विषयों से आकुलित मूर्ख, मिथ्यादृष्टि कभी भी गुरु नहीं होते। वे तो पत्थर की नाव के समान भारी, संसार समुद्र में डूबने और डुबोने वाले होते हैं।

त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त वस्तुस्वरूप का प्रकाशक, सम्यग्ज्ञान निर्ग्रंथ योगीश्वरों को ही होता है, वैसा ज्ञान मिथ्यादृष्टियों को कभी स्वप्न में भी नहीं हो सकता। जैसे कोई मूर्ख हलाहल जहर भक्षण कर दीर्घ काल तक जीना चाहे, वैसे ही कुमार्गी मिथ्यादृष्टि जीवघात करके कल्याण चाहता है। जैसे कोई अज्ञानी कंठ में पुष्पमाला के भ्रम में सर्प को धारण करता है, वैसे ही कुमार्गी मूर्ख यज्ञ में जीववध आदि को धर्म मान आचरण करता है। जैसे मदिरा-घट को बाहर से अनेक बार धोये जाने पर भी अन्दर की दुर्गंध नहीं जाती। वैसे ही अन्तर में मिथ्यात्व, कषाय आदि मल से व्याप्त मिथ्यादृष्टि बाह्य में स्नानादि कर शुद्धि मानता है, परन्तु अन्दर की अशुद्धि नहीं जाती। फिर भले ही वह गंगा-जमुना आदि में स्नान करे, उससे तो मात्र कुछ समय के लिये शरीर का मल ही धुलता है, अन्तरंग कषायमल नहीं। यह सब कल्पनायें मृगजलवत् हैं, वे मानुष जीवनरूपी रत्न को व्यर्थ ही गंवाते हैं, केवल घोर पापों का बंध करते हैं। आत्मा की शुद्धि तो मिथ्यात्व-कषाय मल के अभाव से होती है। मैंने भी कुबुद्धि से कुमार्ग में इतना जीवन व्यर्थ ही गमाया। विवेक जागृत होते ही भूतकाल का मात्र पश्चाताप ही रह जाता है, बीता हुआ समय वापस नहीं आता।

कुबुद्धि को विडार, सुबुद्धि को उद्योत भयो।
भले दिन पाय जैनधर्म उर परिनयो।।

"आज ही मैं पुण्यवान हुआ, आज ही मैं धन्य हुआ, जिससे जैनाचार्य पूज्य श्री सूर्यमित्र मुनिराज के प्रसाद से अनादि का भूला हुआ महा अलौकिक यह जैनधर्म मुझे प्राप्त हुआ" – इत्यादि अनेक प्रकार का चिन्तन करते हुए उस नागशर्मा पुरोहित ने अपने अन्तरंग में प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य आदि भाव प्रगट कर, परमोपकारी श्री सूर्यमित्र मुनिराज के वचनों का अमृतपान किया और मिथ्यात्वरूपी हलाहल जहर के परित्याग पूर्वक बाह्य-अभ्यन्तर चौबीसों परिग्रह का त्याग कर मोक्षसुखदायनी पारमेश्वरी भगवती जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। उस समय बहुत से अन्य ब्राह्मण भी जैनधर्म की अद्भुत महिमा जानकर संसार, देह, भोगों से विरक्त हो दीक्षित हो गये।

नागश्री भी अपने अनाचार एवं पाप भावों से प्राप्त भवान्तर के दुःखों को सुनकर उनसे भयभीत हो संवेगरूप आभूषण को धारण कर, १६ हाथ की मात्र एक सफेद साड़ी के अलावा समस्त परिग्रह त्याग कर बालपने में ही अति प्रवीण आर्यिका हो गई। उसी समय नागश्री की माँ त्रिदेवी भी अनेक ब्राह्मणियों के साथ मोहरूपी बैरी का नाश करके स्वर्ग-मोक्षदायक सकल परिग्रह रहित दीक्षा धारण कर आर्यिका बन गई।

चम्पापुरी के राजा चन्द्रवाहन ने भी नागश्री की कथा सुनकर विषय भोगों से उदास हो, हृदय में हर्षित होकर अपने पुत्र लोकपाल को राजतिलक कर, बहुत से भव्यजीवों एवं रानियों सहित वैराग्य को प्राप्त कर, माता के समान रक्षक जिनदीक्षा धारण कर ली। पुरवासियों में से भी अनेकों ने किसी ने आनन्ददायक सम्यग्दर्शन सहित महाव्रत, अणुव्रत धारण किये और किन्हीं ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया और कितनों ने जैनधर्म में महान आस्था धारण की।

अहो ! "सन्तों का पधारना, अर्थात् धर्म की कमाई का मौसम आना। सन्तों की अमृतमयी वाणी का खिरना मानों भव्यों की पात्रता का पाक होना। मनुष्यभव की जवानी का काल वास्तव में धर्म की कमाई का मंगल अवसर है।" जीवों की पात्रता पकती है तो निमित्त स्वतः सहज ही मिल जाते हैं, उन्हें लाना नहीं पड़ता।

आ हा हा ...... कैसे होंगे वे गुरुजन ? कैसा होगा उनका शान्त प्रशान्त रस झरता वीतरागी दीदार ? कैसी होगी उनकी वाणी ? कैसी होगी वह मुमुक्षु मंडली ? मात्र छोटी सी भोली भाली, भक्ति रस से सराबोर हृदय वाली नागश्री का बहाना मिला कि मोक्ष के पिपासु उछल पड़े। धन्य है

उनका पुरुषार्थ और धन्य है उनकी साधना। अहो ! चम्पापुरी में वीतरागता की सौरभ का रंग सब पर छा गया। मानों जैसे वासुपूज्य भगवान का केवलज्ञान सबको कैवल्य प्राप्ति के लिये आह्वान कर रहा हो।

हे सखा ! चलो हम सभी आचार्यवर श्री सूर्यमित्र महाराज के साथ अतीन्द्रिय आनन्द में केली करते हुए संयम की निर्दोषता के लिये विहार करें। नवदीक्षित सन्त मण्डली ईर्या समिति पूर्वक विहार करती है। गुरुवर से अंग-पूर्वादि श्रुत का अभ्यास करते हैं। कर्मवन को दग्ध करने के लिए द्वादश प्रकार के घोर तपों को तपने में संलग्न होने से भव और भोग रूपी बैरी भी स्वतः शान्त हो गये हैं। निज स्वरूप के रसिया, पर्वत, वन, कोटर, गिरिगुफा, गिरिशिखर के बसिया। निर्जन गहन वनस्थानों में ध्यान और अध्ययन की सिद्धि के लिये, प्रमाद रहित विहार करते हुए जहाँ कहीं वन-पर्वतादि स्थानों में सूर्य अस्त होने का समय आता कि वहाँ ही प्रतिमायोग धारण कर ठहर जाते। रात्रि में विहार करने से जीवों की हिंसा होती है, इसलिये साधुजन जीव दया के लिये रात्रि में विहार नहीं करते। जिनके आर्त, रौद्र ध्यान तो अस्ताचल की ओर चले गये हैं – ऐसे मुनिराज सिद्धसम अचल हो कायोत्सर्ग पूर्वक धर्म-शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं। जो सदा भव्यों को स्वाध्याय, ध्यान, षट् आवश्यक आदि का धर्मोपदेश देते हैं। विकथायें तो उनके पास फटक भी नहीं पाती हैं, ऐसे स्व-पर तारक गुरु, परम तपोनिधि मोक्षपथ में गमन कर रहे हैं।

वे मुनीश्वर सारभूत अट्ठाईस मूलगुणों को तो निरतिचार पालते ही हैं, चौरासी लाख उत्तर गुणों में से भी अधिकतर गुणों को चन्द्रमा के समान उज्ज्वल रीति से पालन करते हुए सम्पूर्ण मुनिचर्या को मन, वचन, काय की एकता सहित यत्नपूर्वक निरतिचार पालते हैं। अशुभभावों की तो मानो उनके सत्ता ही नहीं, अनायतनों को देखने के लिये तो उनके नेत्र ही बंद हो गये हैं और अरहन्त देव, वीतरागी निर्ग्रंथ गुरु, अरहन्तों के प्रतिबिम्ब, निर्वाणभूमियों आदि के अवलोकनार्थ नेत्र अच्छी तरह खुल गये हैं। ज्ञानी सदा गुणों के ग्राहक होते हैं, अतः ज्ञानी के ज्ञाननेत्र भी सहस्रता को प्राप्त हो जाते हैं, जबकि अज्ञानी के बन्द रहते हैं। कितनी आश्चर्यकारी भिन्नता है।

मुनिवर, निर्वाणधाम, कल्याणकों के धाम आदि तीर्थक्षेत्रों के तथा गुरुवर दर्शनार्थ शुभयात्रा के लिये गमन करते हैं, कुतीर्थों में जाने के लिये वे पंगु समान हैं। ज्ञानी, उत्तम पुरुषों के समीचीन चरित्र ग्रंथों के अध्ययन करने में, सैद्धांतिक जीवादि तत्त्वों के स्वरूप प्रतिपादन करने में सहस्र जिह्वायुक्त एवं उल्लसित वीर्यवंत होते हैं और वस्तुस्वरूप से विपरीत अशुभ वचनों के लिये गूंगे के समान रहते हैं। सर्वज्ञ कथित आगम और आत्मतत्त्वादि के बोधक धर्म वाक्यों के श्रवण करने में

सदा तत्पर रहते हैं और मिथ्यात्व/संसार पोषक वचन सुनने के लिये बहरे के समान हो जाते हैं। यतीश्वर निन्दनीय कार्यों से विमुक्त, सदा ध्यान, अध्ययनादि कार्यों में ही प्रवर्तन करते हैं। पाप भावों से भी सदा भयभीत रहते हैं, मात्र मोक्ष के ही वांछक होते हैं। घोर उपसर्गों में भी सदा निर्भय रहते हैं, समस्त विकार रहित, परिषहों के विजेता महा धीर-वीर एवं गुणगंभीर होते हैं। उनके पाप भावों के अभाव में पाप बंध भी नहीं होता। मुनिराज स्वभाव साधना में तत्पर रहते हुए शुभाचरण से सहित होते हैं। बाह्य शरीर में रहते हुए दिखने पर भी सदा देहातीत हैं।

हे गुरुवर ! आपने मुनिवरों का अन्तरबाह्य स्वरूप बतलाते हुए उन्हें गूंगा, बहरा, पंगु, अंधा आदि कहा तो क्या उन्हें उन कार्यों के प्रति द्वेष वर्तता है ?

हे महाजन ! आपके प्रश्न से ही ज्ञात होता है कि अभी आपको काफी अध्ययन की आवश्यकता है। अरे, मुनिराज का जीवन तो ऐसा होता है – "अर्घावतारण असिप्रहारण में सदा समता धरण" अर्घ्य चढ़ाने वालों के प्रति कभी प्रमुदित नहीं होते और तलवार का प्रहार करने वालों पर कभी कुपित/रुष्ट नहीं होते, सभी परिस्थितियों में समता के धारी होते हैं। उनकी चाल, ढाल, श्वांस, प्रश्वांस और पूरा जीवन ही आत्मसाधनामय हो जाने से बाहर उपयोग की जरा भी बरबादी नहीं होती। इसलिये उनकी ऐसी प्रवृत्तियों को इस प्रकार की व्यंजना शैली में कहा गया है।

दुर्द्धर तपश्चरण से, अत्यन्त विशुद्ध भावों से, संयमाचरण से और धर्म-शुक्लरूप ध्यानों के फलस्वरूप दीप्ति आदि सारभूत अनेक ऋद्धियाँ जिन्हें प्राप्त हुई हैं, ऐसे परम तपोधन सूर्यमित्राचार्य अपनी धर्मामृत वर्षा से भव्यजीवों को धर्म में स्थापित करते हुए तथा धर्म प्रभावना के लिये/तीर्थ की प्रवृत्ति के लिये विहार करते हुए एक दिन राजगृह के विशाल वन में पधारे, वहाँ भी भव्यों की पात्रता उछल पड़ी। जिनकी होनहार अच्छी होती है, वहाँ निमित्त रूप श्री गुरु सहज ही मिल जाते हैं। यही बनाव कौशांबी के राजा अतिबल के साथ बना। वे अपने काका-राजगृही के राजा सुबल से मिलने आये हुए थे। सुबल राजा अपने भतीजे राजा अतिबल का यथायोग्य सन्मान कर बैठे ही थे कि– उसी समय नृप युगल को वनपाल ने आकर श्री सूर्यमित्राचार्य का संघ सहित वन में पदार्पण हुआ है – ऐसा शुभसन्देश सुनाया।

धर्म के वांछक दोनों राजा मुनिवरों की वन्दना के लिये शीघ्र ही वन की ओर चल दिये। वन में दीप्ति आदि ऋद्धियों से शोभायमान गुरुवर श्री सूर्यमित्राचार्य के दर्शन पा आनन्द विभोर हो, शीश झुकाकर नमस्कार किया और बड़े ही हर्षपूर्वक आदर के साथ अष्टद्रव्य से पूजा की।

अनुपम ज्ञान प्रकाश के द्वारा समस्त दिशाओं के अंधकार के नाशक ऐसे श्री सूर्यमित्र गुरुवर

की दैदीप्यमान देह की कान्ति देखकर राजा सुबल अति ही विस्मयता को प्राप्त हुए और तपश्चरण का अतिशय देख हर्षित होते हुए मन में विचार करने लगे। अरे यह सूर्यमित्र ! सर्व विप्रों में प्रधान मेरा महान शुभचिंतक पुरोहित था। परन्तु अहो ! अब जैनेश्वरी दीक्षा और तपश्चरण के फलस्वरूप ये अनेक अनुपम ऋद्धियाँ प्रगट हो गईं। सूर्य के समान दैदीप्यमान रूप, महातेजस्वी, महाज्ञान की कांति से शोभायमान, सकल संघ में प्रधान ऐसे गुणवान सूरपद के धारक हो गये। अहो धर्म ! अहो धर्म का प्रभाव ! तप, संयम, ध्यानादि रूप धर्म से युक्त पुण्यवान महन्त पुरुष इस भव में ही सत्कार और पूज्यता को प्राप्त हो जाते हैं। तब फिर परलोक में ऐसी कौन सी विभूतियाँ हैं, जो इन्हें प्राप्त नहीं होगीं ? सब कुछ स्वयमेव पुण्य की दासी बनकर उनके चरणों में ही लोटेंगी।

जिस राज्य सम्पदा से दोनों लोकों में दुःख की सन्तति चलती हो, उसे ज्ञानवन्त पुरुष छोड़ने में जरा भी विलम्ब नहीं करते। इस प्रकार के विचारों से राजगृही के राजा सुबल धर्म तथा धर्म के फल में परम श्रद्धाचरण कर, संसार, देह, भोगों से अत्यंत उदास हो, राज्य के अत्यंत पापरूप भार को उतारने के लिये, गृहबंधन तोड़ने के लिये और कल्याणकारी पवित्र तपश्चरण अंगीकार करने के लिये तैयार हो गये। अहा ! भूमि तो सर्वत्र है, वर्षा होने से और बीज से फल की उपलब्धि भी अवश्यंभावी है। भव्यजीव तो सर्वत्र हैं, विरक्त गुरु द्वारा धर्मामृत की वर्षा पाकर आत्मरुचि का बीज पड़ा तो फिर ज्ञान-वैराग्य रूप फूल-फल निश्चित फूलेंगे-फलेंगे।

हे गुरुवर ! उसके बाद राजा सुबल का क्या हुआ ?

हे सज्जन ! राजा तो क्षत्रिय होते हैं 'जे कम्मे शूरा वे धम्मे शूरा' जो कर्म करने में शूरवीर होते हैं वे कर्म काटने वाले धर्म में भी शूरवीर होते हैं। राजा को ज्ञान-वैराग्य का रंग तो चढ़ ही गया था, फिर क्या था ?

स्वरूप विश्रान्ति रूप तप की प्राप्ति हेतु कौशांबी के राजा अतिबल को राज्य भार सम्हलाने का विचार कर राजा सुबल ने कहा – 'हे धीमान् नृप ! अतिबल, मगधदेश राजगृह नगर का सम्पूर्ण राज्य आप ग्रहण कीजिये। मैं तो संयम अंगीकार करता हूँ।

वैरागी सुबल के वचन सुनकर धर्मात्मा अतिबल ने कहा, हे राजन् ! राज्यभार में जो दोष आपको दिखाई दे रहे हैं, वे ही दोष विशेषरूप से मुझे भी दिखाई दे रहे हैं। तप, धर्म, चारित्र के जो गुण आपको दिख रहे हैं वैसे ही गुण भेदविज्ञान रूपी नेत्रों से मुझे भी विशेष रूप से दिख रहे हैं।

इसलिये तप संयमादि गुणों के लिये राज्य का पाप भार छोड़कर मुक्ति का साम्राज्य प्राप्त करने के लिये मैं भी आपके साथ ही तप एवं संयम अंगीकार करूँगा।

जिनके माथे भार, वे डूबे मझधार में।
हम उतरें भव पार, झोंक भार को भाड़ में॥

अतिबल को भी राज्य सुख से पराङ्मुख जानकर राजा सुबल ने अपने मीनध्वज नाम के पुत्र को राज्य तिलक करके आत्महित के लिये अतिबल तथा बहुत से अन्य राजाओं सहित, सर्व परिग्रह का त्याग कर शीघ्र ही श्री सूर्यमित्राचार्य से वीतरागी, पारमेश्वरी जिनदीक्षा अंगीकार कर ली।

अहा ! स्वरूप की गुप्त गुफा के वासी ! धर्म के स्तंभ, शिवकांता के प्रिय, निर्वस्त्र काया, हाथ में पीछी-कमण्डलु, आत्मा का ध्यान करते हुए, चार हाथ भूमि शोधते हुए, धर्म प्रभावना हेतु, भव्यों को मोक्षमार्ग दर्शाते हुए जगत के बंधु श्री सूर्यमित्र आचार्य संघ सहित वनखंड, पुर, ग्रामादि में विहार करने लगे।

वैराग्य की आई है बहार, हुआ गुरुवर का मिलाप।
चेतना की हुई है पुकार, जागा आनन्द अमाप॥

पूज्य आर्यिका नागश्री का समाधिमरण

अब हम इसे यहीं विराम देते हुए, अपने कथानायक भावी सुकुमाल के जीव के वर्तमान में आ जावें।

बाल्यावस्था में ही अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण इन दो कषाय चौकड़ी के अभाव पूर्वक आत्मिक अतीन्द्रिय आनन्दामृत का पान करती हुईं जीवनभर निरतिचार तप, संयम को पालती हुईं नागश्री आर्यिकाजी ने संघस्थ आर्यिका समूह के समक्ष समाधिमरण की भावना व्यक्त करते हुए कहा कि "मैं पंच परमेष्ठी एवं चतुर्विध संघ की साक्षी पूर्वक चार प्रकार के आहार का त्याग करके, शरीर के प्रति निर्मोही हो आनन्द सहित संन्यास धारण करना चाहती हूँ।"

निर्यापकाचार्य ने अपने निमित्तज्ञान से नागश्री की वर्तमान आयु का मात्र एक माह अवशेष रह गया यह जान कर और समाधिमरण के योग्य उनके परिणामों को जानकर उन्हें समाधिमरण की आज्ञा दे दी, तब पूज्य आर्यिका समुदाय ने समाधिमरण के लिये तैयार है परिणाम जिसका – ऐसी नागश्री आर्यिका को निर्मलभावरूपी अमृत से सिंचित कर, निर्यापकाचार्य की आज्ञानुसार प्रथम तो उन्हें पूर्व दिशा की ओर मस्तक रखकर समाधिमरण की प्रतिज्ञा कराई। पश्चात् खाद्य, स्वाद्य, लेय और पेय इन चार प्रकार के आहार का क्रमश: त्याग कराया। समाधिमरण की प्रतिज्ञा धारण कर नागश्री ने क्षुधा, तृषादि सभी परिषहों पर विजय प्राप्त की। उपवासादि तपों के निमित्त से शरीर

रूपी बगीचे के सूख जाने पर भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप रूप चार आराधनाओं का सतत् आराधन करती हुई धर्मध्यान में तत्पर आर्यिकाजी से चार प्रकार के संघ के प्रति क्षमा करवाई। उसके बाद एकान्त स्थान में कायोत्सर्ग कराया।

पश्चात् आर्यिका संघ ने भेदज्ञान की पुष्टिदायक धर्मामृत की वर्षा करते हुए– "मैं एक शुद्ध सदा अरूपी ज्ञान-दर्शनमयी चेतन तत्त्व हूँ, मेरे में ज्ञान-दर्शन, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व आदि अनंत शक्तियों का अक्षय निधान भरा है। प्रत्येक शक्ति की अनंत सामर्थ्य है। मुझे अपनी प्रभुता/अनंत चतुष्टय प्राप्त करने के लिये पर की किंचितमात्र भी अपेक्षा नहीं। मैं पर से भिन्न, एक अखंड अकृत्रिम चैतन्यबिंब हूँ। मैं तो पंच प्रकार के शरीरों से रहित अशरीरी परमात्मा हूँ। मेरा स्वभाव तो सदा आनंदामृत भोजी है। इसप्रकार सम्बोधन किया।"

शाश्वत सुखदाता समाधिमरण के कारण आनंदित हो रहा है अन्तर मन जिसका ऐसा मोक्ष साधक, अशरीरीदशा का साधक आर्यिका नागश्री का जीव आत्मसाधना करते हुए नश्वर काया का त्याग करके लौकिक सुखों का निधान ऐसे सोलहवें अच्युतस्वर्ग में स्फटिक मणीमयी मनोहर पद्मगुल्म विमान में दिव्य रूपवान पद्मनाभ नाम का महार्द्धिक देव हो गया, जो कि अनेक देवों द्वारा सेवनीय है।

मुनिराज (नागशर्मा) नाग समान भयंकर ऐसे मिथ्यात्व और कषायों का शमन करके, स्वरूपानंद विहारी हो भू पर विचरण करते हुए निर्दोष एवं महान तप संयम को अपनी शक्ति को छुपाये बिना जीवनपर्यंत पालते हुए आयु के अंत समय में प्रायोपगमन संन्यास धारण करके देह का विसर्जन कर, तप संयम के प्रभाव से उसी अच्युत स्वंग में महार्द्धिक देव हुए।

वास्तव में वस्तु का अपरिणामी स्वभाव तो आश्रयदाता होने से महा-उपकारी है ही, परन्तु परिणमन स्वभाव भी महा-उपकारी है। यदि प्रत्येक समय वस्तु का परिणमन न होता तो द्रोह परिणामों का व्यय और मृदु एवं वीतरागी परिणामों का उत्पाद कैसे होगा ? ब्राह्मणत्व भाव का त्याग और निर्ग्रंथ मुनिदशा का उत्पाद कैसे होता ? यह सब परिणमनपने का ही तो महत्त्व है। परिवर्तन स्वभाव के कारण ही वस्तु में समयमात्र में ही जात्यांतर हो जाता है। इसलिये ज्ञानियों का उपदेश है कि "स्वभाव की प्रभुता एवं पर्याय की पामरता (परिवर्तनशीलता) का विवेक पूर्वक विचार, निर्णय कर स्वभाव की प्रभुता का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है।"

नागश्री की माता त्रिदेवी आर्यिका का जीव भी सम्यक्त्व सहित तप संयम पालता हुआ देह से निर्ममत्व हो अन्त में संन्यास सहित मरण करके उसी सोलहवें स्वर्ग में पद्मनाभ देव का दिव्य

रूपवान अंगरक्षक देव हुआ। चन्द्रवाहन, सुबल एवं अतिबल राजा जो कि वीतरागी संत हो गये थे, वे भी उत्तम प्रकार से मुनिधर्म का पालन करके अन्त में समाधिमरण सहित प्राण त्याग कर पन्द्रहवें आरण स्वर्ग में बड़ी विभूति के धारक महार्द्धिक देव हुए। और अन्य मुनिवर तथा आर्यिकायें भी यथाशक्ति सम्यक् सहित तप संयम पालकर अन्त में समाधिमरण पूर्वक देह का त्याग कर सौधर्म आदि से लेकर अच्युत स्वर्ग तक अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप देव हुए। कितनी ही आर्यिकाओं ने परिणामों की विशुद्धता से स्त्रीलिंग का छेद किया और कितनी ही स्वर्ग में देवियाँ हुईं। अनेक जीवों का बाह्य आचरण लगभग समान होने पर भी परिणामों में तारतम्यता अवश्य होती है जिनका ज्ञान उनके फल से होता है ? इसका क्या कारण है ? अन्य कोई कारण नहीं उनकी उस उस समय की पर्यायगत योग्यता ही कारण है।

अत: हम सभी चलें और चलकर अच्युत स्वर्ग में जाकर पद्मनाभ आदि देवों का वैभव देखें। उनके परिणामों को तथा पूर्व आराधना की अभी तक छा रही खुमारी को भी निरखेंगे। वे पद्मनाभादि देव अन्तर्मुहूर्त में ही सभी पर्याप्ति पूर्ण कर पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त हो गये। इन्हें (देवों को) गर्भ-जन्म के और बचपन की पराधीनता आदि के दु:ख नहीं सहने पड़ते, ये दु:ख तो देवों को पर्यायगत योग्यता के कारण ही नहीं होते, अभी तो वे दु:ख अस्ताचल की ओर चले गये हैं; परन्तु यह देव पर्याय भी अमर नहीं होती, यहाँ अमरों को भी मरना पड़ता है और फिर जन्मादि के दु:ख पुन: उदय को प्राप्त हो जाते हैं।

वे देव उपपाद होने के बाद अन्तर्मुहूर्त मात्र में ही यौवनपने को प्राप्त हो, दिव्य एवं श्रेष्ठ वस्त्राभूषणों से मंडित हो, शिला संपुट के बीच दिव्य कोमल सेज पर तिष्ठते हुए अपने को इस रूप में देख विस्मयता को प्राप्त हुए। अरे यह दिव्यलोक और सम्पदायें! यह दिव्य शरीर, कोमल शय्या! इत्यादि देख ही रहे थे कि उन्हें अवधिज्ञान प्राप्त हो गया। उस अवधिज्ञान से इन विभूति आदि सभी को पूर्व तपस्या का फल जानकर तथा पूर्वभवों का ज्ञानकर उन्होंने अपने मन को धर्म में लगाया।

उसके बाद वे देव, परमधर्म की सिद्धि के लिये अपने परिवार सहित स्फटिक मणिमयी श्री जिनेन्द्र देव के मंदिर में पहुँचे, वहाँ कोटि सूर्य के तेज से भी अधिक तेजयुक्त श्री अरहन्त परमेष्ठी की प्रतिमाओं को नमस्कार कर स्तुति की। पश्चात् कल्पवृक्षों से प्राप्त महान विभूति के साथ मणिरत्नों से युक्त द्रव्यों से जिनेन्द्र देव की पूजा की।

अहो! साधक संत अपनी आराधना की अपूर्णता के कारण मोक्ष में न जाकर स्वर्गों में गये।

वहाँ जाकर भी वहाँ की विभूतियों में लिप्त नहीं हुए। वहाँ भी वे सर्वप्रथम जिनेन्द्र देव के दर्शन, पूजन हेतु गये, लेकिन अकृत्रिम जिनबिम्बों के दर्शन करते-करते भी तृप्ति नहीं हुई, इसलिए और भी अनेक जगह जिनदर्शन हेतु गये।

पद्मनाभ देव और भी पंचमेरु, नंदीश्वरद्वीप, रुचकवरद्वीप संबंधी तथा ढाईद्वीप संबंधी जिनबिंबों के दर्शन, पूजन के लिये गये, वहाँ भी वंदन, पूजन करके विदेहक्षेत्र में साक्षात् विराजमान सीमंधर आदि जिनदेवों के पावनकारी दर्शन, पूजन करने के बाद भरतक्षेत्र में आकर श्री तीर्थंकर देवों के, सामान्य केवलियों के, गणधर देवों के, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठियों के चरणारविंदों की भक्तिभावपूर्वक अर्चना की। द्रव्य-भाव स्तुति एवं नमस्कार करके, पंच परमगुरु से प्रदत्त धर्मामृत का पान करके महान पुण्य का संचय कर अपने अपने स्थान को लौट आये। स्वर्ग में पूर्वकृत तप-संयमादि से उपार्जित पुण्य के फलस्वरूप दिव्य वैभव व इंद्रियसुखों को अंगीकार किया।

ज्ञानी धर्मात्मा स्वर्ग में जन्म लेने के बाद स्वयं जिनदर्शनादि को जाते हैं, परन्तु मिथ्यादृष्टि देव अपने आप जिनदर्शन को नहीं जाते, उन्हें अन्य देव प्रेरणा देकर ले जाते हैं। इससे ज्ञानी, अज्ञानी जीवों की परिणति का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

हे धर्मपिता ! स्वर्गों में असि, मसि आदि षट् कर्म नहीं होते, कल्पवृक्षों से ही उन्हें सब कुछ प्राप्त हो जाता है, तब फिर वे देव सागरों की आयु पर्यन्त क्या करते हैं?

हे भद्र ! वे देव निरन्तर धार्मिक कार्यों में संलग्न रहते हैं, जैसे कि एक सौ सत्तर क्षेत्रों में जाकर वहाँ के तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और मोक्ष कल्याणक मनाते हैं, उनकी द्रव्य-भाव स्तुति कर पूजा करते हैं। तीर्थंकरों के अलावा और भी मुनिराज होते हें, उन्हें केवलज्ञानादि प्रगट होते हैं, तो उनके भी कल्याणक मनाते हैं। प्रतिदिन अरिहंतों की दिव्यध्वनि सुनते हैं, कभी आचार्य, उपाध्याय व साधुओं की पूजा, भक्ति कर धर्मलाभ लेते हैं। कभी अपनी-अपनी शक्ति अनुसार अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना, पूजनादि करते हैं। कितने ही देव तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि से धर्म की प्रेरणा पाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं। कभी अन्य देव-देवियों के साथ तत्त्वचर्चा करते हैं, तो कभी पुण्योदय से प्राप्त वैभव का भोगोपभोग करते हैं। वहाँ रात्रि-दिन का भेद नहीं होता, वहाँ दुःखदाई ऋतुऐं भी नहीं होतीं। अतः सदैव सुखमा-सुखमा काल के समान ही काल वर्तता है। तथा दीन, दुःखी, दरिद्री, निर्धन, रोगी, दुर्भागी, काकभाषी, मदोन्मत्त एवं विकलांगी आदि जीव नहीं होते और न ही अशुभ सामग्री के ही दर्शन होते हैं। पुण्यवान ही ऐसे शुभस्थानों को प्राप्त करते हैं, तब फिर वहाँ पाप एवं पाप का फल कहाँ से होगा? नहीं ही होगा।

वे देव दिव्यलक्ष्मी, मनोहर कांति से शोभायमान अत्यंत धैर्यवान होते हैं। लोकप्रसिद्ध दुःखों से वे रहित होते हैं। मानो सुख सागर के मध्य ही उत्पन्न हुए हों। पद्मनाभादि सभी देवों के नेत्र टिमकार नहीं होती। सप्तधातु, सप्त उपधातु, मल, मूत्र, पसेव आदि से रहित दिव्य वैक्रियक देहधारी होते हैं। तीन हाथ प्रमाण ऊँचा, सर्वांग सुन्दर देह और बाईस सागर की आयु होती है। बाईस हजार वर्ष बाद उन्हें भोजन की इच्छा होते ही उनके कंठ में अमृत झर जाता है, जिससे उन्हें क्षुधा की तृप्ति हो जाती है अर्थात् उन्हें मानसिक आहार होता है, कवलाहार नहीं होता। ग्यारह माह बाद एक बार श्वांस लेते हैं। अपने अवधिज्ञान द्वारा छट्ठे नरक पर्यन्त लोक के शुभाशुभ के हेतुभूत रूपी पदार्थों को जानते हैं, वे शुभ परिणामी होते हैं तथा छट्ठे नरक पर्यन्त गमन करने की सामर्थ्य भी उन्हें विक्रियाऋद्धि के बल से होती है। सोलहवें स्वर्ग में ऐसे अनेक गुणों से युक्त देव होते हैं।

देवांगनाओं के दिव्यरूप, मनोहर श्रृंगार वे नित्य देखते हैं और अप्सराओं के मनोहारी गीत सुनते एवं नृत्य देखते हैं। रत्नमई महलों में रहते हैं और भद्रसाल आदिवनों में, कुलाचलों पर असंख्यात द्वीप समुद्रों में अनेक देव-देवियों के साथ क्रीड़ा करते हैं। परन्तु उनका प्रवीचार मन में विचार मात्र से शान्त हो जाता है। काया-वचन विकृत नहीं होते। पूर्व पर्याय में/मुनि की अवस्था में पवित्रता तथा पुण्य का संगम तो था ही, आत्मिक आनंद का अनुभव करते हुए सदा वन, जंगल पर्वतों पर तीर्थधामों के दर्शनार्थ गमन करते हैं। रत्नत्रय की साधना हेतु कभी-कभी आहार भी ग्रहण करते थे, परन्तु सदा अनाहारी पद की भावना भाते हुए आनंद सागर में सदा मग्न रहते थे। वही वृत्ति, वही प्रवृत्ति यहाँ देवलोक में भी है और भविष्य में भी रहेगी, परन्तु अन्दर में बड़ा अन्तर है, वहाँ आत्मसाधना हेतु सब होता है, यहाँ भोगों के हेतु होता है।

कैसी विचित्रता है ? आगे पीछे मुनिदशा में तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शान्ति और बीच में एक कषाय चौकड़ी के अभावरूप शान्ति।

वे स्वर्ग सम्पदा एवं देवांगनाओं के भोगों के बीच रहते हुए भी अन्दर से अर्थात् श्रद्धा अपेक्षा तो उनसे विरक्त ही हैं। भाई ! स्वर्गों का वर्णन सुनकर मन ललचाने जैसा नहीं है, वहाँ पर भी मानसिक पीड़ा तो है ही; और अज्ञानी के तो मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी आदि चारों कषाय चौकड़ियों के सद्भाव से दुःख ही दुःख है, ज्ञानी को भी मात्र मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी कषाय चौकड़ी के अभाव सम्बन्धी सुख है, तीन कषाय चौकड़ियों के अभावपूर्वक मुनिदशा में वर्तने वाली अतीन्द्रिय आनन्दमयी शान्ति वहाँ कहाँ है ? भले ही बाहर में कम दुःख हो; परन्तु है तो दुःख ही न ?

वे पद्मनाभादि देव पूर्व उपार्जित पुण्य के फलस्वरूप सुख सागर (इन्द्रिय सुखों) के मध्य रहते हुए सागरों पर्यंत व्यतीत करेंगे।

इसलिये हे ज्ञानीजन ! उपमा रहित अतीन्द्रिय सुख एवं विषय सुख दोनों को देने वाला एक मात्र वीतराग सर्वज्ञ देव द्वारा बतलाये गये धर्म का सेवन करो।

जैसे कृषक की दृष्टि धान्य प्राप्ति पर होती है, धान्य के साथ भूसा तो स्वयमेव मिलता ही हे। वैसे ही ज्ञानीजनों के दृष्टि सदा आत्माराधना से प्राप्त होने वाले अतीन्द्रिय सुख पर ही रहती है, उसके साथ पुण्य के फलरूपी भूसा तो सहज मिल ही जाता है, उसकी ओर ज्ञानी की दृष्टि नहीं होती। धर्म ही सर्व मनोरथों का दाता है, धर्मात्मा धर्म का ही आश्रय लेते हैं और वे ही तीर्थंकर एवं अन्य कल्याणकारी पदों को प्राप्त करते हैं। ऐसे धर्म को हमारा नमस्कार हो। जैनधर्म के अलावा तीन लोक में और कोई सुखकारी वस्तु नहीं है। इस धर्म का बीज सम्यग्दर्शन है।

ऐसे धर्म की प्राप्ति के लिये निजगुणघातक घातियाकर्मों को नाशकर पूर्ण आनन्दमयी निजपद प्राप्ति की भावना भाता हूँ।

मुनिवरों को शिवलाभ

भावयेद्भेद विज्ञानमिदमच्छिन्न धारया।
तावद्यावत्पराच्चुत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठिते॥

इस भेद-विज्ञान को अविच्छिन्न धारारूप से तबतक भाना चाहिये, कि जबतक ज्ञान परभावों से छूटकर ज्ञान में ही प्रतिष्ठित न हो जावे।

स्वसंवेदन रूप भेद-विज्ञान को भाते हुए नागश्री का जीव स्वर्ग में आया था। वहाँ पद्मनाभ देव के रूप में रहकर बाईस सागर पर्यन्त इसी भेदज्ञान की भावना को भाता रहा।

हे भव्योत्तम ! अब हम अपने चालू प्रकरण पर आ जावें और देखें कि मुनिवर श्री सूर्यमित्र एवं मुनिवर श्री अग्निभूति किस साधना में तत्पर हैं ?

वे मुनिवर रत्नत्रय की परम विशुद्धता पूर्वक निरतिचार चारित्र से सुशोभित मोक्षमार्ग का प्रवर्तन करते हुए, अनेक देशों में विहार करते-करते वाराणसी के बाहर, जहाँ उनके गुरुवर श्री सुधर्माचार्य ने साधना पूर्ण कर मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त किया था, वहीं आकर दोनों मुनिवरों ने निश्चल आत्म ध्यान में लीन हो, घातिया कर्मों का घातक अद्भुत योग धारण किया और मोक्ष

महल के सोपान समान क्षपकक्षेणी पर आरूढ़ हो प्रथम शुक्ल ध्यान से मोह अरि पर विजय प्राप्त की। फिर दूसरे शुक्ल ध्यान से शेष तीन घाति कर्मों का घात कर उन दोनों मुनिवरों ने लोकालोक प्रकाशक परम केवलज्ञान प्राप्त कर नव क्षायिक लब्धियाँ प्राप्त कीं। "**णमो अरिहंताणं**"

घनघाति कर्म विमुक्त अरु चौंतीस अतिशय युक्त हैं।
कैवल्यज्ञानादि परमगुण युक्त श्री अरिहंत हैं।।

तब इन्द्रादिक देवों ने आकर गंधकुटी की रचना की और महानविभूति से त्रिलोकाधिपति उन युगल केवली भगवंतों की धर्मोत्सव सहित भावभक्ति पूर्वक पूजन की। नरेन्द्रों, सुरेन्द्रों, नागेन्द्रों द्वारा सेवनीय विभु अपनी भवातापनाशनी, अतीन्द्रिय आनन्ददायनी, सौख्यप्रदायनी दिव्यध्वनि द्वारा सत्पुरुषों को मोक्षमार्ग प्रकाशते हुए देश, नगर, वन, पर्वत आदि में पूर्वप्रयोगादि से सहज ही विहार करते "ते जिन जहाँ-जहाँ विचरें, तहाँ-तहाँ तीरथ होंय" हुए, निर्वाण सुख निज स्वरूप में सादि-अनन्त काल के लिये विश्रांति हेतु सहज ही अग्निमंदिर नाम के पर्वत पर पधारे। वहाँ तृतीय शुक्ल ध्यान के बल से योगनिरोध कर अब प्रभु चौदहवें गुणस्थान में पहुँचे और पंच लघु अक्षर प्रमाणकाल चौदहवें गुणस्थान में बिताकर चतुर्थ शुक्ल ध्यान के बल से अर्थात् सर्वोकृष्ट पुरुषार्थ के द्वारा चरम साधना को प्राप्त करते ही जली हुई रस्सी के

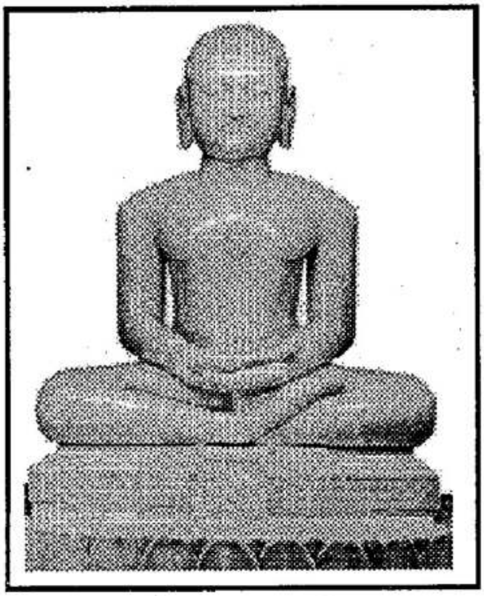

सामन अघातिया कर्मों को भी भस्म करके, ऊर्ध्वगमन स्वभाव के द्वारा लोक के अग्रभाग सिद्धधाम में जाकर विराजमान हो गये। जैसे अग्नि जलने योग्य ईंधन को जलाकर भस्म कर देती है, वैसे ही अंतरंग में ध्यानाग्नि प्रज्वलित हुई तो कर्मवन ध्वंस हो गया। उधर बाह्य में भी कुदरत का सुमेल बना कि उस पर्वत का नाम भी अग्निमंदिर ही था। "**णमो सिद्धाणं**"

हैं अष्ट गुण संयुक्त, आठों कर्मबन्ध विनष्ट हैं।
लोकाग्र में जो हैं प्रतिष्ठित परम शाश्वत सिद्ध हैं।।

प्रभु! युगल केवली निर्वाण पधारे, तब सौधर्म इन्द्रादिक और पद्मनाभ आदि देवों ने आकर श्री सूर्यमित्र और अग्निभूति सिद्ध भगवंतों की निर्वाण पूजा की।

निज वज्र पौरुष से प्रभो ! अन्तर-कलुष सब हर लिये।
प्रांजल प्रदेश-प्रदेश में, पीयूष निर्झर झर गये॥
सर्वोच्च हो अतएव बसते लोक के उस शिखर रे !
तुम को हृदय में स्थाप, मणि-मुक्ता चरण को चूमते॥

फिर सभी देवतागण अपने-अपने स्थान को चले गये।

आर्यखण्ड की अनोखी विशेषतायें

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विनयवान एवं धर्मात्मा ज्ञानी जीवों से भरा अवन्ती नाम का देश है। जहाँ घर-घर और गाँव-गाँव में धर्मात्मा ज्ञानी जनों का समूह सर्वत्र विचरण कर रहा हो – ऐसे ज्ञानियों के देश में तीव्र कषायी, अन्यायी और अशुभ आचरण करने वाले स्वाभाविक ही नहीं होते अर्थात् न के बराबर ही होते हैं। जिस देश में साक्षात् केवली भगवान विचरण करते हैं, वहाँ सहज ही चतुर्विध संघ सहित अवधि-मनःपर्यय ज्ञानी, गणनायक आचार्य, चरमशरीरी, एकलविहारी मुनिराज मोक्षमार्ग की निरन्तर प्रवृत्ति करते हुए विचरते हैं।

जिस देश के ग्राम, पुर, द्रोण, पत्तन आदि बड़े-बड़े नगर, मंदिरों से और धर्मात्मा महन्त पुरुषों से सुशोभित हो रहे हों। जिस देश के वन-पर्वतादि में, नदी के तटों पर, पर्वत की कन्दराओं में सर्वत्र अशरीरीदशा के साधक, महाधीर-वीर मुनिराज ही दिखते हों। जहाँ निजानन्द के प्यासे कितने ही जीव वन में जाकर गुरु उपदेशामृत का पान करके मुनिव्रत धारण करते हों। कितने ही पात्र जीव धर्म के लिये सम्यग्दर्शन सहित श्रावक के व्रत अंगीकार करते हों। आ हा हा ! जो देश कितने ही तपोधनों की निर्वाणभूमि बन गया हो। कितने ही जीव यहाँ की हुई आराधना के फल में सौधर्मादि स्वर्गों में इन्द्र एवं अहमिन्द्र पद प्राप्त करते हैं। कितने ही सुपात्र दान से भोगभूमि को प्राप्त करते हैं, उस देश का कितना क्या वर्णन किया जाये?

पूर्वोक्त प्रकार वर्णन सहित उस देश के मध्य में सुख संपदा की खान परम रमणीक उज्जयनी नगरी है। जिसके चारों ओर गहरी-गहरी खाइयाँ हैं। जो अति दुर्जय अनेक शूरवीर सुभटों से भरी अयोध्या के समान शोभायमान है। उसमें अनेक वर्ण वाले जिनेन्द्र भगवान के अति उत्तम मंदिरों की पंक्ति मन को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। इसलिये वह उत्तम धर्म की खान है। उन मंदिरों के शिखर स्वर्ण रत्नमई अनेक प्रकार के कलशों एवं चित्र-विचित्र ध्वजाओं से सुसज्जित हो रहे हैं।

उन मन्दिरों में भव्यों का समूह प्रतिदिन आकर दर्शन, पूजन, स्वाध्याय और ध्यान करता है। भगवान के गुणानुवाद भी मधुर शब्दों में वादित्रों सहित करते हैं। अतः वे जिनालय ऐसे लगते हैं, मानो साक्षात् मूर्तिमान धर्म ही हों। उस नगरी में पुण्यवान पुरुष प्रातः उठकर सामायिक और नमस्कार मंत्र का जाप आदि धार्मिक कार्य करते हैं। उसके बाद ही गृहादि कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। चार प्रकार के पुरुषार्थों में सर्वश्रेष्ठ सर्वसिद्धि दाता सर्वज्ञ भगवान कथित धर्म पुरुषार्थ ही है।

श्रावकजन जिनमंदिर और चैत्यालयों में जिनबिम्बों का पूजन करके संयम, तप आदि के साधक संतों को आहार दान हेतु द्वाराप्रेक्षण करते हैं, नवधाभक्ति पूर्वक आहार दान देकर पुण्य का संचय करते हैं और अपराह्न काल में भी दिन में किये गये पापों के विनाश के लिये और आत्मसाधना के लिये कायोत्सर्ग एवं ध्यान आदि करते हैं। वहाँ के नगरवासी, पुत्र जन्म या विवाह आदि कार्यों में भी मंगल कार्य की वृद्धिदायक जिनेन्द्र पूजन आदि ही करते हैं। कभी स्वप्न में भी देवी, दहाड़ी, क्षेत्रपाल, गजानन, देहली पूजन, रात्रि जागरण, शीतला आदि कुदेवों को नहीं पूजते इत्यादि शुभ कार्यों से सम्पन्न वह उज्जयनी नगरी है, पुण्य उपार्जन के फलस्वरूप वहाँ की प्रजा को पद-पद पर सम्पदायें प्रगट होती रहती हैं। धर्मात्माओं के वास के कारण उस नगरी ने भी धर्मनगरी नाम पा लिया है।

उस उज्जयनी के राजा वृषभांक भी सारभूत धर्माचरण, कान्ति, कीर्ति आदि शुभ लक्षणों से सम्पन्न हैं। वहाँ सभी देव-गुरु-धर्म के उपासक इसी उज्जयनी नगरी में धनवानों में श्रेष्ठ, शुभकार्यों में अग्रणीय, व्रत, शील, उपवासादि करने वाला, सत् पात्रों को दान देकर उनके तप, संयमादि की वृद्धि में निमित्तभूत और अटूट धन-संपदा सम्पन्न एक सुरेन्द्रदत्त नाम का सेठ है। मानो सत्कार्य करने के लिये सुरेन्द्र ने उसे अटूट धन एवं धार्मिक बुद्धि दी हो। उसकी एक मनोहर गुण सम्पन्न, सुन्दर, पति की अनुरागिणी सभी को आनन्ददायनी, कल्याणकारिणी यशोभद्रा नामक पत्नि है। परन्तु उसे मन में निरन्तर इस बात का खेद रहता है कि 'करोड़ों स्वर्ण, रत्नादि संपदा और बहुत परिवार जन होने पर भी उसकी गोद सूनी है। जैसे – फूल-फल बिना बेल निष्फल है, वैसे ही मैं भी पुत्रवती, कुलवंती नारियों में पुत्र बिना शोभा विहीन हूँ। धन्य हैं वे नारीरत्न जो पुत्र के मुख को सदा अवलोकती हुई प्रसन्न रहती हैं।

गुरुवर दर्शन

मोक्षगामी पुत्र को जन्म देने वाली माता के अब शुभ दिन निकट आ रहे हैं। एक दिन तीन ज्ञान से सुशोभित, गुण रत्नाकर, जगत के हितेषी, त्रिजगत वंदनीय, कल्याणकारक श्री वर्धमान

मुनिवर संघ सहित, उज्जयनी के वन में पधारे। भव्यों का भाग्य जाग उठा।

तभी वनपाल ने आकर शीघ्र ही राजा को मुनिसंघ के आगमन का शुभ संदेश सुनाया। संदेश सुनते ही प्रथम तो राजा ने सात कदम आगे जाकर गुरुवर को नमस्कार किया और मुनिवर के आगमन की आनन्द भेरी बजवाई तथा चतुरंग सेना सहित गुरुवंदना के लिये चल दिये।

राजा द्वारा बजवाई गई भेरी की आवाज सुन यशोभद्रा ने अपनी सखी से भेरी बजने का कारण पूछा। सखी ने कहा वन में परमपूज्य मुनिवरों का आगमन हुआ है उनके दर्शनार्थ अनेक वादित्रों का नाद करते हुए एवं महोत्सव मनाते हुए राजा नगरजनों सहित वन की ओर जा रहे हैं।

सखी के वचन सुन यशोभद्रा सेठानी भी धर्मभावना सहित अपने हाथों में पूजन सामग्री लेकर मुनिसंघ की वन्दना के लिये पहुँच गई। वहाँ क्षण-क्षण में आत्मिक शुद्धि की वृद्धि से वृद्धिंगत संघ के दर्शन-पूजन कर यशोभद्रा पूज्य श्री वर्धमान मुनिवर की वंदना करते हुए अपने योग्य स्थान पर बैठ गईं। इन्द्रों, नरेन्द्रों, नागेन्द्रों से पूज्यनीय ऐसे मुनीश्वर के मुखारविंद से – जिसका मूल भेद-विज्ञान है – ऐसे स्वर्ग-मुक्ति दायक, मुनि-श्रावक धर्म को, सुनकर उस यशोभद्रा ने आनन्द सहित श्रावक के व्रत अंगीकार किए, पश्चात् हाथ जोड़, नतमस्तक हो विनम्रता सहित पूछने लगी – हे भगवन् ! मेरी गोद भरेगी या नहीं ? कृपा कर बतलाइये।

तब श्री वर्द्धमान मुनिराज ने अत्यंत गम्भीर गिरा से कहा– हे भद्रे ! महाधीर, वीर, दिव्य, रूपवान, गुण रत्नाकर, महापुण्य के फल का भोक्ता, सम्पूर्ण जगत में मान्य सभी कार्यों के करने में महा समर्थवान ऐसा उत्तम पुत्र तुझे होगा। लेकिन आपके पति सुरेन्द्रदत्त तो संसार सुखों से अत्यन्त उदास हो तपोवन की वांछा कर रहा है, परन्तु पुत्र न होने से तपोवन को जा नहीं पा रहा है। सुबुद्धिधारी धर्मात्मा आपका पति जब तक पुत्र का मुख नहीं देखेगा तब तक ही घर में रहेगा।

आ हा हा ....! धर्मात्मा जीवों को पुण्य का फल भी दुःखदायक लगता है। वे एक ओर से तो उनके प्रति उदासीन होते हैं और दूसरी ओर से उन्हीं में प्रवर्तते हुए दिखते हैं। परन्तु अन्दर से उनके प्रति उत्साह निवृत्त हो गया होने से उनकी तो ऐसी स्थिति बन रही है कि –

"सदन निवासी, तदपि उदासी, अन्तर सुखरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि संग पै तिस परिणति तैं नित हटाहटी ॥"

इस प्रकार हे भद्रे .... जैसे चैतन्य को निहारते ही संसार छूट जाता है, वैसे ही पुत्र का मुख निहारने के बाद, उत्तम गुणों का खजाना सुरेन्द्रदत्त सेठ भी सकल सम्पदा और तुम्हारा त्याग करके

निर्दोष तप को धारण कर लेगा। उसका सांसारिक राग टूट जायेगा और तुम्हारा महाधीर, वीर, धर्म का उपासक धर्मात्मा पुत्र भी जब तक दिगम्बर भावलिंगी संत मुनिराज – के दर्शन नहीं करेगा, तब तक ही घर में रहेगा और मुनिदर्शन या वचन सुनने मात्र से ही धीर – वीरों के गोचर ऐसे दुर्द्धर तप को वह अवश्य ही धारण कर लेगा।

जिनका आया भव का अन्त,
जिनने बताया मुक्ति का पंथ;
जो धारे वह भी हो जावे महन्त।

अहो ! मुनीश्वर के मुख कमल से एक साथ दो-दो मोक्ष की बधाई और मनोवांछित सिद्धि सुनकर यशोभद्रा सेठानी मन ही मन आनन्दित हो उठी, पर साथ ही पति-पुत्र का वियोग भी होगा – यह जानकर उसके मन में अत्यन्त खेद भी व्याप्त होने लगा।

मुक्तिदूत की मंगल अगवानी

बंधुओ ! जिनके पूर्वभवों की इतनी लम्बी कहानी अबतक हम सुनते आ रहे हैं और अति आतुरता से जिस मंगल बेला की प्रतिक्षा में हैं, जिसके अति ही सुन्दर रूप को निरखने के लिए सभी की अखियाँ लालायित हैं, उस यशोभद्रा के गर्भ धारण की, पुत्र जन्म की और वैरागी सुरेन्द्रदत्त की मुक्ति पथ पर प्रयाण करने की मंगल घड़ी अत्यन्त निकट आ चुकी है।

हर्ष-विषाद युक्त मन सहित सेठानी यशोभद्रा वन से वापस अपने महल में आ गई। पुण्यफल से प्राप्त सम्पदा में धार्मिक भावना सहित रहती हुई यशोभद्रा कुछ ही दिन बाद गर्भवती हो गई अर्थात् नागश्री का जीव जो पद्मनाभ नामक सोलहवें स्वर्ग में देव हुआ था। वहाँ से च्युत हो यशोभद्रा के गर्भ में आ गया।

हे भव्योत्तम ! भले ही जीव स्वर्ग की अपरम्पार भोग सम्पदाओं से सम्पन्न हो, भले ही वैक्रियक देह धारी हो, भोजन-पान-मल-मूत्र आदि की बाधा रहित हो और भले ही सागरों पर्यन्त की बाधा रहित आयु से सम्पन्न हो, भले ही तीर्थंकरों की, केवलियों की दिव्यध्वनि से लाभान्वित हो, भले ही तीर्थंकरों एवं केवलियों के बहुत से कल्याणक महोत्सव देव पर्याय में मनाये हों; परन्तु आराधना की चरम सीमा की प्राप्ति तो मात्र मनुष्य पर्याय में ही होती है। अतः आराधना की पूर्ण प्राप्ति के लिये मनुष्य भव में आना अनिवार्य है। यद्यपि ऊपर कहे गये कारण और मनुष्य देह तथा वज्रऋषभनाराच संहनन पूर्ण आराधना के मूल कारण नहीं है। फिर भी ये सभी होते अवश्य हैं,

इसलिये ये भी जिनवाणी में व्यवहार से साधन अवश्य कहे गये हैं। बादाम के इच्छुक को बादाम का वृक्ष एवं छिलके के माध्यम से ही बादाम को खोजने पर उसकी प्राप्ति होती है। बादाम का वृक्ष एवं छिलका वास्तविक बादाम नहीं है, फिर भी वे लोक में बादाम संज्ञा को प्राप्त अवश्य होते हैं और वास्तविक बादाम इनके बिना मिलती भी नहीं, यह अपरिहार्य स्थिति है।

सेठानी यशोभद्रा ने जब यथासमय गर्भधारण किया, तब उसे माँ बनने की अत्यन्त खुशी के साथ-साथ यह गम भी सताने लगा कि– पुत्र के जन्म होते ही सेठजी दीक्षा ले लेंगे। अतः उसने पुत्र जन्म का समय नजदीक आते जानकर एक पृच्छन गर्भगृह में अपने पुत्र को जन्म देने का निर्णय किया और अपनी परिचर्या में लगे सेवकों को यह निर्देश दे दिया कि पुत्र जन्म का समाचार सेठजी को कोई नहीं देगा। उन्हें यह समाचार रहस्यमय तरीके से दिया जायेगा।

गर्भ निरन्तर वृद्धिंगत होता रहा और नवमास पूर्ण होने पर सेठानी यशोभद्रा ने रमणीक भूमिगृह में एक दैदीप्यमान तेजपुँज के समान पुत्र को जन्म दिया।

इधर सेठ सुरेन्द्रदत्त अपनी आत्म साधना में रत रहते हुए उस घड़ी का इन्तजार कर रहे थे कि कब वह दिन आये जब मैं घर को छोड़ वन जाऊँ अर्थात् अपने आत्मस्वरूप की साधना में लीन हो जाऊँ, परन्तु ज्ञानी जीव सभी कार्यों में सहज वर्तते हैं, अतः उन्हें इस बात की जल्दी होने पर भी उन्होंने आकुलता नहीं की, ''सदन निवासी तदपि उदासी'' के समान उनका जीवन घर में भी धर्ममय रहता था, उनके हृदय में आत्मानन्द की धुन दोज के चद्रन्मा के समान प्रतिदिन अपनी कलाओं से वृद्धिंगत होती जा रही थी। उन्हें विषय कषायों का रस न के समान था और उसे भी वे काले नाग के समान भयंकर दुःखप्रद मानते थे।

अभी तक सेठ सुरेन्द्रदत्त को पुत्र-जन्म सम्बन्धी कुछ भी समाचार ज्ञात नहीं थे। सेठानी यशोभद्रा ने भी इस पुत्र जन्म की बात को गुप्त रखने के बहुत प्रयास किये; परन्तु कुछ ऐसा ही बनाव बना कि प्रसूति के मलिन वस्त्र जब दासी सरोवर के तट पर धो रही थी, उसी समय एक ब्राह्मण की दृष्टि उस दासी व उन वस्त्रों पर पड़ी। उन्हें देखते ही ब्राह्मण ने पहचान लिया कि यह दासी तो सेठ सुरेन्द्रदत्त की है और उसने अपने मन में पक्का निर्णय कर लिया कि अवश्य ही सेठ सुरेन्द्रदत्त को पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई है।

वह ब्राह्मण भी सेठ सुरेन्द्रदत्त का हित चिंतक था, वह सोचने लगा अच्छा हुआ सेठजी अभीतक पुत्रविहीन थे, उन्हें पुण्योदय से पुत्र रत्न की प्राप्ति हो गई। चलकर सेठजी को यह बधाई देना चाहिये, जिससे हर्ष के साथ ही सेठजी से कुछ इनाम भी प्राप्त होगा। यह सोचकर वह दाहिने हाथ से वीणा बजाते हुए सेठजी के पास पहुँचा और हर्ष पूर्वक सेठजी को आश्चर्यकारी वचनों में कहने लगा –

हे श्रेष्ठि ! आपके महापुण्य प्रभाव से आपके यहाँ पुत्र रत्न का जन्म हुआ है और वीणा बजाता जा रहा है।

प्रभु ! दाहिना हाथ तो आशीर्वाद देने के लिये होता है और वह ब्राह्मण सेठ को आशीर्वाद न देकर आनन्द से वीणा ही बजाता रहा, ऐसा क्यों?

हे बालक ! हाथों से तो कई कार्य होते हैं। जब जो प्रसंग होता है, हाथ उसी के अनुसार कार्यशील होने लगते हैं। अभी उसका आशीर्वाद देने का समय नहीं था, अभी तो आनन्द के साथ खुशखबरी सुनाने आया था, इसलिये वीणा बजा रहा था। अभी तो सेठ को उसे बधाई के उपलक्ष में पुरस्कृत करना शेष था।

गुरुजी ! सेठ को तो दो-दो प्रकार से आनन्द की बेला आ गई।

हाँ, हे भव्य ! तू तो बड़ा विचक्षण जान पड़ता है। हाँ ! हाँ ! ! इसमें क्या संदेह ? पुत्ररत्न प्राप्ति का आनन्द और संसार के जंजाल से छूटकर आत्मरमणता का आनन्द। भाई ! पशु जैसा प्राणी जो कि अत्यन्त अल्पबुद्धि वाला होता है, वह भी जब बंधन से छूटता है तो हर्ष से छलांग मार कर भागता है, जबकि वह स्थाई छुटकारा नहीं पाता, फिर भी हर्षित होता है। तब फिर सदा के लिये बंधन से छुटकारा पाने का उपाय प्रचुर आत्मानन्द की प्राप्ति है, उसे प्राप्त करने में भला किसे आनन्द नहीं आयेगा? सभी को आयेगा ही।

चलें, हम भी सेठजी के आनंदित हृदय को देखें। ब्राह्मण के वचन सुनकर सेठजी हृदय में आनंदित भी हुए और अत्यन्त आश्चर्य चकित भी हुए। हर्ष सहित सेठजी घर में गये, परन्तु मन में पुत्र जन्म के आनंद से कई गुणा आनन्द दीक्षा लेकर रत्नत्रय की साधना करने का वर्त रहा था। जाकर पुत्र का मुख अवलोकन किया और पुत्र के सिर पर अपनी पगड़ी रखते हुए बोले – वीतराग सर्वज्ञ प्रभु का मार्ग तुझे भी शीघ्र प्राप्त हो, इतना कहकर शीघ्र बाहर आये और ब्राह्मण को बहुत-सी धन-संपदा दी एवं गृह-पुत्रादिक संपदा का त्याग कर संसार, देह और भोगों से विरक्त हो तप के लिये वन को चल दिये।

सेठ सुरेन्द्रदत्त की जैनेश्वरी दीक्षा

पापकारक परीग्रह को, छोड़कर वन जाऊँ मैं।
स्वयं की ही साधना कर, स्वयं में रम जाऊँ मैं।।

जिनके अन्तर में सदा ही उक्त भावना बह रही हो, जिनके हृदय में गृह, पुत्र, स्त्री, धन, सम्पदा का राग नहीं रहा हो, तब वे उनके बीच कैसे रह सकते हैं। उन्हें तो वचनातीत, विकल्पातीत मात्र स्वसंवेदनगम्य आनन्द प्राप्ति की ही लगनी लगी है। उनका रोम-रोम हर्षित हो रहा है, अपनी धुन में चले जा रहे हैं, चले जा रहे हैं। वन में पहुँच शांत-प्रशांत रस में सराबोर, प्रचुर स्वसंवेदन के स्वादी गुरु की मुख मुद्रा निरख तथा चरणकमलों को पा सेठजी का मन मयूर नाच उठा। गुरुवर को मस्तक नवा कर नमस्कार किया एवं हाथ जोड़कर श्रीगुरु से पारमेश्वरी दीक्षा देकर अनुगृहीत करने की प्रार्थना की।

दीक्षार्थ आये हुए सेठजी की भावनाओं को देखते हुए श्रीगुरु ने उनकी पात्रता को अच्छी तरह परख कर सेठजी को जैनेश्वरी दीक्षा दे दी और सेठजी भी मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक मोक्षदायनी पारमेश्वरी दीक्षा अंगीकार करते हुए सुखबुद्धि से अपनी शक्ति को स्फुरायमान कर सुखदायक संयम सहित दुर्द्धर तप में प्रवृत्त हो गये।

हे गुरुवर ! सेठजी के यहाँ कितने ही दिनों बाद, जीवन में प्रथम बार ही तो खुशी का दिन आया था, उनने पुत्र जन्म महोत्सव भी नहीं मनाया और दीक्षित हो गये, ऐसा करना उन्हें उचित था क्या? कृपया आप ही बताइये।

संसार के रागरंग में फंसे जीवों को इसके अलावा और सूझ भी क्या सकता है? अनंत जन्म-मरण का अभाव करने वाली पारमेश्वरी दीक्षा को प्राप्त करना उन्हें महोत्सव सा ही नहीं लगता। उन्हें तो उर्वशी बनकर उछलकूद करना, लड्डू, पेड़े, माल-मिठाई वगैरह अनाप-सनाप चीजें खाना और अपवित्र वस्तुओं से बने ढोल, ताल, मृदंग, पीटना ही उत्सव लगता है। अरे भाई ! रागी जीवों को ये सब अच्छे लगते हैं तथा माता यशोभद्रा तो रागी ही थी, फिर भी उसने पुत्र जन्मोत्सव में सर्व प्रथम जिनेन्द्र देव के मंदिरों में पूजनादि कराकर महोत्सव मनाया, तत्पश्चात् परिवार जनों एवं नगरवासियों द्वारा नृत्य कराये गये, गीत गाये गये, बाजे बजवाये गये और भी अनेक प्रकार से जन्मोत्सव मनाया गया। फिर सभी परिवारजनों ने मिलकर बालक का अति ही कोमल शरीर देखकर 'सुकुमाल' नाम रखकर नामकरण संस्कार कराया। जन्मोत्सव में समागत-जनों को माता यशोभद्रा ने वस्त्राभूषण आदि देकर यथायोग्य सत्कार कराया। ४५ दिन के बाद

परिवार जनों ने बालक को जिनेन्द्र देव के दर्शन कराये, उस समय भी जिन चैत्यालयों में अति ही ठाठबाट के साथ पूजन-विधान कराया। इसके अलावा और क्या होता है उत्सव में? जो होता है वह सब कुछ माता ने कराया ही है।

परन्तु, ज्ञानीजन तो जन्म धारण करना ही अच्छा नहीं मानते, अशरीरी आत्मा को शरीर धारण करना कलंक लगता है, लज्जाजनक लगता है, इसलिए ज्ञानी सदा जन्म-मरण का नाश करने वाले और अतीन्द्रिय आनन्द देने वाले महोत्सव ही मनाते हैं। वे विचारते हैं –

नासाग्र दृष्टिवंत हो, देखें अदेही जीव को।
वे जन्म धारण ना करें, ना पियें जननी क्षीर को ।।

श्रेष्ठी सुरेन्द्रदत्त जी ने तो पारमेश्वरी जिनदीक्षा लेकर ऐसा ही उत्सव मनाया।

सुकुमाल...... आ हा ! सुकुमाल तो बस सुकुमाल ही है, चन्द्र समान अत्यन्त सुन्दर बालक समस्त परिवारजनों के नयनों को अति आनन्दकारी, शुभ आंगोपांग सहित उत्तम गुणों से युक्त, सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुशोभित, दोज के चन्द्र समान वृद्धि को प्राप्त होता हुआ अपनी मंद मुस्कान एवं मधुरवाणी और बाल-सुलभ चेष्टाओं से माता व अन्य सभी जनों के मन को हर्षित कर रहा है।

अब बाल्यावस्था का उल्लंघन कर सुकुमाल ने कुमार अवस्था में प्रवेश किया। दिव्य आभूषणों एवं शुभलक्षणों युक्त, सूर्य प्रभा को भी लज्जित करने वाली कांति, तेज आदि से सुकुमाल, देव तुल्य सुशोभित होने लगे, सुकुमाल को शिक्षा, कला कौशल आदि के लिये माता यशोभद्रा ने योग्य शिक्षक की व्यवस्था अपने घर में ही की है तथा खेलकूद हेतु सुकुमाल के समान छोटे-छोटे बालकों को भी माता बुला-बुलाकर अपने सर्वतोभद्र महल में ही एकत्रित कर देती है, परन्तु माता ने सुकुमाल को बाहर की हवा भी नहीं लगने दी। अपने महल के बाहर भी कोई दुनियाँ है, इस बात की खबर भी सुकुमाल को नहीं पड़ने दी। अत: सुकुमाल बाहर की दुनियाँ के सम्बन्ध में बिल्कुल अपरिचित रहे। उसने कभी बाहर जाने, आने की बात भी अपनी माँ से नहीं कही, इससे कुमार के शान्त एवं गंभीर स्वभाव का ज्ञान तो होता है, परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि पूर्वभव में की हुई आराधना का विस्मरण भी कैसा?

लगता है कुमारावस्था में सुकुमाल को कभी देवदर्शन, शास्त्र श्रवण का प्रसंग ही नहीं बना होगा; क्योंकि मोह में पागल माता ने पुत्र को कभी महल से बाहर ही नहीं निकलने दिया। माता,

बालक की बाल-लीलाओं के आगे सब कुछ भूल जाती थी, मगर इस बात को एक समय के लिये भी नहीं भूलती थी कि सुकुमाल को किसी भी दिगम्बर मुनि के दर्शन न होने पावें। इसलिए यशोभद्रा ने स्वर्ण एवं रत्नों से जड़ित अति ही मनोहर सर्वतोभद्र नाम का बहुत ऊँचा महल बनवाया और उसी के चारों ओर अत्यन्त सुन्दर बाग लगवाया। उस बाग में ही सर्वतोभद्र महल को सर्व ओर से घेरे हुए स्वर्ण-रूपामयी बत्तीस महल और बनवाये, ताकि सुकुमाल को कहीं बाहर जाने की आवश्यकता ही न रहे। साथ ही उसने द्वारपाल आदि को सख्त आज्ञा दी कि किसी भी प्रकार से इस मनोहर महल वा बाग के आस-पास कोई भी दिगम्बर मुनिराज का आगमन न होने पावे।

अरे रे ! अफसोस है कि मोह में अंधा यह जीव वीतरागी दिगम्बर मुनीश्वरों के वचनों पर विश्वास करके भी उन्हें बदलने का मिथ्या प्रयास करता है। ऐसा मनुष्य अपने हिताहित के विवेक से भी शून्य हो जाता है। तब फिर मोक्षमार्ग के कारणभूत सर्वज्ञदेव, वीतरागी निर्ग्रन्थ गुरु, वीतरागता की पोषक जिनवाणी, उसमें प्ररूपित छह द्रव्य, सात तत्त्व, हेय, ज्ञेय, उपादेय आदि का कुछ भी विवेक कहाँ से रहेगा? तथा अनादि निधन अनंतानंत वस्तुयें अपनी-अपनी मर्यादा लिये हुए एवं द्रव्य अपेक्षा नित्य रहकर भी पर्याय रूप से प्रतिसमय पलटती रहती हैं। यही कारण है कि विश्व व्यवस्था सदा अटल है, इसमें किसी की अपेक्षा नहीं, इस ध्रुव सत्य का मोहांध प्राणियों को विश्वास ही नहीं होता।

मोह में जीव कार्य, अकार्य सब कुछ भूल जाता है, ऐसे विवेकहीनों को धर्म कैसे प्रगट होगा? उसे तो धर्म का लेश भी नहीं हो सकता। कुमार सुकुमाल उन्हीं महलों में अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करते रहते हैं। वह दिन-रात का, मनुष्यादिकों की जाति का, ठंडी, गर्मी आदि का कुछ भी भेद नहीं जानते। समस्त दुःखों से रहित, महान रूपवान, जैसे विमानों में धरणेन्द्र, इन्द्र आदि वृद्धि को प्राप्त होते हैं, वैसे ही सुकुमाल भी अनुक्रम से महलों में ही वृद्धि को प्राप्त हुए।

कितनी विचित्रता है कि सरकार के सिपाही किसी व्यक्ति को पकड़ कर कैद कर दें, तो वह व्यक्ति एवं लोक में सभी यह जानते हैं और कहते हैं कि अमुक व्यक्ति बंदीखाने में है, यद्यपि वहाँ भी खाना, पीना, चलना, फिरना आदि सभी होता है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति वहाँ दुःख का अनुभव करता है। इसीप्रकार यहाँ सुकुमाल भी महलों में कैद हैं, और उनकी माँ बराबर सतर्क है कि सुकुमाल किसी भी प्रकार महलों से बाहर न निकल पावे।

अब जरा सुकुमाल एवं उनकी माँ और परिवारजनों से पूछें कि सुकुमाल कैद में है या मुक्त?

सभी की एक स्वर में आवाज आयेगी, कैद, कैसी कैद? और सुकुमाल सहित सभी जन ऐसी स्थिति में सुख का अनुभव करते हैं। सिर्फ मान्यता ही तो बदली है, संयोग तो समान ही हैं।

यौवनावस्था को प्राप्त सुकुमाल मनोहर, सुगन्धित पुष्पमाल, सुन्दर वस्त्राभूषण पहने, कांतिमान तेज, मधुर वचन, शंख, चक्र, तिल, मुस आदि सभी शुभ लक्षणों से युक्त और अपनी सुन्दर आकृति, परम लावण्यता, सौंदर्य आदि से संयुक्त देव समान शोभा को प्राप्त हो रहे हैं।

माता की ममता पुत्र को युवा होते देख कुछ सांसारिक चक्रजाल के स्वप्न संजोने लगी। वनखण्ड में मुनिराज सुरेन्द्रदत्त मुक्ति वधु की प्राप्ति की भावना संजो रहे हैं। इधर पुत्र सुकुमाल अपने यौवन की मस्ती में मशगूल हैं। सेठानी यशोभद्रा ने बड़े-बड़े श्रेष्ठियों के पास उनकी कन्याओं के साथ सुकुमाल के विवाह प्रस्ताव भेजे। अच्छा घर, अच्छा वर, एकलौती सन्तान, सुन्दर, रूपवान एवं अटूट सम्पदा सबका संगम जहाँ हो, फिर भला उसे कौन अपनी कन्या नहीं देना चाहेगा?

सेठानी यशोभद्रा ने बत्तीस श्रेष्ठियों से बात कर उनकी कन्याओं के साथ सुकुमाल की शादी तय कर दी और उन श्रेष्ठियों से कहा कि आप सभी को अपनी कन्याओं को लेकर मेरे महल पर ही आना होगा। यशोभद्रा शादी के प्रसंग पर भी सुकुमाल को महल से बाहर नहीं निकलने दिया।

अहो ! वह मन में कितनी सशंकित थी, इसका अनुमान इसी से लग जाता है। किसी भी श्रेष्ठी ने इसके विरुद्ध आवाज नहीं उठाई, अपितु सभी वरपक्ष के अनुकूल ही अपनी सम्मति देते हुए अपनी चतुरिका, चित्रा, रेवती, पद्मनी, मणिमाला, सुशीला, रोहिणी, सुलोचना, सुदामा आदि कन्याओं को लेकर अपने परिजनों सहित यशोभद्रा के महल में आये और वहाँ बने रमणीक विवाह मण्डप में शुभ मुहूर्त में बड़े उत्साह एवं वैभव के साथ यथाविधि से अपनी कन्याओं का सुकुमाल से विवाह सम्पन्न किया। यशोभद्रा ने वधुओं के कुटुम्बीजन आदि के साथ लग्न गीत गाये, बाजे बजवाये इत्यादि सहित बहुत उत्सव मनाया और वर एवं वधुओं को सर्वतोभद्र नामक मनोहर महल में पहुँचाया। इसके कुछ समय बाद उसने अपनी प्रत्येक पुत्रवधु को सर्वतोभद्र महल के चारों ओर बनाये गये स्वर्ण, रजत जड़ित बत्तीस महलों में से एक-एक दे दिया। सेठानी यशोभद्रा के हर्ष का पार नहीं है। वह तो और भी न जाने क्या-क्या करना चाहती है अपने पुत्र के लिये, पर पुण्य का फल कितना भी अधिक क्यों न हो, अन्त में तो समाप्त होता ही है।

सुकुमाल पूर्वभव के आराधक जीव तो थे ही, फिर भी भूमिका अनुसार रागरंग के भाव एवं

बाहरी प्रसंग तो बनते ही हैं और उस-उस समय उन-उन कार्यों में वे हर्ष पूर्वक वर्तते भी हैं। राग का ऐसा ही स्वरूप है। सौंदर्य एवं लावण्य की खान सुकुमाल निरन्तर भोग-उपभोग में फसे रहकर अपने पुण्योदय को भोगने लगे। सुखसागर – इन्द्रियसुखों में लीन वे भूतकाल को भूल ही गये।

एक दिन एक व्यापारी देशान्तर से रत्नकम्बल बेचने के लिये उस नगर में आया। उसने नगर के राजा वृषभांक का नाम सुना, वह सोचने लगा इतना कीमती कम्बल राजा के अलावा और कौन खरीद सकता है? अतः वह कम्बल बेचने राजा के पास गया और उसने राजा को वह रत्नजड़ित कम्बल दिखाया। रत्नकम्बल सुन्दर तो बहुत था, पर कीमती भी बहुत था, इतना कीमती कि राजा ने उसका मूल्य चुकाने में अपने को असमर्थ समझा और वह कम्बल नहीं खरीद सका। उसने कम्बल, व्यापारी को वापस कर दिया।

जब वह व्यापारी राजा के यहाँ से वापस लौट रहा था, तब उसने यशोभद्रा के बारे में सुना और उसने यशोभद्रा के पास आकर वह कम्बल यशोभद्रा को दिखाया। यशोभद्रा ने उस कम्बल को अपने पुत्र सुकुमाल के योग्य जान कर खरीद लिया और उसे सुकुमाल के पास भेज दिया। पर रत्नकम्बल को वजनदार एवं कठोर देख कोमल सुकुमाल ने उसे वैसे ही डाल दिया और माता को कहलवा दिया कि यह कम्बल मेरे योग्य नहीं है। तब यशोभद्रा ने उस कम्बल की अपनी बत्तीस पुत्रवधुओं के लिये सुन्दर जूतियाँ बनवा दीं।

एक दिन सुकुमाल की सुदामा नाम की पत्नी उन जूतियों को पहन कर अपने महल की छत पर गई और जूतियाँ खोल कर पश्चिमी दरवाजे के झरोखे में बैठकर चारों ओर की दिशाओं का सौन्दर्य निहारने लगी। तभी एक गिद्ध पक्षी महल पर आया और जूतियों को माँस पिण्ड जानकर एक जूती अपनी चोंच में दबाकर ले उड़ा। वह पक्षी आकाशमार्ग से उड़कर राजा वृषभांक के महल की छत पर बैठकर उसे खाने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु रत्न तो कठोर होते हैं, इसलिये उन्हें खाने में अपने को असमर्थ जान वह जूती को वहीं छोड़कर उड़ गया।

राजा वृषभांक भी अपने महल की छत पर चारों दिशाओं का सौन्दर्य निहारते हुए अपना मनोरंजन कर रहे थे कि अचानक उनकी दृष्टि उस रत्नकम्बल की जूती पर पड़ी। उसे देख राजा वृषभांक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सेवक से कहा – यह रमणीक जूती किसकी है?

राजा का वचन सुन निकट ही खड़े दास ने कहा हे स्वामी ! यह रमणीक जूती सुकुमाल की पत्नी की है। इस समय सुकुमाल अपने नगर में सर्वश्रेष्ठ लक्ष्मीवान हैं एवं सुख सम्पदा में इन्द्र के समान प्रतीत होता है। दास का यह वचन सुन राजा का कौतूहल जाग उठा और वे सुकुमाल को

देखने के लिये सर्वतोभद्र महल की ओर चल पड़े। यशोभद्रा को राजा के आने का समाचार विदित होते ही वह आश्चर्यचकित होती हुई राजा के सम्मान के लिये बाहर आई और राजा का विनय सहित यथोचित स्वागत कर, राजा को महल में ससम्मान ले गई। उन्हें महल के बीच रत्नजड़ित स्वर्ण के सिंहासन पर बैठाया और भेंट स्वरूप अनमोल द्रव्य राजा के आगे रखती हुई सेठानी यशोभद्रा ने नम्रता पूर्वक राजा से आगमन का कारण पूछा।

राजा वृषभांक ने कहा हे भद्रे ! मैं केवल आपके पुत्र को देखने के लिए आया हूँ और कोई कारण नहीं है। तब यशोभद्रा सेठानी हर्ष सहित जाकर अपने पुत्र सुकुमाल को बुला लाई। राजा वृषभांक सुकुमाल का विस्मयकारी रूप देख अत्यन्त प्रसन्न हुए और सम्मान पूर्वक उन्होंने सुकुमाल को अपने ही पास अपने ही सिंहासन पर बैठा लिया। सेठानी यशोभद्रा ने राजा को अपने महल में पधारने से अपना बड़ा सौभाग्य समझकर राजा से प्रार्थना की – हे राजन् ! आज आपके पधारने से मेरा घर पवित्र हुआ। आज आप यहाँ भोजन करने की कृपा कीजिये, हमें भोजन कराने का अवसर प्रदान कर मेरी भावना पूर्ण कीजिये। सेठानी की प्रार्थना राजा ने स्वीकार कर ली।

राजा वृषभांक ने सुकुमाल के साथ वहाँ स्वर्ण के पात्रों में अति मनोज्ञ भोजन किया और वे भोजन के बीच सुकुमाल की प्रत्येक चेष्टा को ध्यान पूर्वक देखते रहे। भोजन से निवृत्त हो राजा ने सेठानी से कहा – हे कल्याणरूपणी ! आपके पुत्र सुकुमाल को तीन बीमारियाँ हैं। उनके सम्बन्ध में आपकी उपेक्षा उचित प्रतीत नहीं होती।

सेठानी तो वैसे ही पुत्रमोह में पागल थी, वह सुकुमाल की श्वांस-प्रश्वांस तक ध्यान से ओझल नहीं कर सकती थी, फिर भला सुकुमाल के तीन-तीन बीमारियों की बात सुनना उसके लिये असह्य दुःखप्रद हो गई। वह तुरन्त पूछने लगी– हे राजन् ! बीमारी और वो भी एक नहीं, तीन-तीन। कृपया शीघ्र ही बताने की कृपा करें – इसे कौन-कौन-सी बीमारियाँ हैं।

राजा ने जवाब दिया इन्हें एक तो आसन की दृढ़ता नहीं, चलायमानपना है। दूसरा प्रकाश में इनके नेत्रों में पानी आता है और तीसरा भोजन करते समय एक-एक चाँवल खाते हैं।

राजा के वचन सुन सेठानी को थोड़ा धैर्य बंधा। वे कहने लगीं – हे राजन् ! इसे ये बीमारियाँ नहीं हैं, इनका कारण तो यह है कि सुकुमाल सदा अत्यन्त कोमल शय्या व आसन पर सोता, बैठता है और आज आपके साथ वह जिस आसन पर बैठा है, उस पर आपके मंगल स्वागत में क्षेपी गई सरसों के कुछ दाने पड़े हैं, वे इसे चुभ रहे होने से इसके बैठने में चंचलता है, दृढ़ता नहीं है और इसने मणिमई दैदीप्यमान महलों के बीच केवल रत्न प्रभा ही देखी है, अन्य कोई प्रभा नहीं

देखी, यहाँ आपके शुभागमन पर हमने घी के दीपक से जो आपकी आरती उतारी है, उसके धुँए से ही इसके नेत्रों से जल बह रहा है साथ ही सूर्य अस्त होने से पहले खिले हुए कमल की पंखुड़ियों में धोकर भीगे हुए मनोग्य चाँवल रख दिये जाते हैं। प्रभात में उन चाँवलों से बना मनोहर सुगंधयुक्त भात का ही सुकुमाल भोजन करता है। आज आपके पधारने से ऐसे चाँवल कम होने के कारण उन्हीं में कुछ और चाँवल मिलाकर यह भात बनाया गया था। यह मिलाकर बनाये गये चाँवलों का भात इसे रुचिकर न लगने से इसने एक-एक चाँवल उठाकर खाया है।

सेठानी के मुख से ऐसे वचन सुनकर राजा अपने मन में बड़ा अचरज करने लगा और सम्माननीय वचनों द्वारा सुकुमाल की प्रशंसा करते हुए सभी सत्पुरुषों के बीच सुकुमाल का नाम 'अवंती सुकुमाल' घोषित किया। फिर राजा वहाँ से विदा होकर आनन्द सहित अपने महल में पधारे।

फूल चाहे बाग में खिले चाहे वन में; परन्तु खुशबू महकाये बिना नहीं रहता और नासिकावंत जीव भी उसकी सौरभ का आनन्द लिये बिना नहीं रहते। वास्तव में सुकुमाल का जीव एक उत्तम आत्मा है, कुछ ही क्षणों बाद वे साधु परमेष्ठियों में अग्रणी होने वाले हैं। अतः उसकी महिमा पहले से ही होने लगी। उत्तम पुरुष गृहस्थ हो या साधु, वे महल में हों या श्मशान में, उनमें अन्य प्राणियों से कुछ विशेष विशेषतायें अवश्य हुआ ही करती हैं।

तीन लोक में जिनकी कीर्ति विख्यात है, ऐसे अवंती सुकुमाल पुण्योदय से मनोहर भोगोपभोगों को भोगते हुए अटूट संपदा सहित सर्वतोभद्र महल में अपने पुण्योदय को भोग रहे हैं। इसलिये आत्मशान्ति के इच्छुक जीवों को चाहिये कि वे सदा जिनेन्द्र भगवान द्वारा भाषित धर्म की उपासना करें ओर पुण्य के लोभी भी इस धर्म की ही उपासना करें; क्योंकि वीतराग धर्म से ही लोकोत्तर एवं लौकिक दोनों प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं।

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि।
अब्भट्ठिदो महप्पा धम्मोत्ति विसेसिदो समणो॥

जो आगम में कुशल हैं, जिनकी मोह दृष्टि हत (विनष्ट) हो गई है और जो वीतराग चारित्र में आरूढ़ हैं, उन महात्मा श्रमण को शास्त्रों में 'धर्म' कहा है।

हे सखा ! अभी तक हम सभीजन सुकुमाल के जन्म से लेकर गृहस्थ अवस्था पर्यन्त के अनेक प्रकार के लौकिक सुख एवं सुकुमाल के सुकुमार शरीर की कोमल क्रियाकलापों को ही देखते आ रहे हैं, परन्तु अब हमें कोई अभूतपूर्व आनन्दकारी दृश्य देखने को मिलेगा। अब हम

देखेंगे पुण्य और पवित्रता का संगम और अनुपम अकृत्रिम स्वभाव की अपेक्षा में पापोदय की सहज उपेक्षा, आ हा ....! कैसा दुरंगा रंग।

सुकुमाल को घर में रखने के लिये माता यशोभद्रा ने लाख उपाय किये, परन्तु वह उन्हें बाँध के नहीं रख सकी; लेकिन उसने ऐसे मोह परिणाम से पाप को अवश्य बाँध लिया, उसे पापबंध ही हाथ लगा। सुकुमाल की भली होनहार तो हो के ही रहेगी। **'चाहे महल-किले में बन्द करो, चाहे जंत्र, मंत्र लाख पढ़ो। चाहे सुवर्णों की दीनारें रखो, चाहे रत्नों की ज्योति में रखो। होनी किसी के टालने से टल नहीं सकती।' – इस अटल सत्य को उजागर करने हेतु आज सुकुमाल के हृदय में तूफान उठ रहा है।**

सुकुमाल की माता ने अपने महलों के जिनालयों में सकल संयमियों को आने का प्रतिबन्ध लगा रखा था, जिससे सुकुमाल की इतनी आयु विषय सेवनादि में व्यर्थ ही जा चुकी थी, पर अब उसकी भव्यता के जागने का समय आ चुका था। अतः निमित्तरूप में तीन ज्ञान के धारी सुकुमाल के मामा १०८ श्री यशोभद्र महामुनिराज को सुकुमाल के महल के निकटवर्ती चैत्यालय में ही वर्षा योग धारण करने का विकल्प आया और उन्होंने वहीं पर वर्षा योग धारण कर लिया। अतः अत्यल्पायु वाले सुकमाल को भी सहज ही धर्म प्राप्ति का प्रसंग बन गया।

यशोभद्रा की आज्ञा को माली जानता था, मगर मुनिराज को चैत्यालय में आने को मना करने का साहस वह नहीं कर सका; इसलिए मुनिराज के आगमन का समाचार माली ने यशोभद्रा सेठानी को दे दिया। माली से मुनिराज के आगमन का समाचार सुन कर वह शीघ्र ही चैत्यालय में गई और वहाँ जाकर सर्वप्रथम अरिहंत देव की पूजन की। और पश्चात् अपने भाई पूज्य यशोभद्र मुनिराज को नमस्कार कर उन्हीं के समीप बैठ गई। फिर विनयपूर्वक बोली – हे नाथ ! मेरे प्राणों से प्रिय एक ही पुत्र है और वह आपके वचन सुनते ही संयम धारण कर लेगा, ऐसे श्री वर्द्धमान मुनीश्वर के वचन हैं। उसका संयम धारण करना मेरे लिये आर्तध्यान से मरण का कारण बनेगा। इसलिये हे दया निधान ! आप मुझपर कृपा कीजिये अर्थात् आप यदि उचित समझें तो नगर के मंदिरों में पधारिये।

श्री मुनिराज ने कहा – हे भद्रे ! आज तो चातुर्मास स्थापना का दिन होने से मैंने चातुर्मास की स्थापना कर ली है, यदि वर्षायोग का समय न होता तो मैं अन्यत्र विहार कर जाता। अतः अब अन्यत्र विहार संभव नहीं है; क्योंकि साधुजन जीवों की दया के लिये ही चातुर्मास की स्थापना करते हैं। इतना कहकर अंतर, बाह्य समस्त उपाधियों से रहित, देह का ममत्व त्याग कर सर्वत्र

समतारस में पगे हुए श्री यशोभद्र मुनिराज ने पर्वत के समान अकंप होकर ध्यान का अवलम्बन लेते हुए कायोत्सर्गासन धारण कर लिया।

धन्य है, धन्य है तपोधन, धन्य है; आपकी आत्मसाधना धन्य है, आपकी धीरता एवं गुण गंभीरता धन्य है। आप चार माह तक आहार-पानी का त्याग कर खड्गासन धारण कर आत्मानन्द का रसपान करते हुए सिद्धों से बातें करते रहे।

उन धीर-वीर योगीराज ने कार्तिक सुद पूनम के दिन रात्रि के चौथे पहर में सामायिक के साथ ही चातुर्मास क्रिया का समापन करके वर्षायोग का त्याग किया। उन्होंने उसी समय अपने अवधिज्ञान से जाना कि सुकुमाल की निद्रा खुल गई है। उसे सम्बोधने हेतु श्री यशोभद्र मुनिराज ने अमृतमयी वचनों द्वारा त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति का वर्णन करना प्रारम्भ किया, उसमें प्रथम ही वैराग्य उत्पादक अधोलोक के दुःखों का वर्णन किया, उसके बाद मध्यलोक का और उसके बाद ऊर्ध्वलोक का वर्णन करते समय सोलहवें अच्युत स्वर्ग के पद्मगुल्म विमान में पद्मनाभ देव की विशाल विभूति एवं रूप संपदा का अपनी मधुर वाणी से वर्णन करना प्रारम्भ किया। उसे सुकुमाल अपने महल में से ही सुन रहे थे, उसे श्रवण करते ही सुकुमाल को जातिस्मरण प्रगट हो गया। उस जाति स्मरण से उन्होंने अपने पूर्वभवों के वृत्तांत को स्पष्ट जान लिया। उन्हें जानते ही सुकुमाल संसार, देह, भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो अत्यन्त विरक्त हो गये।

जैसे क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होते ही कर्मबन्धन तड़-तड़ टूटने लगते हैं, वैसे ही वैरागी सुकुमाल के परिणामों की उज्ज्वलता को वृद्धिंगत होते हुए देखकर उनका संसार, देह और परिवार के प्रति का मोह तड़-तड़ टूटने लगा। और उन्हें ऐसे भाव आने लगे कि अहो ! इस जीव ने अच्युत स्वर्ग की सम्पदा एवं विभूतियों और देवियों का सहवास सागरों पर्यन्त किया, फिर भी तृप्ति नहीं हुई, तब फिर दुःखपूर्वक प्राप्त ये निंदनीय, पराधीन और शरीर को पीड़ादायक इस मनुष्य पर्याय के सुखाभासों से तृप्ति कहाँ से होगी? क्या कभी अग्नि ईंधन से, समुद्र नदियों से, लोभी धन संग्रह से तृप्त हुआ है?

अनन्त भवों में इस जीव ने अनेक प्रकार के मनोहर विषयों को भोगा, पर कभी कहीं तृप्त नहीं हुआ। जो पुरुष इन्द्रिय विषयों में सुख मानकर तृप्त होना चाहते हैं , वे अज्ञानी विष भक्षण कर अमरता चाहते हैं। अथवा तेल डालकर अग्नि को शान्त करना चाहते हैं। "अरे जिस शरीर से कामपीड़ा आदि की शान्ति के लिये विषय भोगते हैं, वह तो मल, मूत्र, हड्डी, माँस, खून, पीव आदि अशुचि पदार्थों से बना होने से महाअपवित्र एवं क्षणभंगुर है। अरेरे.... खेद है कि मैंने इतना

काल आत्मसाधना रूप तपश्चरण के बिना व्यर्थ ही विषयों में गवां दिया। यह शरीर वस्त्राभूषणों से ढका सुन्दर दिखता है, ऊपर से चमड़े से ढका हुआ होने से सुन्दर लगता है। अन्दर तो अत्यन्त घिनावना ही है, अशुचि ही है''।

आज मुझे स्त्री, पुत्र, महल, मकान, माता, धन-संपदा, यश और बाहर से सुन्दर दिखने वाला यह शरीर इत्यादि समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध प्राप्त हुआ है आज मैंने सबसे भिन्न मैंने अपने शाश्वत सुख भण्डार आत्मा को प्राप्त कर लिया है। अब मैं शीघ्र ही स्वरूप विश्रान्ति रूप तप को अंगीकार कर, काया के प्रति निर्ममत्व धारण कर मोक्ष की साधना करूँगा। पापों की खान, दुःखों की निमित्तभूत शरीर को रमाने वाली इन रंभाओं से मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं। अब तो मैं पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द रूप शिवरमणी के साथ केली करूँगा। नरकधरा के प्रवेश द्वार समान ज्ञानियों द्वारा उपेक्षणीय, बंदीखाने के समान ये महल आदि हैं और धर्म के विनाशक, महानिंद्य यह धन-संपदा एवं कुटुम्बीजन हैं। जरा से ग्रसित यह जवानी, यमराज के मुख में बसने वाली यह आयु दुःख के भार से युक्त ये क्षणभंगुर सुख हैं। ये पाँचों इन्द्रियों के विषय धर्मरत्न के चोर हैं। ये सभी वैराग्य के शत्रु हैं। इस जड़-संपदा रूपी फाँसी और स्त्रियों की सांकल से बंधकर मैंने व्यर्थ ही इतना समय खो दिया है।

अहो ! दृष्टि फेर का कमाल ! कहाँ इन्द्रिय विषयों की चंकाचोंध में उन्मत्त हाथी के समान विचरने वाले सुकुमाल, जिन्हें कलतक सरसों का दाना शल्य के समान चुभता था, जो कमल पाँखुड़ी में फुलाये बिना चाँवल नहीं खा सकते थे, जिनके नेत्र दीपक का तेज बरदाश्त करने में असमर्थ थे, जिन्होंने ठंडी, गर्मी, धूप, छांह भी कभी नहीं देखी हो, ऐसे अवंती सुकुमाल इन सभी को सड़े हुए तृण के समान छोड़कर वन में जाने को तैयार हो गये।

सुकुमाल विचारते हैं – श्री योगीराज के वचनों का श्रवण कर आज मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ, इसलिये मोह रूपी फाँसी को मैं शीघ्र ही तोडूँगा। देह में जरा आने से पूर्व ही मैं संयम धारण करूँगा। आयु तो जल के बुदबुदे के समान विनाशीक है। जबतक इन्द्रियाँ समर्थ हैं, बुद्धि में प्रवीणता, व्यवस्थितपना है, शरीर तरुण है, तब तक मैं उपसर्ग-परिषहों को जीतकर उग्र तप करूँगा। फिर सचेत होते हुए अरे, मैं तो इन विचारों में ही खो गया। परन्तु मात्र ऐसे विचारों में ही समय बिता देना योग्य नहीं, क्योंकि केवल विचारों से कार्यसिद्धि नहीं होती। कार्यसिद्धि के बिना यह मोही जीव मात्र विचारों में ही अटका रहा तो पाप कर्मों के भार से क्षणमात्र में ही दुर्गति को प्राप्त हो जायेगा। इसलिये मुझे विलम्ब करना योग्य नहीं।

सुकुमाल ने चारों ओर दृष्टि डाली कि इस उतंग महल में से बाहर किस ओर से निकला जा सकता है, परन्तु उन्हें कोई मार्ग दिखाई नहीं दिया। लेकिन जहाँ चाह हो वहाँ राह मिल ही जाती है। सुकुमाल को वहाँ वस्त्रों की पोटरी दिखाई दी। उन्होंने उसमें से वस्त्रों को निकालकर एक दूसरे से अच्छी तरह बाँध कर एक रस्सी-सी बना ली और महल के खम्बे के साथ उसका एक छोर बाँध कर उस रस्सी को नीचे लटका दिया। फिर उसी के सहारे महल से नीचे उतर कर शीघ्र ही चैत्यालय में मुनिराज के समीप पहुँच गये। मुक्ति सुख की तीव्र उत्कंठा ने उनसे यह अत्यन्त दुष्कर कार्य भी करा लिया।

समता रस में तल्लीन, वीतरागी मुनीश्वर श्री यशोभद्रजी को पहले तो उन्होंने तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया। फिर अंजुली जोड़कर नतमस्तक हो आनन्द के साथ मुनिराज से जिनेश्वरी दीक्षा की प्रार्थना की– हे भगवन् ! इस संसार में मैंने विषयों में आसक्त हो व्यर्थ ही अब तक का अपना जीवन गंवाया। आपके वचनामृत का पान कर आज मैं मोहरूपी विष का वमन कर अत्यन्त जागृत हो गया हूँ। इसलिये हे प्रभो ! मुझ पर शीघ्र कृपा करके मुझे मोक्ष की कारण भूत भगवती दीक्षा दीजिये।

श्री यशोभद्र मुनिराज ने उन्हें पात्र जानकर कहा –

हे भद्रे ! तूने बहुत ही उत्तम विचार किया है, क्योंकि तेरी आयु अब कुल तीन दिन की ही शेष रह गई है। इसलिए तू आगमानुकूल जिनदीक्षा को धारण कर।

यह सुनकर वैरागी सुकुमाल के चित्त में और भी तीव्र वैराग्य रस उछल पड़ा, उन्होंने श्री यशोभद्र मुनिराज से शीघ्र ही बाह्य अभ्यन्तर समस्त परिग्रह का और चार प्रकार के आहार का मन, वचन, काय की शुद्धतापूर्वक त्यागकर आनन्ददायनी पारमेश्वरी दीक्षा अंगीकार कर जिनमुद्रा धारण कर ली एवं गुरु आज्ञानुसार जो सर्वोत्कृष्ट 'प्रायोपगमन संन्यास' धारण कर ध्यान की सिद्धि हेतु धर्मध्यान में वर्तते हुए वन को प्रस्थान कर गये। अत्यन्त भयानक वन में जाकर

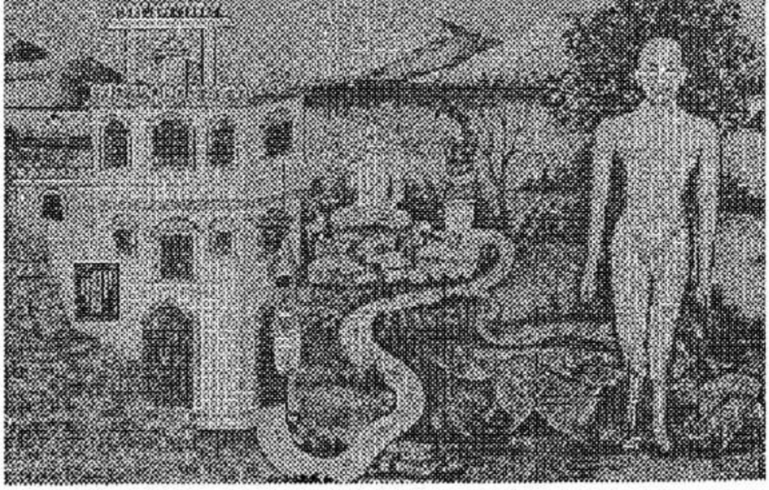

मुनिराज सुकुमाल ने देह का ममत्व त्याग, पृथ्वी पर कायोत्सर्गासन से (एक दम स्थिर होकर) समाधिमरण के लिये अपने को धर्मध्यान में स्थापित किया। और इधर यशोभद्र मुनिराज भी चर्तुमास काल पूर्ण होने से अन्यत्र विहार कर गये।

हे गुरुवर ! श्री सुकुमाल ने अपनी माता एवं पत्नियों से कुछ भी कहे बिना गुप्त रूप से जाकर दीक्षा क्यों ले ली? और यदि दीक्षा ले भी ली थी तो कम से कम एक दिन तो चैत्यालय में ठहरते। हमने तो मुनिराजों के मुख से भी सुना है कि चतुर्मास के अलावा शेष समय में मुनिराज तीन अथवा पाँच दिन तक एक नगर, ग्राम या एक स्थान में ठहर सकते हैं। वे दीक्षा लेकर भयंकर वन में जाकर ध्यान करने लगे तो क्या उन्हें किसी प्रकार का डर नहीं लगा होगा ? तथा आपने कहा कि उन्होंने प्रायोपगमन संन्यास धारण किया। यह प्रायोपगमन संन्यास क्या होता है ? वह कब और क्यों धारण किया जाता है एवं उसे धारण करने की क्या विधि है ?

हे पण्डित ! आपने अपनी जिज्ञासा की शान्ति हेतु जो प्रश्न किये हैं, वे बहुत ही उत्तम और योग्य हैं। भाई, जिसे किसी भी वस्तु की प्राप्ति की धुन लग जाती है, तो वह किसी से पूछने के लिये नहीं रुकता, वह तो सर्वसमर्पणता से उसमें लग ही जाता है। बस यही दशा सुकुमाल की हुई। वे तो गुरुवचनामृत का पान कर एवं पूर्वभवों के संस्कार से प्रेरित होकर सांसारिक जंजाल से छूटने के लिये अन्दर से छटपटाने लगे। उन्हें तो आत्मसाधना कर मुक्तिवधु की प्राप्ति का रंग चढ़ा था। महलों में रहना तो उन्हें मुक्तिवधु की प्राप्ति में बाधक लगने लगा था और माता एवं पत्नियों की ममता से तो वे परिचित थे ही, यदि वे उनसे आज्ञा माँगते भी तो, कोई उन्हें स्वीकृति देने वाला तो था नहीं। स्वीकृति माँगने पर भी माता एवं पत्नियों को दुःखी तो होना ही था, उनकी ममता का प्रदर्शन व आँसुओं की अविरल धारा से उनका मार्ग भी अवरुद्ध होने की संभावना ही थी। बिना आज्ञा लिये दीक्षित होने पर भी उनकी माता एवं पत्नियों की तो वही स्थिति होनी थी। दुनिया को देखने से तो स्वयं का ही अकल्याण होता है और ऐसा कोई विधान भी नहीं है कि दीक्षा से पूर्व परिवारजनों की स्वीकृति अनिवार्य ही हो। जिसके अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द उछालें मार रहा हो, फिर वह किसकी राह देखे ? गुप्तरूप से सुकुमाल के निकल जाने में ये सभी कारण थे। तथा श्री यशोभद्र मुनिराज के यह बताने पर कि अब उनकी आयु मात्र तीन दिन की ही शेष रह गई है। उनके पास अपनी साधना के लिये बहुत ही अल्प समय बचा था, इसलिये उन्होंने शीघ्र ही जाकर प्रायोपगमन संन्यास धारण कर लिया। जिन्हें संयम साधना के लिये अधिक समय प्राप्त होने की संभावना हो और उन्हें धर्म प्रभावना आदि का विकल्प हो, तो वे मुनिराज विहार भी करते हैं और स्थान-स्थान पर उनके आहार, विहार एवं धर्म प्रभावना आदि के लिये ठहरने के प्रसंग भी बनते

हैं। लेकिन सभी मुनिराजों के लिये ऐसा नियम नहीं है। जैसे बाहुबली मुनिराज। उनके पास तो समय भी अधिक था। लेकिन श्री सुकुमाल मुनिराज के पास तो आत्मसाधना हेतु मात्र तीन दिन का ही समय था।

क्या उन्हें मुनि बनने से पूर्व अपने आत्मा के ध्यान करने का अभ्यास करना जरूरी नहीं था?

भाई ! ध्यान करने का अभ्यास नहीं करना पड़ता, उसे किसी से सीखना भी नहीं पड़ता। जब इस जीव को अपने आत्मस्वरूप की लगनी लग जाती है, तब उसका ध्यान बार-बार आत्मा की ओर ही जाता है। तभी मुनिदशा होती है। "**रुचि अनुयायी वीर्य**" की सूक्ति के अनुसार हमारी जिस विषय में रुचि होती है, हमारा उग्र पुरुषार्थ उसी में सहज ही लगने लगता है। उसकी जो बहिरंग में आवश्यक विधि है, उसे सम्पन्न करने को ही अभ्यास कहा जा सकता है। मुनिदशा अर्थात् प्रचुर आत्मसाधना और इसी का नाम तो ध्यान है। अपनी आत्मा का स्वरूप जानकर उसी की श्रद्धा कर, उसमें ही जम जाना, लीन हो जाना ही तो ध्यान है। ध्यान मुनिराजों का प्रथम कार्य है। आत्मस्वरूप की प्रचुर साधना ही तो ध्यान है। उनका आत्मारूपी नन्दनवन ही क्रीड़ावन है, वे उसी में विचरण करते हैं। उस आत्मा रूपी नन्दनवन में अनन्त गुणरत्नों के अनन्त पुष्प खिले हुए हैं, उनकी आनन्दमयी, सुखमयी, प्रभुतामयी, शांति आदि खुशबू महक रही है। मुनिजनों की परिणति बाहर से हटकर इस आत्मसौरभ में ही मशगूल रहती है, उनकी आत्मज्ञान की किरणें केवलज्ञान को आमंत्रण देती रहती हैं, वे निर्भय हो अस्ति की मस्ती में मस्त रहते हैं।

उनका जगत में कोई शत्रु ही नहीं, उन्हें सभी प्राणियों के प्रति समताभाव है, उन्होंने निर्भय स्वरूप के आश्रय से अनन्त निर्भयता को प्राप्त कर लिया है, अब उन्हें भय किसका?

जो एकाकी विचरण करते श्मशान में,
वन पर्वत में बाघ, सिंह संयोग हो।
है अडोल आसन, मन में नहिं क्षोभता,
मानो परम मित्र का पाया योग हो॥

निःसंग हैं जो वायुसम, निर्लेप हैं आकाश से।
निज आत्मा में विहरते, जीवन न पर की आस से॥
जिनके निकट सिंहादि पशु भी भूल जाते क्रूरता।
उन दिव्य गुरुओं की अहो कैसी अलौकिक शूरता।

श्री सुकुमाल योगीराज तो संन्यास धारण कर अचल खड़े हैं, उनकी अन्तर-बाह्य परिणति को अवलोकने के लिये हमें भी स्थिर चित्त एवं अचलता का अवलम्बन लेना होगा। सहज परमानन्द रूपी पीयूष के पूर में डूबे हुए मुनिराज अपने आत्मा का कैसा अनुभव करते हैं। देखिए–

निर्दंड अरु निर्द्वंद्व निर्मम निःशरीर निराग है।
निर्मूढ़ निर्भय, निरवलंबन आत्मा निर्दोष है॥
निर्ग्रन्थ है, नीराग है, निःशल्य जीव अमान है।
सब दोषरहित, अक्रोध, निर्मद जीव यह निष्काम है॥
कैवल्यदर्शन-ज्ञान-सुख कैवल्यशक्ति स्वभाव जो।
मैं हूँ वही, यह चिंतवन होता निरन्तर ज्ञानी को॥
निजभाव को छोड़े नहीं, किंचित् ग्रहे परभाव नहीं।
देखे व जाने मैं वही, ज्ञानी करे चिंतवन यही॥
संयम नियम तप से तथा रे धर्म-शुक्ल सुध्यान से।
ध्यावे निजात्मा जो परम होती समाधि है उसे॥

मुनिराज सुकुमाल ने आत्म-तल्लीनता रूपी परम समाधि अंगीकार की थी। इसके व्यवहार में तीन भेद जिनवाणी में कहे गये हैं। भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन। चारों प्रकार के आहार का त्याग तो तीनों प्रकार के संन्यास में होता है। भक्तप्रत्याख्यान संन्यास में स्व-पर कृत देह का उपचार अर्थात् स्वयं अथवा पर के द्वारा शरीर की टहल करते, कराते हैं। इंगिनी मरण संन्यास में स्वयं अपने देह की टहल-सेवा करते हैं, परन्तु दूसरों से नहीं कराते और प्रायोपगमन संन्यास में अपने देह की टहल-सेवा न स्वयं करते हैं न दूसरों से कराते हैं, वे तो देह के प्रति अत्यन्त निर्मम होकर मात्र निज आत्मा में ही लीन रहते हैं। यही इनको धारण करने की विधि है और यह संन्यास, आयु के अंतिम भाग में लिया जाता है। वह अंतिम भाग उत्कृष्ट तो बारह वर्ष तक हो सकता है और जघन्य से आयु का अंतिम अंतर्मुहूर्त भी हो सकता है। यह संन्यास जीवन भर की गई आत्म साधना में विशेष वृद्धि करने के लिए अथवा आत्मसाधना पूर्ण करने के लिए अर्थात् उपसर्ग परिषहों पर जय प्राप्त करने के लिये धारण किया जाता है। यह प्रायोपगमन संन्यास उत्कृष्ट साधक ही ग्रहण करते हैं।

अब थोड़ा बाहर भी देखें, क्या घटना घट रही है। सुकुमाल कोमलांगी होने से जब वे महल से उतर कर श्री गुरु के समीप गये और वहाँ से भयंकर वन में गये।

तब उन कोमलांगी सुकुमाल को कंकड़ और काँटे आदि चुभने के कारण उनके पैरों से रक्त टपकने लगा। जो रास्ते भर गिरता गया। उस निर्जन वन में एक स्यालनी अपने दो बच्चों के साथ रहती थी। रास्ते में रक्त की बूंदों को सूंघती-देखती हुई वह अपने बच्चों सहित वहीं जा पहुँची, जहाँ सुकुमाल मुनिराज ध्यानमग्न खड़े हैं। सुकुमाल मुनिराज को देखते ही स्यालनी को पूर्वभव की घटना याद आ गई और उस समय अपने द्वारा बदला लेने की प्रतिज्ञा वश उसने अपने दोनों बच्चों सहित सुकुमाल मुनिराज के पैरों को खाना शुरु कर दिया और तीन दिन की अवधि में उन तीनों ने सुकुमाल के पेट तक का भाग खा लिया। पर धीर-वीर योगीराज सुकुमाल अपने आत्मध्यान में मग्न रहे, पुरुषार्थ की कमजोरी से यत् किंचित् विकल्प आता तो बारह भावनाओं का चिन्तन करते, लेकिन आत्मध्यान के पुरुषार्थ से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए।

प्रभो ! उस स्यालनी को अपने पूर्वभव की ऐसी कौन-सी घटना याद आ गई, जिससे वह महामुनिराज सुकुमाल को जीवित ही खाने लगी। हमने तो यह पढ़ा-सुना है कि वीतरागी मुनि भगवन्तों के पास जाकर तो क्रूर जीव भी शान्त परिणामी हो जाता है।

हे भव्य ! तेरा कथन सत्य है, वीतरागी सन्तों के पास जाने से क्रूर जीवों के परिणाम उपशान्त हो जाते हैं। उस स्यालनी को अपने पूर्वभव की वह घटना याद आ गई, जब इन्हीं सुकुमाल के जीव ने लगभग सात भव पूर्व वायुभूति ब्राह्मण के भव में क्रोध में आकर अपनी भाभी के मुँह पर लात मारी थी। उस भाभी का जीव ही यहाँ स्यालनी बना था। अतः उसके परिणाम वीतरागी मुनिराज को देखकर भी शान्त नहीं हुए।

मुनिकुंजर सुकुमाल तो सभी से, यहाँ तक कि अपनी देह से भी राग तोड़कर अपनी स्वरूप गुफा में शान्ति – निराकुलता के पान में लग गये। और राजमहल में उन्हें न पाकर उनके प्रति राग में लिप्त उनके परिजन-पुरजन कैसे शोक-संतप्त अशान्त और दुःखी हैं। यह जानने के लिए अब हम उनके महल की ओर चलते हैं।

सुबह होते ही सभी रानियाँ जाग गईं, वे चारों ओर देखती हैं, अपने प्राणनाथ को, परन्तु कहीं नजर ही नहीं आये। सुकुमाल की बत्तीसों रानियों ने अपने प्राणनाथ को बत्तीसों महलों में खोजा पर जब कहीं नहीं पाया, तब अत्यन्त दुःखित होती हुईं, अपनी सासु माँ यशोभद्रा के पास पहुँचीं और कहने लगीं, माताजी ! आज आपके पुत्र कहीं भी नजर नहीं आ रहे हैं, सर्वत्र खोज कर ली पर कहीं भी नहीं मिले। इतना सुनते ही यशोभद्रा मूर्छित हो जमीन पर गिर पड़ी। पुत्रवधुओं द्वारा शीतल जल आदि से उपचार किये जाने पर जब यशोभद्रा सचेत हुई, तो स्वयं भी सब जगह

खोजने निकल पड़ी, परन्तु सभी जगहों के दरवाजें अन्दर से बन्द थे। वह विचारने लगी कि जब सभी दरवाजे अन्दर से बन्द हैं तो फिर सुकुमाल कहाँ गया होगा?

इसी चिन्ता में जब वह इधर-उधर देख रही थी, तो अचानक उसकी नजर महल के ऊपर से नीचे की ओर लटकी हुई वस्त्रमाला की रस्सी पर जा पड़ी। यशोभद्रा समझ गई कि अवश्य ही मेरा पुत्र इस वस्त्रमाला के सहारे नीचे उतर कर चैत्यालय में मुनि यशोभद्र के पास चला गया है। यशोभद्र मुनिराज चातुर्मास योग धारण रूप उपाय से मेरे पुत्र को ले गये हैं। तब वह दौड़ी-दौड़ी चैत्यालय में गई, पर वहाँ न तो उसे सुकुमाल मिले और न मुनिराज यशोभद्र ही।

तब उसने राजा वृषभांक को यह समाचार भेज दिया। राजा वृषभांक अपने सेवकों सहित सुकुमाल को खोजने निकल पड़े। पूरे नगरवासियों ने भी सुकुमाल को नगर में गली-गली में खोजा, पर जब सुकुमाल नगर में थे ही नहीं तो मिलते कहाँ से? फिर यशोभद्रा वा राजा वृषभांक सेवकों सहित सुकुमाल को वन में खोजने निकले। सुकुमाल के गुम हो जाने का समाचार वायु के वेग के समान सम्पूर्ण उज्जयनी नगरी में फैल गया। उज्जयनी वासियों ने भोजन का त्याग कर दिया, पशुओं ने घास नहीं खाया और पक्षियों ने दाना नहीं चुगा, सभी शोकमग्न थे। उस समय सुकुमाल की माता, उनकी बत्तीसों पत्नियों एवं अन्य परिवार जनों के दुःखकारी शोक की कोई सीमा न थी।

अरेरे... सुकुमाल की इस वैराग्यदायक घटना से सभी को यह शिक्षा मिलती है कि अपने से हीन, दुर्बल, निस्सहाय और अपने से सबल, बलवान कैसा भी कोई प्राणी हो, उसके प्रति सदा समभाव धारण करना चाहिये। किसी को भी कठोर वचन नहीं कहना चाहिये और काया से भी किसी को रंचमात्र भी पीड़ा नहीं पहुँचाना चाहिये, क्योंकि सभी जीव अपने ही समान हैं और अपने ही समान सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। मन में भी किसी के प्रति खराब व्यवहार, विचार आदि नहीं करना चाहिये, क्योंकि जिसका तू बुरा विचारता है, वह तेरे आधीन तो है नहीं, उसका भला-बुरा होना तो, उसके पुण्योदय-पापोदय के आधीन है। उसका पुण्योदय होगा, तो जगत की कोई भी शक्ति उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकती और उसका पापोदय होगा तो दूसरा उसके उपकार के लाखों साधनों द्वारा भी उसे सुखी नहीं कर सकता। उधर बुरा विचारने वाला व्यर्थ ही पाप बाँध लेता है और भला विचारने वाला पुण्य।

इन्हीं सुकुमाल के जीव ने वायुभूति के भव में जो मुनि निन्दा एवं भाभी को लात मारने के भाव किये थे, उनका फल भव-भव में भोगता आ रहा है। भाई! एक समय में बँधे कर्म असंख्यात

भवों तक अपना रंग दिखाते हैं। मिथ्यात्व भाव से बंधे कर्म सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर तक यथायोग्य समय में फल देते रहते हैं। इसीलिये तो कहा जाता है कि–

'बंध समय जीव चेतिये, उदय समय क्या उचाट'।

उदय के आने पर आकुलित न होना हो तो बंध के समय ही चेतना होगा। पर यह जीव बंध के समय सावधान न रहकर हर्षित हुआ पुण्य-पाप का बंध कर लेता है और उदय के समय चिल्लाता है, तो नई बंध संतति बढ़ती जाती है।

कितना घोर उपसर्ग परन्तु अशरीरीदशा (सिद्धदशा) के साधक श्री सुकुमाल मुनिराज ने आगामी भव संतति का वीतरागी भावों द्वारा ध्वंस कर दिया। अज्ञात दशा में संचित किये हुए कर्मों का बहुभाग तो निर्जरित हो गया, कुछ अवशेष रहा है, वह भी शीघ्र ही जाने की तैयारी में है। श्री सुकुमाल मुनिराज इस घोर उपसर्ग के समय भी वीतरागता की वृद्धि हेतु बारह भावना भा रहे हैं।

बारह अनुप्रेक्षा का चिंतवन

१. अनित्य भावना : यह सुन्दर सुकुमार शरीर एवं उन्मत्त यौवन, संध्याकालीन स्वर्णिम छटा के समान क्षणभंगुर है। पुण्योदय से प्राप्त भोग एवं भोग्य वस्तुऐं कमल के पत्तों पर पड़े हुए जल बिन्दुओं के समान क्षणभंगुर हैं। उन्नत ललाट की लालिमा भी संध्याकालीन सूर्य की लालिमा के समान अल्पकाल में कालिमा में बदल जाने वाली है। क्योंकि सभी संयोगों पर, बत्तीस राज कन्याओं के भोगों पर, रत्नदीपक की ज्योति एवं कमलवास में बसाये सुगंधित-सुवासित चाँवल आदि भोग सामग्रियों पर, पर्यायों पर, विकराल काल की विकट मनहूस छाया पड़ी हुई है। अनादि संसार में भ्रमण करते हुए अनन्त बार मनुष्य पर्याय धारण की, अनन्त बार नरक पर्याय धारण की, जहाँ शरीर के तिल के बराबर खण्ड किये गये। अनन्त बार पशु पर्याय धारण की जहाँ भूख से पीड़ित अन्य जीवों ने इस शरीर को चोंट-चोंट कर खाया। अनेक बार देव पर्याय भी प्राप्त की। जहाँ हीन जाति के देवों पर हाथी, घोड़े आदि के रूप में सवारी की गई, अन्य देवों की ऋद्धियाँ देखकर मानसिक पीड़ा से झुलसता रहा। ये सभी दुःख मैंने ध्रुवधाम निज भगवान आत्मा की विराधना से पाये हैं; इसलिये आज मैंने शाश्वत, ध्रुव आत्मा को जान लिया है, जो कर्मों का नाशक और उपसर्गों का विजेता तथा संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्कृष्ट सुख का दाता है। जो मोह-राग-द्वेष रूपी शत्रुओं से डरते हैं, वे ही दुष्कर एवं कठिन तपस्या पूर्वक स्व-स्वरूप में उग्र पुरुषार्थ से जमा करते हैं।

संसार में जो राज्य, भोग-उपभोग, शरीर, स्त्री, धन संपत्ति वगैरह दिखते हैं, वे सब कर्म

जनित हैं। काल रूपी अग्नि में भस्म हो जाने वाले हैं। अतः संसार की प्रत्येक वस्तु अनित्य है, ऐसा जानकर मुनिराज नित्य आनन्द दाता शिवसुख की साधना कर रहे हैं। इस प्रकार आत्मिक आनन्दामृत की मस्ती में मस्त श्री सुकुमाल योगीश्वर अनित्य भावना भा रहे हैं।

२. अशरण भावना : जिस प्रकार वन में किसी हिरण को कोई सिंह पकड़ ले तो उसे वहाँ कोई रक्षक-शरण नहीं है। उसी प्रकार यह जीवन भी मृत्यु के मुख में है। रस, रसायन, सुत, सुभट, मंत्र, तंत्र, राज्य सम्पदा, उर्वशी समान सुन्दर स्त्रियाँ, ममता की मूर्ति माता ये कोई भी मुझे मृत्यु से बचाने में समर्थ नहीं। जैसे मझधार के बीच छिद्रमय नाव जो दुर्भाग्य से दुर्दैव के अधिकार में पड़ गई हो और जिसे नाविक खुद डुबोना चाहता हो, उस नाव के यात्री को कौन शरण होगा? इसी प्रकार अगणित छिद्रों से युक्त यह शरीर रूपी नाव, रोगों से ग्रसित अर्धमृतकसम बुढ़ापे में डगमगाने लगी और आयुकर्म रूपी दुर्दैव के अधिकार में पड़ी है, तो मेरा कौन रक्षक/शरण है? शाश्वत् शरणदाता मेरा आत्मा ही मुझे शरण है, परन्तु मैंने अपने को भूलकर अशरण पदार्थों में शरण खोजी, लेकिन कहीं शरण नहीं मिली और शरण न मिलने से मैं संसार वर्धक संकल्प-विकल्पों को कर्त्ता हुआ अनन्त काल से इस चतुर्गति संसार में भ्रमता हुआ दुःख भोगता रहा। आज मेरे नेत्र खुल गये हैं, मैंने परमशरणमय अविनाशी ध्रुव निज ज्ञायक आत्मा की शरण ग्रहण की है, जो आदि अनंतकाल रहेगी। इस प्रकार मुनिपुंगव अशरणभावना का चिंतवन कर रहे हैं।

३. संसार भावना : द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंच परावर्तनमय अनादि अनन्त एवं अशुभ और भयंकर दुःखों का समूह यह संसार है। संयोगाश्रित जो चिद्विकार हैं, वस्तुतः यही संसार है। अनुकूल संयोगों में सुख और प्रतिकूल संयोगों में दुःख ऐसे भ्रम के वश होकर मैं चतुर्गति के जंजाल में भ्रमता रहा। पर पदार्थों में भ्रम से सुख-दुःख की कल्पना करता रहा, यही दुःख द्वन्द है और संयोग ही जगफन्द है। उनमें सुख की कल्पना से रात-दिन, धन-संपदा को इकट्ठा करने में लगा रहा, परन्तु सद्भाग्य के बिना कुछ भी नहीं मिलता। जैसे जल के मंथन से कभी घृत प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार संयोगों में से भी कभी सुख नहीं मिलता; क्योंकि संयोगों में सुख है ही नहीं। अतः मेरा आत्मा ही सुखधाम-सुखमय है, संसार तो संकटमय ही है।

जब मेरे मुक्त स्वरूप में परद्रव्यों का सदा अभाव है, वे मेरे में प्रवेश ही नहीं कर सकते, तब फिर वे मेरे कैसे हो सकते हैं? मुझे दुःखी कैसे कर सकते हैं? अतः संयोग एवं वेदनादि मेरे ज्ञान में पर ज्ञेय हैं, मैं तो सदा ज्ञायक परमात्मा ही हूँ। इस प्रकार श्री सुकुमाल मुनिराज संसार की विचित्रता का चिंतवन करते हुए मात्र अपने ज्ञायक स्वभाव में ही पर्वत के समान अचल हैं। जो शाश्वत् सुख

के अर्थी होते हैं, वे तो इस दुःखों से भरे संसार का वास्तविक स्वरूप जानकर इससे उदास हो जाते हैं और शाश्वत् सुख की प्राप्ति कर लेते हैं। उसकी साधना तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय से होती है। इस प्रकार शाश्वत् सुखधाम के अर्थी श्री सुकुमाल मुनिराज संसार भावना का चिंतवन कर रहे हैं।

४. एकत्व भावना : मैं अकेला ही हूँ, मेरा आत्मा आनन्द का रसकन्द है, ज्ञान का घनपिण्ड है, सुख का सागर है, अनन्त गुणों का भंडार है, एकत्व ही सत्य है, एकत्व ही सुन्दर है, एकत्व ही कल्याणकारी है, सुख, शांति और स्वाधीनता एकत्व के आश्रय से ही प्रकट होती है, क्योंकि इनका आवास एकत्व में ही है। यह आत्मा अकेला ही जन्म के दुःखों को भोगता है, अकेला ही मृत्यु के दुःखों को भोगता है। नरक, निगोद, स्वर्ग, मोक्ष आदि के सुख-दुःख को यह जीव अकेला ही भोगता है। कोई साथी नहीं है। यह शरीर तो क्षण भंगुर है। मैं तो इससे सदा पृथक् हूँ, भिन्न हूँ। तो फिर ये स्यालनी खा रही है, इसमें दुःख कहाँ? ये तो अत्यन्त भिन्नवर्ती कारागृह रूप शरीर को खा रही हैं, मुझे यह कैसे खा सकती है ? क्योंकि मैं तो अरूपी अकृत्रिम चेतन बिम्ब हूँ। इस प्रकार अपने एकत्व स्वरूप में मग्न रहना ही सच्ची आराधना है। कुशल प्रज्ञा के धनी, तत्त्वज्ञानी श्री सुकुमाल मुनिपुंगव अपनी आत्मा का ही ध्यान करते रहे। मुक्तिलाभ की हेतु निज ज्ञानानंद स्वभाव में बारम्बार उपयोग की एकता रूप एकत्व भावना का चिंतवन पूज्य मुनिवर निरन्तर कर रहे हैं।

५. अन्यत्व भावना : सर्व प्रकार के संयोग मेरे चैतन्य स्वभाव से त्रिकाल भिन्न हैं, क्योंकि जब मेरी दर्शन-ज्ञानादि पर्यायें एवं गुणों के भेद भी अन्य हैं, तब फिर यह पौद्गलिक शरीर मेरा कैसे हो सकता है? और जब यह जन्म से मरणपर्यंत एकक्षेत्रावगाह रूप से रहने वाला शरीर भी मेरा नहीं, तब फिर उसकी किसी भी प्रकार की क्रिया में क्या दुख और क्या सुख? परद्रव्यों की पृथकता, भिन्नता, अन्यता और स्वद्रव्य की अपृथकता, अभिन्नता, एकता जानकर धीर, वीर श्री सुकुमाल योगीश्वर सर्व सम्बन्धों से विहीन अपने चैतन्य तत्त्व की आराधना करते रहे। यही अन्यत्व भावना का सार है। इस प्रकार मुनीश्वर अन्यत्व भावना को भा रहे हैं।

६. अशुचि भावना : यह शरीर तो भूख, प्यास आदि की आग से दग्ध है। काम, क्रोध और रोग रूपी सर्पों से ग्रसित है। माँस मज्जा, खून आदि सात अशुचि धातुओं से भरा है। ऐसा यह शरीर विद्वानों द्वारा कभी भी प्रशंसनीय नहीं हो सकता। यह शरीर कारागृह समान है। सम्पूर्ण अपवित्र पदार्थों का गर्त है। इस अशुचिमय देह-देवालय में सदाशुचि, निर्मल, पवित्र आत्मदेव विराजमान है, जो मेरा ध्येय, ज्ञेय और श्रद्धेय है। मैं त्रिकाल अशरीरी चैतन्य तत्त्व हूँ, मुझे इस जड़

देह का स्पर्श भी नहीं हुआ है और न कभी होगा; क्योंकि मेरे में और इस देह में अत्यन्ताभाव है। तब फिर अत्यन्त भिन्न इस संयोगी देह में रहना मेरे लिये निंदनीय है, शर्मजनक है। मुझे तो शरीर का सम्बन्ध चाहिए ही नहीं। अत: यदि कोई इस शरीर को खा जाये या नष्ट कर दे तो वह तो मेरा परमोपकारी मित्र समान है, क्योंकि मुझे इस देह रूपी जेल से छुड़ाने वाला कोई मेरा मित्र ही हो सकता है। मैं तो स्वभाव से अशरीरी हूँ और अब अशरीरी दशा को ही प्राप्त करूँगा। इस प्रकार मोक्ष की साधना हेतु वैराग्य जननी अशुचिभावना का मुनीश्वर चिंतवन कर रहे हैं।

७. आस्रव भावना : जिस प्रकार छिद्रवाली नाव में पानी का प्रवेश होने से नाव डूब जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग द्वारा संयोगाश्रित वृत्तियाँ होने से ये सभी आस्रव हैं, भ्रमकूप हैं, दु:खरूप हैं और दु:ख के कारण हैं, अशरण हैं, मलिन हैं। इनसे दुष्कर्मों का आस्रव होता है। इनका यथार्थ स्वरूप न जानने के कारण ही मैं आजतक संसार सागर में डूबा रहा। ऐसी स्थिति में भी मैं स्वभाव से तो सदा इनसे भिन्न ही रहा हूँ। मैं सदा निरास्रवी तत्त्व हूँ, सुखमय हूँ, सुख का कारण हूँ। ऐसा जानकर मैं अपने आत्मा में लीनतारूप, तप, संयम, ध्यान आदि के द्वारा कर्मों के आस्रव का द्वार बन्द करके सर्वसिद्धि को प्राप्त करूँगा। इसलिए मैं सदा निरास्रवी निज भगवान आत्मा की ही आराधना करता हूँ। इस प्रकार आनंदामृतभोजी श्री गुरुराज आस्रव भावना का चिंतवन कर रहे हैं।

८. संवर भावना : मैं ज्ञानस्वरूपी, सुखस्वरूपी भगवान आत्मा हूँ, आनन्द का रस कंद हूँ, मैं ही मेरा ध्येय हूँ, ज्ञेय हूँ, श्रद्धेय हूँ। मेरे आश्रय से उत्पन्न हुआ यह अतीन्द्रिय आनंद ही वास्तव में गुणों का सागर संवर है। इस आत्माराधना के बल से कर्मों का स्वत: रुक जाना भी व्यवहार से संवर कहलाता है। सदा विद्यमान आत्मा में मेरा उपयोग बारम्बार लीन होता है। यही सदाचरण है, यही महान फल दाता है, नवीन कर्मों की पगध्वनि को रोकने का यही एक अचूक उपाय है। दु:सह घोर उपसर्गों में धीरता एवं वीरता प्रदाता भी यह संवर ही है। इस प्रकार गुणों के सागर संवर को जानकर कषाय और काया के निग्रह द्वारा संवर को सम्पन्न करके स्वरूपगुप्त श्री सुकुमाल मुनिराज संवर भावना भा रहे हैं।

९. निर्जरा भवना : ध्रुवधाम निज भगवान आत्मा की रुचि यही संवर है और निजात्मा की ओर बढ़ने वाली निर्मलता ही निर्जरा है। यही निर्जरा मेरे वैराग्य की जननी है, रागादि की विध्वंसनी और मेरी संगिनी है। तप, त्याग, सुख, शान्ति को बढ़ाने वाली है। मुझे संसाररूपी अपार समुद्र से पार उतराने वाली भी यही है। स्वसमय में उदय में आकर स्वयं खिर जाने वाले कर्मों से होने वाली

सविपाक निर्जरा और मंद कषाय रूप अकाम निर्जरा तो संसार में सभी के होती है, लेकिन इससे कुछ साध्य की सिद्धि नहीं होती, परन्तु संवर पूर्वक शुद्धोपयोग से, स्वरूप विश्रांति रूप तपश्चरण से होने वाली सकाम निर्जरा, अविपाक निर्जरा ही वास्तविक निर्जरा है। यह निर्जरा ही गुणों की खान है, यही उपादेय है, यही मुक्ति की कारण है। सर्व अर्थों की सिद्धि की प्रदायनी है। इस प्रकार महापुरुषार्थी श्री सुकुमाल मुनिराज निर्जरा भावना का चिंतवन कर रहे हैं। इसलिये कर्मों की वास्तविक निर्जरा की इच्छा रखने वाले श्री सुकुमाल मुनिराज पर उपसर्ग, परिषह आने पर भी वे सुमेरु पर्वत के समान अचल रहे। मुक्ति की प्राप्ति हेतु सदा तपश्चरण करते रहे।

१०. लोक भावना : यह लोक षड्द्रव्यमय है। इसके तीन भाग हैं – अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। यह शाश्वत, नित्य एवं अकृत्रिम है। निजात्मा को जाने बिना मैंने तीनों लोकों में भ्रमते हुए अनन्त दुःख उठाये हैं। स्वर्ग के विमानों में कषायों की मंदता होने और पुण्य का उदय होने से इन्द्रिय सुख की अधिकता अवश्य है, पर मानसिक पीड़ा का दुःख वहाँ भी कम नहीं है। नरक और तिर्यंच गति में तो मारण, तारण, छेदन, भेदन, भूख, प्यास आदि के अनन्त दुःख मैंने सहन किये जो प्रत्यक्ष ही हैं। मनुष्यगति में किञ्चित् पुण्ययोग से कुछ समय के लिये आजीविका के साधन रहे तब निरोग काया और कषायों की मंदता के काल में मैंने इन्द्रिय सुखाभासों में सुख की कल्पना की; परन्तु आत्मिक सुख कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ।

एक मेरा ज्ञायक भाव ही निष्काम है, निष्क्रोध है, निर्मान है, निर्मोह है, निर्द्वन्द है, निर्दण्ड है, निर्ग्रन्थ है, निर्दोष है, निर्मूढ़ है, निराग है, मैं ही आलोक हूँ और मैं ही चिल्लोक हूँ। ऐसा लोकालोक प्रकाशक मेरा आत्मा ही वास्तव में लोक है। इस प्रकार सर्वज्ञ वीतराग कथित शास्त्रों द्वारा सुख-दुःख युक्त इस लोक को जानकर मुनिराज यम, नियम, तप, संयम आदि द्वारा मोक्ष की साधना कर रहे हैं। इस प्रकार परमवैरागी स्वरूप तत्पर पूज्य सुकुमाल मुनिराज लोक भावना का चिंतवन कर रहे हैं।

११. बोधिदुर्लभ भावना : संसार वन में भ्रमण करते हुए मैंने अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य पर्याय को बहुत ही मुश्किल से पाई है। उसमें भी दुर्लभ आर्यखण्ड का मिलना, यदि आर्यखण्ड भी मिल जावे तो उत्तम कुल का मिलना दुर्लभ, उससे भी दुर्लभ दीर्घ आयु का मिलना, दीर्घायु भी मिल जावे तो निर्मल बुद्धि का मिलना दुर्लभ है। पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता और कषायों की मंदता उतरोत्तर दुर्लभ है। ये भी मिल जावें तो सत् सज्जनों की संगति मिलना और सत्य धर्म को सुनने का अवसर मिलना और फिर उसकी आराधना ये तो और भी उतरोत्तर दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

और सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति होना महादुर्लभ है। सबसे दुर्लभ है केवलज्ञान और शिवलक्ष्मी पाना। जिन्होंने ये प्राप्त कर लिये उनका नर भव सफल है।

ये सब पराश्रित वस्तु भले ही दुर्लभ हों, परन्तु रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष एवं मोक्षमार्ग वास्तव में दुर्लभ नहीं हैं; क्योंकि जब मैं ही ज्ञेय हूँ और मैं ही ज्ञान हूँ, मैं ही ध्येय हूँ और मैं ही ध्यान हूँ। मैं स्वयं ही आराध्य हूँ और मैं स्वयं ही आराधना हूँ। साध्य और साधना भी मैं ही हूँ। निजात्मा की साधना ही आराधना है। तब फिर ये मेरी निज वस्तु मुझे दुर्लभ कैसी ? परन्तु स्वयं सब कुछ होते हुए और सम्पूर्ण सामग्री के मिलने पर भी मैं प्रमादी हो मूर्ख बना रहा। भव वन में भ्रमता रहा। अब महा दुर्लभता से मुझे यह मुक्ति का निमित्तभूत मनुष्य भव तथा रत्नत्रय आदि मोक्षसाधक सभी सामग्री की प्राप्ति हुई है, तो स्वरूप में अविचल स्थिरता द्वारा निर्वाण की साधना करूँ, यही कर्त्तव्य है। इस प्रकार उपसर्ग विजयी, परमध्यानी महामुनिराज श्री सुकुमाल स्वामी बोधिदुर्लभ भावना भा रहे हैं।

१२. धर्म भावना : अपार संसार के दुःखों से निकाल कर मुझे उत्तम श्रेष्ठ शिवसुख में धारण कराने वाला एक धर्म ही है। निजात्मा का श्रद्धान-ज्ञान और आचरण, शुद्धात्मा में लीनता ही धर्म है। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य ये सभी धर्म के लक्षण एवं इस साधना, आराधना के पर्यायवाची हैं। यह धर्म ही कल्पतरु है, यही कामधेनु है, यही चिन्तामणि रत्न है और यही संकटहारी है। इस धर्म तरु से याचना के बिना ही सभी कामनायें पूर्ण होती हैं। इस प्रकार पूर्णानन्द के अभिलाषी श्री सुकुमाल मुनिराज धर्म भावना का चिंतवन कर रहे हैं।

धर्म की साधना के साथ होने वाले पुण्य बंध के उदयकाल में समस्त विभूतियाँ एवं श्रेष्ठतम पद भी सहज मिल जाते हैं।

अध्यात्म और वैराग्य जननी भावनाओं का एकमात्र आधार निज शुद्धात्मा ही है। इसी की आराधना इन भावनाओं का सार है। ऐसे ध्रुवधाम के आराधक श्री सुकुमाल मुनिराज ने स्यालनी कृत उपसर्ग में अपने उपयोग को किंचित् भी विकृत नहीं किया, समता के सागर को अन्दर से प्रतिक्षण शांत भाव का ही स्रोत बह रहा है। इस प्रकार परमयोगी, सुमेरु समान अचल, धर्मगृह, चैतन्य बिम्ब श्री सुकुमाल मुनिराज ने बारह भावनायें भाईं। उसे ही ध्याया, उसे ही आराधा और उसमें ही जम गये, रम गये और उसी में लीन हो गये।

जो इनका चिंतवन करता है, उनके राग-द्वेष रूपी शत्रुओं का नाश हो जाता है और संवेगभाव

वृद्धि को प्राप्त होता है। ऐसा विचार कर बुद्धिमान पुरुषों का कर्त्तव्य है कि पाप के नाश के लिये अनन्त गुणों की जननी इन बारह भावनाओं का नित्य चिन्तवन करें।

इन बारह भावनाओं के चिंतवन और ध्यान से श्री सुकुमाल मुनिराज के हृदय में उत्पन्न वैराग्यभाव अत्यन्त पुष्ट हो गया। इसप्रकार श्री सुकुमाल मुनिराज ने वास्तव में अपनी आत्मा को शरीर से अत्यन्त भिन्न जानकर निर्विकल्पचित्त से परम धीरता और वीरता के साथ उत्कृष्ट आत्मध्यान किया। उस आत्मध्यान के बल से ही वे स्यालनी कृत घोर उपसर्ग में जरा भी दुःखी और विचलित नहीं हुए। अपनी धीरता और वीरता से उन्होंने उपसर्ग पर विजय पाई, वे वज्र के समान अभेद्य और अचल बने रहे।

वह वक्र परिणामी स्यालनी अपने दोनों बच्चों के साथ तीसरे दिन की अर्द्धरात्रि तक श्री सुकुमाल मुनिराज के शरीर को अति बलपूर्वक खाती रही, यहाँ तक कि उसने शरीर के अन्दर की आंतड़ियों को भी खेंच कर बाहर निकाल लिया। श्री सुकुमाल मुनिराज के प्राणांत का समय आ गया, पर धीर-वीर मुनिराज उत्तम प्रकार से चारों आराधनाओं का आराधन करते रहे और धर्मध्यान एवं समाधिपूर्वक समताभाव से उन्होंने देह का त्याग किया। अपनी महान योग शक्ति द्वारा पाप कर्मों का नाश करके, उत्कृष्ट पुण्य प्रभाव से मुक्तिवधु की सखी स्वरूप, मनोहर, सर्व कार्यों की सिद्धि करने वाली सर्वार्थसिद्धि नाम की स्वर्गभूमि को प्राप्त किया।

इस प्रकार पुण्योदय से प्राप्त अनेक प्रकार की विभूतियाँ एवं संपत्ति को श्री सुकुमाल स्वामी ने भोगकर, संसार भोगों में राग क्षीण हो जाने से विधिपूर्वक जिनदीक्षा लेकर पशुओं द्वारा किये गये घोरातिघोर उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर सर्वार्थसिद्धि नाम की स्वर्गभूमि को प्राप्त किया। श्रेष्ठ पुरुषों का भी कर्त्तव्य है कि अपने कल्याण के लिये वे भी धर्म साधन कर उपसर्ग-परिषहों पर जय प्राप्त करने के लिये धैर्य धारण करें। बहिरंग एवं अंतरंग दोनों प्रकार के सभी परिग्रहों से रहित होकर, श्रेष्ठ मार्ग के सन्मुख होकर जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय का सेवन करते हैं, वे संसार समुद्र से पार हो जाते हैं। वे ही धीर-वीर सभी परिषहों पर विजय प्राप्त करके तीनलोक में पूज्य हो जाते हैं। श्री सुकुमाल स्वामी आदि ऐसे मुनिराजों को मैं उन जैसे गुणों की प्राप्ति के लिये स्तवन एवं वंदन करता हूँ। घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने वाले श्री सुकुमाल स्वामी के तप के महात्म्य से स्वर्गलोक में इन्द्रों के आसन कंपायमान होने लगे। जब इन्द्रों एवं देवों को उन महामुनि श्री सुकुमालजी के अन्तकाल अर्थात् घोर उपसर्ग में भी समताभावपूर्वक देह का त्याग करने सम्बन्धी समाचार का ज्ञान हुआ तो वे सभी अत्यन्त आश्चर्य

चकित हो गये और उनकी निर्विघ्न आराधना को सम्पन्न जानकर अति हर्षपूर्वक उनकी स्तुति करने लगे।

अहो ! गुणों के निधान, धीर-वीर विभु आप तीन लोक में वंदनीय, महाज्ञानी-ध्यानी, भव्यजनों में अग्रणीय, धैर्य के सागर हो। जितने आप शरीर से कोमल हो उससे अनन्त गुणे अन्दर में कठोर हो, यही कारण है कि आप के वज्रपौरुष ने घोरातिघोर उपसर्गों पर भी सहज में ही विजय प्राप्त कर ली।

उपसर्ग विजयी पूज्य श्री मुनिपुंगव सुकुमाल की पूजा के लिये स्वर्ग से देवगण दुंदुभी एवं जय-जय के नाद से सम्पूर्ण आकाश को गुंजायमान करते हुए आ रहे हैं। उनकी स्तुति करते हुए उसी स्थान की ओर जा रहे हैं। इधर सुकुमाल को खोजते हुए माता यशोभद्रा, बत्तीसों पत्नियाँ एवं परिजन, पुरजन भी उसी ओर जा रहे हैं।

यद्यपि एक ओर माता को पुत्र के वियोग का दुःख है, वधुओं को पति-वियोग का दुःख है, परन्तु दूसरी ओर उन्हें अनुमान है कि अवश्य ही सुकुमाल संसार के बंधनों से छूटकर मुक्तिमार्ग के अनुरागी हुए हैं। इसका हर्ष भी सभी को वर्त रहा है। अतः माता यशोभद्रा स्तुति पढ़ती हुई अपनी बत्तीस पुत्रवधुओं, राजा और नगरवासियों के साथ वन की ओर चली जा रही है।

देव दुंदुभी एवं नाना प्रकार के वादित्रों की ध्वनि और जय-जय का नाद सुनकर माता यशोभद्रा आदि सभी को अपना अनुमान सत्य लगने लगा, वे जान गये कि "अपने सुकुमाल अब यथाजातरूप को धारण कर अकिंचनता के स्वामी हो गये हैं और सामायिक संयम में आरूढ़ हो चलते-फिरते सिद्ध हो गये। आत्मिक अतीन्द्रिय आनन्द के नन्दनवन में केली करने लगे। मुक्ति की परम सखी यह जिनदीक्षा को धारण कर अनाहारी पद की साधना में संलग्न हो गये। देवों को दुर्लभ और भव्यों की प्राणप्यारी यह तपश्चर्या धन्य है, धन्य है।

माता एवं रानियों आदि के अन्दर ऐसे पवित्र विचार उछल रहे हैं 'पुष्प से भी अधिक कोमल होते हुए भी वज्र से भी अधिक कठोर तप अंगीकार कर, हे तपोधन ! आप अशरीरी दशा के साधक बन गये, क्षण-क्षण में आनन्दामृत का पानकर सिद्धों से बातें करने लगे। आपने भवावलि की सन्तति को दग्ध कर अपुनर्भव के लिये प्रस्थान कर दिया। हे मुक्तिपथ के अनुगामी, पंच परमेष्ठी की श्रेणी के साधु पद में विराजित मुनिवर ! आपके चरणों में शत्-शत् बार नमन हो।"

इसप्रकार स्तुति करते हुए जा रहे उन सबकी भी गति अब तो देवों के समान शीघ्रगामी हो

गई। अत: वे भी देवों के ही साथ-साथ उस स्थान पर पहुँच गये, जहाँ तपोधन श्री सुकुमाल स्वामी ने देह का त्याग किया था।

माता यशोभद्रा सहित सम्पूर्ण नंगरवासी यह भावना संजोये हुए जा रहे हैं कि अभी हम सभी पूज्य सुकुमाल मुनिराज के पावनकारी दर्शन करेंगे, परन्तु वहाँ पहुँचते ही देखते हैं कि – मुनिराज का पशुओं द्वारा खाया गया आधा शरीर पड़ा है। माता यशोभद्रा तो देखते ही मूर्छित हो गईं। कितनी ही रानियाँ भी मूर्छित हो गईं, कितनी ही हक्की-बक्की-सी रह गईं अर्थात् सभी के हृदयों पर मानो वज्रपात ही हो गया हो। उनका हृदय का दु:ख, करुण क्रंदन हा-हाकार के रूप में व्यक्त होने लगा।

महान धर्मात्मा श्री सुकुमाल स्वामी, जिन्होंने ऐसे-ऐसे भोगोपभोगों को एवं राजवैभव से भी अधिक सम्पत्ति को भी क्षण में सड़े हुए तृण के समान छोड़कर तपश्चर्या धारण कर ली और वन में ध्यानस्थ दशा में तीन दिन-रात तक घोर उपसर्ग होने पर भी निजानंदभोगी मुनिकुंजर ने उस उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर, इस नश्वर काया का त्याग कर सर्वार्थसिद्धि नामक स्वर्ग को प्राप्त किया।

कुछ समय बाद सचेत व्यक्तियों ने मूर्छित व्यक्तियों का शीतल जलादि से उपचार किया, उनकी मूर्छा दूर हुई। तब माता यशोभद्रा ने वर्द्धमान आचार्य गुरुवर के वचनों का स्मरण किया, कुछ विवेक जागा, तब कुछ धीरज बाँधती हुई माता यशोभद्रा सभी को आश्वासन देती हुई कहने लगी – 'संसार में ऐसे भी महापुरुष होते हैं, जो इन्द्र समान भोगों को एवं राज्य सम्पदा को ठुकराकर तपस्या में लीन हो जाते हैं और उपसर्गों की बौछारों में भी आत्मसाधना में मेरु समान अचल रहते हैं, किंचित् भी चलायमान नहीं होते और आत्मसाधना के बल से स्वर्गों का वैभव प्राप्त करते हैं तथा जन्म-मरण का नाश कर अनन्त आनंदमय मोक्षलक्ष्मी तक को प्राप्त कर लेते हैं। धन्य हैं ऐसे प्राणी, उनका मनुष्य भव सफल है।

उधर माता यशोभद्रा अपनी बत्तीसों पुत्रवधुओं को धीरज बंधाने के लिये वैराग्य प्रेरक वचनों से सम्बोधित कर तो रही है, परन्तु उनके हृदय का दु:ख भी कभी-कभी उछल कर नेत्र द्वारों से बाहर आ जाता है।

इधर देवेन्द्रों के समूह ने पृथ्वीतल पर दैवी सामग्री पूर्वक एवं अत्यन्त भक्तिभाव से प्रभु श्री सुकुमाल स्वामी की पूजा कर उनका विधि पूर्वक अन्तिम संस्कार किया।

तत्पश्चात् राजा-प्रजा एवं माता यशोभद्रा आदि सभी उस जिनालय में पहुँचे, जहाँ पर मुनि श्री यशोभद्रजी महाराज विराजमान थे। सभी ने प्रथम जिनेन्द्र भगवन्तों का दर्शन किया, पश्चात्

मुनिराज के दर्शन कर माता ने शान्ति पूर्वक गुरुवर से पूछा – हे भगवन्! पुत्र सुकुमाल के प्रति मुझे इतना तीव्र अनुराग क्यों था ? कृपया मुझे बतला कर अनुगृहीत करें।

इस प्रश्न को सुनकर मुनिराज श्री यशोभद्रजी ने अपने अवधिज्ञान से पूर्व के सात भवों को जानकर इसप्रकार कहना प्रारम्भ किया –

''पूर्व भव में जो नागशर्मा नाम का ब्राह्मण था, वह धर्म के प्रसाद से अच्युत स्वर्ग में गया। वहाँ से आकर वह सुरेन्द्रदत्त नाम का सेठ हुआ, वह महान धर्मात्मा होने के कारण संसार से विरक्त हो गया है। सुरेन्द्रदत्त के पिता का नाम इन्द्रदत्त और माता का नाम गुणवती था। उन दोनों का श्रेष्ठ पुत्र सुरेन्द्रदत्त तुम्हारा पति था। साथ ही राजा चन्द्रवाहन का जीव भी तप के प्रभाव से आरण्य स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से आकर मैं यशोभद्र (जो मैं तुम्हारे समक्ष हूँ) हुआ हूँ। मेरे पिता का नाम सर्वयश और माता का नाम यशोमति है। मैं बचपन से ही संसार भोगों से उदासीन था और आश्चर्य कारक विरक्त बुद्धि के कारण मैंने जिनदीक्षा धारण की और अब इसी तप के बल से मुझे अवधिज्ञान एवं मनःपर्यायज्ञान प्रगट हुए हैं और जो त्रिदेवी नामक ब्राह्मणी थी, वह भी तपोबल द्वारा अच्युत स्वर्ग में गई, वहाँ से आकर तू यशोभद्रा हुई है, जो मेरी बहन (गृहस्थावस्था में) थी। सम्यग्दर्शन के अभाव में तेरे पुत्र सुकुमाल में तेरा महान स्नेह और मोह है। नागश्री का जीव अच्युत स्वर्ग में पद्मनाभ देव हुआ था, वह वहाँ से आकर तेरा पुत्र जगविख्यात, महापुण्यशाली परमधर्मात्मा सुकुमाल हुआ। जो सुबल राजा था, वह तपोबल से आरण्य स्वर्ग में गया था, वहाँ से आकर यहाँ वृषभांक नामक राजा हुआ और जो अतिबल राजा था, वह तपोबल से आरण्य स्वर्ग में जा, वहाँ से आकर वृषभांक राजा का कनकध्वज नाम का पुत्र हुआ है।

इस प्रकार श्री यशोभद्र मुनिराज के मुखरूपी चन्द्रमा से निकले वचनामृत को पीकर, यशोभद्रा एवं वृषभांक राजा आदि ने मोहरूपी विष का शीघ्र वमन कर दिया और संसार की लक्ष्मी तथा घर-कुटुम्ब आदि से उग्र संवेग धारण करके अपने मोह की निंदा करती हुई माता यशोभद्रा भी तप ग्रहण करने को तैयार हो गई और सुकुमालजी की बत्तीस रानियों में से गर्भवती चार रानियों को अपनी गृह सम्पत्ति आदि देकर शेष अट्ठाईस रानियों एवं कुछ अन्य बांधवों के साथ अपना अंतरंग-बहिरंग परिग्रह त्याग मुक्ति की प्राप्ति के लिये जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

वृषभांक राजा भी श्री यशोभद्र मुनिराज से अपने पूर्वभवों को सुनकर संसार के विषय सुखों से विरक्त हो अपने छोटे पुत्र को राजतिलक कर अपने बड़े पुत्र कनकध्वज एवं अन्य राजपुत्रों के साथ दश प्रकार के बाह्य व चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रहों को त्याग मुक्तिदायनी जिनदीक्षा को मन-वचन-काय की शुद्धि पूर्वक धारण कर लिया।

जिनदीक्षा ग्रहण करने के बाद वे भी तत्त्ववेत्ता परम तपश्चरण के साथ श्रुताभ्यास एवं ध्यान में लवलीन हो गये। वे पर्वतों, निर्जनवनों, नगरों, ग्रामों आदि में विहार करते हुए मोक्षमार्ग में तत्परता पूर्वक विचरण करने लगे। चार ज्ञान के धारक महायोगी श्री यशोभद्र मुनिराज, श्री सुरेन्द्रदत्त मुनिराज, श्री वृषभांक मुनिराज और योगीश्वर कनकध्वज, ये चारों चरम शरीरी हैं। अतः शुक्लध्यान रूपी खड्ग से समस्त घाति कर्मरूपी शत्रुओं का बल पूर्वक नाश कर, केवलज्ञान प्राप्त कर इन्द्र आदि द्वारा पूजा संस्कार को प्राप्त हो, समयानुसार शेष चार अघाति कर्मों का भी नाश कर सम्यक्त्व आदि आठ गुण संयुक्त अनुपम मोक्षपुरी में जाकर विराजमान हुए। अन्य शेष सभी मुनिराज अपने-अपने तपश्चरण के अनुसार सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यंत यथा-योग्य पदों को प्राप्त किया। कितनी ही महिला रत्न जिन्होंने आर्यिका पद धारण किया है, वे सौधर्म से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यंत महर्द्धिक देव पदों को प्राप्त हुईं।

सुकुमाल स्वामी का जीव पुण्य और तप के फल से सर्वार्थसिद्धि नाम के स्वर्ग में उत्पाद शय्या के मध्य रत्नपर्यंक में अहमिन्द्र हुआ। वहाँ अन्तर्मुहूर्त्त में ही सम्पूर्ण पर्याप्तियाँ पूर्ण कर यौवन दशा को प्राप्त हुआ और कल्पवृक्ष से निर्गत दैवी आभूषण, उत्तमोत्तम दैवी वस्त्र, अनुपम मालायें और अद्भुत कांति द्वारा विभूषित हो गया। उस महर्द्धिक अहमिन्द्र ने शय्या पर से उठकर पुण्य की मूर्ति अन्य अहमिन्द्रों को देख अवधिज्ञान के प्रभाव से यह जान लिया कि यह सब महान तप का फल है। अवधिज्ञान द्वारा उन्हें अपनी पुरानी भवावली का भी ज्ञान हो गया। श्री सुकुमाल स्वामी के जीव अहमिन्द्र ने निश्चय किया कि यह सब कुछ धर्म का फल है, इसलिये उन्होंने धर्म में अपनी निष्ठा और दृढ़ कर ली और सबसे पहले उस पुण्यवान अहमिन्द्र देव ने धर्म की सिद्धि और वृद्धि के लिये रत्नमयी ऊँचे अकृत्रिम जिनालयों में जाकर महान तेजोमय जिनबिम्बों की दैवी द्रव्यों से भक्तिपूर्वक पूजा की। उत्तमोत्तम गुणपूर्ण स्तोत्रों द्वारा भगवान की स्तुति की। इस प्रकार अन्य अहमिन्द्रों के साथ उस पुण्यवान चतुर अहमिन्द्र ने उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन किया।

इस प्रकार सर्वप्रथम देवाधिदेव श्री जिनेन्द्र देव का पूजन करके उन्होंने अपना स्थान और पूर्व में उपार्जित पुण्य के प्रताप से प्राप्त उत्तम विमान आदि सर्व सम्पदाओं को स्वीकार किया। सुकुमाल स्वामी का जीव वह महर्द्धिक अहमिन्द्र अपने स्थान पर ही रहकर तीन लोकवर्ती जिन प्रतिमाओं को, जिनमन्दिरों को अपने अवधिज्ञान द्वारा जानकर नमस्कार करते हैं। जब-जब भगवान (तीर्थंकरों) के गर्भ, जन्म आदि कल्याणक होते हैं, तब-तब अपने स्थान से हमेशा भगवान को नमस्कार कर स्तुति और भक्ति किया करते हैं।

सिद्धों के पड़ौसी वे महर्द्धिक अहमिन्द्र मुनिराजों को नमस्कार कर, समस्त कर्मक्षय के लिये

निज कारणपरमात्मा की अभेद रूप भक्ति तो कभी-कभी ही करते हैं अर्थात् देवों में चार गुणस्थान ही हो सकते हैं, आगे के नहीं। अतः उन्हें चौथे गुणस्थान के योग्य ही आत्मलीनता होती है, परन्तु अभेद अनुपचाररूप सतत् भक्ति की भावना होने से उसकी पुष्टि के लिये वे तैंतीस सागर तक अन्य अहमिन्द्रों के साथ पुनरुक्ति रहित तत्त्वचर्चा करते हैं अर्थात् शब्द तो एक कम इकट्ठी प्रमाण अर्थात् संख्याते ही हैं, इसलिये एक ही शब्द तो अनेक बार आते हैं, परन्तु तत्त्वचर्चा के विषय और भाव भिन्न-भिन्न होते हैं, इसलिये विषय एवं भाव पुनरुक्ति दोष रहित होते हैं; क्योंकि अनन्तगुणों से मंडित चैतन्य प्रभु के एक-एक गुण का वर्णन एक-एक समय में किया जावे, तो भी अनन्त गुणों का वर्णन तैंतीस सागर की स्थिति में पूरा नहीं हो सकता। वे तो चैतन्य रस के रसिया, सिद्धों के पड़ौसी और अपनी इस तैंतीस सागर की देव पर्याय पूर्ण कर मात्र एक मनुष्य जन्म धारण कर उसी भव से सिद्ध पद को प्राप्त करने वाले हैं। अतः उन्हें इस तत्त्वचर्चा के अतिरिक्त कुछ सुहाता ही नहीं है। इसलिये वे अपने उपयोग को अन्यत्र बहुत नहीं भ्रमाते।

मानो उनको दो ही काम रह गये हों, एक तो चैतन्य रस का पान और दूसरा चैतन्य रस के सम्बन्ध में भेदविज्ञान मूलक तत्त्वचर्चा।

उनकी कषाय परिणति बहुत ही मंद होती है, इतनी मंद कि उन्हें तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों में जाने का भाव भी नहीं आता, तब फिर अन्यत्र जाने की तो बात ही कहाँ रह जाती है। "अहं इन्द्र" अर्थात् मैं इन्द्र हूँ। इस प्रकार वहाँ सभी अहमिन्द्र होते हैं। अतः छोटे-बड़े का वहाँ भेद ही नहीं है, यहाँ तक कि उन अहमिन्द्रों की विभूति, ऋद्धि, सम्पत्ति एवं पद आदि सभी समान होते हैं। वे सभी अहमिन्द्र द्वादशांग के पाठी होते हैं। उन सभी का गुणस्थान चौथा ही होता है, इसलिये आत्मिक सुख चतुर्थ गुणस्थान के योग्य सभी को समान होता है। बाह्य इन्द्रिय जनित सुख भी समान होता है। और भोग-उपभोग भी समान होते हैं और सभी एक भवावतारी होते हैं।

सभी अहमिन्द्रों में रागभाव की मन्दता होने पर सभी परस्पर वात्सल्य भावयुक्त होते हैं। उनको स्व-स्वरूप रसास्वादन के समय शुद्धभाव रूप शुद्ध ध्यान और बाहर उपयोग जाने पर शुभ ध्यान होते हैं। वे सदा मदादि विभाव भावों से रहित होने के कारण पवित्र हृदय के धारक होते हैं। इस प्रकार सभी अपने-अपने मन में महान सुख का अनुभव करते हुए सतत् अशरीरी दशा के लिये प्रयत्न परायण रहते हैं। स्वर्गों में जो देवांगनाओं सम्बन्धी सुख है, उससे भी असंख्यातगुणा उपमारहित कामज्वर रहित अहमिन्द्रों के पद के योग्य महासुख (उन सभी का गुणस्थान चौथा ही होता है, इसलिये आत्मिक सुख चतुर्थ गुणस्थान के योग्य सभी को समान होता है। बाह्य इन्द्रिय जनित सुख भी समान होता है।) होता है। अहमिन्द्रों को आत्मजनित और प्रविचार रहित सुख

होता है। तीन लोक में पुण्य के प्रताप से प्राप्त जितना और जो कुछ सुख संभव है, वह सब सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्रों के होता है। उस सुख में दुःख का अर्थात् इन्द्रिय विषयों की प्रतिकूलता जनित दुःख का अंश भी नहीं रहता। इस प्रकार समस्त दिव्य लक्षणों से युक्त वह सुकुमाल स्वामी का जीव अत्यन्त धर्मभाव पूर्वक अहमिन्द्र पद के उत्कृष्ट सुखों को भोग रहा है।

अनाहारी पद को साधते-साधते ही मध्यलोक से प्रस्थान कर श्री सुकुमाल स्वामी सर्वार्थसिद्धि को पहुँचे हैं। वहाँ उन्हें तैंतीस हजार वर्षों के बाद एक बार आहार का विकल्प उठता है, विकल्प उठते ही स्वतः कंठ में अमृत झरने लगता है, वही उनका दिव्य और आनन्द-दायक आहार होता है। तेतीस पक्ष (पन्द्रह दिन का एक पक्ष होता है।) के बाद एक बार श्वांस लेते हैं। उन्हें अवधिज्ञान होने से अवधिज्ञान की मर्यादा के अनुकूल क्षेत्र में स्थित मूर्तिक पदार्थों को वे अपने स्थान पर रहते हुए ही जान लेते हैं। उन्हें उनकी मर्यादा के योग्य क्षेत्र पर्यंत गमन करने की विक्रियाऋद्धि प्राप्त होती है तथा उनको उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या होती है। वे हमेशा धर्म ध्यान में तत्पर रहते हैं। उन्हें कहीं जाने-आने का विकल्प भी नहीं उठता। उनका शरीर एक हाथ प्रमाण ऊँचा और वैक्रियक होता है अर्थात् उनके शरीर में सप्तधातु, मल, मूत्र, पसेव आदि शारीरिक मल नहीं होते एवं नेत्र भी टिमकार रहित होते हैं।

अशरीरी होने के लिये अन्तिम जन्म

श्री सुकुमाल स्वामी का जीव महर्द्धिक अहमिन्द्र सर्वार्थसिद्धि से यहाँ श्रेष्ठ कुल में मुनष्य भव प्राप्त कर जन्म-तप अर्थात् रत्नत्रय रूप आचरण द्वारा अवश्य मोक्ष को प्राप्त करेगा। वे अभी सुखसागर में मग्न, अनिष्टसंयोग और इष्टवियोग से रहित, समस्त सुखों से युक्त सर्वार्थसिद्धि में विराजमान हैं। इस प्रकार तप एवं चारित्र के प्रभाव से अनुपम सुखों से पूर्ण, दुःख नाम से भी रहित, सभी विकारों से रहित सुखों को वे अहमिन्द्र भोग रहे हैं। बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है कि वे भी सुख प्राप्ति हेतु आचरण शुद्धि पूर्वक धर्म की साधना करें।

सम्यग्चारित्र ही अनन्त गुणों का दाता है और सम्यग्दर्शन ही उसकी जड़ है। ऐसे सम्यग्चारित्र का ही योगीजन आश्रय लेते हैं। उस सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्र के अलावा अन्य कोई कल्याण करने वाला नहीं है। इसलिये मैं चारित्र में ही अपने उपयोग को लगाता हूँ और भावना भाता हूँ कि मुझे भी ऐसा पूर्ण चारित्र शीघ्र प्रकट हो। सम्यग्चारित्र को नमस्कार हो।

आचार्य श्री सकलकीर्तिजी, रचित यह वैराग्य रस उत्पादक ग्रन्थ है। इसमें महातपस्वी, महाध्यानी श्री सुकुमालजी के भवान्तरों का वर्णन किया गया है, जिसमें उन्होंने पूर्वकृत पापकर्मों

से बँधे कर्मों के उदय में अत्यन्त दुःख भोगे हैं, उन्हें पढ़ते ही एक बार तो नास्तिक भी पिघल जावे, आचार्य महाराज ने ऐसा वर्णन कर इस जगत के दुःखी जीवों को सम्बोधित किया है।

है मोक्ष की अभिलाष, अर भयभीत है संसार से।
है समर्पित यह देशना, उन भव्यजीवों के लिये।।
अनन्त है संसार-सागर, जीव काल अनादि है।
पर सुख नहीं बस दुःख पाया, मोह-मोहित जीव ने।।
भयभीत है यदि चतुर्गति से, त्याग दे परभाव को।
परमात्मा का ध्यान कर तो परम सुख को प्राप्त हो।।

धर्मोपदेश

हे भव्य आत्माओ ! यदि आप को मोक्ष की इच्छा हो अर्थात् (अनन्त संसार-सागर में चिरकाल से भ्रमते-भ्रमते दुःख ही दुःख भोगे, सुख की तो कहीं परछाई भी नहीं मिली) संसार-सागर से छूटने का यदि वास्तव में तेरा मन हुआ हो, तो संसारवर्द्धक भावों को तज दे।

श्री सुकुमाल स्वामी के जीव ने धर्मधारण करने से पूर्व वायुभूति की पर्याय से लगाकर तीन पर्यायें तिर्यंच की, एक पर्याय चांडाली अन्धपुत्री की और एक पर्याय नागश्री ब्राह्मण कन्या की और एक पर्याय देव की प्राप्त की। ये सभी पर्यायें संज्ञी पंचेन्द्रिय की ही थीं। जब संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यायों के अनन्त दुःख ही मुख से नहीं कहे जा सकते, तब फिर इस जीव ने नरक-निगोद की अनन्तानन्त पर्यायों में जो अनन्तानन्त दुःख भोगे हैं, उनका वर्णन कैसे किया जा सकता है ?

भाई ! उन पर्यायों का दुःख तो भोगने वाला भोगे और केवली भगवान जाने और कोई तो उन्हें जानने में समर्थ ही नहीं। इसलिये श्री गुरु अर्थात् स्वरूप लक्ष्मी से सम्पन्न गुरु तुझे करुणा करके धर्मामृत का पान कराते हैं।

हे जीव ! तू भी भव और भव के भावों से डरकर निज भगवान आत्मा को भज। इसी का नाम धर्म है, यही धर्मामृत का पान है।

ऐसा उत्तम वीतराग धर्म सर्वज्ञ देव द्वारा प्रणीत है, जो अनन्त गुणों का दीपक और समस्त दोषों का नाशक है। ध्यानी मुनिराज इसी धर्म का आश्रय लेते हैं। धर्म से ही मोक्ष सुख की साधना होती है। धर्म के साधकों को साधना की पूर्णता में मोक्ष प्राप्त होता है और अल्प कषायांश रह जाने की स्थिति में सातिशय पुण्य का बंध होता है, जिसके फलस्वरूप अत्यन्त उत्तम विभूति इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण आदि के पद प्राप्त होते हैं।

जैसे सुहागन स्त्री का शृंगार शोभा को प्राप्त होता है, वैसे ही धर्म से ही राज्य आदि सम्पदा शोभा को प्राप्त होती है। सम्यक्त्व और संयम ही धर्मस्वरूप हैं, धर्म हैं। निज स्वरूप की गुप्त गुफा में विश्रांत उपयोग में ही घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने की सामर्थ्य है। उपयोग की अन्तर्मुहूर्त्त मात्र निश्चल स्वरूप लीनता ही शाश्वत निर्वाण अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कराती है। सिद्ध प्रभु के निकटवर्ती पड़ौस सर्वार्थसिद्धि का अहमिन्द्रपना भी धर्म से ही प्राप्त होता है। पंचेन्द्रियों की पूर्णता, अविकल्पता, स्वास्थ्य लाभ और इन्द्रियों के अनुकूल भोग्य सामग्री की उपलब्धि तो व्यवहार धर्म मात्र से पनपने वाले पुण्य के फल में ही हो जाती है। ऐसा पुण्यानुबंधी पुण्य मात्र धर्मात्मा को ही बँधता है।

लोक में प्रतिष्ठा, सत्धर्म की प्राप्ति, धर्मात्माओं की सत्संगति, मनोहर रूप, धार्मिक परिवार का मिलना, मनवांछित भोग-सामग्री इत्यादि सभी पुण्योदय से प्राप्त होते हैं। उत्तम पदों की प्राप्ति, बाह्य-अभ्यन्तर शत्रुओं पर विजय प्राप्ति धर्म से ही होती है। इसलिये बुधजनों को मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक सदा सर्वज्ञ देव द्वारा प्रणीत वीतरागी धर्म का ही आश्रय लेना चाहिए।

आचार्य भगवंतों ने धर्म की अतिसंक्षेप में परिभाषा बतलाई है – ''समस्त संसार दुःखों का नाशक और सम्पूर्ण मनोवांछित अर्थों का दायक, परमार्थभूत एक अद्वितीय, आत्मिक सुख का दाता धर्म ही है।'' ऐसे धर्म को शत्-शत् बार नमस्कार हो।

लेखक की लघुता और प्रार्थना

हे प्रभो ! मुझे भी शीघ्र अतीन्द्रिय आनंदमयी धर्म प्रगट हो और मेरा मन सदा उस धर्म में ही लगा रहे, इस भावना से ही यह सारभूत, वैराग्यजनक, सिद्धान्त गर्भित और भक्तिरस से भरपूर सुकुमाल स्वामी का चरित्र रचा है।

कैसे हैं श्री सुकुमाल मुनिराज ?

तीन लोक से वंदनीय और आत्मिक अतीन्द्रिय आनंद से मालामाल हैं। परमार्थ सुख के कमाल को प्रत्यक्ष दिखाने वाले हे मुनिपुंगव ! मुझे भी कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने का बल प्रदान कीजिए एवं मेरे समस्त उपद्रवों का नाश कीजिए। समस्त अशुभ कर्मों का विनाशक – ऐसा सर्वोत्कृष्ट समाधिमरण एवं उत्तम क्षमादि गुणों का समुदाय मुझे भी दीजिये, यही मेरी प्रार्थना है।

आचार्य भगवंत तो गुणों के सागर और ज्ञानादि के अक्षय भंडार होने पर भी अंत में अपनी लघुता बताते हैं, उनके सामने मुझ जैसे पामर का क्या कहना। फिर भी यह ग्रन्थ रचने का साहस

किया है, यह तो सूर्य को दीपक दिखाने के समान धृष्टता ही है। अत: अज्ञानवश जो त्रुटियाँ रह गई हों, प्रमादवश अक्षर, मात्रा, स्वर आदि में, पदों के जोड़ आदि में जो चूक हुई हो, तो हे बहुत श्रुतज्ञानी गुरुजन ! मेरे अपराधों को क्षमा करें और ग्रन्थ की शुद्धि करें। हे महा भगवती, पारमेश्वरी जिनवाणी माँ ! मुझे क्षमा करना।

मोक्ष के अभिलाषी जो भव्यजन इसे पढ़ेंगे, वे समस्त श्रुत के पारगामी हो परम पद को प्राप्त होंगे और जो निपुणजन इसका श्रवण करेंगे, वे तत्काल राग-द्वेष का नाशकर परम वीतराग धर्म का अनुभव करेंगे।

यह चरित्र कैसा है ? यह चरित्र मुनि-श्रावक धर्म का मूल बीजभूत है। बंध का विध्वंसक विकार विदारक और निर्मल सुखों का निधान है।

अंत में मंगलस्वरूप पंचपरमेष्ठी भगवंतों को सामूहिक रूप से नमस्कार करता हूँ। अनन्तगुणों के निवास स्थान, सर्वलोक के परमेश्वर ऐसे वृषभादि वीर पर्यंत चौबीस तीर्थंकर भगवंतों को नमस्कार करता हूँ। विदेहक्षेत्र में विद्यमान बीस तीर्थंकर देवों को, सम्यक्त्वादि अष्टगुण सहित ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों से रहित, परमपद में विराजमान श्री सिद्ध परमेष्ठी भगवन्तों को, शिवसुख के साधक, छत्तीसगुणयुक्त, दीक्षादायक, महाहितकारी श्री आचार्य परमेष्ठी को, द्वादशांग श्रुतसागर के पारगामी पच्चीस गुण सम्पन्न श्री उपाध्याय परमेष्ठी को, तथा अट्ठाईस मूलगुणों के धारक सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र की एकता रूप मुक्तिमार्ग के साधक साधु परमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूँ। हे पंच परम प्रभुवर ! इस सुकुमाल चरित्र की पूर्णता करके मैं आप जैसे परमसुख की प्रार्थना करता हूँ, अब मैं मात्र इस उत्तम सुख का ही अभिलाषी हूँ।

निर्मल गुणों की खान, तीन लोक में अद्वितीय दीपक समान, समस्त दोषों से रहित, कल्याण एवं सुख की प्रदाता, कर्मक्षय की हेतुभूत, चार ज्ञान के धारी संतों द्वारा पूज्यनीय, ऐसी जिनवाणी माँ सम्यग्ज्ञान रूप परमतीर्थ, भूतल में यह अद्वितीय चक्षु अतिशय रूप से जयवंत वर्तो।

अन्त में जिनवाणी की जयवंतरूप मंगल कर ग्रन्थ की पूर्णता करते हुए मैं श्री यशोभद्र स्वामी, श्री सुरेन्द्रदत्त स्वामी, श्री वृषभांक स्वामी एवं श्री कनकध्वज स्वामी – इन चारों सिद्ध भगवन्तों को त्रियोग पूर्वक नमस्कार कर तथा श्री यशोभद्रा आदि आर्यिका माताओं को वंदन करते हुए ग्रन्थ पूर्णता पर आत्मसाधक साधकों की ज्ञान-वैराग्यमयी भावनाओं से आपूरित कुछ छन्द यहाँ प्रस्तुत हैं –

है आत्मा परमात्मा, परमात्मा ही आत्मा।
हे योगीजन यह जानकर, कोई विकल्प करो नहीं ॥
यदि चाहते हो मुक्त होना, चेतनामय शुद्ध जिन।
अर बुद्ध केवलज्ञानमय निज, आत्मा को जान लो ॥
त्रैलोक्य के जो ध्येय, वे जिनदेव ही हैं आत्मा।
परमार्थ का यह कथन है, निर्भ्रान्त यह तुम जान लो ॥
पुण्य से हो स्वर्ग, नरक निवास होवे पाप से।
पर मुक्ति-रमणी प्राप्त होती, आत्मा के ध्यान से ॥
व्रत शील संयम तप सभी हैं, मुक्तिमय व्यवहार से।
त्रैलोक्य में जो सार है, वह आत्मा परमार्थ से ॥
है आत्मा बस एक चेतन, आत्मा ही सार है।
बस और सब हैं अचेतन, यह जान मुनिजन शिव लहें ॥
यदि चाहते हो मोक्षसुख तो, योगियों का कथन यह।
हे जीव ! केवलज्ञानमय, इस आत्मा को जान लो ॥
सुसमाधि अर्चन मित्रता, अर कलह एवं वंचना।
हम करें किसके साथ किसकी, हैं सभी जब आत्मा ॥
जर्जरित है नरक सम यह, देह – ऐसा जानकर।
यदि करो आतम भावना, तो शीघ्र ही भव-पार हो ॥
जो होयेंगे या हो रहे, या सिद्ध अब तक जो हुए।
यह बात है निर्भ्रान्त वे सब आत्म दर्शन से हुए ॥
आत्मा ही धर्म हो और आत्मा ही कर्म हो।
आत्मा शिवशर्मदाता, ज्ञान का ये मर्म हो ॥
आत्मा की भावना में ही, मेरा अवसान हो।
आत्मा के ध्यान में ही मेरा पुनरुत्थान हो ॥
आत्मा का रहे चिन्तन, आत्मा में लीन हो।
आत्मा परमात्मा के रूप में ही विलीन हो ॥

॥ इति श्री सुकुमाल चरित्रं सम्पूर्णम् ॥

(इस कथा की लेखिका ब्र. बिमला बैन हैं – आभार)

प्रोफेसर की डायरी

व्यक्ति के जीवन की कितनी ही रातें तो ऐसी होती हैं, जिनमें आराम के साथ उसे नींद आ जाती है। चाहे बिछौना कितना भी कठोर क्यों न हो; पर कुछ रातें ऐसी भी होती हैं, जिनमें व्यक्ति की नींद हराम हो जाती है, चाहे वह व्यक्ति मखमल से मुलायम गद्दे पर भी क्यों न लेटा हो।

ऐसी ही कुछ स्थिति आज बूढ़े प्रोफेसर अनुभवसहायजी की हो रही थी। वे सोने का बहुत--बहुत प्रयत्न कर रहे थे, पर ऐसा लग रहा था कि उनकी नींद उनसे कोसों दूर चली गई हो। यह बात नहीं थी कि खटमलों अथवा मच्छरों ने उनको परेशान कर रखा हो। दरअसल बात तो यह थी कि उनको इस समय अपने घनिष्ठ मित्र आत्मप्रकाश के अनायास वियोग का दु:ख सता रहा था। अभी-अभी तीन दिन पूर्व ही आत्मप्रकाश की अनायास मृत्यु हो गयी थी। मृत्यु से पूर्व तो आत्मप्रकाश अच्छे-भले चंगे थे।

यद्यपि आत्मप्रकाशजी उम्र में अनुभवसहायजी से सात वर्ष छोटे थे, पर वैचारिक समानता के कारण दोनों में कई वर्षों से घनिष्ठ मित्रता थी। अनुभवसहायजी की तो अबतक यही धारणा बनी हुई थी कि इस पर्याय से (दुनिया से) पहले मैं उठूँगा फिर आत्मप्रकाश। और इसलिए वे अक्सर आत्मप्रकाश से कहा करते – "यार ! मेरे जीवन का अब कुछ भरोसा नहीं। उम्र काफी हो गयी है। अन्तिम समय में ऐसा-वैसा कुछ हो जाय तो तुम सँभालना। परिणाम धर्म से डिग जायें तो तुम पुन: धर्म दृढ़ता करवाना।"

पर यहाँ तो बात उल्टी ही साबित हुई और इन्हीं सब विषम परिस्थितियों के कारण आज अनुभवसहायजी की नींद उड़ चुकी थी। रह-रहकर मित्र की याद ताजी हो आती थी। चित्त काफी उदास हो गया था। इस समय संसार उन्हें साक्षात् निस्सार एवं दु:खों का घर नजर आ रहा था। इतना दु:ख तो उन्हें अपने पत्नी के वियोग के अवसर पर भी नहीं हुआ था तथा बच्चे तो उनके थे ही नहीं।

बहुत कोशिश करने के बाद भी जब नींद नहीं आयी तो वे पलंग से उठ खड़े हुए। चलते हुए बिजली के स्विच तक गये और स्विच ऑन कर दिया। ट्यूबलाईट के प्रकाश से कमरा जगमगा उठा। उन्होंने अपनी घड़ी में देखा, इस समय रात्रि का एक बज रहा था। वे टेबल पर

पड़ी हुई पुस्तकों को अपनी अंगुली से हल्का-हल्का थप-थपाते हुए कुछ सोचने में व्यस्त हो गये। पास में ही दायीं ओर पुस्तकों से भरी हुई एक अल्मारी थी।

७० वर्ष के बूढ़े प्रोफेसर अनुभवसहाय के चेहरे को देखकर आसानी से अनुमान लगाया जा सकता था कि वे दुनिया के विशेष अनुभवी पुरुष हैं। उनकी आँखों में एक विशेष प्रकार की चमक झलकती रहती थी। उनके सिर का आगे का भाग कुछ गंजा था तथा पिछला भाग सफेद बालों से ढका था। गौर-वर्ण के प्रोफेसर कुछ देर तक यूँ ही सोचते रहे, फिर अचानक एक झटके के साथ अपने हाथों को आगे बढ़ाते हुए पास रखी अल्मारी में से कुछ पुस्तकों को टटोलने लगे। एक पुस्तक निकालकर टेबल पर रख ली। यह कोई पुस्तक नहीं; बल्कि एक डायरी थी; जिस पर गहले नीले रंग का प्लास्टिक कवर चढ़ा हुआ था।

इस डायरी के पन्नों को प्रोफेसर अनुभवसहाय कुछ देर तक तो यूँ ही इधर-उधर पलटते रहे, फिर अन्दाज से यूँ ही एक पेज खोलकर उसे पढ़ने लगे। उनके अपने ही हाथ का लिखा हुआ था –

"२५ मई, १९२९ (मंगलवार) सिगरेट पीने का और तम्बाकू का गुटका खाने का चस्का मुझे पिछले कुछ दिनों से लग चुका है, इसी आदत से मजबूर होकर मैं एक दुकान पर खड़े-खड़े सिगरेट पी रहा था और तम्बाकू का गुटका तैयार करवा रहा था कि अचानक मेरे भाईसाहब वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने जलती हुई सिगरेट छीनकर मेरे दाहिने हाथ पर दाग दी। मैं पीड़ा के मारे कराह उठा। फिर भी भाईसाहब को जरा सी भी दया नहीं आयी। मेरी बहुत पिटाई की। सबके सामने पीटते-पीटते मुझे अपने घर ले गये और अन्त में धमकी देते हुए बोले – याद रक्खो, जो अब कभी सिगरेट एवं तम्बाकू का सेवन किया तो घर में पैर नहीं रखने दूँगा, जान से

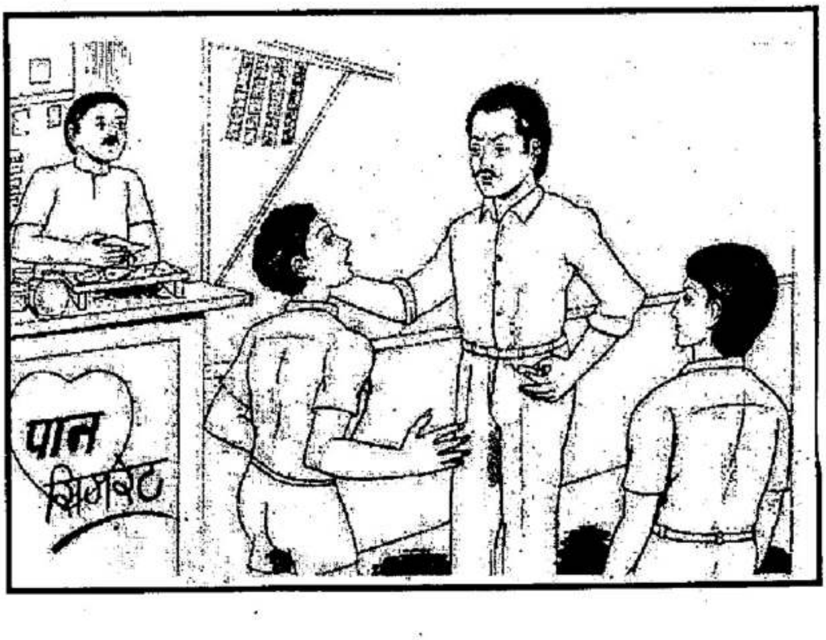

मार डालूँगा। मैं तुम्हारी पूरी निगरानी रक्खूँगा। सिगरेट पीने की इच्छा तो आज भी बहुत हो रही है, पर भाईसाहब के डर से हिम्मत नहीं हो रही है।'' – **अनुभवसहाय**

प्रोफेसर ने ज्यों ही वह पन्ना पढ़ा, त्यों ही उक्त घटना उनकी याददास्त में उभर आयी। उन्हें अच्छी तरह से याद हो आया कि जब सिगरेट को लेकर उनके भाई ने उनको पीटा था, तब उनके हृदय में अपने भाई के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी थी। मन ही मन भाईसाहब को हजारों बार कोसा था। उस समय तो अपने भाई को उन्होंने अपना दुश्मन ही समझ लिया था। इस समय उन्हें अपने उस समय के अज्ञान पर आश्चर्य और दु:ख का अनुभव हो रहा था। उन्हें खेद हो रहा था कि अपने हित के इच्छुक भाईसाहब के लिए उन्होंने उस समय मन ही मन जाने क्या-क्या उपाधियाँ दे डाली थीं।

दूसरे पन्ने पर जाकर उनकी नजरें पुन: अटक गयीं। वहाँ लिखा था –

''अप्रैल, १९४८ (मंगलवार) इन दिनों मेरे जीवन में किसी भी प्रकार के नशे का प्रवेश नहीं है। सिगरेट, पान और तम्बाकू के सेवन की बात तो बहुत दूर चाय पीना भी मैंने छोड़ दिया है। परन्तु अब दूसरा व्यसन लग चुका है और वह है अध्यात्म का व्यसन। पूज्य भाईसाहब की प्रेरणा से तत्त्वज्ञान और अध्यात्म के प्रति अपार लगन लग चुकी है। अध्यात्मरस के बल से ही आलू, प्याज, लहसुन आदि अभक्ष्य वस्तुओं के भक्षण का और रात्रि भोजन का त्याग सहजरूप से ही हो गया है। तत्त्वज्ञान के अभ्यास के बल से मेरे चित्त में यह बात गहराई से प्रवेश कर गयी है कि अणु-अणु का परिणमन स्वतंत्र है। इस जगत का कर्त्ता-धर्त्ता कोई परमेश्वर नहीं है। प्रत्येक जीवअपने सुख व दु:ख का जिम्मेवार स्वयं ही है। अलिप्तभाव से ज्ञाता-दृष्टा बने रहने में ही सार है।'' – **अनुभवसहाय**

उक्त तहरीर को पढ़ते ही प्रोफेसर जैन पुन: अपनी पिछली दुनिया में गोते लगाने लगे। उन्हें अच्छी तरह से याद हो गया कि अपने पूज्य भाईसाबह की सतत् प्रेरणा के कारण से ही तत्त्वज्ञान और अध्यात्म के प्रति उनकी रुचि जागृत हो सकी थी। अपने भाईसाहब के प्रति अपार श्रद्धा से उनका मन भर आया जो कि अध्यात्म की चरम साधना के लिए घरबार छोड़कर दिगम्बर साधु होकर जंगल में तपश्चर्या के लिए चले गये थे। कुछ देर सोचते रहने के बाद प्रोफेसर अनुभवसहाय डायरी के पन्ने पुन: पीछे की ओर धीरे-धीरे पलटने लगे। एक पन्ने पर जाकर पुन: रुक गये और वहाँ लिखी हुई लिखावट पढ़ने लगे –

''४ मई, १९२८ (शनिवार) भगवान की परम कृपा से आज खीर व पूड़ी खाने को मिले।

आज का सारा दिन खेलने एवं घूमने-फिरने में ही व्यतीत हुआ। आज के दिन का मौसम भी काफी सुहावना रहा। आसमान में हल्के-हल्के बादल छाये रहे तथा सारे दिन ठंडी-ठंडी हवा चलती रही। ऐसे खुशगवार मौसम के लिए मैंने भगवान को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया और सदा ही ऐसा ही सुहावना मौसम बनाये रखने की भगवान से विनती की।'' – **अनुभवसहाय**

प्रोफेसर अनुभवसहाय को सहसा इस बात का विश्वास नहीं हो रहा था कि उक्त बात उन्हीं की लिखी हुई है। वे विचार करने लगे कि इस समय और उस समय की मेरी मान्यता में कितना भारी अन्तर है। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि उस समय तो वे भी भगवान को ही कर्ता-धर्त्ता समझ रहे थे। उन्हें अपने उन दिनों की याद ताजी हो आयी, जिन दिनों में खीर और पूड़ी जैसे भोजन प्राप्त हो जाना महान भाग्य का उदय समझा जाता था। उन दिनों तो वे अपने स्वर्गीय माता-पिता और बड़े भैया के साथ एक झोंपड़ेनुमा कच्चे से मकान में रहते थे और उनका जीवन बड़े ही अभावों में व्यतीत होता था, उन्हें अच्छी तरह से याद हो आया कि उन दिनों वे लगभग १६ वर्ष की उम्र के थे। और उन्हीं दिनों में एक अध्यापक की प्रेरणा से उन्होंने डायरी लिखना प्रारंभ किया था। वे विचारने लगे – कहाँ तो उस समय का वह कच्चा झोंपड़ा और कहाँ यह इतना आलीशान बंगला ! कितना अंतर है दोनों में ? सहसा उन्हें याद हो आया कि वह झोंपड़ा तो यहाँ इसी जगह पर बना हुआ था। पर उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था कि वह यही जगह है जहाँ पर कभी वह टूटा-फूटा झोंपड़ा था, जिसमें वे रहते थे। स्थान तो वही, पर परिस्थितियों में कितना बदलाव।

प्रोफेसर अनुभवसहायजी कुछ देर तक तो बैठे-बैठे ऐसे ही सोचते रहे, फिर डायरी को खुली की खुली उल्टी घुमाकर टेबल पर रखते हुए अल्मारी में से कोई नई पुस्तक खोजने लगे। एक पुस्तक निकाली, पर यह भी कोई पुस्तक नहीं थी; बल्कि एक डायरी ही थी, जिस पर गहरे कत्थई रंग का प्लास्टिक कवर चढ़ा हुआ था। तथा जिसके बीचों-बीच सफेद रंग की एक चिट लगी हुई थी, जिसके ऊपर लिखा था – 'जीवन के खास अनुभव'।

अब प्रोफेसर साहब इस नयी डायरी के पन्ने भी इधर-उधर पलटने लगे। डायरी जहाँ तक भरी हुई थी वह अन्तिम पृष्ठ खोलकर कुछ देर तक बैठे सोचते रहे, फिर टेबल पर से कलम उठाकर वहाँ से आगे अपने अनुभव की बात लिखने लगे –

''१५ मई, १९८९ (सोमवार) प्राणी के लिए सबसे खतरनाक यदि कोई है तो वह उसका अपना अज्ञान ही है। यदि किसी की अज्ञानदशा का ही विचार करना है तो स्वयं की ही अज्ञानदशा का विचार करना चाहिये। दूसरों के अज्ञान को देख-देखकर हास्य करना अथवा क्लेशित होना

किसी भी तरह से उचित नहीं है। यदि अपनी ही पूर्व की अज्ञानदशा का विचार किया जाये तो लोगों में पाया जानेवाला अज्ञान स्वाभाविक ही लगता है। इसमें आश्चर्य, खेद अथवा हास्य को कोई स्थान नहीं है। स्वयं की ही कहीं पुन: अज्ञानदशा न हो जाये – ऐसा प्रयत्न अथवा भावना सदैव करनेयोग्य है।''

इतना लिखने के बाद प्रोफेसर साहब ने कलम पुन: टेबल के ऊपर रख दी तथा नीले कवर वाली डायरी उठाकर पुन: उसके पन्ने इधर-उधर पलटने लगे। एक पृष्ठ पर जाकर पुन: उनकी नजर केन्द्रित हो गयी और वहाँ लिखा हुआ पढ़ने लगे –

''४ अक्टूबर १९४२ (रविवार) अभी पन्द्रह रोज पूर्व शुक्रवार को आतमप्रकाश के साथ भारी झगड़ा हो गया। आपस में मारपीट हो गयी। मुझे चोटें ज्यादा आयी हैं। मामला कचहरी तक पहुँच चुका है। चोटें तो उसको भी लगीं......''

उक्त लिखावट को पढ़ते ही प्रोफेसर अनुभवसहायजी एकबार पुन: चौंक उठे। उन्हें विश्वास ही नहीं हो पा रहा था कि जिस आतमप्रकाश के वियोग में आज उन्हें नींद नहीं आ पा रही है, उसी आतमप्रकाश के साथ पूर्व में इतना भारी झगड़ा हो चुका है। कहाँ तो एक-दूसरे की जान के कट्टर दुश्मन और कहाँ एक-दूसरे के बिना चैन नहीं। और उसके साथ ही उनके मस्तिष्क में पूर्व में आतमप्रकाश के साथ हुए झगड़े का दृश्य तेजी के साथ घूम गया। गुस्से में आकर आतमप्रकाश ने उनको पत्थर दे मारा था, जिसके कारण उनका एक हाथ लहुलुहान हो गया था तथा उन्होंने आतमप्रकाश का एक हाथ पकड़कर तेजी से मरोड़ दिया था, जिसके कारण उसके हाथ की हड्डी उतर गयी थी। उन्हें याद आया कि झगड़े का कारण भी कोई खास नहीं था, बल्कि मामूली-सा था। आतमप्रकाश को उधार दिये गये पैसे उसके न लौटाने के कारण ही झगड़ा हुआ था। कुछ समय तक तो दोनों में कट्टर शत्रुता बनी रही थी, परन्तु बाद में दोनों की ही रुचि एकसाथ अध्यात्म की ओर अग्रसर होने के कारण शत्रुता धीरे-धीरे मित्रता में बदलने लगी थी।

प्रो. अनुभवसहाय विचारने लगे – कि देखो, कितनी विचित्रता है। जो कभी कट्टर शत्रु था, वही आज घनिष्ठ मित्र है। और फिर उन्होंने पुन: 'जीवन के खास अनुभव' वाली कत्थई कवर वाली डायरी उठाकर लिखना प्रारंभ कर दिया –

''इस जीव का वास्तव में न तो कोई शत्रु है, न ही कोई मित्र। शत्रु अथवा मित्र मात्र राग-द्वेष की कल्पना है। राग-द्वेष के सद्भाव में आज का मित्र कल का शत्रु हो सकता है तथा आज का शत्रु कल का मित्र भी हो सकता है, ऐसी हालत में किसको शत्रु कहें और किसको मित्र ?

अपने वास्तविक शत्रु अथवा मित्र तो अपने ही बुरे अथवा अच्छे परिणाम हैं। जिन अच्छे परिणामों से राग-द्वेष का अभाव होता है, वे अच्छे परिणाम मित्र हैं तथा जिन बुरे परिणामों से राग-द्वेष प्रगट होते हैं, वे बुरे परिणाम ही अपने शत्रु हैं।''

इतना लिखकर प्रोफेसर साहब ने पुन: कलम टेबल पर रख दी तथा उसी डायरी के कुछ पन्ने पीछे की ओर पलट दिये। वहाँ पूर्व में उन्होंने अपने अनुभव की खास-खास बातें लिख रखी थीं, जिन्हें वे पढ़ने लगे – ''राग-द्वेष, जन्म-मरण, बुढ़ापा, रोग-शोक, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि ये अठारह रोग हैं। इन रोगों का जबतक पूर्णरूप से अभाव नहीं हो जाता, तबतक अपने आपको सुखी मानना भ्रम है। जबतक इनका नाश कर निरोगता प्राप्त नहीं करली जाती, तबतक चैन की श्वाँस लेना अपराध है।

अपनी आत्मा के अन्दर अपनी ही आत्मा के आश्रय से जो शान्ति प्रगट हुई, वही अपना वास्तविक धन है। वही शान्तिरूपी धन अपने साथ आनेवाला है। शेष धन तो यहीं पड़ा रह जानेवाला है। परिस्थितियाँ अच्छी अथवा बुरी चाहे कैसी भी क्यों न हों – सदैव एक जैसी नहीं रहतीं। कोई भी परिस्थिति शाश्वत नहीं है।''

इतना पढ़ने के बाद प्रोफेसर ने डायरी बंद कर दी। पढ़ने का विचार तो उनका और भी था; पर अब नींद उन्हें परेशान करने लगी थी। दोनों डाय़रियों को उठाकर अल्मारी में रखते हुए वहाँ से वे स्वयं उठ खड़े हुये। चश्मे को उतारकर टेबल पर रख दिया एवं लाइट का स्विच ऑफ करते हुए इस निर्णय के साथ पलंग पर लेट गये कि आतमप्रकाश के द्वारा चलाई जा रही धार्मिक पाठशाला का कार्य कल से अब स्वयं उन्हीं को सम्हालना है, उसे यों ही बन्द नहीं हो जाने देना है।

सारे कमरे में अंधकार व्याप गया, परन्तु हरा रंग का मंद-मंद प्रकाश अभी भी कमरे में फैला हुआ था, जो कि जीरो वाट के बल्ब से आ रहा था। कुछ ही पलों में प्रोफेसर अनुभवसहाय गहरी निद्रा में समा गये। इसी समय दीवाल घड़ी ने सुबह के तीन बजे के तीन घंटे बजाये और पुन: टिक-टिक की आवाज करती हुई अविराम गति से आगे बढ़ने लगी।

जिस विषय में पुरुष की बुद्धि जुड़ जाती है उस विषय में ही रुचि पैदा हो जाती है और जिस विषय में रुचि पैदा हो जाती है उस विषय में मन लय हो जाता है।

– समाधिमरण श्लोक ६५ का अर्थ

(इस मौलिक कथानक के लेखक श्री जयन्तीलाल जैन हैं – आभार)

अध्रुव के उस पार

कई वर्षों से मैं यहाँ बैठता आ रहा हूँ। जी हाँ ! यहीं, इसी जगह पर, इसी स्टूल पर। इस स्टूल की कहानी भी उतनी ही पुरानी है, जितनी पुरानी मेरे यहाँ बैठने की कहानी। मेरी याददाश्त बहुत तेज है, मुझे याद है शुरु-शुरु में तो यह एकदम नया था। मेरे घर के पिछवाड़े में पड़ी हुई लकड़ियों ने ही इस स्टूलका रूप लिया था। एक सफेद बालोंवाला बुड्ढा बढ़ई अपने छह सात वर्षीय पोते के साथ आकर दो दिनों की मेहनत के बाद इसे बना गया था। और तब से लगाकर आजतक मैं इस स्टूल पर बैठता आ रहा हूँ।

मैं देखता हूँ – जब से यह बना है, तभी से धीरे-धीरे पुराना होता जा रहा है, पुरानेपन की ओर अग्रसर होता जा रहा है और आज तो यह पुरानेपन की अपनी चरम सीमा पर है। इसके ऊपर बैठते ही चरमराने लगता है। कभी-कभी तो चिउंटी भी भर लेता है, फिर भी मैं इसके ऊपर बैठता हूँ और कुछ न कुछ सोचता ही रहता हूँ। इसके ऊपर बैठकर अपने आस-पास को टटोलता रहता हूँ। ऐसा करने की मुझे शुरु से ही आदत पड़ी हुई है।

मैं सोचता हूँ – कभी यह स्टूल, अपनी इस स्टूलपने की अवस्था को भी छोड़कर किसी अन्य नवीन अवस्था को (पर्याय को) प्राप्त कर लेगा। इसके परमाणु बिखर-बिखर कर न मालूम कहाँ चले जायेंगे ? कभी यही परमाणु वृक्ष के आकार (अवस्था) रूप परिणमित हुए थे। फिर स्टूलरूप परिणमित हो गये और फिर कभी अपनी इस अवस्था को भी छोड़ देंगे। पर स्वयं तो शाश्वत ही रहेंगे। अपनी अवस्थाओं को सतत् बदलते हुए भी अपने मूलस्वभाव को तो ये परमाणु कभी छोड़नेवाले हैं ही नहीं। **द्रव्यस्वभाव से सब नित्य होते हुए भी पर्यायस्वभाव से यहाँ कुछ भी तो नित्य नहीं है।**

मैं सोचता हूँ – प्रत्येक वस्तु कायम रहकर पलटती ही रहती है। अपने मूलस्वभाव को कायम रखते हुए पलटते रहना ही इसका धर्म है।

यहाँ कुछ भी तो नित्य नहीं है। सब कुछ क्षणभंगुर है, नाशवान है।

मैं जहाँ बैठता हूँ, उसके सामने ही एक बड़ा खुला मैदान है। मैदान से देखता आ रहा हूँ – तालाब की पाल का धीरे-धीरे ह्रास होता जा रहा है। तालाब की पाल तो धीरे-धीरे छोटी होती जा रही है; परन्तु साथ ही उसके पासवाला एक छोटा-सा वृक्ष धीरे-धीरे बड़ा होता जा रहा है।

एक समय था जबकि तालाब की उस पाल पर दूर-दूर तक आम एवं महुए के कई पेड़ थे; परन्तु अब तो कुछ वृक्ष ही शेष बचे हैं। धीरे-धीरे सब नष्ट होकर न मालूम कहाँ खो गये।

मैं सोचता हूँ– एक दिन ऐसा भी आयेगा जब सभी वृक्ष नष्ट हो जायेंगे, मात्र अकेली पाल ही सूनी-सूनी रह जायेगी। परन्तु नहीं, पाल के उधर सामने ही दो-चार छोटे-छोटे वृक्ष मुझे कुछ सालों से पनपते हुए नजर आ रहे हैं। वे भी अब तो धीरे-धीरे बड़े होते जा रहे हैं। उधर एक ओर कुछ कटीली झाड़ियाँ उग आयी हैं, मुझे याद है – कुछ बरसों पहले वहीं पर गुलाब का एक झाड़ था।

उधर सामनेवाला एक पुराना झोपड़ा बिखरा जा रहा है। उसकी दीवारें एक-दो दिनों से छोटी होती जा रही हैं, जबकि उसके पास में ही एक पक्का मकान बनाया जा रहा है, दिनोंदिन उसकी दीवारें ऊँची होती जा रही हैं।

मैं सोचता हूँ– **सचमुच यहाँ कुछ भी तो स्थिर नहीं है, ध्रुव नहीं है, कुछ भी तो नित्य नहीं है, सब कुछ अनित्य है, अस्थिर है, अध्रुव है।**

मैं सोचता ही रहता हूँ कि तभी मेरी दृष्टि सड़क के ऊपर से गुजरती हुई एक बुढ़िया के ऊपर पड़ती है। मैं सोचता हूँ– "यह बुढ़िया पहले कैसी थी और अब कैसी हो गयी है। पहले तो यह जवान और सुन्दर थी। अपनी जवानी के दिनों में जब यह मालिन फूल लेकर यहाँ निकला करती थी तो अपनी सुन्दरता के कारण लोगों को आकर्षित किये बिना नहीं रहती थी। उस सामनेवाले पान की दुकान की तरफ से तो उसे देखकर सीटियाँ भी बजने लगती थीं। वहाँ पर बैठे रहनेवाले लोग इसे देखकर अक्सर घूरते रहते थे, ताने मारते रहते थे; पर आज इसको देखने के लिए भी कोई तैयार नहीं है। कितना बदल गया है यहाँ पर सब कुछ। वह दुकान भी तो कितनी बदल गयी है। उसके ऊपर बैठने वाला मालिक भी नया, वहाँ पर बेकार बैठे रहनेवाले चेहरे भी नये, मुझे याद है – वहाँ पर पहले बेकार बैठे रहनेवाले लोगों में से कितने ही तो इस दुनिया से जा चुके हैं। कितने ही जाने की तैयारी कर रहे हैं। अभी बिस्तर पर पड़े-पड़े सड़ रहे हैं।

मैं सोचता ही चला जाता हूँ कि तभी मेरे सामने से दो-चार छोटे-छोटे बच्चे निकलते हैं। एकदम नये-नये। मैं जानता हूँ ये हमारे ही मोहल्ले के हैं। किसके हैं ? यह पता नहीं। मैं सोचता हूँ – ये यहाँ नये-नये अस्तित्व में ही आये हैं। पुराने लोग यहाँ से जाते रहते हैं, जबकि नये-नये अस्तित्व में आते रहते हैं। कल यही पुराने हो जायेंगे। **सचमुच यहाँ सभी कुछ तो परिवर्तनशील है। कुछ भी तो स्थिर नहीं। कुछ भी तो ध्रुव नहीं।**

मैं ऐसे ही खोया रहता हूँ कि तभी सामनेवाले तालाब की पाल के ऊपर से मुझे बारात आती हुई नजर आती है। तालाब के उस पार आदिवासियों के छोटे-छोटे गाँव बसे हुए हैं। उन गाँवों

से यहाँ आने का मार्ग उस तालाब की पाल के ऊपर से ही होकर गुजरता है। गाती हुई, नाचती हुई और बजाती हुई बारात सामने के चौक में आकर कुछ देर के लिये रुकती है तो क्षणभर पहले शान्त वातावरण कोलाहल में परिवर्तित हो जाता है। पानवाली दुकान पर भीड़ बढ़ जाती है। देखनेवालों का जमघट आस-पास जमा हो जाता है। और फिर कुछ ही समय बाद जो बारात एक दिशा से कुछ ही समय पूर्व आती हुई सी नजर आती है। गाने-बजाने की आवाजें धीरे-धीरे मेरे कानों से दूर होती जाती हैं। वातावरण में फिर से वही शान्ति।

मैं सोचता हूँ – **यहाँ का कोलाहल भी क्षणभंगुर और शान्त वातावरण भी यहाँ का क्षणभंगुर। गर्मी की तपन भी यहाँ क्षणभंगुर और ठंडक की शीतलता भी यहाँ की क्षणभंगुर।** धूप यहाँ की क्षणभंगुर और छांव भी यहाँ की क्षणभँगुर। दिवस का उजियाला भी क्षणभंगुर और रात्रि का अंधियारा भी क्षणभंगुर। नाशवान अध्रुव।

मैं सोचने लगता हूँ – **यदि जीवन की खुशियाँ भी यहाँ क्षणभंगुर हैं तो मौत का मातम भी तो यहाँ का क्षणभंगुर ही है। यदि सुखों की उजली घटा भी यहाँ की क्षणभंगुर है तो दुखों की काली घटा भी तो यहाँ की क्षणभंगुर ही है। कुछ भी तो यहाँ नित्य नहीं है।**

ऐसे ही सोचते-सोचते मैं अपने बारे में सोचने लगता हूँ, अपने परिवारवालों के बारे में सोचने लगता हूँ। मैं सोचने लगता हूँ – एक दिन सब कुछ नष्ट हो जायेगा। यह भरा-पूरा परिवार का मेला एक दिन देखते ही देखते बिखर जायेगा। या तो ये सब मुझे छोड़कर चले जायेंगे या फिर मुझे ही एक न एक दिन इन सबको छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जाना पड़ेगा। मेरे दादा-दादी, नाना-नानी, माता-पिता आदि सभी तो एक दिन मेरे देखते ही देखते एक-एक करके यहाँ से चले गये। कल को मेरी पत्नी भी मुझे छोड़कर यहाँ से चली जायेगी। जो पत्नी आजतक मुझसे नाता स्थापित किये हुए है, वही पत्नी कल मरने के बाद किसी दूसरे के साथ नाता स्थापित कर लेगी। कोई अन्य प्राणी उसके कुटुम्बी बन जायेंगे। एक समय ऐसा भी आयेगा कि अगले किन्हीं जन्मों में आज की मेरी यहीं प्यारी पत्नी मुझे पहचानने से भी इंकार कर देगी। वह मुझे पहचान भी नहीं पायेगी, मैं भी उसे पहचान नहीं पाऊँगा।

अब तो मेरी उमर भी कितनी बची होगी। मेरे बुढ़ापे के लक्षण तो धीरे-धीरे प्रगट होने लगे हैं। कहीं-कहीं सफेद बाल दिखने लगे हैं। शरीर धीरे-धीरे दुबला होता जा रहा है। हाथों की और पैरों की हड्डियाँ दिखाई देने लगी हैं। चेहरा भी कुछ थोड़ा-थोड़ा अन्दर को घुसने लगा है। मैं कितना दुबला-पतला हो गया हूँ, पहले तो मैं एकदम हट्टा-कट्टा जवान था। एक दिन ऐसा भी आयेगा कि मैं बिल्कुल बूढ़ा हो जाऊँगा। मेरे बाल सफेद झख हो जायेंगे। चेहरा पोपला हो जायेगा, कमजोरी के कारण से हाथ-पैर थर-थर काँपने लगेंगे। ओफ ! बुढ़ापे में कितने दुःख

उठाने पड़ेंगे। एक दिन ऐसे ही तड़फते-तड़फते मैं मर जाऊँगा, मुझे फिर से कहीं जन्म धारण करना पड़ेगा। हाय ! मैं मर जाऊँगा।

और ऐसे ही पर्यायों की अनित्यता के बारे में सोचते-सोचते मैं दु:खी होने लगता हूँ। मुझे घुटनसी महसूस होने लगती है। मैं चेहरे पर असीम दु:ख नहीं चाहता। मैं सोचने लगता हूँ – ''मेरी यह चिन्तन की दिशा सही नहीं है।'' और इसके साथ ही मैं अपने चिन्तन की दिशा ही बदल लेता हूँ। मैं सोचता हूँ – पर्यायों का तो स्वभाव ही ऐसा है। उत्पन्न होने एवं नष्ट होने का तो उनका स्वभाव ही है। फिर उनके लक्ष्य से व्यर्थ का हर्ष एवं विषाद कैसा ?

मैं सोचता हूँ – वस्तुत: पर्यायों के आश्रय से सुख-दु:ख हैं ही कहाँ ? वे रहें अथवा नष्ट होंवे, उनसे मुझे प्रयोजन ही क्या ? वे रहें तो भी क्या ? और न रहें तो भी क्या ?

और ऐसे ही सोचते-सोचते कुछ समय पहले का मेरा दु:ख दूर होने लगता है, मुझे शान्ति का अनुभव होने लगता है; परन्तु फिर भी मुझे वो शान्ति नहीं मिल पाती जो मैं चाहता हूँ। मेरी उदासी पूर्णरूप से दूर नहीं हो पाती। मैं तो पूर्णरूप से शान्ति पाना चाहता हूँ।

इसलिये अब मैं अपनी चिन्तन की दिशा को पूर्णरूप से ही बदल देता हूँ। समस्त ही अनित्य पर्यायसमूह की प्रक्रिया के उस पार विराजमान अपने नित्य-ध्रुव द्रव्यस्वभाव पर चला आता हूँ।

मैं इस बात को अच्छी तरह से जानता हूँ कि पर्यायों की अनित्यता का ज्ञान तो मात्र उन पर्यायों के ऊपर से दृष्टि हटा लेने के लिये ही है। अनित्य पर्यायों के चिन्तन में ही उलझने के लिये नहीं। अनित्य पर्यायों का ज्ञान तो मात्र जानने के लिये ही है, वहाँ पर जमने एवं रमने के लिये नहीं। जमने एवं रमने के लिये तो एकमात्र अपना नित्य द्रव्यस्वभाव ही है।

मैं इस बात को अच्छी तरह से जानता हूँ कि अनित्य पर्यायरूपी लहरों की चंचलता के उस पार नित्य ध्रुव द्रव्य स्वभावरूपी शांत महासागर ज्यों का त्यों पड़ा हुआ है। वह नित्य ध्रुव, पर्याय निरपेक्ष द्रव्यस्वभाव महासागर पूर्ण शुद्ध है, अनादि-अनन्त है, ज्ञान और आनन्द का घनपिण्ड है तथा पर्यायों के प्रवेश से रहित विज्ञानघन है। पूर्ण है, अखण्ड ध्रुव अभेद है। वह एक नित्य ध्रुव द्रव्यस्वभाव महासागर ही जमने एवं रमने के लिये है, वही एक सदैव अनुभव करनेयोग्य है। वही एक पूर्ण सुख एवं पूर्ण शान्तिरूपी रत्नों को देनेवाला अनमोल महासागर है। अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है। अनन्त प्रभुतासम्पन्न महाप्रभु है।

जी हाँ ! मैं इस बात को अच्छी तरह से जानता हूँ और इसलिए अब मैं अनित्य पर्यायों

पर से दृष्टि हटाकर अपने नित्य ध्रुव द्रव्यस्वभाव महासागर पर चला आता हूँ, उसी को लक्ष्य बनाकर सोचने लगता हूँ, मन ही मन बोलने लगता हूँ – **वस्तुत: मैं तो सदा ही एकरूप बना रहनेवाला त्रिकाली ध्रुवतत्त्व हूँ। न तो कभी मैं जन्मा ही हूँ और न ही कभी मरूँगा फिर दु:ख कैसा ?** न तो मैं कभी जवान ही हुआ हूँ और न ही कभी मैं बूढ़ा हो जाऊँगा। जवानीपना और बूढ़ापना, दुबलापन और मोटापन – ये सब तो शरीर की अवस्थाएँ (पर्यायें) हैं। मैं इन अवस्थाओं रूप हुआ ही कब हूँ। शरीर की इन अवस्थाओं रूप तो कभी मैं हुआ ही नहीं; परन्तु शरीरादि परद्रव्यों की पर्यायों के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाली स्वयं की राग-द्वेषरूपी विकारी पर्यायों रूप भी कभी मैं हुआ नहीं।

जब शरीर की क्षणिक अवस्थाओं एवं स्वयं में ही उत्पन्न होनेवाली राग-द्वेषमय शुभाशुभ विकारी वृत्तियों (पर्यायों) तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल वृत्तियों के साथ भी परमार्थ से मरा कुछ सम्बन्ध नहीं, तब स्त्री-पुत्र, धन-सम्पदा आदि परद्रव्यों की क्षणिक अवस्थाओं के साथ तो मेरा सम्बन्ध ही क्या ?

मैं तो शरीरादि समस्त ही परद्रव्यों एवं राग-विराग आदि स्वपर्यायों से भी पृथक् ठोस विज्ञानघन त्रिकाली ध्रुव आत्म तत्त्व हूँ। बना बनाया भगवान हूँ। कृतकृत्य हूँ, उसमें तो कुछ फेरबदल करना ही नहीं है। उसमें तो कुछ फेरबदल होगा ही नहीं फिर चिन्ता कैसी ? दु:ख कैसा? यदि स्त्री-पुत्र, मित्र, शरीर आदि परद्रव्यों की अवस्थाएँ बदलें तो भले ही बदलें। वे नाश को प्राप्त होते हैं तो भले ही होवें। मुझे इससे क्या ? मेरा तो कभी नाश होता ही नहीं।

मैं तो जन्म-मरण से रहित ऐसा अजर-अमर त्रिकाली ध्रुवतत्त्व हूँ, परिपूर्ण हूँ। न तो उसमें कुछ आना है और न ही उसमें से कुछ जाना है।

और ऐसे ही पर्याय-निरपेक्ष निज नित्यध्रुव त्रिकाली द्रव्यस्वभाव महासागर के बारे में सोचते-सोचते मेरा सारा दु:ख क्षणभर में ही भाग खड़ा होता है। मेरा आनन्द बढ़ने लगता है। मेरी समस्त ही वृत्तियाँ उस ध्रुवस्वभाव महासागर में एकाकार सी होकर निराकुल आनन्द रत्नों को प्राप्त करने लगती हैं।

कुछ ही समय व्यतीत हो पाता है कि तभी मेरे कानों में मेरी पत्नी के पुकारने की आवाज टकराती है – "सुनते हो जी पहले खाना खा लो। फिर बैठे-बैठे सोचते रहना। अन्धकार तो होने को आया।"

"मैं अपनी घड़ी देखता हूँ। शाम के ६.३० होने को आये, ७.०० बजे अंधकार हो जाता है; फिर मैं .... इसलिये खेद के साथ भोजन के लिये उठ खड़ा होता हूँ। सोचता हूँ – क्या

परेशानी है ? खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना। कभी खाने के परिणाम तो कभी सोने के तो कभी पीने के कभी कमाने के परिणाम तो कभी घूमने-फिरने देखने के। कभी क्या करने के तो कभी क्या करने के ? आखिर कबतक बने रहेंगे ये परिणाम ? इनमें से कोई भी परिणाम तो सुखरूप नहीं है, कहीं भी तो चैन नहीं है।''

और ऐसे ही इसप्रकार से इन विकारी परिणाम (पर्यायों) के ऊपर दृष्टि चली जाने से एक बार मैं फिर परेशान होने लगता हूँ। मुझे आकुलता होने लगती है; परन्तु अब मैं शीघ्र ही सम्भल जाता हूँ। पर्यायों के ऊपर जाती हुई दृष्टि पर मैं शीघ्र ही अंकुश लगाता हूँ और उसे (दृष्टि को) ध्रुवस्वभाव की तरफ मोड़ देता हूँ। मेरी वृत्तियाँ एक बार फिर से ध्रुव द्रव्यस्वभाव के सम्मुख होने लगती हैं और त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में ही स्थापित किया हुआ मेरा अहं (सम्यग्दर्शन) बोलने लगता है।

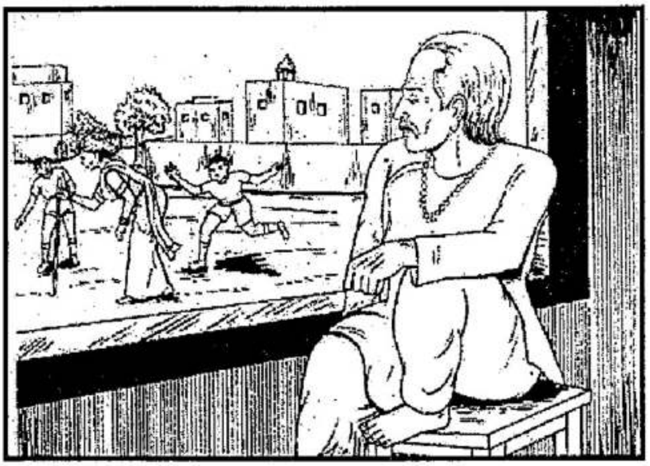

खाने-पीने की इन क्रियाओं में और इन विभिन्न प्रकार के परिणामों में मैं हूँ ही कहाँ ? और मेरे में ये परिणाम कहाँ ? इनसे मेरे को हानि कैसी ? ये रहें तो भी क्या और न रहें तो भी क्या? मैं तो त्रिकाली ध्रुव मात्र ज्ञायक तत्त्व हूँ। सदा ही इन क्षणिकवृत्तियों से अप्रभावी ऐसा ठोस विज्ञानघन आत्मतत्त्व हूँ। और ऐसे ही ध्रुवतत्त्व की डोर को थामे एक अचिन्त्य शान्ति का अनुभव करते हुए मैं भोजन करने लगता हूँ। चाहता हूँ कि ऐसे ही सदा-सदा के लिये मैं अपने ध्रुव तत्त्व की डोर को अपने हृदयरूप (दृष्टिरूपी) हाथों में थामे रहूँ। सोचता हूँ – एक वे लोग हैं, जो त्रिकाली ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा की सत्ता को ही स्वीकारना नहीं चाहते, उसे समझना ही नहीं चाहते, एक मैं हूँ जो उसी की डोर को सदा-सदा के लिये थामे रखना चाहता हूँ। उसी में सदा-सदा के लिये जमे व रमे रहना चाहता हूँ। कितनी विषमतायें हैं यहाँ पर। खैर ! वे भी हैं तो त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्मतत्त्व ही न ! कभी न कभी तो स्वयं को समझेंगे ही।

ऐसे ही मैं काफी लम्बे समय तक सोचता रहता हूँ और अध्रुव के उस पार छिपे हुये ध्रुवतत्त्व का अनुभव करता रहता हूँ। उसी स्टूल पर बैठकर; जी हाँ ! उसी टूटे-फूटे चर-मराते हुए स्टूल पर बैठकर उसी बरामदे में। **(इस मौलिक कथानक के लेखक श्री जयन्तीलाल जैन हैं – आभार)**

कूप मण्डूक को जगी जिज्ञासा

गहरे चौड़े कुएँ के अन्दर रहनेवाले कूपमण्डूकों में चर्चा छिड़ी हुई थी। एक कह रहा था–

"कुल मिलाकर ये दुनिया इतनी ही है, जितनी हमें अपनी आँखों से दिखाई दे रही है।"

"क्या बात करते हो ? ऐसा नहीं है। इसके (कुएँ के) बाहर भी लम्बे-चौड़े विश्व का अस्तित्व होना चाहिये" – एक मेंढक बोला।

"यह तो सिर्फ आपका एक ख्याली ख्वाब है। ख्याली धारणाएँ बना लेने से कुछ नहीं होता। आप कल्पनाएँ करने के लिए स्वतन्त्र हैं। आप कुछ भी कल्पनाएँ कर लीजिए न ! आपको कौन रोकता है।" – एक कछुआ बोला।

"रहते होंगे हमें इससे क्या ? हमें तो अपनी मौज-मस्ती से मतलब है" – एक छोटी सी मछली उछलते हुए बोली और पानी के अन्दर गहरे जाकर अन्य मछलियों के साथ क्रीड़ा करने लगी, मौज-मस्ती करने लगी।

इसकी बात पर विशेष ध्यान न देते हुए एक अन्य वैज्ञानिक किस्म का मेंढ़क अत्यन्त ही गम्भीर होते हुए बोला –

"साथियो, रोजाना सुबह के समय में अपने इस जल की ऊपरी सतह पर कुछ जोर-जोर से टकराने की आवाजें आती हैं, फिर गुडगुडगुडऽऽऽ की आवाजें आती हैं और फिर दूर बहुत ऊपरी सतह पर कुछ देर के लिए टरडमरड-टरडमरड के शब्द सुनाई देते रहते हैं। ये सब क्या है ? कहाँ से आती हैं ये आवाजें ? क्या ये आवाजें हमारे लिए अभी भी रहस्य का विषय नहीं बनी हुई हैं ? क्या इन सब बातों से यह सिद्ध नहीं होता कि इस दुनिया के (कुएँ के) बाहर भी कोई दूसरी दुनिया है, जहाँ के प्राणी हमारे यहाँ सुबह के समय में हस्तक्षेप करते हैं। क्या ऐसे समय में कोई भी जल की ऊपरी सतह पर जाने की हिम्मत कर पाता है ?"

"साथियो ! मुझे तो ऐसा लगता है कि सुबह के समय में वे लोग हमारे यहाँ से जल चुराकर ले जाते हैं। हमारे यहाँ से इसी तरह जल की चोरी होती रही तो हमारा क्या होगा ?"

सुबह के समय उस कुएँ में से महिलाएँ पानी भरती थीं। जल की सतह से बाल्टी के टकराने और रस्सी खींचने पर टरडमरड की जो आवाजें आती थीं, इन्हीं आवाजों को सुनकर मेंढ़क ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी।

एक अन्य वैज्ञानिक किस्म का मेंढ़क बोला – "और साथियो यदि आप में से किसी ने कभी ध्यान से सुनने की कोशिश की हो तो आपको इस बात का आभास जरूर हुआ होगा कि दोपहर के समय में बहुत दूर ऊपर की ओर घर्र-घर्र की आवाजें सुनाई देती है। लगभग एक घन्टे तक ऐसी आवाज लगातार निकलती रहती है फिर अचानक वो आवज गुम हो जाती है। यदि आप में से किसी ने नोट किया हो तो उस समय ऐसा लगता है जैसे हमारे इस जल में कम्पन-सी पैदा होती रहती है और हमारा जल स्तर काफी नीचे होता जा रहा हो।

यद्यपि स्थूल दृष्टि से ये सब बातें हमारी ख्याल में नहीं आ पातीं; पर ध्यान लगाकर देखने और सुनने से इन बातों का आभास जरूर होता है।

क्या है ये सब ? कहाँ से आती हैं ये आवाजें ?

साथियो ! मुझे तो ऐसा लगता है कि ये किसी मशीन के चलने की आवाज है। बहुत सम्भव है कि किसी मशीन के जरियें किसी दूसरी दुनियाँ (ग्रह) के लोग हमारे यहाँ से बहुत बड़ी मात्रा में जल की चोरी करते रहते हैं। जल स्तर में कमी होने का यही कारण हो सकता है।

इन सब बातों से तो यही सिद्ध होता है कि इस दुनिया के अलावा भी कोई अन्य दुनियाँ है जहाँ पर हमसे भी ज्यादा शक्तिशाली और बुद्धिमान प्राणी रहते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में वे हमसे भी ज्यादा तरक्कीशुदा हैं।"

कुएँ के अन्दर वाटर-पम्प लगा हुआ था। दोपहर के समय नगर की टंकी को पानी सप्लाई किया जाता था। जिसकी आवाज और अंजाम को सुन-देखकर उस मेंढक ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी।

"तब तो साथियो ! वो दिन दूर नहीं जब किसी अन्य ग्रह के लोग हमारे यहाँ कदम रख चुके होंगे और हमें तबाह कर चुके होंगे।" – एक अन्य मेंढ़क ने आशंका जताई।

"अरे क्यों डरते हो व्यर्थ में कोई दूसरी दुनिया-वुनिया नहीं है। सब कोरा भ्रम है। किसने देखा है अपनी आँखों से ?" एक देहाती किस्म का मोटा तगड़ा मेंढ़क बोला और अरुचि दिखाते हुए वहाँ से चला गया।

एक मछली बोली – "देखो भाई ! दूसरे विश्व की संभावना से तो इन्कार नहीं किया जा सकता। अभी पिछले दिनों ही अपने यहाँ से एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें एक बात का उल्लेख किया गया था कि – **किसी दूसरे विश्व के एक प्राणी का हमारे इस विश्व में (कुएँ में) दूर तक प्रवेश।** प्राणी की शक्ल-सूरत का वर्णन करते हुए उसमें यह भी लिखा था कि –

"इस प्राणी के दो पंख होते हैं। ये प्राणी पंखों की सहायता से उड़ता है, इसके दो छोटे-छोटे पैर होते हैं। एक चोंच होती है, चोंच के कुछ ऊपर दो छोटी-छोटी आँखें होती है।"

उस लेख में लिखा था कि – "यह प्राणी कौन-से ग्रह का है, इसके बारे में अभी तक ठीक-ठीक नहीं जाना जा सका है; लेकिन हमारे वैज्ञानिक इस बात का पता लगाने की दिशा में प्रयासरत हैं। वे इस प्राणी को धर-दबोचने की योजना भी बना रहे हैं। वे इस विचित्र प्राणी को यदि कैद करने में सफल रहते हैं तो दूसरी दुनिया के बहुत से रहस्यों के खुलने की संभावना है।" – एक वैज्ञानिक पत्रिका का हवाला देते हुए वह मछली बोली।

"अरे वाह ! तब तो हमारे यहाँ का विज्ञान और वैज्ञानिक तरक्की के क्षेत्र में बहुत ही आगे बढ़ते जा रहे हैं। यह तो एक बहुत ही अच्छी बात है।" – उसकी बात सुनकर एक अन्य मछली ने टिप्पणी की।

वहीं एक अन्य मछली आशंकित होते हुए बोली –

"लेकिन हमारे वैज्ञानिक सच बोल रहे हैं, इस बात की क्या गारन्टी है। हो सकता है हम लोगों को बेवकूफ बनाने के लिये ही ऐसी बातें प्रकाशित होती रहती हों।"

उन दोनों की बातें सुनकर एक धार्मिक किस्म का मेंढ़क बोला – इसमें झूठ बोलने जैसी तो कोई बात नहीं है; लेकिन साथ ही साथ वैज्ञानिकों ने कोई बहुत बड़ी उपलब्धि हासिल कर ली हो ऐसी भी कोई बात नहीं है; क्योंकि ये सब बातें तो सर्वज्ञ-वीतराग प्रणीत शास्त्रों में पहले से ही लिखी हुई हैं।

अपने यहाँ के धर्मग्रन्थों एवं पुराणों में इन सब बातों का उल्लेख है। भरत क्षेत्र है, विदेह क्षेत्र है, हेमवत है, हरी क्षेत्र है, रम्यक्, हैरण्यवत, ऐरावत आदि क्षेत्र हैं, ये सब संख्या में पाँच-पाँच हैं अर्थात् पाँच भरत हैं, पाँच ऐरावत हैं आदि। ऊपर सोलह स्वर्ग आदि हैं तथा नीचे सात नरक हैं। इसके अलावा असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, जिनका वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है।

मनुष्य, देव, नरक, तिर्यंच गतियों का वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है। पुण्य-पाप एवं उनके फल में मिलनेवाली विभिन्न प्रकार की पर्यायों (योनियों) का वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है। हमारी गणना तिर्यंचगति के जीवों में होती है। इन सब बातों का अस्तित्व है। हमें तो पहलेसे ही इन सब बातों का श्रद्धान है।

तो क्या आप भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि वैज्ञानिकों ने पंखोंवाले जिस प्राणी का

जिक्र किया है वह बिल्कुल सत्य है ? क्या आप भी विज्ञान को मानते हैं ? – पत्रकार किस्म की एक मछली ने प्रश्न किया।

"अरे भई ! इसमें न मानने जैसी क्या बात है ? जब धर्म ग्रन्थों में चौरासी लाख योनियों का जिक्र है तो इनमें से किसी न किसी योनि का कोई नया जीव वैज्ञानिकों ने देखा ही होगा। इसमें सन्देह की क्या आवश्यकता है ? जो ज्ञानस्वरूप आत्मा को और सर्वज्ञता को माने, वह विज्ञान को क्यों नहीं माने ?

विज्ञान में भी आखिर पड़ा तो ज्ञान ही है। वैज्ञानिक चमत्कार भी सब हैं तो ज्ञान के ही चमत्कार न ?

धर्म और विज्ञान में कोई विरोध तो है नहीं; परन्तु इतना विशेष है कि धर्म सर्वज्ञता पर आधारित है; जबकि विज्ञान अल्पज्ञता पर आधारित है। इसलिये विज्ञानप्रदत्त खोज और ज्ञान को सर्वथा नकारा भी नहीं जा सकता और नही उसे अन्तिम सत्य भी माना जा सकता है" – वहीं बैठा धार्मिक किस्म का मेंढ़क बोला।

"अरे भई ! कैसा धर्म और कैसा विज्ञान ? पुण्य-पाप, द्वीप-समुद्र और ग्रह-नक्षत्र किसने देखे हैं ये सब ? सिर्फ़ लोगों को बुद्धू बनाने की बातें हैं। जो कुछ आँखों से दिखाई देता है, वही सत्य है; इसके अलावा और कुछ भी नहीं है। जो कुछ भी है वो तो सब यहीं है। खाओ-पीओ और मौज मारो।" – जल में ही रहनेवाला एक नास्तिक किस्म का सांप बोला और वहाँ से चला गया।

"ये सब हैं तो फिर हमें क्यों नहीं दिखाई देते ? हमें तो दिखाई नहीं देते फिर कैसे मान लें कि ये सब हैं ?" – एक कछुआ बोला।

"हमें तो ये इसलिये नहीं दिखाई देते; क्योंकि हमारा ज्ञान और पहुँच अल्प है; परन्तु हमसे जो ज्ञान में अधिक हैं, उन्हें तो दिखाई देते ही हैं। सभी जीव स्व-स्व गति नामकर्म के उदय से इन गतियों मे परिभ्रमण करते हैं; अतः हमें भी सर्वप्रथम कर्मसिद्धान्त द्वारा यह समझने का प्रयास करना चाहिये।" – इसी (धार्मिक किस्म के) मेंढ़क ने समाधान किया।

कछुए को बात समझ में नही आयी। उसने अपनी गर्दन अन्दर को समेट ली और वहाँ से चलता बना और उसके साथ ही अन्य प्राणी भी धीरे-धीरे वहाँ से बिखर गये।

कबूतर ने जैसे ही कुएँ के अन्दर गहराई तक प्रवेश किया तो उसके पंखों के फड़फड़ाने की आवाज सुनकर जल की ऊपरी सतह से भी कुछ ऊपर चढ़कर बैठे हुए दो वैज्ञानिक मेंढ़क सावधान

हो गये। उन्होंने अपनी-अपनी दूरबीन अपनी आँखों के आगे तान ली और उनकी तरफ आते हुए कबूतर को दिल थामकर देखने लगे। उनके दिल की धड़कने काफी तेज हो चुकी थीं।

उड़ता हुआ कबूतर जल की ऊपरी सतह से कुछ ही ऊपर बने हुए एक खांचे में बैठ गया। कबूतर मेंढ़ कों से इतनी नजदीकी पर बैठा हुआ था कि मेंढ़कों को उसे देखने के लिये अब दूरबीन की भी आवश्यकता नहीं थी।

एक वैज्ञानिक मेंढ़क दूसरे वैज्ञानिक मेंढ़क से बोला – "अच्छा अवसर है अब इसे कैद कर लेने का।"

"हाँ है तो; पर हमें सवाधानी से काम लेना होगा। कहीं ये उड़ गया तो ? हल्की आहट पाकर ये एक बार हमारी गिरफ्तारी से निकल गया था।" – दूसरे वैज्ञानिक मेंढ़क ने कहा।

हाँ सो तो है ही, पर करें क्या ? काफी सतर्क प्राणी है ये। क्यों न अबकी बार हम दूसरा तरीका इस्तेमाल करें ?

वह क्या ?

हम उससे बात करने का प्रयास करें, उसको इस बात का आभास करा दें कि हम उसके शत्रु नहीं हैं, हम तो उससे मित्रता करना चाहते हैं।

हाँ, यही ठीक रहेगा।

"इसके बावजूद भी यदि ये भागने की कोशिश करता है तो हमें फुर्ती से काम लेना होगा। उछलके उसकी एक टांग तुम पकड़ लेना और एक टांग मैं पकड़ लूंगा" – दूसरे वैज्ञानिक मेंढ़क ने कहा।

इसीप्रकार की मंत्रणा में मशगूल थे दोनों वैज्ञानिक मेंढ़क कि तभी उस कबूतर की नजर उन दोनों मेंढ़कों पर जा पड़ी। उन्हें देखकर कबूतर बोला –

"अरे मेंढ़कों ! तुम यहाँ क्या कर रहे हो ? कहो, कोई विशेष बात है क्या ? आज तो जल से काफी ऊपर चढ़कर बैठे हुए हो।"

कबूतर के मुँह से अपना नाम सुनकर दोनों मेंढ़क चौंक गये। आश्चर्य से उनका मुख खुला का खुला रह गया। हड़बड़ाते हुए एक मेंढ़क बोला –

"तुम ! .... ऽऽ.... कौन हो तुम ? हमारा नाम कैसे जानते हो ? कहाँ से आये हो ? क्या लेने आये हो यहाँ पर ?"

"मैं ! अरे, मैं कबूतर हूँ, क्या तुम मुझे नहीं जानते ? मैं तो तुम्हें बरसों से जानता हूँ। तुम्हारी जाति के लोग ऊपर जमीन पर भी तो रहते हैं। आपका और हमारा तो सदियों पुराना नाता है। हमारे बाप-दादे-पुरखे सदियों से ही आपके इस कुएँ में अपने अण्डों को सुरक्षित रखने के लिये आते रहे हैं। मैंने भी यहाँ अण्डे रख छोड़े हैं; इसलिए मैं यहाँ आया हूँ। आपको कोई तकलीफ हो तो कहो।"

कबूतर की बातें सुनकर दोनों वैज्ञानिक मेंढ़क आश्चर्य में पड़ गये। एक वैज्ञानिक मेंढ़क बोला – "ओह ! तो इसका मतलब यह हुआ कि सदियों से ही आपके ग्रह के लोग हमारे इस ग्रह पर आते रहे हैं। हमारे इस विश्व में हस्तक्षेप करते रहे हैं। अब आपके विश्व में प्रवेश करने का हमारा भी हक बनता है। क्या आप हमें अपने साथ आपके विश्व में ले चलेंगे ?"

"आपका विश्व और हमारा विश्व अलग-अलग है क्या ? ओह ! समझा ! आप इस कुएँ के विश्व को ही अपना अलग विश्व समझ रहे हो; क्योंकि आपका ज्ञान सीमित है। कुएँ के बाहर के विश्व का आपको कुछ पता नहीं है। इसलिये आपको यह भ्रम खड़ा हुआ है। कुएँ के बाहर लम्बा-चौड़ा विश्व फैला हुआ है। यह कुआ तो इसका मात्र एक छोटा-सा हिस्सा है। इस कुएँ जैसे असंख्य कुएँ इस विश्व में बने हुए हैं।" – कबूतर ने कहा।

"सच ! क्या ये सब आपने अपनी आँखों से देखे हैं ? आप जिस विश्व से यहाँ आते हैं, वहाँ और क्या-क्या है जरा बताइये ना ?" – दूसरा वैज्ञानिक मेंढ़क बोला।

नदियाँ हैं, नाले हैं, समुन्दर हैं, बड़े-बड़े पर्वत हैं, वृक्ष हैं, मकान हैं, मन्दिर हैं, मनुष्य हैं, हाथी-घोड़े हैं, और भी बहुत-सी वस्तुएँ हैं। किस-किस का नाम बतायें ? असंख्य वस्तुएँ इस विश्व में हैं।" – कबूतर बोला।

"क्या वास्तव में ये सब हैं ? क्या आपने ये सब अपनी आँखों से देखें हैं ? दोनों वैज्ञानिक मेंढ़क आश्चर्य व्यक्त करते हुए बोले। उन्हें कबूतर की बात का विश्वास ही नहीं हो रहा था।"

"हाँ, हाँ ये सब हैं। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।"

"हम भी इन सब चीजों को देखना चाहते हैं, आप हमको साथ ले चलिये।" – एक वैज्ञानिक मेंढ़क बोला।

काफी अनुनय-विनय के बाद कबूतर उनको अपने साथ ले जाने के लिए राजी हो गया। दोनों वैज्ञानिक (मेंढ़क) कबूतर की एक-एक टांग पकड़कर लटके रहे और कबूतर उन्हें लेकर उड़ता रहा। काफी देर तक उड़ते रहने के बाद वे सब कुएँ के बाहर पहुँच गये। वहाँ के प्रकाश

से दोनों वैज्ञानिकों (मेंढ़क) की आँखें चौंधिया गयीं लेकिन धीरे-धीरे वे तेज प्रकाश में भी देखने के अभ्यस्त हो गये।

उधर कुएँ की दुनियाँ के लगभग सभी समाचार पत्रों ने अपने मुखपृष्ठ पर इस खबर को प्राथमिकता देते हुए लिखा कि हमारे यहाँ के दो वैज्ञानिक मेंढ़क दूसरे ग्रह तक पहुँचने में सफल रहे हैं।

विशेष खुलासा करते हुए अखबारों ने लिखा कि "अन्तरिक्ष के क्षेत्र में हमारी यह बहुत बड़ी उपलब्धि है। अधिकांश समाचार-पत्र इस बात का संकेत नहीं दे पाये कि ये वैज्ञानिक किस तरह से वहाँ पहुँचे। एक मशहूर समाचारपत्र ने इस दिशा में थोड़ा संकेत जरूर दिया। उसने एक संक्षिप्त टिप्पणी में लिखा – सूत्रों से प्राप्त जानकारी के अनुसार हमारे वैज्ञानिक दूसरे ग्रह के पंखों वाले एक विचित्र प्राणी के साथ दोस्ती करने में सफल रहे और उसी के सहायता से वे वहाँ पहुँचे।

अधिकांश समाचार-पत्रों ने आशंका भी व्यक्त की कि क्या पता हमारे ये वैज्ञानिक सही सलामत वापस लौट भी पाते हैं या नहीं। वहीं ऐसी सम्भावनाएँ भी व्यक्त की गई कि यदि ये वैज्ञानिक सही सलामत वापस लौट पाते हैं तो दूसरी दुनिया के बहुत से रहस्यों का पर्दाफाश हो जायेगा।

कबूतर ने दोनों वैज्ञानिकों का परिचय जमीन के ऊपर रहनेवाले उन्हीं की जाति के अन्य मेंढ़कों से करवा दिया। अपनी ही जाति भाइयों को यहाँ देखकर दोनों वैज्ञानिकों को काफी प्रसन्नता एवं राहत का अनुभव हुआ।

घूम-घूम कर यहाँ के स्थानों एवं चीजों को दोनों वैज्ञानिक जाँचते रहे, परखते रहे। यहाँ के बड़े-बड़े भवन, चित्र-विचित्र जीव-जन्तु, मनुष्य, हाथी, घोड़े ऊँट-बैल, कुत्ते-बिल्ली, चूहे, तोते आदि।

यहाँ के बड़े-बड़े सरोवर, बाँध, नदी-नाले, पर्वत-पठार, समुन्दर, विभिन्न जाति के वृक्ष, पेड़-पौधे, वनस्पति, फल-फूल आदि तथा विभिन्न किस्म के वैज्ञानिक उपकरण, छोटी-बड़ी मशीनें, वाहन, रेलें, मोटरें, हवाई जहाज, कारें आदि। यहाँ का वैभव, यहाँ की सुख-सुविधाएँ।

इन सभी को देखकर दोनों वैज्ञानिकों के होश ठिकाने आ गये। वे तो अपनी कुएँ वाली दुनिया को ही एक विशालकाय दुनिया समझ रहे थे; परन्तु यहाँ का नजारा तो कुछ और ही था। कुएँ के बाहर इतना लम्बा-चौड़ा विश्व। एक कल्पनातीत विश्व से उनका परिचय हुआ था।

एक दिन घूमते-घूमते हुए दोनों वैज्ञानिक मेंढ़क एक गगनचुम्बी शिखरोंवाले जैनमंदिर के

प्रांगण में पहुँचे। वहाँ एक नग्न दिगम्बर महात्मा धर्मप्रेमी लोगों को धर्मोपदेश दे रहे थे। कौतुहलवश दोनों वैज्ञानिक भी उन महात्मा का उपदेश सुनने लगे।

महात्मा कह रहे थे – "वर्तमान में हमें अपनी आँखों से यह विश्व दृष्टिगोचर हो रहा है वह तो वास्तव में समुद्र की तुलना में उसकी एक बूंद के बराबर भी नहीं है। इसके अलावा भी बहुत कुछ है जो कि ज्ञान में स्वीकृत होने योग्य है; फिर भले ही वह हमें अपनी आँखों से दिखाई न देता हो। हमारा यह विश्व तो भरतक्षेत्र का एक हिस्सामात्र है। ऐसे-ऐसे पाँच भरतक्षेत्र हैं, पाँच विदेह हैं, पाँच ऐरावत हैं, पाँच हैमवत, पाँच हरी, पाँच ही रम्यक और हैरण्यवत हैं। इतना सबकुछ तो मध्यलोक के ढाई द्वीप में ही है। इसके अलावा मध्यलोक में ही असंख्यात द्वीप समुद्र हैं।"

ऊपर ऊर्ध्वलोक में सोलह स्वर्ग हैं, नव ग्रैवेयक हैं, नव अनुदिश हैं, पाँच अनुत्तर विमान हैं और उसके ऊपर सिद्धशिला और फिर अनन्त-अनन्त अलोकाकाश है।

नीचे अधोलोक में सात नरक हैं। और नीचे तथा लोक के आजू-बाजू में अनन्त आकाश है। यह सब है। भले ही हमें अपनी आँखों से ये सब न दिखाई देते हों तो क्या हुआ ?

विज्ञान भी आज इस बात को स्वीकार करने लग गया है और दूसरे ग्रहों पर मानव जीवन की खोज में वह भी लगा हुआ है। नये-नये ग्रहों की खोज तथा उनके अध्ययन में हमारे वैज्ञानिक लोग जुटे हुए हैं। विभिन्न प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों से यह बात साफ है कि विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करने लग गया है कि विश्व इतना ही नहीं है जितना हमें अपनी आँखों से दिखाई देता है अथवा हमारी जानकारी में है।

वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रों में तो यह सब बातें पहले से ही लिखी हुई हैं।

परमाणु हैं, उनके स्कन्धरूप कार्मण वर्गणाएँ हैं, भाषा वर्गणाएँ, तैजस वर्गणाएँ आदि बाईस प्रकार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्गणाएँ हैं।

धर्मद्रव्य है, अधर्मद्रव्य है, आकाशद्रव्य है, कालद्रव्य है। जीव तथा पुद्गलद्रव्य तो हमारे अनुभव में आ ही रहे हैं।

पुण्य है, पाप है, धर्म है, सबकुछ है। कहते हुए महात्माजी कुछ देर के लिए रुके।

"यदि यह सब है तो फिर ये हमें क्यों नहीं दिखाई देते ? बिना देखे हम कैसे मान लें ?" – एक जिज्ञासु ने प्रश्न पूछा।

"हमारा ज्ञान तुच्छ है। हमारे ज्ञान के ऊपर कर्माण वर्गणा नामक पुद्गल परमाणुओं का आवरण पड़ा हुआ है; इसलिये ये हमें नहीं दिखाई देते।

कुएँ के अन्दर रहनेवाले मेंढ़क का ज्ञान हमसे भी तुच्छ है। उसे दुनिया कुएँ जितनी ही लगती है; इसलिए वह उतनी ही मानता है, कहता है बिना देखे कैसे मान लूँ। तो उसका ऐसा कहना ठीक है क्या ? कुएँ के बाहर यह लम्बी-चौड़ी दुनिया नहीं है क्या ? मुनिराज का तर्क सुनकर दोनों मेंढ़क वैज्ञानिक चकित रह गये। कितनी सटीक बात कही थी महात्माजी ने। महात्माजी के समर्थन में दोनों वैज्ञानिक अपना सिर हिलाने लगे।

"ये कार्मण वर्गणाएँ क्या हैं ? इनके स्वरूप के बारे में थोड़ा विस्तार से समझाइए ना ?" – एक जिज्ञासु ने निवेदन किया।

वैज्ञानिकों द्वारा जाने जा सके – ऐसे इलैक्ट्रानों-प्रोट्रानों एवं न्यूट्रानों से भी ज्यादा सूक्ष्म पुद्गल परमाणु इस विश्व में सर्वत्र ठसाठस भरे हुए हैं; जिन्हें कार्मण वर्गणाएँ अथवा जड़कर्म कहा जाता है।

यही कर्म वर्गणाएँ (कार्मण वर्गणाएँ) आत्मा के राग-द्वेष-मोह परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के प्रदेशों की तरफ आकृष्ट होती रहती हैं एवं आत्मा के साथ बंधती रहती हैं। हमारे (आत्मा के) विभिन्न विचारों एवं भावनाओं के अनुसार प्रतिसमय नयी-नयी कार्मण वर्गणाओं का आगमन होता रहता है और पुरानी बंधी कर्म वर्गणाएँ फल देकर आत्मा से अलग होती रहती हैं।

इसी व्यवस्था के फलस्वरूप प्राणियों को अपने-अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल मिलता रहता है। प्राणियों को सुखी अथवा दुःखी करनेवाला कोई अलग ईश्वर नहीं है।

इसप्रकार इन कार्मण वर्गणाओं का सम्बन्ध अनादिकाल से ही प्रत्येक प्राणी की आत्मा के साथ लगा हुआ है और भविष्य में भी तबतक लगा रहेगा, जबतक स्वयं ही अपने पुरुषार्थ से इन कर्मों के आवरण को अपनी आत्मा से अलग नहीं कर लेता।

कर्मों के इन आवरण के अनुसार ही विभिन्न प्रकार के प्राणियों में ज्ञान की हीनाधिकता पाई

जाती है। इस आवरण के ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार ही प्राणियों के जानने की सामर्थ्य में अन्तर पाया जाता है।

किसी का ज्ञान कम है, किसी का अधिक है, किसी का इससे भी अधिक है। यहाँ पर पाये जानेवाले प्राणियों और व्यक्तियों में से किसी के भी जानने की योग्यता में समानता नहीं है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में से किसी के भी जानने की योग्यता में समानता नहीं है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की बात तो दूर रही; किन्तु एक ही व्यक्ति के ज्ञान में विभिन्न समयों में घट-बढ़पना होता रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि यह सब उस आवरण के अनुसार ही होता रहता है। **यदि आत्मा में से कर्मों के सम्पूर्ण आवरण का अभाव हो जाये तो पूर्ण ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता प्रगट हो जाये, आत्मा स्वयं परमात्मा बन जावे।**

जिन्होंने अपनी आत्मा से कर्मों के सम्पूर्ण आवरण को पृथक् कर लिया और सर्वज्ञता प्रगट कर ली – ऐसे वीतराग-सर्वज्ञ-हितोपदेशी भगवान ने सम्पूर्ण विश्व एवं उसके पदार्थों को अपने ज्ञान में जानने के बाद उसके सम्बन्ध में कथन किया है; इसलिये इनको मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

इसप्रकार धर्मग्रन्थों में जो कुछ भी कथन किया गया है। उसको सत्य स्वीकार करना चाहिये। यह जरुरी नहीं है कि अपने तुच्छ ज्ञान में जितना प्रत्यक्ष दिखाई दे, उसे ही स्वीकार किया जाये। हम चाहें तो तो हम स्वयं भी सत्य की स्वीकारोक्तिपूर्वक अपने आत्मा में से कर्मों को अलग करके भगवान बन सकते हैं और अनन्त सुख-ज्ञान, दर्शन-वीर्य आदि का अनन्त-अनन्त काल तक भोग कर सकते हैं।

"महाराज ! सुखी होने के लिए सम्पूर्ण विश्व और उनके सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान होना जरुरी है क्या ?" – एक जिज्ञासु ने विनम्रतापूर्वक पूछा।

सुख का आधार स्वद्रव्य है। प्रत्येक प्राणी का सुख स्वयं आत्मा में से ही आता है; इसलिये सुखी होने के लिये स्वयं की आत्मा का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

यद्यपि सुखी होने के लिये सम्पूर्ण विश्व और उसके सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान होना जरूरी नहीं है; परन्तु फिर भी प्रयोजनभूत सात तत्त्वों का ज्ञान तो जरूरी ही है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष – ये सात तत्त्व हैं।

निज आत्मद्रव्य के स्वरूप को समझने में इन सात तत्त्वों का ज्ञान आ ही जाता है; इसलिये आत्मद्रव्य का ज्ञान ही सुखी होने के लिये मुख्य है।

स्वयं को ही जानने-पहचानने का प्रयास करना चाहिये।

जानने-देखने और सुख-दुःख का अनुभव करनेवाली जो कोई वस्तु है; वह स्वयं आप ही है तथा ये शरीरादिक हैं; वे सब पर हैं – इसप्रकार भेदविज्ञानपूर्वक आत्मसन्मुख होने का प्रयास करना चाहिये।

आत्मा स्वभाव से ही ज्ञान और आनन्द का घनपिण्ड है, प्रभु है, परमात्मा है, जो उसकी महिमा लाकर उसका अनुभव कर लेता है, उसको सम्पूर्ण विश्व और उसके सम्पूर्ण पदार्थों का सच्चा स्वरूप भी ख्याल में आ ही जाता है तथा अल्पकाल में सम्पूर्ण विश्व भी उसके ज्ञान में प्रत्यक्ष हो जाता है; इसलिये सर्वप्रथम स्वयं को जानने-पहचानने का प्रयास करना चाहिये। महात्माजी ने समझाया।

महात्माजी के सिद्धान्त और अध्यात्म से सराबोर उपदेश सुनकर दोनों वैज्ञानिक मेंढ़क प्रसन्न हो गये। लगातार आठ दिनों तक इसी तरह से सही समय पर हाजिर होकर वे महात्माजी के उपदेश सुनते रहे।

उपदेशों को सुनकर जहाँ एक तरफ उनको सम्पूर्ण विश्व की व्यवस्था ख्याल में आ गई, वहीं दूसरी तरफ आत्मोपलब्धि भी हो गयी। यहाँ आकर पाने योग्य सब कुछ उन्होंने पा लिया। काफी घूम फिर चुकने के बाद फिर से वे अपने कुएँ वाली दुनिया की तरफ प्रस्थान कर गये। अपने उसी कबूतर साथी की सहायता से दोनों वैज्ञानिक अपने गंतव्य स्थलन तक पहुँच गये।

कुएँ की दुनिया में तहलका मच गया। मुख्य चर्चा का विषय यही था कि हमारे दोनों वैज्ञानिक मेंढ़क दूसरे ग्रह की सैर करके सकुशल वापस लौट आये।

वहाँ के लगभग सभी समाचार पत्रों ने इस खबर को अपने मुखपृष्ठों पर छापा। एक समाचार-पत्र में छपी खबर के अनुसार जब से ये अन्तरिक्ष यात्री (वैज्ञानिक) अपनी दूसरे ग्रह की यात्रा से वापिस आये हैं, तब से उनमें कुछ विरक्ति जैसी भावना आ गयी है और वे आत्मकेन्द्रित से हो गये हैं। उनके ऐसे व्यवहार से उनके परिचितों को भी परेशानी हो रही है। इसका कारण यही विदित होता है कि बहुत सम्भव है कि उस विश्व की विशालता का कुछ अनुभव करके इन अन्तरिक्ष यात्रियों को इस कुएँ की दुनिया की और यहाँ के निवासियों की क्षुद्रता का कुछ भान हुआ हो और इसीलिये उनमें यह विरक्ति की भावना जागृत हो गयी हो।

यद्यपि ये वैज्ञानिक दूसरे ग्रह के सम्बन्ध में जानकारी देने से कतराने लगे हैं; परन्तु किसी

संयम

वे कुल तीन थे। एक था विशालकाय आमवृक्ष, दूसरा था छोटा-सा लघुकाय आमवृक्ष और तीसरा था लम्बा-सा खजूर का पेड़।

एक दिन उस लघुकाय आम के पेड़ ने उस विशालकाय आम के पेड़ से पूछा – दादा ! हम दोनों की जाति तो एक ही है; परन्तु फिर भी आप तो काफी फले-फूले और प्रसन्नचित्त नजर आते हैं; जबकि मेरी तो उदासी ही दूर नहीं हो पाती। आपके ऊपर तो आनन्ददायी मधुररस से भरे पके हुए फल लगे हुए हैं; परन्तु मैं तो आनन्ददायी रस फलों से रीता ही हूँ।

"अभी तुम में चारित्ररूपी विकास की कमी है न ! इसलिये तुममें आनन्ददायी फल नहीं लगे हैं। आनन्ददायी फलों की प्राप्ति तो चारित्ररूपी विकास से ही संभव है। जब तुम भी मेरे जैसा चारित्ररूपी विकास प्राप्त कर लोगे, तब तुम्हारे ऊपर भी आनन्ददायी फल लगने लगेंगे। तुम्हारी उदासी दूर होगी और तुम्हारा अंतरंग आनन्द से भर जायेगा।" विशालकाय, चारित्रवंत आमवृक्ष ने कहा।

"इसके लिए मुझे क्या करना होगा ?" लघुकाय आमवृक्ष ने पुन: पूछा।

"तुम अपनी श्रद्धारूपी जड़ों को मजबूत करते रहो। तुम्हारी श्रद्धारूपी जड़ें जितनी गहरी होंगी, उतना ही तुम्हारा चारित्ररूपी विकास भी मजबूत होगा; क्योंकि श्रद्धारूपी जड़ों के आधार से ही चारित्ररूपी विशालकाय वृक्ष टिका रह सकता है। बिना ज़ड़ों के वृक्ष का विकास और स्थायित्व संभव ही नहीं है। **धर्मवृक्ष का मूल तो श्रद्धा की जड़ें ही हैं।**"

पुण्योदय अथवा पापोदय और शुभ अथवा अशुभ भाव रूप, चाहे जैसे आँधी अथवा तूफान क्यों न आयें; तुम अपनी श्रद्धारूपी जड़ों को मजबूती से थामे रखना, फिर दुनिया की कोई भी ताकत आँधी-तूफान तुम्हें नहीं उखाड़ सकते, तुम्हें चारित्रवंत होने से नहीं रोक सकते। तुम्हारा विकास होगा और अवश्य होगा। आनन्द-फलों की प्राप्ति तुम्हें अवश्यमेव होगी – विशालकाय चारित्रवंत आमवृक्ष ने समझाया।

"सो तो है ही, चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन ही तो है, यह बात तो मुझे बहुत अच्छी तरह मालूम है और मेरी भी श्रद्धाजड़ें कोई कम मजबूत थोड़े ही हैं। दूर-दूर तक जमीन में फैली हुई हैं। जड़ों की मजबूती का महत्त्व तो मुझे अच्छी तरह से मालूम है; परन्तु चारित्ररूपी विकास की प्राप्ति के लिये इसके अलावा भी क्या और कुछ करना होगा ? मैं तो यह जानना चाहता हूँ" – श्रद्धावंत छोटे आम के पेड़ ने पूछा।

"हाँ, अपने उपयोग की चंचलता को कम करना होगा। तुम्हारा उपयोग अभी चंचल बहुत है। मामूली-सी गर्मी अथवा हवा लगते ही तुम प्रभावित हो जाते हो। अभी तुम बच्चे हो न इसलिये ! अपने उपयोग की इस चंचलता को दूर करने के लिए बाह्य संयम को अंगीकार करना भी तुम्हारे लिए अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि जबतक उपयोग पंचेंद्रियों के विषयों के सम्मुख ही भटकता रहेगा, तब उसे स्वभावसन्मुख होने का अवसर ही कब मिलेगा ? उपयोग में चंचलता बनी ही रहेगी और ऐसी हालत में स्वात्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले आनन्द में वृद्धि होने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। तुम तो अपने आनन्द को बढ़ाना चाहते हो न ?"

आनन्दफलों की वृद्धि के लिये बाह्य संयम को अंगीकार करना बहुत ही जरूरी है। तुम बाह्य संयम को अंगीकार करके तत्त्वचिंतन-मनन रूपी हवा, पानी, धूप से अपनी आत्मा को पुष्ट करो। अवश्य ही तुम्हारे अंतरंग आनन्द में वृद्धि होगी तथा तुम्हारे अंतरंग चारित्र का विकास होगा जो कि वास्तविक चारित्र है। ऐसा चारित्र प्रगट होने पर सर्दी-गर्मी-वर्षा-हवा आदि के उपद्रव भी तुम्हें प्रभावित नहीं कर पायेंगे, तुम्हारे आनन्द को भंग नहीं कर पायेंगे और तुम परमसुखी हो जाओगे।" — विशालकाय चारित्रवंत आमवृक्ष ने कहा।

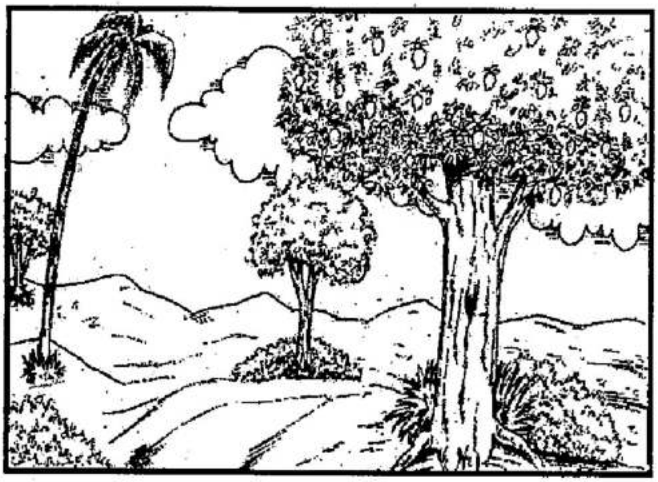

"सच ! अरे वाह ! फिर तो बड़ा ही मजा आयेगा। कितने सुखद होंगे वे क्षण, जब दिन-रात निजात्मा का ही चिन्तन-मनन-घोलन हुआ करेगा। कितनी निराकुलता होगी तब, जब स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा सिर्फ ज्ञान का ही रसास्वादन हुआ करेगा। ओहो कितना मजा आयेगा मैं भी आपकी ही तरह चारित्रवंत बन जाऊँगा। आपके जितने विकास को प्राप्त कर लूँगा और मेरे ऊपर भी मधुर सरस आनन्ददायी फल लगने लगेंगे। क्यों दादाजी है न?" — श्रद्धावन्त आमवृक्ष ने प्रसन्न होते हुए कहा।

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं ? बिल्कुल सही बात है" विशालकाय चारित्रवंत आमवृक्ष ने फरमाया।

"सही बात नहीं। गलत बात कहो, गलत बात, बिल्कुल ही गलत बात।" खजूर का पेड़ जो कि अबतक चुप्पी साधकर उन दोनों की बातों को सुन रहा था वह अधीर होते हुए बोला।

खजूर के पेड़ की बात सुनकर दोनों आमवृक्षों ने चौंकते हुए आवाज की तरफ देखा तो पास वाली ऊँची टैकरी पर खड़े हुए लम्बे खजूर महाशय उनको दिखायी दिये।

"क्यों भई खजूर ! इसमें हमने क्या गलत कहा ?" चारित्रवंत आमवृक्ष ने खजूर के पेड़ से पूछा।

"इधर मेरी तरफ देखो न ! मेरे जितना चारित्र तुम्हारे पास है ही कहाँ; जो तुम इस लघुकाय आम के वृक्ष को अपने समान चारित्रवंत बनने की प्रेरणा दे रहे हो, अभी तो स्वयं तुम्हारे अन्दर ही चारित्र की बहुत कमी है, तुम तो अभी मुझसे आधे भी नहीं हो। यह देखो न, ऊँचाई में मैं तुमसे लगभग दुगना हूँ। मेरे जितना विकास अभी तुममें कहाँ ? मैं तो स्वर्ग की ऊँचाइयों को छू रहा हूँ।" खजूर के पेड़ ने चारित्रवंत आमवृक्ष से कहा।

"तुम और चारित्रवंत ! अरे, चारित्र का स्वरूप भी जानते हो कि नहीं ? तुममें चारित्र है ही कहाँ ? तुममें तो अभी रंचमात्र भी चारित्र नहीं है, तुम चारित्रवंत नहीं, चारित्राभासी हो, चारित्र का आभासमात्र तुम्हारे पास है। अरे ! बिना सम्यग्दर्शन के भी कभी चारित्र होता है क्या ? अरे पहले एक बार अपनी जड़ों की तरफ तो जरा झांककर देख लो। तुम्हारी श्रद्धाजड़ें कितनी कमजोर हैं। तुम्हारी जड़ें कितनी छोटी-छोटी हैं और वह भी जमीन से बाहर निकल आयी हैं। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारा ये तथाकथित चारित्र धड़ाम से नीचे जमीन पर आ गिरे।"

"खबरदार ! तुम हमारे चारित्र की हँसी उड़ाते हो, हमारे चारित्र को तथाकथित चारित्र कहते हो। यदि हमारे पास चारित्र नहीं है तो क्या बिना चारित्र के ही हम इतने ऊँचे उठ गये हैं ? देखो न ! हमारे ऊपर भी फल लगे हुए हैं। स्वर्ग की ऊँचाइयों को हम छू रहे हैं। स्वर्ग-फल को हम प्राप्त हुए हैं। क्या यह सब बिना चारित्र के ही संभव है ?" – खजूर के पेड़ ने तैश (क्रोधावेश) में आकर कहा।

"स्वर्ग के फलों को तो आत्मज्ञानशून्य, निश्चय रत्नत्रय से रहित (वास्तविक चारित्र से रहित) अज्ञानी भी प्राप्त कर लेते हैं। इसमें कौनसी बड़ी बात है ? अरे ! तुम तो सिर्फ बाह्य संयम को ही चारित्र समझ रहे हो, अंतरंग का तुम्हें कुछ भी भान ही नहीं है। व्रत-तप रूप बाह्य संयम के आधार से स्वर्ग की प्राप्ति तो हो सकती है; परन्तु मोक्ष की प्राप्ति नहीं। स्वर्ग-फल की प्राप्ति तो तुम जैसे मूढ़ों को भी सुलभ है, परन्तु मोक्ष-फल की नहीं।

मोक्ष-फल की प्राप्ति तो स्वसंवेदनरूप आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धान और आत्मरमणतारूप चारित्र से ही संभव है और उसका भी मूल (जड़) सम्यग्दर्शन है, जो कि तुम्हारे नहीं है। उसके स्वरूप की तो तुम्हें कुछ खबर ही नहीं।" – विशालकाय चारित्रवंत आमवृक्ष ने संयत रहते हुए कहा।

"अरे ! तुम जिसे महान पुरुषार्थ की वस्तु समझते हो, वह तो हम जैसे आत्मज्ञानियों को

सहज में ही प्राप्त हो जाता है। वह तो विकार का फल है। विकार का पुरुषार्थ भी कोई पुरुषार्थ है ? अरे ! तुम तो शुभराग को ही (पुण्य को ही) पुरुषार्थ समझ रहे हो। शुभभाव तो जीवों को अनादि से ही सुलभ है। पुरुषार्थ तो वीतरागभाव की प्राप्ति में है, शुभभाव की प्राप्ति में नहीं।

क्या तुम नहीं जानते कि जो शुभभावरूप बाह्य संयम (राग) का ही रुचिपूर्वक पालन करके स्वर्ग के सुखों का भोग करते हैं, उनकी अन्ततोगत्वा अशुभभावरूप परिणति होकर के फिर निगोद की हवा खानी पड़ती है; क्योंकि त्रस पर्याय का अधिकतम काल भी मात्र दो हजार सागर ही है न ! शुभ की रुचि ही अशुभ का कारण है। मन्दराग की रुचि ही तीव्रराग का कारण है।

देखो न ! जहाँ एक ओर तुम्हारे ऊपर स्वर्ग के फल (खजूर) लगे हुए हैं, वहीं दूसरी तरफ नरक-निगोद के प्रतिरूप लम्बे-लम्बे नुकीले काँटे भी तो उगे हुए हैं। ये इस बात के प्रतीक हैं कि स्वर्ग के सुखों की चाह में ही कहीं नरक-निगोद के काँटेदार बीज पड़े हुए हैं। स्वर्ग के सुख तो क्षणस्थायी (क्षणभंगुर) हैं। पुण्य का क्षय होते ही तुम फिर से नरक-निगोद में जा गिरोगे। तुम्हारा ये बाह्य संयम और उसका फल, ये सब देखते ही देखते नाश को प्राप्त हो जायेंगे।

अरे संयमी बनो ! पर अन्तरंग संयमी बनो ! आत्मदृष्टि पूर्वक संयमी बनो ! अपने आत्मा को भी तो देखो ! जानो ! समझो ! – विशालकाय चारित्रवंत आमवृक्ष ने कहा।

"ये आत्मा-वात्मा तो हम कुछ नहीं जानते। हम तो इतना जानते हैं कि हम संयमी हैं और संयम में तुमसे ज्यादा आगे हैं, हम ऊँचे हैं और ऊँचे रहेंगे।" – मूढ़वंत खजूर के पेड़ ने उपेक्षापूर्वक कहा।

"देखते हैं तुम्हारा ये तथाकथित संयम कहाँ तक तुम्हारा साथ देता है।" – चारित्रवंत आमवृक्ष ने कहा।

बहुत सारा काल व्यतीत हुआ, फिर एक दिन हवा चली, तूफान आया, आँधी आयी, बड़े-बड़े ओले गिरे, देखते ही देखते मूसलाधार वर्षा होने लगी। कुछ ही समय में नदी-नालों में बाढ़ आ गयी। हवा का एक जबरदस्त झोंका आया और उस झोंके के साथ ही टेकरीवाला खजूर का पेड़ तो जड़-मूल से उखड़कर पासवाली नदी में जा गिरा और तेज बहाव में बहकर पासवाली नदी में जा गिरा और तेज बहाव में बहकर समुद्र में जा गिरा। घोर संसार-समुद्र में कहीं डूब गया; परन्तु लघुकाय श्रद्धावंत आम का पेड़ तो आज स्वयं ही विशालकाय चारित्रवंत आमवृक्ष के समकक्ष खड़ा हुआ है और आनन्दफलों का रसास्वादन कर रहा है।

(इस मौलिक कथानक के लेखक श्री जयन्तीलाल जैन हैं – आभार)

पुण्यास्त

सेठ गुमानीमलजी के जीवन में एक समय ऐसा भी था; जबकि वे अत्यन्त गरीब थे। उनके बचपन के समय की बात है यह तो। उस समय तो उन्हें फटे-पुराने और मैले-कुचैले कपड़े ही पहनने को मिला करते थे। फटी सी काले रंग की नेकर और सफेद रंग का पतला सा कमीज, जो बाँहों पर अक्सर फटा रहता, पहनकर वे इधर-उधर घूमते रहते। रास्ते में पड़े हुए कागज और रस्सी के टुकड़े तथा लोगों द्वारा फेंकी हुई टूटी-फूटी वस्तुएँ बीनते रहते। उनके मैले-कुचैले वस्त्र और बाल धूल से सने हुए देखकर अक्सर बच्चे उनकी गरीबी का मजाक उड़ाया करते, उन्हें चिढ़ाया करते थे। पर आज तो बात कुछ दूसरी ही है। उनके जैसा धनवान संसारभर में कोई माना ही नहीं जाता।

आज सबकुछ विद्यमान है उनके पास। कार, बंगला, जमीन-जायदाद, मान-सन्मान, बाल-बच्चे आदि सभी कुछ तो विद्यमान है उनके पास।

बचपन में तो वे दुबले-पतले थे, हाथ-पैर में अक्सर फोड़े-फुंसी निकल आया करते थे। आज वही शरीर हट्टे-कट्टे इन्सान में परिवर्तित हो गया था। भरा-पूरा चेहरा, गौर वर्ण, उन्नत ललाट, चौड़ा सीना औरं छह फुट की लम्बाई। सफेद रंग की कीमती धोती और कुर्ता सब मिलाकर उनके व्यक्तित्व को आकर्षक बनाये हुए थे।

और इन्हीं सब बातों का उन्हें अहं भी बहुत था; क्योंकि वे कोई तत्त्वज्ञानी तो थे नहीं; बल्कि वे तो इस बात से अनभिज्ञ थे कि ये सभी बाहर के अच्छे-अच्छे संयोग तो जल के बुलबुले के समान क्षणभंगुर हैं।

वे इस बात को क्या जानें कि परिस्थितियाँ सदैव एक जैसी नहीं रहतीं। परिस्थितियाँ बदलते देर नहीं लगती। सुख किसी बाहर की परिस्थितियों के आधार से नहीं, बल्कि स्वयं के ही सम्यक् (निर्मल) परिणामों के आधार से है।

और इसीकारण से वे पुण्य के पक्षपाती थे। उनका मानना था कि पुण्य करेंगे तो सुख मिलेगा। बाहरी अनुकूलताओं में ही सुख माननेवालों को यह बात समझ में आ भी कैसे सकती है कि सुख की प्राप्ति धर्म से होती है न कि पुण्य से। और ऐसे लोगों के लिए तो पुण्य ही धर्म बनकर रह जाता है। वे इस बात को क्या जानें कि पुण्य अलग है और धर्म अलग।

पुण्य से आकुलता से युक्त विनाशीक सुख की प्राप्ति होती है; जबकि धर्म से आकुलता रहित निराकुल एवं शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

सेठ गुमानीमलजी के सामने जब कोई यह बात रखता कि पुण्य भिन्न है और धर्म भिन्न है। सच्चे सुख की प्राप्ति तो धर्म से ही होती है; तो वे तुरन्त अपनी आँखें फेर लेते। चेहरे पर कटुता ले आते और अपना एक हाथ लम्बा करके सुनाने वाले को रोकते हुए कहते – हम तो कुछ नहीं जानते। इतना जानते हैं कि पुण्य के बिना तो सिद्धि है ही नहीं। और इतना कहकर वे फिर से अपने काम में मशगूल हो जाते तथा मन ही मन पुण्य की सार्थकता के बारे में सोचते रहते। सोचते – बिना पुण्योदय के रहने के लिए इतना बड़ा बंगला तो दूर, टूटा-फूटा झोपड़ा भी नहीं मिलता। यदि पूर्व में पुण्य न किया होता तो आज अच्छा-अच्छा भोजन खाने को कैसे मिल पाता ? रहने को इतना बड़ा बंगला कहाँ से मिल पाता ? इतने प्रकार की सुख-सुविधायें क्या बिना पुण्योदय के भी प्राप्त हो जातीं? पूर्व में पुण्य किया है; इसलिए कार में बैठकर घूमने को मिलता है। और अब यदि पुण्य करेंगे तो आगे भी सुख मिलेगा। इन सभी प्रकार की अनुकूलताओं में सुख कैसे नहीं है ? यदि अनुकूलताओं में सुख नहीं है तो क्या प्रतिकूलताओं में सुख है ? क्या गरीबी में सुख है ?

और ऐसे ही सोचते-सोचते उन्हें अपने सामनेवाले पड़ौसी हीरालालजी की याद हो आती जो कि बेचारे एक टूटे-फूटे झोपड़े में रहते थे तथा सभीप्रकार के अभावों के कारण बहुत दुःखी रहते थे। उनकी पुण्यहीनदशा का विचार करते; फिर अपनी पुण्यवानदशा का विचार करते और फिर मन ही मन पुण्य को भी हेय कहनेवालों को कोसने लगते।

सेठ गुमानीमलजी को समझानेवालों ने बहुत समझाया कि पुण्य से अनुकूलतायें मिलती हैं- यह बात तो ठीक है; परन्तु वे अनुकूलतायें कितने काल की हैं यह तो सोचो ? पुण्योदय का काल समाप्त होते ही फिर वहीं जहाँ के तहाँ राजा से फकीर और सेठ से मुनीम अथवा कौआ, कुत्ता, कीड़ा आदि पुण्यजनित सुख तो ऐसा सुख है कि जिसके समाप्त होते ही फिर से अनन्त दुखों का ढेर सामने खड़ा नजर आता है। वह सुख भी सुख कहाँ है ? जिसके पश्चात् दुःख भरा हो। पुण्यजनित अनुकूलताओं का सुख तो इस जीव ने पूर्व में भी अनन्त बार प्राप्त किया है। कई बार स्वर्ग में भी गया है। भोग भूमियों में भी उत्पन्न हुआ है। फिर भी दुःखों की सत्ता का अंत कहाँ हुआ ? स्वर्ग की संपदा की तुलना में तुम्हारे पास अभी क्या सम्पदा है, जो तुम उसमें सुख मानते हो ?

सेठ गुमानीमलजी को और भी समझाया जाता- आप सोचते होंगे कि हम तो लगातार पुण्य करते रहेंगे, कभी पाप करेंगे ही नहीं, जिसके कारण से हमारा पुण्य का उदय भी लगातार आता रहेगा और हम उस पुण्यजनित सुख का भोग भी लगातार करते रहेंगे, परन्तु आपका यह सोचना

भी ठीक नहीं है; क्योंकि लगातार पुण्य के परिणाम हो सकना सम्भव ही नहीं है। पुण्यजनित सुखों का भोग करते वक्त नियम से पाप के परिणाम उत्पन्न होंगे ही। पुण्य के फल में सुखबुद्धिवाले प्राणी के उस सुख को भोगते वक्त नियम से पापकर्मों का संचय होता ही है। पुण्यजनित सुखों का भोग करना ही अपने आप में पाप है। परिणाम अन्तर्मुहूर्त के अन्दर बदलते ही हैं। पुण्य से पाप एवं पाप से पुण्य यह कर्म तो अनादि से चला ही आता है; इसलिए पुण्य एवं उसके फल में उपादेयबुद्धि रखना एवं इसी से अपना कल्याण होना मान लेना यह ठीक नहीं है। यद्यपि उन्हें कई तरह से समझाया जाता; पर सेठ गुमानीमलजी को पुण्य का पक्ष इतना प्रबल था कि उनके चित्त में चिकने घड़े की बूंद की भाँति एक भी बात ठहरती नहीं थी। उल्टे समझानेवालों से ही कन्नी काट लेते।

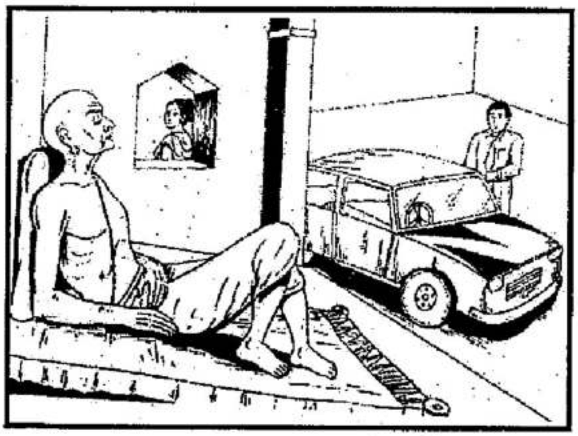

सेठ गुमानीमलजी के जीवन में अब वह बात कहाँ जो पहले थी। उनके जवानी के दिनों की तो बात ही कुछ और थी। सभी लोग उनके इशारों पर नाचते थे। उनके परिवार के भी और समाज के भी। पर आज तो बात ही कुछ दूसरी है, आज तो उनकी दशा ठीक वैसी ही है जैसी कि एक बूढ़े एवं बीमार हो गये पशु की होती है। उनका जवानी का वह सुन्दर शरीर अब तो बुढ़ापे के रूप में परिवर्तित हो चुका था। सफेद बाल, पिचके हुए गाल, दुबली-पतली थर-थर काँपती हुई काया, आँखों से दिखाई देना और कानों से सुनाई देना बिल्कुल कम हो गया था; पर जुबान अवश्य तेजी से चलती रहती थी।

बरामदे में अन्दर की ओर जानेवाले दरवाजे के पास ही एक खाट पर पड़े रहते। दरवाजे के अन्दर से आने-जाने वालों को पुकारते रहते पर कोई ध्यान ही नहीं देता। अपने बेटे को बुलाकर कोई बात समझाना चाहते, तब बेटा झिड़क कर जवाब देता- 'चुप रह बुढ्ढे। पड़ा पड़ा झिक-झिक किया ही करता है। हम सब समझते हैं, तुम चुपचाप पड़े रहो। हम नहीं समझते हैं क्या ? जब देखो तब बक-बक।' और नाक भौं सिकोड़ता हुआ उनका लाड़ला बेटा वहाँ से चला जाता।

बेचारे गुमानीमलजी मन मसोस कर रह जाते क्या पता कितने ही लम्बे समय तक दुःख उठाते रहने के बाद उनके जीवन में फिर से पुण्य का उदय आ पायेगा। भगवान ही जाने।

(इस मौलिक कथानक के लेखक श्री जयन्तीलाल जैन हैं – आभार)

विचित्र महोत्सव

काशी निवासी जैन धर्म के दिग्गज विद्वान पण्डित केशवलालजी को कौन नहीं जानता ? धर्मात्मा और विद्वान के रूप में अपने नगर में तो वे प्रसिद्ध थे ही, पर पूरे देश में भी उनकी प्रसिद्धि थी। देशभर के समस्त बड़े- बड़े विद्वानों और पण्डितों के साथ उनका सम्पर्क सदैव बना ही रहता था। अपने धर्मप्रिय परिचितों के सामने कभी-कभी वे अपनी यह भावना भी प्रगट करते रहते थे कि अपने जीवनकाल में वे एक बहुत बड़े उत्सव का आयोजन करवाने की भावना रखते हैं। काशीनगर की जैनसमाज के भी कई लोग उनकी इस भावना से परिचित थे।

पण्डित केशवलालजी की बहुत उम्र व्यतीत हो गयी, फिर भी उन्होंने अभी तक उ स उत्सव का आयोजन नहीं करवाया। जिसकी वर्षों से चर्चा है। इस कारण कोई-कोई परिचित उनसे पूछ लेते- क्यों भाई ! तुम तो उत्सव करवाने वाले थे, कब करवाओगे ?

कोई तो इस बात को सहजभाव से पूछ लेता तो कोई व्यंग्य में कहता– क्यों पण्डितजी! अब किस बात की देरी है ? क्या मरते वक्त करवाओगे वह उत्सव ? उत्सव करवाने का सोचते-सोचते तो तुम बुड्ढे हो गये। क्या पता करवा भी पाओगे या नहीं ?

जब पण्डितजी शांतभाव से मुस्कुराते हुए कहते– "हाँ उत्सव का आयोजन करवाना है। अभी तो तैयारियाँ चल रही हैं। अपने स्व-काल में उत्सव का आयोजन अवश्य होगा। कोई अच्छा-सा मुहूर्त आने दो भैया।"

लोगों को पण्डितजी की बात सुनकर आश्चर्य होता। मन ही मन विचार करते – पण्डितजी इतने बूढ़े तो हो चले। धीरे-धीरे शरीर भी काफी दुबला-पतला होता चला जा रहा है। ऐसी कमजोरी में क्या उत्सव का आयोजन करवायेंगे। उत्सव का आयोजन करवाना ही था तो जवानी में ही करवाते। कोई-कोई कहता – अरे! ये क्या करवायेंगे उत्सव? लोगों को बुद्धू बनाने की कोरी बातें करते हैं। उत्सव के लिए तो धन की आवश्यकता होती है। उनके पास इतना धन है ही कहाँ?

"धन की तो कमी नहीं है इनके पास। कमानेवाले बेटे हैं इनके। अच्छी-खासी आमदनी है, पर हर कोई धर्मकार्य के लिए धन थोड़ी खर्च कर सकता है। यह कंजूसों के बस की बात नहीं है।" – दूसरा व्यक्ति कहता।

यह बात नहीं थी कि पण्डितजी कंजूस थे। समय-समय पर धर्मकार्यों के लिए सामर्थ्यानुसार दान भी करते रहते थे, पर वे दान भी गुप्तरूप से करते थे। नाम कमाने की भावना से पाटियों पर

नाम लिखा कर दान देने की बजाय गुप्तदान देना ही उन्हें ज्यादा पसन्द था। पर भोले लोग इस रहस्य को क्या जानें ?

एक दिन पण्डितजी की आँखों की रोशनी चली गयी। साथ ही हल्का-सा स्वास्थ्य भी बिगड़ गया। वैद्य को बुलवाया गया। हल्का-हल्का धुँधला-सा दिखाई देता था। निरीक्षण करने के बाद वैद्य बोला– अफसोस। आयुर्वेदिक दवाइयाँ पण्डितजी की रोशनी लोटाने में समर्थ नहीं हैं। इसके लिए तो ऑपरेशन की जरूरत है। अंग्रेजी दवाइयों का सेवन पण्डितजी को करना होगा।

तब पण्डितजी बोले –वैद्यजी। आप तो जानते ही हैं, अंग्रेजी दवाइयाँ मेरे काम नहीं आती। आप तो कोई आयुर्वेदिक दवाई ही दे दीजिए। ठीक होना होगा तो हो ही जायेगा, वर्ना कोई बात नहीं।

वैद्य भी जानते थे कि बिना ऑपरेशन के मामला सुधरने वाला नहीं है तो भी पण्डितजी के आग्रह पर आयुर्वेदिक दवाइयाँ ही देकर चले गये।

उस समय पण्डितजी के परिवारवाले भी वहीं उपस्थित थे। सभी जानते थे कि पण्डितजी नियम के बड़े पक्के हैं। फिर भी बड़ा बेटा बोला– पिताजी आप आज्ञा दें तो हम आपको अस्पताल ले चलें। पर पण्डितजी ने स्पष्टरूप से दृढ़स्वर में मना कर दिया।

पण्डितजी मन ही मन सोचने लगे – आँखें चली गयीं। इसका अर्थ है कि अब महोत्सव का समय आ ही चुका है। मुझे महोत्सव की घोषणा कर ही देनी चाहिए और अन्दर ही अन्दर दृढ़ निश्चय करके अपने परिवारवालों से दृढ़तापूर्वक बोले– "सुनो मैं अब मृत्यु-महोत्सव मनाना चाहता हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि मैं अब अधिक दिनों तक जी नहीं सकता और मुझे अब जीने की कोई तमन्ना भी नहीं है, क्योंकि इस पर्याय में रहकर अब अच्छी तरह से धर्म का पालन करने मे मैं असमर्थ हूँ।" कहते हुए कुछ देर के लिए रुके, फिर उसी दृढ़ता के स्वर में पुन: कहने लगे– "बेटा। तुम मेरे सभी मित्रों को सूचना भिजवा दो कि पण्डितजी जिस उत्सव के मनाने का कभी-कभी जिक्र किया करते थे वो उत्सव मनाने का अवसर आ चुका है। अत: आप शीघ्र ही यहाँ आकर पण्डितजी के मृत्यु महोत्सव में सम्मिलित होकर पण्डितजी की सहायता करें।"

पण्डितजी के प्रमुख धार्मिक मित्रों को खबर करवा दी गयी। एक-दो दिनों के अंदर-अंदर तीन-चार धर्मात्मा पण्डितजी के यहाँ बाहर से आ पहुँचे। काशी के ही एक-दो मित्र तो आते-जाते रहते थे। काशी की जैनसमाज में भी शीघ्र ही यह बात फैल गयी कि पण्डितजी शीघ्र ही सल्लेखना व्रत लेनेवाले हैं। मृत्यु महोत्सव की स्थापना की गयी।

पण्डितजी के परिवारवालों ने भी किसी प्रकार की मोह-जनित आना-कानी नहीं की,

क्योंकि पण्डितजी के परिवार के सभी सदस्य तत्त्वज्ञानी थे। स्वयं पण्डितजी ने शुरू से ही सब में तत्त्वज्ञान के संस्काररूप बीज डाले थे।

बाहर से पधारनेवाले पण्डितजी के मित्रों में एक तो थे जयपुर निवासी उत्साही युवा चन्द्रप्रकाशजी, दूसरे नागपुर निवासी सुजानमलजी, तीसरे थे राजकोट निवासी डाह्यालालजी तथा चौथे थे पिड़ावा निवासी राजमलजी।

आते ही तुरन्त चन्द्रप्रकाशजी बोले– "पण्डितजी साहब। आप धन्य हैं। महान भाग्यशाली हैं जो ऐसी विषम परिस्थितियों में भी धैर्य धारण किये हुए हैं। आप आराधनापूर्वक मरण को आलिंगन करना चाहते हैं। धन्य है आपका विवेक। आप जैसे उत्तम पुरुषों को ही ऐसे उत्तम विचार उत्पन्न होते हैं। सारे जीवनभर पालन किये गये व्रत-तप एवं संयम की सार्थकता इसी में है कि अन्तिम समय में सल्लेखना व्रत अंगीकार किया जाय। वास्तव में पण्डितजी साहब! आप धन्य हैं। आप निश्चिन्त रहें। आपकी सभी प्रकार से सहायता करने के लिए हम तत्पर हैं।"

अन्य मित्रों ने भी लगभग इसीप्रकार के भाव व्यक्त किये। पण्डितजी ने कहा – "आप जैसे धर्मात्मा मित्रों के रहते हुए मुझे चिन्ता किस बात की ? मुझे तो बेहद खुशी है कि आप मेरे इस महोत्सव में भाग लेने के लिए सही समय पर उपस्थित हो गये। अज्ञानदशा के साथ कषायों से युक्त बाल मरण तो पूर्व में भी कई बार किये हैं। अब तो निःकषायभाव से आत्मा में लीन रहते-रहते ही यह देह छूट जाये बस यही शुभभावना है।"

"भई पण्डितजी साहब! देह का क्या छूटना है। देह के साथ जो ममत्व है, उस ममत्व को छोड़ना है। अपने ही आत्मस्वरूप में अधिक से अधिक रमणता किया करो। ममत्व भी अपने आप छूट जायेगा। शरीर (देह) सम्बन्धी विकल्प व्यर्थ है। देह का संयोग कबतक रहना या न रहना, इसकी व्यवस्था हमारे बस की बात नहीं है। उसका परिणमन स्वतंत्र है। अपना परिणमन स्वतंत्र है। अपना कर्तव्य तो स्व-सन्मुखतापूर्वक मात्र जानते ही रहने का है।" पण्डितजी की बात सुनकर राजमलजी आध्यात्मिक चर्चा छेड़ने के लिहाज से बोले थे।

"तुम बिल्कुल ठीक कहते हो" पण्डितजी ने कहा था। उस समय उन्हें बोलने में थोड़ी तकलीफ हो रही थी; इसलिए कुछ ज्यादा चर्चा न चल सकी थी।

मृत्यु-महोत्सव की स्थापना के पहले दिन पण्डितजी ने अपने मित्रों की उपस्थिति में अपने सभी परिवार के सदस्यों को बुलाया और कहा – "सुनो तुम मेरे स्नेही एवं हितैषी हो, सम्बन्धी हो, पर यह सब सम्बन्ध मात्र शरीर से ही सम्बन्धित है। तुम इस शरीर से उपजे पुत्र-पुत्री हो, इस शरीर को रमानेवाली स्त्री हो, इस शरीर के कुल के संबंधी हो सो यह सम्बन्ध इतने ही काल

का था। अब यह शरीर ही नष्ट होने जा रहा है। इसलिए किसी भी प्रकार का सम्बन्ध मानना व्यर्थ है। प्रत्येक का एकमात्र अपनी आत्मा के साथ ही सच्चा सम्बन्ध हो सकता है; इसलिए इस विनाशीक शरीर से स्नेह रखना व्यर्थ है। आप मेरे हितैषी हैं; इसलिए जैसे मेरे ज्ञान, दर्शन एवं वीतराग स्वभाव का घात न हो वैसा प्रयत्न करना। अन्य किसी भी प्रकार की संसार में उलझानेवाली बातें मत करना। अब मेरा आपके साथ किसी भी प्रकार का नाता नहीं है। मात्र साधर्मी का-सा व्यवहार रखना।''

सबने यह बात नोट की कि पण्डितजी ने जिससमय उक्त बातें कीं, उस समय वातावरण ने काफी भावुकता का रुख ले लिया। किन्हीं-किन्हीं की तो आँखें भी नम हो आयीं; परन्तु पण्डितजी के चेहरे से निर्ममत्व का भाव स्पष्टरूप से झलक रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे वे आत्मरूप ही रहकर ममत्व को जीतने का भयंकर प्रयत्न कर रहे हों। चेहरे पर आकुलता के किसी भी प्रकार के भाव नहीं थे; बल्कि एक विचित्र प्रकार की शान्ति झलक रही थी।

आज के दिन पण्डितजी ने उपवास की प्रतिज्ञा ली थी। मात्र एक बार थोड़ा-सा जल लिया शेष समय मित्रों से स्वाध्याय सुनने एवं आध्यात्मिक चर्चा करने में ही व्यतीत हो गया उपवास के कारण किसी भी प्रकार की तकलीफ नहीं हुई, क्योंकि वे उपवास करने के तो अभ्यस्त थे प्रत्येक अष्टमी व चौदश को उपवास करते थे।

दूसरे दिन पण्डितजी ने एकादश का व्रत ले लिया। आजके दिन की विशेषता यह रही कि पण्डितजी के इशारे पर दो वसीयतनामे पढ़कर सबको सुनाए गए। पहली वसीयत तो वैसी ही थी, जैसी की आम तौर पर होती है पर दूसरी वसीयत कुछ विचित्र ही प्रकार की थी। इसको धार्मिक वसीयत भी कहा जा सकता था। इसमें लिखा था– ''मेरी हार्दिक इच्छा यह है कि मेरे मरने पर किसी भी प्रकार का हाय-विलाप अथवा रुदन न होने दिया जाय, बल्कि शान्तिपूर्वक वैराग्य मंत्र व बारह भावनाओं के पाठपूर्वक अंतिम संस्कार विधि सम्पन्न करायी जाये। इसके पश्चात् नव दिनों तक बराबर दो समय स्वाध्याय का आयोजन घर पर ही करवाया जाय। धार्मिक कार्यों के अलावा अन्य किसी भी प्रकार की मूढ़ता जनित कोई भी विधि सम्पन्न न करायी जाय तथा मिलने के लिए कोई भी विधि सम्पन्न तथा मिलने के लिए आने वाले सभी व्यक्तियों को स्वाध्याय के लिए वैराग्योत्पादक धार्मिक पुस्तकें ही भेंट की जायें। तथा उन सबसे मेरा अनुरोध है कि अपने जीवन का अधिकाधिक समय अनन्त प्रभुतासम्पन्न अपने भगवान आत्मा की आराधनाा में ही व्यतीत करें। स्वाध्याय-चिन्तन-मनन आदि धार्मिक कार्यों को ही अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य बनावें तथा अन्तसमय में 'मृत्यु-महोत्सव' के आयोजनपूर्वक देह का विसर्जन करें।''

उक्त वसीयत को सुनकर वहाँ उपस्थित लोगों ने काफी प्रसन्नता का अनुभव किया था

तथा मन ही मन सभी ने पण्डितजी की सभी भावनाओं का अनुकरण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। इसी बीच पण्डितजी के स्वास्थ्य में काफी गिरावट आ चुकी थी। अधिकतर समय तो पलंग पर लेटे-लेटे ही व्यतीत होता था। लेटे-लेटे ही अपने उपयोग को अपने शुद्धात्मा के अनुभव में जोड़ने का प्रयत्न करते रहते थे। कमजोरी के कारण से बहुत ही कम बोलना हो पाता था। कभी-कभी विकल्प आने पर अपने मित्रों को स्वाध्याय सुनाने के लिए इशारा कर देते। कभी उन्हें स्वयं ही पुरुषार्थ प्रेरक चित्त को स्थिर करनेवाला, परिणामों को निर्मल करनेवाला उपदेश सुना देते।

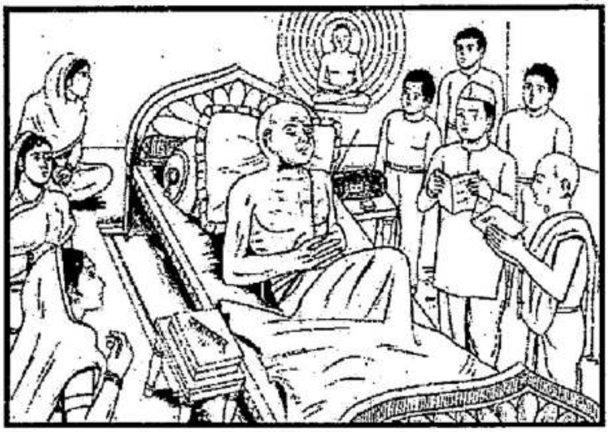

आज पाँचवें दिन पण्डितजी की शारीरिक तकलीफ कुछ ज्यादा ही बढ़ गयी। अंग-अंग में तीव्र पीड़ा होने लगी। यद्यपि आज के दिन भी पण्डितजी ने एकादश का ही व्रत ले लिया था; तथापि एक बार भी भोजन न ले सके। थोड़ा-सा दूध ही ग्रहण कर पाये। अपनी इस पर्याय का अन्त एकदम निकट जानकर मन ही मन पण्डितजी ने सदा-सदा के लिए भोजनत्याग (अन्नत्याग) की प्रतिज्ञा कर ली।

आज शारीरिक वेदना के कारण बेचैनी बहुत बढ़ गयी थी। पण्डितजी अपने उपयोग को रह-रहकर अपने शुद्धात्मा से जोड़ने का भरसक प्रयत्न करते थे, पर वेदना के कारण से सफलता नहीं मिल पा रही थी । उग्र पुरुषार्थ के द्वारा आखिर इन्होंने अपने उपयोग को अपने शुद्धात्मा के अनुभव में जोड़ ही लिया। फलस्वरूप शारीरिक वेदना कुछ कम हो गयी। शारीरिक वेदना से बचने के लिए उन्होंने अपने उपयोग को काफी एकाग्रतापूर्वक शुद्धात्मा में लीन करना प्रारंभ कर दिया, फलस्वरूप अन्दर का आनन्द बढ़ता गया। शारीरिक वेदना कम होती चली गयी। पुरुषार्थ की कमजोरी से उपयोग जब बाहर निकलता तो शारीरिक वेदना का पुनः अनुभव होने लगता। उस वेदना से उपयोग को शुद्धात्मा में तल्लीन करने लगते। इसी क्रमपूर्वक पाँचवें दिन की पूरी रात व्यतीत हुई।

छठवें दिन की सुबह होते-होते शारीरिक दर्द भी अपने आप दब गया। फलस्वरूप पण्डितजी ने थोड़ा दूध लिया। स्वाध्याय सुनने की इच्छा जाहिर की, फिर अपने मन को समझाने लगे–

"अनादिकाल से लेकर अबतक अनन्त वस्तुओं का भक्षण किया, फिर भी भूख शान्त नहीं हुई। क्या-क्या नहीं खाया ? सब कुछ खाया। नरकों में भूख की इतनी अपार वेदना सहन

की। तब उस भूख के आगे इस तुच्छ भूख की क्या चिन्ता ? धिक्कार है जो खाने की इच्छा उत्पन्न हुई।'' इसी प्रकार सोचते-सोचते वे मन ही मन बारह भावनाओं का चिन्तन करने लगे और इसके साथ ही साथ दूध का भी सदा-सदा के लिए त्याग कर दिया। शुद्धात्मा का चिन्तन करने लगे। उपयोग शुद्धात्मा में ही ढल गया। ज्ञान मात्र आत्मस्वरूप का आस्वादन होने लगा, फलस्वरूप क्षुधाजनित वेदना नष्ट हो गयी । शाम होते-होते शारीरिक तकलीफ पुनः पैदा हो गयी। भयंकर दर्द होने लगा। असह्य वेदना के कारण से कराहने लगे। अंग-अंग में तीव्र वेदना होने लगी। वेदना के मारे कुछ भी सुध न रही। छटपटाने लगे। परिणामों में बेचैनी बढ़ गयी। ऐसी विषम परिस्थितियों में मित्रों ने उपदेशामृत का पान कराना शुरू किया। वे कोमल शब्दों में कहने लगे – हे आत्मन् ! तुम्हें ऐसा कौनसा दुःख है? यह तो मृत्यु का महोत्सव है। यह तो धैर्य एवं दृढ़ता धारण करने का अवसर आया है, शोक एवं दुःख का नहीं, बल्कि हर्ष एवं खुशी का अवसर आया है। पूर्व में बड़े-बड़े ज्ञानियों एवं मुनियों पर भयंकर उपसर्ग आये, फिर भी वे आत्म-साधना से विचलित नहीं हुए, बेचैन नहीं हुए।

परिणामों को चंचल नहीं होने दिया । जरा याद करो तो सुकोमल, गजकुमार, सुकुमाल आदि मुनिराजों को। उनकी वेदना के आगे तुम्हारी क्या वेदना है? तुम्हारी सेवा करने के लिए तो हम तैयार खड़े हैं, पर अज्ञात उदय को कौन टाल सकता है।

अरे आत्मन् ! अरे ज्ञायक ! जरा सोचो तो तुम्हारे ज्ञान में इस कष्ट ने प्रवेश ही कहाँ किया है ? तुम्हारे ज्ञान की स्वच्छता ही कुछ ऐसी है कि जिसमें वेदना स्पष्टरूप से झलकती है। पर वो वेदना तुममें कहाँ है ? तुम तो ज्ञान हो। ज्ञानस्वरूप ज्ञायक भगवान आत्मा हो। अपने ज्ञान को उस ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा में ही लगाओ। कष्ट तो कष्ट में ही है। कष्ट ज्ञान में कहाँ है ? तुम्हारे ज्ञान में तो ज्ञान है।

उक्त प्रकार का उपदेशामृत का निमित्त पाकर पण्डितजी का चित्त पुनः स्थिर हो गया। परिणामों में अद्भुत शान्ति एवं दृढ़ता प्रगट हो गयी । न सिर्फ धैर्य ही प्रगट हुआ, बल्कि उसमें ढल गया। उनका ज्ञान कष्ट को पृथक् जानता हुआ उसमें पृथक् होकर ज्ञायक में तन्मय हो गया। उग्र पुरुषार्थ के द्वारा अपने उपयोग को अपने ही शुद्धात्मतत्त्व में समाधिस्थ करते हुए पण्डितजी इस देह को छोड़कर परलोक में गमन कर गये।

पण्डितजी की अन्तिम यात्रा में सम्मिलित हुए लोगों ने इस आदर्श मृत्यु-महोत्सव से प्रेरणा लेकर मन ही मन संकल्प किया कि हम भी अपने जीवन में ऐसे विचित्र महोत्सव का आयोजन अवश्य करेंगे।

(इस मौलिक कथानक के लेखक श्री जयन्तीलाल जैन हैं – आभार)